

भारतीय-आर्य भाषा

ज्यूल व्षॉख कृत

भारतीय-आर्य भाषा

(वेदों से लेकर आधुनिक समय तक)

मूल फ़ॉष से अनूदित

अनुवादक

लक्ष्मीसागर घाण्ण्य, एम्० ए०, डी० फ़िल०, डी० लिट्०
हिन्दी विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय

प्रकाशक

हिन्दी समिति, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश

प्रथम संस्करण, १९६३ ई०

मूल्य ₹० १० ५०

मुद्रक
सम्मेलन मुख्यालय प्रयाग

प्रकाशकीय

प्रोफ़ेसर एच. ए. ए. 'छ'भाँरो एरियाँ' (माळीय-आर्य भाषा) नामक पुस्तक को भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में बिरोप महत्त्व है। इसमें भारतीय-आर्य भाषा सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्यों का बिबेचन करते हुए प्राकृत अथवा अथवा मुजराठी मराठी हिन्दी आदि नव्य-माळीय भाषाओं के विकास और साम्य-वैषम्य तथा प्रमुख बिरोपताओं की बर्णना की गयी है। लेखक ने इनके बाल-निरूपण अथवा स्थान-निरूपण आदि के फेर में न पड़कर मुख्य रूप से इनके भाषा-विज्ञान सम्बन्धी तथा व्याकरण सम्बन्धी तथ्यों का ही बर्णन करने का प्रयास किया है। पुस्तक बड़ी खोज और बड़े परिश्रम से लिखी गयी है और इससे अनुवादक डॉ० बाप्येय न भी हिन्दी में मूल के भाषों का यथानुरूप समानेस करने का यत्न भर प्रयत्न किया है। इतना ही नहीं छपते समय इसका प्रकृत स्वयं देख लेने का कष्ट भी आपने उठाया है जिसके लिये हम आपके अनुगृहीत हैं।

यद्यपि पुस्तक बहुत पहले ही छपने के लिये दे रखी थी फिर भी कितने ही संकट और नये टाइप तैयार करने की बठिनाई के कारण इसके प्रकाशन में बहुत समय व्यय गया। आशा है समिति की एक अन्य पुस्तक "भाषा सर्वेक्षण" की तरह इसका भी हिन्दी के बिद्वानों और भाषा-संरक्षकों में यथेष्ट समारह होना और व भाषा-विज्ञान सम्बन्धी अध्ययन में इससे समुचित लाभ उठा सकेंगे।

ठाकुरप्रसाद सिंह
सचिव, हिन्दी समिति

अनुवादक की ओर से

गायत्री दत्तात्री हस्त 'इस्वार व कश्चित्पूर ऐंड्रै ऐ ऐंड्रैस्तामी के हिन्दी से संबंधित मंत्रों का अनुवाद (१९५२ ई०) पूर्ण कर लेने के पश्चात् मेरा ध्यान प्रो० स्मूथ मॉरॉव कृत 'क'बीरो एरिया' ('भारतीय-आर्य भाषा') की ओर गया। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में इस ग्रन्थ का महत्त्व सर्वविरहित है। अद्यत्न मैं इस ग्रन्थ का अनुवाद करने का सोच-संवरण न कर सका। अनुवाद अक्तूबर, १९५६ ई० में पूर्ण हो गया था। किन्तु औपचारिक कारबाइयों के पूर्ण होने, मुद्रण के लिये विद्येप टाइपों के डालने और फिर मुद्रित होने में जो समय लगा उसके बाद अब यह सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हिन्दी के विद्वत् पाठकों के सामने प्रस्तुत है। उत्तर प्रदेशीय सरकार की हिन्दी समिति ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार अपने ऊपर लिया एतदर्थ मैं उसका आभार व्यक्त करता हूँ।

अनुवाद-कार्य अत्यन्त कठिन है—विशेषतः किसी यूरोपियन भाषा से हिन्दी में अनुवाद करना और जब कि हिन्दी में पारिभाषिक सदाबली की समस्या भी सामने हो। यद्यपि मूल की सहज-स्वामाधिक शैली का अनुवाद में काना सरस नहीं है, तो भी प्रस्तुत अनुवाद में मूल के अधिकधिक मिष्ट रहने की चेष्टा की गयी है और शब्दों के अन्वयार्थ तथा उनके वर्ण-विन्यास में एकवचन रखने का प्रयत्न प्रयत्न किया गया है। मूल से यदि कोई अज्ञानजन्य त्रुटि भी गया होया तो बिदबास है कि पाठकों को उसके समझने में कठिनाई न होगी।

जहाँ तक पारिभाषिक शब्दों का संबंध है, कुछ पारिभाषिक शब्द तो ऐसे हैं जिनके लिये उपयुक्त हिन्दी-शब्दों का अभाव नहीं है। किन्तु ऐसे पारिभाषिक शब्द भी मिले जिनके हिन्दी प्रतिशब्दों का अस्तित्व ही नहीं है। ऐसी परिस्थिति में अविनाशी विद्वानों के साथ परामर्श द्वारा और कुछ उपरुच्य शब्द-कोशों की सहायता से हिन्दी के पारिभाषिक शब्दों का अर्थ किया गया है। पाठकों की सुविधा के लिये अन्त में हिन्दी-अंगरेजी और अंगरेजी-हिन्दी पारिभाषिक शब्द-कोश संलग्न हैं। प्रस्तुत अनुवाद में अत्यन्त शब्द तो उनमें हैं ही, साथ ही ऐसे शब्द भी हैं जिनका प्रयोग अनुवाद में नहीं किया गया यद्यपि ऐसे शब्दों की संख्या बहुत अधिक नहीं है। विविध उपरुच्य शब्द-कोशों से सहायता लेते समय यह भी पाया गया कि जो मित्र अंगरेजी-शब्दों के लिये एक ही हिन्दी-शब्द चुना गया है। ऐसे शब्द भी प्रस्तुत

अनुवाद के साथ संसभ कोशों में वे दिये गये हैं। भाषा है हिन्दी के भाषा-विज्ञान के विज्ञान। इस संबंध में अपना अंतिम निर्णय लेगे और हिन्दी की शारिणात्मिक व्यवस्थाओं का अनिश्चितता की दशा से मुक्त करने। हिन्दी प्रदेश में भाषा-संबंधी स्थिति को ध्यान में रखते हुए फ्रेंच-शब्दों के भाषार पर जोष प्रस्तुत करना अनुभव नहीं मान पड़ा।

इसके अतिरिक्त अनुवाद के संबंध में मैं दिन अन्य बातों की ओर पाठकों का ध्यान दिखाना चाहता हूँ वे इस प्रकार हैं

१ अनुवाद में मूक के स्वर-भेदक चिह्न क्यों-क्यों प्रहम कर दिये गये हैं। इन चिह्नों सहित नये टाइप इकठाने में प्रेष को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। जहाँ कठिनाई दुःसाध्य प्रतीत हुई वहाँ मूक के स्वर-भेदक चिह्न नहीं दिये जा सके—विषयतावत्। किन्तु ऐसे स्वतः बहुत कम हैं।

२ स्वर भेदक चिह्नों की कठिनाई के कारण ही उदाहरणों के टाइप क और सामान्य टाइप के आकार-अकार में अंतर नहीं किया जा सका। उदाहरण यदि इतिवृत्त या अन्य किसी प्रकार के टाइप में दिये जाते तो स्वर-भेदक चिह्नों के दृष्ट जाने या न उमरने की आसंका थी। तब तब भी ए, ओ पर स्वर-भेदक चिह्न इसकिए नहीं लगाये गये क्योंकि संस्कृत और प्राकृतिक भारतीय-आर्य भाषाओं तथा शोकियों में उनकी क्या स्थिति है, यह भाषा-विज्ञान के विद्वानों को विदित ही है।

३ विषय-चिह्नों के प्रयोग और वाक्य-बंधन की दृष्टि से मूक के ही निष्पट रूढ़ि की चेष्टा की गयी है।

४ मूक में भारतीय-आर्य भाषाओं के उदाहरण-रूप में दिये गये शब्दों का फ्रेंच में अनुवाद दिया गया है। प्रस्तुत अनुवाद में फ्रेंच में दिये गये ऐसे अनुवादों का, कुछ अपवादों को छोड़कर, अनुवाद नहीं किया गया क्योंकि हिन्दी तथा अन्य भारतीय-आर्य-भाषा-भाषियों की दृष्टि से ऐसा करना पुनरुत्पत्ति मात्र होता और प्रस्तुत अनुवाद का ध्येय ही असेवर बढ़ता। मूक लेखक ने तो सम्भवतः फ्रेंच भाषा-भाषियों की दृष्टि-रूप में रखते हुए उदाहरण-रूप में दिये गये शब्दों का फ्रेंच में अनुवाद किया था। इसी प्रकार ग्रीक लैटिन आदि शब्दों को ग्रीक और रोमन लिपियों में भी देना अनिवार्यक समझा गया। किन्तु कुछ विदेशी विद्वानों, उनके शिष्यों और साथ ही शब्दों के कुछ उदाहरणों आदि को रोमन लिपि में भी प्रस्तुत करना इसकिए उचित समझा गया ताकि अत्र के लिये कोई पुंसारस न रह जाय।

वास्तव में लैटिन और अस्पष्ट शब्दों के न रखने देने की अनिवार्यक चेष्टा करना अनुवादक का मुख्य उद्देश्य रहा है।

५ मूल का अनुवाद करत समय सबसे बड़ी कठिनाई अनेक संक्षिप्त रूपों के हिन्दी-रूपान्तरों के संबंध में रही। खेद है, प्रो० रयूस ब्लॉख ने केवल भाषाओं से संबंधित चीज़ों-से संक्षिप्त रूपों को छोड़कर, पुस्तक में कहीं भी उनके पूर्ण रूप नहीं दिये। एक ही संक्षिप्त रूप के हिन्दी में दो या तीन पूर्ण रूप तक हो सकते हैं। प्रो० ब्लॉख के निश्चय रहकर अभ्ययन करने वाले कुछ विद्वानों से भी इस संबंध में कोई विशेष सहायता प्राप्त न हो सकी। अतएव जिनके पूर्ण रूप निश्चित समयों पर उन्हें हिन्दी में रूपांतरित कर दिया गया है। सर्विज्ञान रूपों को रूपांतरित करने के लिए उचित प्राण पड़ा। उदाहरणार्थ Sn. हो सकता है 'सुतनिपात्र' का संक्षिप्त रूप हो किन्तु निश्चितता के अभाव में वह अनुवाद में ऐसा ही मिलेगा। किन्तु ऐसे स्वस कम हैं।

६ फ्रेंच ग्रन्थों में विषय-सूची अन्त में और सहायक ग्रन्थों की सूची प्रारंभ में मिलती है। अनुवाद में ग्रन्थ-सूची तो प्रारंभ में ही रहने दी गयी है, किन्तु विषय-सूची भी प्रारंभ में रख दी गयी है, क्योंकि अंगरेजी-ग्रन्थों के अधिक सम्पर्क में जाने के कारण हम हिन्दी भाषी विषय-सूची को अन्त में रखने के अभ्यस्त नहीं रहे हैं। अनुवाद में अनुक्रमविधा भी जो मूल में नहीं है, दे दी गयी है। और कोई विशेष परिवर्तन पुस्तक के मूल रूप में नहीं किया गया।

दीमती ब्लॉख और मूस ग्रन्थ के प्रकाशक ने अनुवाद करण के लिये अपनी अनुमति प्रदान की इसका लिये उनके प्रति कृतज्ञता-वापन करना मेरा कर्तव्य है।

मैं श्री डॉ० धीरेन्द्र जी वर्मा (सम्प्रति, सागर विश्वविद्यालय में लिब्रैरियन के प्रोफेसर), डॉ० उदयनाथराज ठिबारी (सम्प्रति, जबसपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफेसर), श्री माताबदल बायसबाळ (हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्व विद्यालय) और अपने विश्वविद्यालय के फ्रेंच भाषा के प्राध्यापक डॉ० ए० के० मिश्र का उनके विश्वाप्तुर्ण सन्परायनों के लिये आभारी हूँ। इतने पर भी अनुवाद में यदि कोई दोष रह गया है तो उसका उत्तरदायित्व मेरे ही ऊपर है।

हिन्दी विभाग
विश्वविद्यालय, प्रयाग
१९ दिसंबर, १९६२ ई०

लक्ष्मीसागर वाण्येय

विषय-सूची

प्रकाशकीय	५
अनुबाबक की ओर से	७
विषय-सूची	११-१५
संक्षिप्त रूप	१७-१९
मूल लेखक द्वारा भूमिका	१-२३

प्राचीन एगिप्ता में भारतीय ईरानी भारत में उनके द्वारा ग्रहण किया गया रूप संस्कृत का प्रसार और उसकी विरोधता — मध्य-कालीन भारतीय भाषा जपान तथा साहित्यिक बोलियाँ भारत से बाहर प्रसार—याही अथ बीड़ भाषाएँ, प्राकृत जैन कथकीकृत नाटकों की प्राकृतों अपभ्रंश मूलभूत एकता सुप्त बोलियों के अवशिष्ट शिष्ट — आधुनिक भाषाएँ उनका जन्म दात्र की अविच्छिन्नता मिहरी बिप्ती-भाषा हिमाकम हिन्दुधुध छाम भारत की भाषाएँ। ग्रन्थ का उद्देश्य तथा प्रमाणी।

सहायक ग्रन्थ २४-२६

प्रथम खण्ड

ध्वनि २७-१०४

मस्कृत स्वर संयुक्त-स्वर अनुपगत का मुख्य प्रणाली की विषयताएँ — परवर्ती विकास ऋ का अस्तित्व संयुक्त-स्वरों का अस्तित्व इ, उ र् युक्त अनुनासिकता-मुक्त भाषा-काल तथा लय (ओर देने क लिये) पुनरावृत्त व्यंजनों से पूर्व स्वर, ऋस्व ओ तथा ए का प्रकटीकरण स्पर्श के बाद आने वाले अनुनासिकों से पूर्व स्वर अल्प स्वर मध्यवर्ती शब्द की दीर्घता का प्रभाव सहायक स्वर प्राचीन अनुनासिक स्वर अनुनासिक तथा दीर्घ स्वरों की तुल्यता अनुनासिक स्पर्शों के सामने अनुनासिकता वैदिक स्वरापाठ बाद के महत्व रहित आधुनिक काल तक गुरु की अभिव्यक्ति।

नामवाचक रूप

संस्कृत में क्रियावाची संज्ञाएँ, क्रियार्थक संज्ञाएँ, कर्तृवाची संज्ञाएँ, कृदन्त -ठ तथा -ज मुक्त विशेषण -त्वं -य्य मुक्त। अनुकूल कृदन्त पुरुषवाची रूपों के तुल्यार्थक।

नव्य-भारतीय में। वर्तमान० कृदन्त अनुकूलता प्राप्त कृदन्त तथा विशेषण क्रिया-भाव वाचा कृदन्त वर्तमान का भविष्यत् का भूत का संभाव्य का विकृत रूप में कृदन्त क्रिया 'होना' में संधिधि।—भूत० कृदन्त सामारण तथा विधेय रूप व्युत्पत्तिवाचक रूप। अतीत कास की भाँति प्रयोग अकर्मक बचवा कर्मवाच्य रचना विभिन्न रूप प्रत्ययाण सर्वनामों का वागम क्रिया "होना" का विकृत रूपों में कृदन्त पूर्ण प्रयोग अन्ततः क्रिया 'होना' के वागम सहित म्यायानुकूल कर्ता की रचना। कृदन्त तथा विशेषण।—भविष्यत्० कृदन्त नवीन प्रयोग पुरुषवाची रूपों के छात्र मिश्रण क्रियार्थक संज्ञा से निकलना।

क्रियार्थक संज्ञा।—पूर्वकासिक कृदन्त विभिन्न युगों के रूप प्रयोग।

भाषुनिक प्रणामी की चोटियाँ वर्तमान का मूल्य। सामान्य वाक्य-विस्तार रूप रचना-विहीन अथवा रूप-रचना-मुक्त निपात का वागम सहायक क्रियाएँ।

क्रिया और कर्ता अकर्मक क्रिया में किन् पुरुष तथा कर्तन क्रिया तथा सर्वनाम के आदरमुखक रूप।

चतुप खण्ड

वाक्यांश

३२३ ३४१

क्रिया "होना" तथा सामान्य वाक्यांश। भ्रंशों का क्रम—स्वतंत्र वाक्यांशों का संयोजन समुच्चयबोधक का लोप। संस्कृत में भाषित वाक्य-योजना का सामन संतदार्थमुखक, और क्रिया जाना संबंध वाचक प्रत्यवाचक सर्वनाम कृदन्त भाँति। नव्य-भारतीय में भाषित वाक्य-योजना का सामान्य अभाव समुच्चयबोधक कालों सर्वनामों का प्रयोग प्रारंभी समुच्चयबोधकों के ग्रहण तथा यदाकदा सर्वनामों

के आदान-प्रदान को छोड़ कर, असाक्षात् कथन का अभाव। भाषायांश की बुद्धता के सामन आधुनिक प्रयोगार्थक।

अपसंहार

३४२ ३५३

भारत मे भारतीय-आर्य भाषा और संस्कृति का पृथकत्व। स्थानीय भाषाओं का संभावित प्रभाव इतिहास तथा मुख्य संख्यायन्त्री में विह्वल उच्चारण में, ध्वनि-संरचना संसरण के तथ्य आह्वतिमूर्च्छक। भारतीय-आर्य तथा ईरानी का संसरण तथा संबंध भारतीय-आर्य भारतीय से पृथक नहीं हुई।

पारिभाषिक शब्द-कोश

हिन्दी-अंगरेजी

३५५ ३७६

अंगरेजी-हिन्दी

३७७-३९४

अनुक्रमणिका

१ केवलानुक्रमणिका

३९५-३९७

२ प्राय सेय तथा पत्रानुक्रमणिका

३९७-४००

सक्षिप्त रूप

भाषा-नामों के सक्षिप्त रूप

(पु०—पुरानी)

अ०—अबेली

अप०—अपभ्रंश

अ० मा०—अद्य-भागपी

अव०—अवपी

अचोक०—अचोक के अमिलेय वि० (रमार) का० (सही) घ० (हवाइगडी)
 पू० 'पूर्वी' समुदाय

अरु०—अरुन्

उ०—उड़िया

क०—कन्नड़

क०—कस्मीरी

पो०—पोशादी

पा०—अबेस्ता की भाषा

यु०—युवराठी

पी०—पीरु

छ०—छत्तीसगढ़ी

ब०—बर्मन

त०—तमिल

ती०—तीराही

ते०—तेलेगू

ठोर०—ठौरवाली

ने०—नेपाळी

पं०—पंजाबी

पघ०—पघई

पा० = पाठी

पु० का० = पुयनी कारसी

पु० रा० = टेसिटरी की पुयनी पश्चिमी राजस्थानी

प्रसु० = प्रसून (बैरोल)

प्रा० = प्राह्व

फ़ा० = फ़ारसी

बं० = बंगाली

ब्र० = ब्रजभाषा

म० = मराठी

मा = मागधी

मार० = मारवाड़ी

रा० = राजस्थानी

स = सहवा

शि० = शिवा

शी० = शीरसेनी

सं० = संस्कृत

सिह० = सिहली

सि० = सिगाल (जिप्सी-भाषा) (यू० = यूरोप की ए = एशिया की)

ह० पुनु० = ह० पुनुइल व डूरे (Dutruil de Rhims)

हि० = हिन्दी

कगारों के संबंध में कोई बात नहीं कहनी सिवाय इसके कि भारतीय-भाषा माया के 'ए' (o) और 'ओ' (o) सिहली के लिए केबल दीर्घ रूप में लिखे गये हैं और शीतियों में वहाँ के कुछ ह्रस्वों के विपरीत हैं नहीं लिख गये।

अनुवाक द्वारा प्रयुक्त संक्षिप्त रूप

अव० = अवर्द्ध

अगो० = अगोके के अमितेय

आ० पु० = आपस्तम्ब सूत्रमूत्र

आ० शी० = आपस्तम्ब शीतमूत्र

इडि० ऐंटी० = इडियन ऐंटीकेटी

रु० = रुमैर

- ऐ० बा०—ऐतरेय ब्राह्मण
पू० ए०—पूर्वा एशियातीय (J As)
कुल०—कुलनीय (CL)
वे० प्राठि०—वैदिकीय प्राविणाम्य
वे० सं०—वैदिकीय संहिता
बस०—बसकुमार चरित
बा०—बाह्यम प्रश्न
महा०—महाभारत
मूच्छ०—मूच्छकटिक
मै० सं०—मैत्रायणी संहिता
यजु०—यजुर्वेद
सै०—सैटिन
वा० सं०—वाजसनेयी संहिता
गहु०—गहुतला नाटक
घ० प्रा०—घातपत्र ब्राह्मण
मह०—महर्षिभारगुणी
साम०—सामवेद

(जिन शब्दों के आगे • है, वहाँ • के स्थान पर वचन कारक आदि पड़ना चाहिए।)

मूल लेखक द्वारा

भूमिका

भारतीय आर्य भाषा जिसका मैं यहाँ बिकास प्रस्तुत करना चाहता हूँ उन दो समुदायों में से एक की भाषा है जो भारतीय-ईरानी नाम से पुकारी जाने वाली प्राचीन हिन्दिक भारत-यूरोपाय भाषा और जिसे बोलने वाला के नाम के आधार पर आर्य कह सकते हैं अ० ऐर्य पु० आ० अरिय स० आर्य से निकल है। इस भाषा की विशेषताओं का उत्पन्न मेइए (Meillet) की पुस्तक 'दाइमन्त वादी-मारोपिए' अध्याय २ में मिलेगा तुल० राइसेट, 'अवेस्टा ऐसीमें' ६८। प्राचीनतम आर्य पोपियों से प्रकट होता है कि ये भाषाएँ उसी समय बिभक्त हो गयी थीं और इनके प्रकटा ईरान की सीमा से सग हुए भारतीय भूमि भाग को छोड़ कर, क्रमशः ईरान और भारत में बस गये थे।

भारत से बाहर उपलब्ध उसके कुछ और प्राचीन किन्तु परोक्ष प्रमाण मिलते हैं। ईसा पूर्व चौदहवीं शताब्दी में क्रतुओं से विवाह तथा राजनीति द्वारा संबंधित मित्रता (रज्जु क्रतु) के राजकुमारों के आर्य-पक्ष के नाम आर्यों जैसे मालूम होते हैं। उनमें से एक ने १३८० (ई० पू० ? -अनु०) के लगभग हिंसी राजा के साथ संबंध करत समय अपने ऋताओं का साक्षी रूप में आह्वान किया था जो इस प्रकार युग्म रूप में हैं मित्र और अरुण (अरुण ? -अनु०) इन्द्र और मासत्य ऋत्वे में भी मित्र और अरुण दोनों साथ-साथ ब्रह्म हैं और अरिबन् संबंधी ऋचा में एक स्थान पर 'इन्द्र मासत्या' में दोनों सपुत्र रूप में मिलते हैं किन्तु ईरान में अरुण देवता नहीं है और अवेस्ता में नृर्भक्ष्य और इन्द्र असुर हैं।

उन ही देवताओं के नाम ऐसे होते हैं जो सर्वत्र उच्चार लिये जा सकते हैं लेकिन हिंदी भाषा में अस्व-नाकन पर लिखित एक पोपी में एक, तीन पाँच सात भी कुछ पीड़ों का प्रदत्त है उन्हें प्रकट करने वाले अरुण आर्य हैं विशेषतः ऐक-वर्तुष 'एक अरुण' 'एक' संख्या में -क-प्रत्यय लगा कर बना है जो अब तक इस संख्या के लिए केवल संस्कृत में प्राप्त है।

तो १४ वीं शताब्दी से पूर्व के एशिया माइनर में आर्यों का केवल बिह्व ही नहीं पाया जाता बल्कि भारत में उसी जाति के बिह्व मिलते हैं जो भारत में संस्कृत लाम्बी। किन्तु अभी यह निश्चित करना असंभव है कि भारत पर आक्रमण बाद में हुआ अथवा बाद में

माने वाली जातियों के लोगों द्वारा हुआ अथवा वे ही भारत से छोट गये थे। ये ही समुदाय के जिनके कारण संभवतः क्रिसो-उन्नीय भाषाओं (indo-ugric) में संस्कृत में जाठ शब्दों का प्रचार और प्रत्यक्ष ईरानी में समाव कहा जा सकता है। मौस्ताइक टोर्बर्ग स० पृ०—'बास का टिकका'—(भारत-यूरोपीय ध्व्य संस्कृत में विशेष अर्थ) बोगुल पञ्च, सं० पञ्च(ई० सेबी Ungar Jahrb vi ११ के अनुसार)।

ये परोक्ष प्रमाण भारत में बस गये आर्यों के अत्यन्त प्राचीन प्राप्त प्रन्नों अर्थात् शेषों के प्रकाश में स्पष्ट हो जाते हैं।

इन प्रन्नों की भाषा यद्यपि सर्वप्राचीन ईरानी के बहुत निकट है तो भी वह ध्वनि-प्रवाहों पर आधारित कुछ स्पष्ट और निश्चित विशेषताओं के कारण उद्ये पृथक् हो जाती है।

भारतीय-आर्य भाषा की दो विशेषताएँ हैं प्रथम मूर्धन्व्यों के गभीर वर्ग की उत्पत्ति द्वितीय ए और ऐ का रूप यद्यपि उनके समकक्ष अथवा ध्वनियों बनी हुई हैं। शेष के लिए, प्रमुख विशेषताएँ ईरानी में हैं प्रथम घोष् ध्वनियों का यथेष्ट विकास महाप्राज अथवा ध्वनियों का सोष्मीकरण सामूहिक दृष्टि से अथवा ध्वनियों का सोष्मीकरण (उदा० क, सं० पेभ प्रं-वहले-मी प्रो) द्वितीय ए का ह में परिवर्तन होना यौन महाप्राज ध्वनियों का अ-महाप्राजत्व ठाकम्प ध्वनियों का इत्य ध्वनियाँ हो जाना (य सत्बंम् झा० सद् सं० शतम्-‘ती’ अ जाठ प्र० जाठ सं० जाठ-‘पैदा हुआ’) ध्वनियों के मध्य में भारतीय *अ से उत्पन्न इ का शेष। स्वर अ की दृष्टि से भी दोनों भाषाओं में अन्तर है।

इसके विपरीत कम-विचार की दृष्टि से इरानी समानता है कि उसे लगभग पूर्ण (समानता) कहा जा सकता है जो बोड़ी-सो विनिमता है वह किसी प्रधान बात पर आधारित नहीं है अनेक प्रमुख बातों में से एक अति प्राचीन अ० मत पु० झा मना के विरुद्ध संबंध० एकत्रचन सं० मन्-‘मिउ’ के पुनर्निर्माण की क्रिया में है। अथवाबसी-संबंधी विनिमता को अलग करना कठिन है क्योंकि अन्य कारणों के अतिरिक्त प्राचीन पोषियाँ दुर्लभ हैं और यही निदान्त रूप से यात्रकों की है।

इस अंतिम रूप से कम-से-कम एक बात स्पष्ट हो जाती है कि दोनों भाषाओं की प्राचीन पोषियाँ काफ़ी निकट हैं वास्तव में वे नैसर्गिक रूप से प्राचीन हैं। अथवा विभिन्न युगों का संग्रह है जिसकी कुछ मात्रा संभवतः भारत में आर्यों के बस जाने से पहले की है उसमें यही और व्याकरण की एकरता रही अथवा है किन्तु अथवाबसी प्रकट करती है कि यह एकरता इतिम है प्राचीन ध्वनि-विशेषतायुक्त शब्दों का अस्तित्व और साथ ही उनकी विरमता से यह प्रमाणित होता है कि उनका जयन हुआ था। अथवा-अथवा

इन प्राचीन ऋषियों का समझना ठेकी के साथ कठिन होना गया, विभिन्न संप्रदायों में उनका पाठ सुरक्षित रखा व्याकरण-सम्बन्धी विशेषताओं का अध्ययन किया, सभी ध्यंजनाओं का माध्य किया अबवेद या जादूमरों का वेद, संभवतः उतना ही प्राचीन है जितना ऋग्वेद किन्तु अपने विषय के कारण अधिक लोकप्रिय, अनेक बातों के संबंध में माया की अत्यन्त प्राचीन अवस्था का द्योतन करता है।

हम देखते हैं कि भारतीय-आर्य भाषा के प्राचीनतम सावय एक मूलमूल कठिनाई प्रस्तुत करते हैं जो प्रत्येक युग के संबंध में पैदा होती है वे केवल भाषिक रूप में भाषा का रूप प्रदर्शित करते और सीसी-विधि बताते हैं तथा वे अप्रचलित हैं। उतना ही अधिक वे भारतीय-आर्य भाषा के उस रूप का अत्यन्त अपूर्ण आभास देते हैं जो मूलतः भारत में प्रचलित हुआ था। उनमें नेताओं के अपने पुरोहितों और चारणों के साथ तम-भुगों में या कम-से-कम उन दुर्म-रक्षित गाँवों में जो गंगा की घाटी में छिपे हुए निवास-स्थानों की दृष्टि से अब तक पंचाब की विशेषता है, बसने की शक्ति मिळती है, गाँवों में, कुम्हों और नहरों से सींचे जाने वाले खेत स्वामी निवास और घरेली पर रम जाने के प्रमाण हैं। किन्तु आबादी के विभिन्न स्तरों ने किस माग में कृषि-कर्म ब्रह्म किया, किस सीमा तक आर्यों और मूल निवासियों में पारस्परिक भविष्य संबंध स्थापित हुआ था? इसके संबंध में विस्तृत ज्ञात नहीं होता। हर हाकट में नेताओं में बर्बरों से मिलते जुलते नाम ग्रहण किये जिससे उची समय कुम्हीन वर्ष तक में मिश्रण हो जाना स्वीकार किया जा सकता है।

वैदिक ऋषियों से माध्य-साहित्य की ओर जाने से भीमोक्तिक सीमाओं के पूर्ण की ओर फैलने और विस्तृत माया-सर्वनी गनीगताओं के प्रमाण तुरन्त मिलने समर्थ हैं। ये अतिम बातें क्या स्वानीय लोगों में आर्य भाषा के प्रचार के कारण थी? यदि धान की खेती का मतस्य एक बनी और मिरन्तर फँसी हुई आबादी से सूखे प्रवेष्टों के पशु पाठन और कृषि-कर्म की अपेक्षा अधिक मने सामाजिक संघटन से है, तो ऐसा मान लेने का सोम होता है, थी सिद्धों गंगा के मूमि-आर्यों में 'मिश्रण के उन प्रवेष्टों का, जहाँ भारतीय सम्पदा का अग्र हुआ जहाँ वर्ष-व्यवस्था का विकास हुआ' अनुमान करते हैं (वे० 'एसी है मूठी' ॥ पृ० १९ वाँ अध्याय)। किन्तु यदि माया का वाद का इतिहास इसका प्रमाण नहीं देता, तो हमें उसे अस्वीकार करने का अधिकार है। जो पोषियाँ हमने देखी हैं उनके उनके संबंध में कुछ ज्ञात नहीं होता वे सांप्रदायिक साहित्य की हैं। माया जो मंत्र-संक्ष-आदि का विरोध करते समय पाषाणि का प्रतिनिधित्व—मिरन्तर—कटती है, बाह्यम बर्ष की सीसी के अनुष्य है और वह पाषाणि के अग्र-स्थान घलातुर के लोगों की नहीं है। ईसा से १५० वर्ष पूर्व की खेती जो

उसके माध्यकार दक्षिण-निवासी फलजति का प्रतिनिधित्व करती है मध्य देश में खिसा-प्राप्त ब्राह्मणों की संखी का उदाहरण है। संस्कृत एक वर्ग की संपत्ति और सांस्कृतिक भाषा है। क्योंकि उसी समय कस्मिन् का राजा सारवेक अपने वीर-कृत्य एक ऐसी मध्यकाशीन भारतीय भाषा द्वारा बतता है जो उसी समय परिष्कृत हो चुकी थी एक शताब्दी पूर्व, वे अमिसेक जिनमें असोक ने अपनी जनता को संवापित किया है विभिन्न बोलियों की विशेषताओं से युक्त मध्यकाशीन भारतीय भाषा से प्रकट हुई हैं, और उससे भी पहले संभवतः प्राचीन साहित्य की निस्तन्वेह हर हास्य में ब्राह्मण कर्मों के विषय में रचना-विधि के समकालीन महान् धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों की ओर जन मनों का इसी सामान्य भाषा में प्रचार हुआ था।

उस समय के बाद संस्कृत निर्जीव नहीं हो जाती बल्कि महीन प्रयोग ग्रहण करती है। विशेषी विज्ञता राजकीय अमिसेकों के लिए उस पर अधिकार प्राप्त करते थे १५० (?—अनु०) का ईरानी राजाबामन का खिसा-लेख संस्कृत में है, जब कि उसके सातवनी (सातवर्गी ?—अनु०) प्रतिद्वन्द्वी भारतीय माध्यम का प्रयोग करते हैं (ए०० सेबी जे ए० ए० १९०२ I, १०९) कुछ बौद्ध संभवतः ने अपने धार्मिक नियम संस्कृत में लिखे हैं स्वयं ब्राह्मणों ने उसका मौखिक विज्ञान जैसे चिकित्सा या कर्म के लिये ऐसे साहित्य महाकाव्य के लिये जिसके द्वारा सर्वसाधारण को उपदेश दिया जा सकता है, प्रयोग किया। किन्तु इन बनों अथवा नये बसे हुए लोगों को संबोधित करने के लिए, संस्कृत की प्राचीन रूपात्मकता दूर करना अनिवार्य था।

उसका व्याकरण सरल हो जाता है, वैसे कि एक ऐसी भाषा में होना चाहिए जो बंदी (native) नहीं रहे जाती और जिसका समझना अनिवार्य हो जाता है, उदाहरणार्थ उसमें विकरणयुक्त संज्ञाओं के करण० और कर्ता० बहुवचन में केवल प्रत्यय रहे जाता है यह सरलता किये में विशेषतः प्रकट होती है जहाँ परिवर्तन कम पूर्वतः लुप्त होने लगते हैं जब कि दूसरी ओर साहस्य में सामान्य रूप पाये जाते हैं। रूप-विचार के विपरीत प्राचीन शब्दों के अप्रकटित हो जाने पर भी सम्भावनी अत्यधिक समृद्ध हो जाती है और यह न केवल क्योंकि पौधियों में नये विषयों का निरूपण होता है, बल्कि क्योंकि नवी आर्य बोलियों और देशी भाषाएँ महीन शब्द के जाती हैं। इस प्रकार संस्कृत समाज के उच्च वर्गों की भाषा रहे गयी किन्तु इस संस्कृत और वैदिक (संस्कृत) के बीच अन्तर मिळता है।

इसका निष्कर्ष है कि यह भाषा किसी प्रकार का ऐसा साध्य नहीं है जिसका भाषा विज्ञानी सीधे-सीधे उपयोग कर सकता हो यह उसे यह प्रकट करने की सुविधा प्रदान करती है कि संस्कृत के रूप में पुरानी भाषा परिवर्तन के लक्षण ग्रहण किये हुए थी किन्तु

यह मध्यकालीन भारतीय भाषा के परिवर्तन-क्रम के रूप में माना जाना चाहिए। यह कोई संयोग नहीं है कि महाभारत में अनङ्ग ऐसे छन्द मिलते हैं जो बौद्ध धार्मिक नियम की छन्द-सूची में फिर मिलते हैं साथ ही अमिक उचित रूप में, जो अवेस्ता और वेद से मिल नहीं पाते एक ही भाषा के ये दो परिवर्तन क्रम हैं, जिनका विकास वास्तव में कर्त्तवीरुक्त संस्कृत छिपाये हुए है और जिनकी प्रकृति ठीक-ठीक रूप में मध्यकालीन भारतीय भाषा में प्रतिबिम्बित होती है।

तब भी महाभारत स्मृतियों आदि की संस्कृत एक ऐसी मध्यकालीन भारतीय भाषा पर आधारित है जिसे वह कृत्रीम रूप प्रदान करती है। बाब का कर्त्तवीरुक्त साहित्य साधारण बोलने वालों से पूर्वतः पृथक् हो जाता है, इस काल में मध्यकालीन भारतीय भाषा अत्यन्त प्रथमिय रूप में विविध भाषाओं की सामग्री प्रस्तुत करती है—गीति-कविता की नाटक की उपदेश की संस्कृत फिर से एक संप्रदाय की भाषा बन जाती है जिस तक केवल संस्कृत की पठने की, 'विश्वामि' से अमिक सामान्य प्रयोग ग्रहण किये किन्तु वह 'जोई' से पृथ्वी का केवल स्पर्श करती है' (एच० ऐपी)। उसका व्यवहार करने वाले विद्यार्थियों को उसके साथ मगधी की लीके से लेक करते हैं वे उसके परंपरागत व्याकरण का पूर्ण कट्टरता और भ्रूषण तक के साथ प्रयोग करते हैं जैसा कि संधि और सामान्य धार्मिक शब्दों के अत्यधिक विस्तार में पाया जाता है, जहाँ तक उसके शब्द-संग्रह का संबंध है, वे कुछ शब्दों की जगह वैदिक शब्द प्रदान करते हैं (श्लोक—'पठ'), वे आसिक पर्यायवाचियों की तुलना पर अर्ध-विस्तार करते हैं (इन्द्र-के अनुसार मुद् 'जोई' अन्तर-के अनुसार बरु 'आकास') वे उससे मनमाने व्युत्पन्न (शब्द) निकालते हैं श्री वाकरनागेल (Wackernagel) ने लिखा है कि वे किस प्रकार एकमूलक नितापी शब्दों में से एक शब्द में अर्ध-विज्ञान करते हैं (पाठ्य—'विद्येय, चरित' पाठ्य—'आमय देना रक्षा करना', रम्—'ग्रहण करना' लम्—'पाना, सेना', दुक्—'ग्रह विद्येय' 'वीर्य', दुक्—'उग्रद')। किसी भी विविध भाषा में ऐसी विविधताओं पर नियंत्रण नहीं होते, भाषाविज्ञानी यदि कर्त्तवीरुक्त संस्कृत में शैली के इतिहास के अतिरिक्त कुछ और जोड़ता है तो उसके हाथ लगभग कुछ भी नहीं लगता।

मध्यकालीन भारतीय भाषा की ओर फिर से आइए, हमने देखा कि जिसका विकास उस युग से पहले का है जिस महाभारत नामक महाकाव्य से चोटित किया जा सकता है। बौद्ध सनातन जनों के विचारधारा के रूप में (ईसा पूर्व २७० मा २५० के लगभग) हमें उसका एक सन्तति साध्य मिलता है जो साथ ही संपूर्ण भारतीय इतिहास का प्रथम सन्तति साध्य है। उसकी तिथि और उसकी सापेक्षिक निष्पत्तता

के अतिरिक्त अनेक वास्तविक भाषाया का तत्कालीन ज्ञान कराने में उनका काम है जो सरथोर्ध्व प्रियसंन कृत 'लिन्विस्टिक सर्वे' के संपादन होने के समय तक विमिश्रण है।

ये चार वर्गों में विभाजित हैं भारत के उत्तर-पश्चिम की ओर सीमा पर खरोष्ठी (अथवा खरोष्ठी आर्यमानी कृत हस्तलिपि से उत्पन्न) लिपि में लिखालेख जिनमें संस्कृत ऊष्म विद्यमान हैं जिनमें 'श्' का ऊष्म + 'श्' का ईरानी रूप है, जिनमें विकरणयुक्त रूप पुंल्लिख्य संज्ञाओं का अधिकरण -ए या अस्ति में है गिरनार के लिखा लेख जिनमें 'श्' 'स्' 'श्' 'स्' हो जाते हैं जिनमें संज्ञाओं का अधिकरण -ए या -अन्धि में है गंगा की बाटी और महातवी के उद्गम के लिखालेख जिनकी विशेषता ए के स्वाग पर श् के प्रयोग संस्कृत अंतिम -अ से उत्पन्न -ओ का -ए में परिवर्तन मध्य वर्तमान काठिक इन्द्र -अ (स्) सि में सामान्य एकवचन अधिकरण आदि में है। अंत में दक्षिण का लिखालेख जो इसके अतिरिक्त कि उद्यमें ए कम-बढ़ रूप में क की ओर समझ पड़ता है अंतिम से साम्य रखता है भारत के लिखालेख [स्वर-मध्यग ए ए एक साथ किन्तु बिरट (बिरट ?-अनु) नामा अर्थ विस्तृत समीप नहीं है] सीधी वा स्तंभ रूपताए और दूर दक्षिण में तुंगभद्रा (मस्की सिद्धपुर, कोयबल एरगुबी) की बाटी का संपूर्ण (सोपरा ?-अनु०) समुदाय अत म पश्चिम की ओर सोपरा का संबंध इसी समुदाय से है।

यह विभाजन मात्र साहित्यिक बोलियों में से कुछ के साथ निदान्त साक्ष्य-बिहीन नहीं है उत्तर-पश्चिमी समुदाय का ह० दुनु सं साम्य है गिरनार बौद्ध पाठी के निकट है गंगा बाका समुदाय कर्नाटकस नाटकों की भाग्यी के अन्त में दक्षिण में सुरसिद्ध ए और -ए में कर्ना एकवचन का सहअस्तित्व वैन वर्म नियम की याद दिखाता है। किन्तु इन समानताओं को गभीरतापूर्वक लेने से दो मुख्य कर्नाटकस प्राणियों की यद्यपि उनसे भीषोक्त नाम हैं तुष्यता का अभाव मिस्रता है औरसनी और महाराष्ट्री। इसके अतिरिक्त अयोध के समय के समय निकट के कुछ लिखालेख मिळते हैं जिनकी विशेषताएँ उनके लिखालेखों से केवल आधिक रूप में मिस्रती हैं। ऐसा भाग (की बोलियों) के संबंध में समीप के ऊष्मों की विविध अनुमेखन-पठनियों में (सीगोहर में उसने वीरबा में लिखित किन्तु रामगढ़ में द्वातरक बरबर में रूपस्था अयोध के वीर का नाम) मिस्रता है। कुपाणों के लिखालेख और सहबाबगड़ी की बोलियों में भी समानता है किन्तु कुछ विरोध भी है बिरह बनाने में समय का स्पष्टचान अत्यन्त है। 'गंगा की' अयोध-सीधी में लिखित सोपरा बाका अर्थ एक एते प्रदेश में मिस्रता है जहाँ ए और कर्नाटकरु भा वाले लिखालेख अंत है (साहित्य नामापाठ कर्में कुपा) मध्य भाग में भी रूप्य मरहून मिस्रता बेमनवर, भाषी में यही बात है। पूर्व की

बोर, धौली के अति निकट उदयपिरि में अशोक से एक घताम्दी बाद पारबेठ की प्रचलित यही विवेकपूर्ण प्रस्ताव करती है।

भौगोलिक स्थानीयता की अपेक्षा और बातें भी विचारणीय हैं, किन्तु समूचे दक्षिण प्रदेश में इण्डा के निम्न भाग में गिस्तामेख धारण किये हुए स्तूपों की भीति—जिनमें ५ और जो हैं—गुप्तकालीन समुदाय का अस्तित्व उन बातों की मार संभल करने के लिए घबरेल हुआ।

तो प्राचीन उत्कर्ष क्षेत्रों से यह सुरंग जात हो जाता है कि मध्यकालीन नारतीय भाषा विभाजित थी और कुछ भाषाएँ अपन प्रबल क्षेत्रों से बाहर फैल गयी थी। किन्तु नक्षत्रों के विस्तार के उन क्षेत्रों को बचाना असंभव है। केवल भागपती का विस्तार स्पष्ट है। इस दृष्टि से अशोक की बोली को, जिसके चिह्न पश्चिम में दिल्ली और उसके बाहर तक मिलते हैं, पूर्वी कहना उचित होगा। अन्य सामग्री विभाजन के केवल नवीन प्रमाण दती है, और स्थानीयता की नयी समस्याएँ प्रस्तुत करती है।

बाँदों की कृपा से, हमारे पास उन भाषाओं के संभव में कई प्रमाण मिलते हैं जो ऐसा प्रतीत होता है, बँयाकरणों द्वारा व्यवस्थित नहीं हुईं जो किसी भी ह्रास में गंवा की बाटी वाले भाषा से आयी हुईं भाषाओं द्वारा परिभाषित नहीं हुईं। असम के पश्चिम में—गुहवाबगढ़ी के मूमि-भाष में—प्रतीकमिक कृपाय विभाजिता का उल्लेख किया जा चुका है किन्तु जो दक्षिण में मौहूँबोदको तक और पूर्व में मधुरा तक मिलते हैं वे प्रत्यक्ष भाषा में संबंधित हैं, या एक ओर गुहवाबगढ़ी के सिखाळक की लिखावट में और दूसरी ओर दुमु० की हस्तलिखित पोथी में, ईसवी सन् के लगभग पंचाशत् से अष्टाशत्क के बीच हुए एक धर्मपत्र के अंश अंत में कुछ विस्तार की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में, निय (Niya) और लोप-नोर (Lop-nor) तक प्राप्त अभिलेखों की भाषा की लिखावट में स्पष्ट—और संभवतः कुछ-कुछ उस लिखन की विधि पर निर्भर—है। किन्तु यह अंतिम क्योंकि यह व्यावहारिक बातों की भाषा के समुच्चय और साहित्य से स्वतंत्र है और क संसर्ग से बहुत विकसित हुई है इसके अतिरिक्त कुछ स्पष्ट अंतर हैं। अशोक काका अधिकतर एकवचन-अस्ति फिर अन्य छात्राओं में नहीं पाया जाता और कृपाओं का—अ(म्)मि निय का—अभि भी धर्मपत्र में विद्यमान धर्म रूप के स्थान पर संबंधकारक हो जाता है नहीं है जिससे वा० अस्मिन् कारक परमूहि च—इस लोक में तथा दूसरे में—के विच्छ अस्मि छोड़ि परसमि जाता है। केवल ह० दुमु० में अनुनासिक के बाह्र माने वाली स्पर्श ध्वनि का मुखरीकरण हो जाता है जब कि अशोक के छात्राओं में पूर्वकासिक इच्छ वि अथवा-नु में कृपाओं के में-ठ(रित) में है तो हस्तलिखित पोथी

कित्त्व (पा० कर्त्वा) बिच्चन (पा० बिच्चान) बनाये रखती है और कुपाण लिखिय के बिच्छ बही निहै (पा निमाय) प्रस्तुत करती है बिकरबयुक्त रूप का कर्त्तकारक एकबचन पुलिग्न अशोक के श्लेषों में—ओ बुनु० में—ओ या—उ में होता है, किन्तु बरबक (Wardak) वाले को छोड़ कर सिन्धु के पश्चिम वाले शिलाशेषों में—ए (बुदे हुए 'बुदे हुए कृद') है निय वाले में कर्त्तकारक का अन्त बरबक बाता है किन्तु तबे (तत) बंसा कि बसोक वालों में) प्रकार और खुदेमि मने मून सिमा है' का मबीन रूप प्राचीन—ओ के परिवर्तन को ही प्रदर्शित करते हैं।

क्या यह अंतिम परिवर्तन स्थानीय प्रमाओं के कारण है (दे कोनाम 'सरोष्ठी इस्किण्यन्त' पृ० ८८८) ? इस परिस्थिति में अशोक के गया की बाटी वाले शिलाशेषों (अशोक० तल्लिकाले मुखे ततोपञ्चा की निय खोतनदे तबे ततोपञ्चा ७२२ बी ८ से समामता इष्टम्प है) में मिलने वाली एक ही बातों के परिवर्तन से उसे पुनक कला बाहिए, और उनसे ओ सिहक में भी मिलती है क्योंकि सिहकी उत्कीर्ण केन्द्र-बिद्या अशोक की तरह की छिपि में जिनसे मये छोटे शिलाशेषों में अभिष्यक्त हुई है महुमेने.....सयस (उसी समय महाप्राणत्व का शेष देखिए) दिने—'संघ को बी-पयी बड़ी गुळ ।

किन्तु ज्ञात भारत के स्तूपों के शिलाशेषों में यह अंतिम—ए नहीं है। वे सब सिहकी धर्म-नियम की भाषा पाणी के उससे साम्य स्थापित किये बिना निकट हैं। उवाहरनाथ मीची और भरतुत में अपादानार्थक—ओओ पा०—अतो में है महु अन्तर कास-कम के कारण हो सकता है किन्तु मिष्ट (मिष्टु) रूप पा० मिक्नु सं मेक नहीं जाता महुवा मुसा (स्तुपा) पा० मुहा हुसा (किन्तु यह पूराप रूप कुछ तीव्र) सं मेक नहीं खाते। पहाँ तक स्वर्ण पाली ओ सिहक में छापी गयी है, से संबंध है, यह कहाँ से आया ? बौद्धों ने उसे मागधी नाम दिया है, यह उसके भाषा-विज्ञान वाले रूप के अनुरूप नहीं है किन्तु यह बात स्पष्ट हो जाती है यदि हम भी प्रिजिस्तुकी का यह रूपन स्वीकार कर लें ('स सेजाद द क्षीपर्यार अशोक' पृ० ७२ ८९) कि धर्म नियम कोलाही में लिखा गया था जहाँ 'पूर्वी' बौली में अशोक का एक शिलाशेष वास्तव में मिलता है तो भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि बौद्ध संघ की भाषा कहीं और से आयी भरतुत सीबे ही किमोमीटर से अधिक है और इसके अतिरिक्त यह देता था मुका है कि वहाँ के शिलाशेष बिस्फुस ठीक पाणी में नहीं हैं। और दूर खोज की यपो है स्वर्ण उर्दीन में तल्लिकाल में बिना निरिचत प्रमाओं के। बिनु एक और तो पाणी वा ठीक-ठीक उत्पत्ति-बिन्दु और इस संबंध में युगकी स्थानीय भाषा के मूल प्रमाण कि यह भाषा हमारी पीबियों की पाली से निस्तंरह मेक

नहीं खाती घोड़े जाने चाहिए। क्योंकि परंपरा के अनुसार घरबाद का धर्म-नियम सिंहल में इसी सन् स कुछ पूर्व लिपिबद्ध हुआ था। दूसरी ओर ४३० ई० क समय, समय के एक ब्राह्मण ब्रह्मपीठ के, जिसे संस्कृत न कबल जान थी किन्तु उम समय जब कि उसकी टीकाएँ लिपिबद्ध हुई वह विद्यमान थी निरीग्रम में उसकी टीका हुई थी और यह अनुमान किया जा सकता है कि उसका पाठ संस्कृत भाषा को ध्यान में रखत हुए दुहराया गया भी है। सबसे प्राचीन लिपि जो हस्तलिखित पाण्डियों की परंपरा को पुनः स्थापित करती है १२वीं शताब्दी क है जब कि बंयाकरणी ने सामान्य भाषा का लिपिपूर्वक वस्त्रेण किया है (एच० स्मिथ 'सर्नीति' पृ० ५६)। इसक अतिरिक्त पुष्पवाचक शत्राओं और पारिभाषिक शंभ्राओं की कुछ अतिप्रामाण्यताओं के कारण थी ए० लबी (जे० ए० एम० १९१२, II पृ० ४९८) ने भाषा-विज्ञान को दृष्टि से एक अति मिश्रित 'पूर्व-धर्म नियम'-भाषा क बहुत पामे हैं और जो अतीत-कालीन पवित्र पोषियों का संकलन करते समय काम में लयी जा चुकी थी (यह बाल्मिकि बौद्ध 'मागधी' तो नहीं है ?)। जो निष्कर्ष यह निकलता है कि जैन धर्म-नियम जो बौद्ध धर्म-नियम के समय समयकालीन होने चाहिए, संभवतः एक एसी भाषा में मुरझिन हुए थे जिसका रूप कहीं अधिक प्राचीन वा बौद्धमत क विपरीत जैनमत में 'कहना चाहिए, मड़े-भागपी को मूक आहार मान कर, उस पवित्र भाषा के रूप में ग्रहण किया' (ए० लबी), राजकीय सारवेर की, प्रमन्ति के लिए, एक अधिक श्रेष्ठ वाली क निकट, भाषा का प्रयोग होते देखा जाता है किन्तु दोनों भाषाएँ साहित्यिक भाषाएँ हैं और लोक-प्रचलित भाषाओं की अनुकरण-भाव न हों यह बात अनक रीती-रुतों की श्रुतता से तुल्य प्रकट हो जाती है।

बौद्धों ने ठीक—विना संस्कृत भाषा के—एक और साहित्यिक भाषा का व्यवहार किया है। मगध में संस्कृत के अति निकट किन्तु अगुय, रीती में लिखित जैन बौद्ध धीर साय ही ब्राह्मण शिलालेखों का एक पूरा मंडार है उनमें अपादानार्थक पुस्तिका-आतों में संबंध० एकत्रचन-आय में संबंध० पुस्तिका जैसे मिश्रो मिश्रुती तथा मिश्रुत्य, करण० बिचरे पाय पाठ हैं और नेपास में भी अल्प न मिशने वाली किन्तु मगुय के शिलालेखों में मिश्रुती-बुद्धी 'मिश्रित संस्कृत' म बौद्ध धर्मों का रूपान्तर हुआ है जहाँ में संस्कृत लिखन का निरर्थक प्रवास नहीं बरन् कुछ-एक स्थानीय भाषा को साहित्यिक रूप देने की व्यवस्थित श्रेष्ठ है, बोली की मसम्बद्धता न केवल एक पीढी स दूसरी पीढी में बरन् सनान पाण्डियों में हर हास्य में यह निश्चय करने के लिए श्रेष्ठ है कि वह केवल प्रतिकृत मात्र नहीं हो सकती।

परि क्वैरीकल साहित्य की श्रावणों पर विचार किया जाय तो समस्या और भी

दुस्रहू हो जाती है। यह जो बात ही है कि नाटक में विभिन्न पात्र विभिन्न भाषाएँ बोलते हैं संस्कृत राजा और ब्राह्मणों से शौरसेनी स्त्रियों और बौद्ध दर्जे के लोगों से इसी प्रकार मागधी ब्राह्मणों से सबध रखती है इसमें ये सब कर्णों के लिए नियत महाराष्ट्री को भीर उत उत-बोक्तियों की जिनके भारत से अक्षरों से अधिकतर बँयाकरण दबे रहते हैं, यचना नहीं है। मिथुन का सिद्धान्त भारतीय में असम्भव नहीं है यही नहीं कि रंगमंच पर भाषाओं के विभाजन संदर्भों की भाषाओं का विभाजन सर्वत्र प्रतिबिम्बित होता हो किन्तु एक स्वयं विभाजित समाज में और परिवर्तनशील कालों के कारण अत्यधिक विभिन्न (किन्तु वास्तव में संभवित) भाषाएँ सर्वत्र बाधा उपस्थित करती हैं। आज भी ए० के० चैटर्जी के रोचक वर्णन ('इंडियन लिन्ग्विस्टिक्स' १ में 'कैम्ब्रिज हिन्दुस्तानी' पृ० १२) में यह देखने को मिलता है कि कच्छकाल के एक मध्यमवर्गीय धनी व्यक्ति का घर 'बाबल की मीनार' हो सकता है। बुर्माप्यवध भाषाविज्ञानी के लिए, समाज का चित्र प्रस्तुत करने की दृष्टि से संस्कृत रंगमंच का उतना महत्त्व नहीं है जितना हमारी 'कमिडी ऑफ मैंगस' का वह वास्तव में जैसा कि ए० के० ने कहा है महाकाव्य और कथा के बुद्ध का रूपान्तर है। ऐसी परिस्थिति में पात्रों द्वारा प्रयुक्त मानी गयी भाषाओं के आधार पर उसमें प्रमाण खोजना मीथुन भ्रम होती। शौरसेनी जो वास्तव में आभार है, उच्च श्रेणी की स्त्रियों और निम्न श्रेणी के पुरुषों की भाषा नहीं है, किन्तु वह जिसका निस्संदेह धीमीकरण हो चुका था उन समुदायों की है जिन्होंने मधुरा से बाहर, भारत में रंगमंच का प्रचार किया नाटकों की मागधी धीमीकरण का परिणाम है यह इस बात से स्पष्ट है कि सं०-आ० व० लिए-ए० का प्रयोग केवल संज्ञाओं के कर्ताकारक एकवचन में हुआ है, अन्य अवसरों पर नहीं जैसा कि अक्षर में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त नाटकों की प्राकृतों का यह धीमीकरण कम-से-कम दो कालों में हुआ क्योंकि अश्वघोष के अक्षरण भास के बताये जाने वाले अथ और भरत के ग्रंथ में सुरक्षित मीथुन-संज्ञ भाषा की उन परिस्थितियों के घोटक है जो बघचीकस नाटकों से पहले की है इस युग की स्वयं परंपराएँ मिश्र हैं क्योंकि भारत के गीठि-छन्द शौरसेनी में है न कि महाराष्ट्री में [एम्० पीप IIIQ VII (१९३२) पृ० ९] और भरत अश्वघोष द्वारा समर्पित नाटक में अश्वमागधी को स्वीकार करते हैं (स्पृष्टं वृत्तपुरु वृद्ध० इमेन पृ० ४२)। हम उस प्राचीन शृंगार के जो वास्तव में कर्त्तव्यता की अपेक्षा सामान्य भाषाओं से कम पुष्क की और उल्लहरण ग्रहण करना पसन्द करते यह महत्त्वपूर्ण बात है कि भरत में विभिन्न पात्रों की बोक्तियों को 'भाषा' कहा है, न कि परबर्ती श्रेणियों की भाँति एक विशेष अर्थ-सहित 'प्राकृत' जिनमें प्राचीन 'प्राय' भाषा (हो सकता है

जैसा कि 'राजार्थों और श्रेयताओं की भाषा के विपरीत 'जनसाधारण की भाषा प्रस्तुत हो सकता है जैसा कि 'संस्कृतम्'—गिष्ट—की भाषा के विपरीत 'निम्न' की भाषा समझी जाती है) अर्थात् प्रतीत नहीं होता।

नाटक में विरचना के माध्यम से व्यापक महाराष्ट्रीय वा प्रयोग विद्वत्साधु महाकाव्य और लोकप्रिय गीति-कविता में विषय का दृष्टि से बहुत कम किन्तु दीर्घमत् अत्यधिक परिभाषित की दृष्टि से हुआ है। जन प्राकृत उनके निराल है। प्राकृत रूप ही है जिस दृष्टि से 'प्रकृत' कहा है क्योंकि वह सर्वाधिक विनमित है। उसमें स्वयं-मध्यम शब्दों का जो धीरमनी में अब भी मुखर (शेष) अक्षरों में पाये जाते हैं पूरा शेष हो जाता है—और फलतः उसमें 'मर्क'-मत् मर मय, मृग मृग-वा प्रतिनिधित्व कर सकता है। यदि मायकों के लिए अधिक-से-अधिक स्वर रखने का और विद्वानों के लिए अधिक-से-अधिक समस्याएँ प्रस्तुत करने का उद्देश्य था तो आधुनिक भाषा विज्ञानी के लिए भी यह महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उद्यम भारतीय श्राव्य भाषा के विकास की एक आवश्यक शक्ति का धारण होता है और साथ ही क्योंकि यह उद्यमक शक्तों का स्पष्ट करने की दृष्टि से प्रसंगिक है जो स्थान सँतित का है उसकी अपेक्षा अब भी अधिक आवश्यक भाषा संस्कृत तक पहुँचने की उपयोगिता मानने का अक्षर प्रदान करता है।

पूर्वजों की दृष्टि से अभी पर्याप्त का उल्लेख करना आवश्यक है, जो एक बार के प्रमाण के अनुसार एक बौद्ध संप्रदाय द्वारा प्रयुक्त हुई और आ गुमाद्वय के मध्यमवर्गीय महाकाव्य के लिखने में व्यवहृत हुई है। इस बहुलता के कारण कुछ शेष हैं। इस प्राकृत की प्रमुख विशेषता की मूलरूपा की कठोरता प्रमाणतः 'पिगाच जैमा' उच्चारण उसमें स्थानीयता अथवा (क्योंकि शैलीकरणों के अनुसार उद्यमक विविध रूप से) ठीक-ठीक स्थानीय रूपों को खोजने की संभवता मूल पायी जाती है।

प्रारंभ से ही अन्वयाहृत पाठित्यपूर्ण और अधिकव्यक्त कृषि प्राकृत साहित्य का अस्तित्व बहुत बार तक बना रहता है। वह अभी संस्कृत से अर्थात् निर्जीव नहीं होता। इस बात की संस्कृतपूर्वक रूपना की जा सकती है कि उद्यमक प्रकृति भाषाओं से पुनर्करण अनिवार्यतः अधिकव्यक्त स्पष्ट हो जाता है। यदि सामान्य रूप समस्त शिक्षा का आधार, संस्कृत से निकल सकते हैं, तो उनमें व्याकरण में अत्राप्त शक्तों के अर्थ या रूप संस्कृत की भाँति क्रमशः प्रवेश पा सके। एनी शानुओं और ऐम क्षेत्रीय शक्तों की आधुनिक शक्त-व्युत्पत्ति-तत्त्वज्ञ के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करना अत्यन्त आवश्यक है।

अंत में स्वयं प्राकृत का स्थान-भूत होना प्रारंभ हो जाता है। अभी ऐसी शक्ति भाषा द्वारा नहीं मिलने अपना निजी रूप प्रारंभ कर लिया है। किन्तु प्राकृत के अन्वय

एक नवीन भाषा अपभ्रंस द्वारा। अपने धार्मिक ग्रन्थों के लिए जैनों ने प्राकृत को बनाये रखा; किन्तु शेष के लिए उन्होंने अपभ्रंस को चुना—इस परिवर्तन का एक प्रधान उद्देश्य उससे देवी (शक्तियों) को निकाल देना था।

अपभ्रंस नाम स्थानीय नहीं है। प्राकृत और संस्कृत की तरह वह मुड़ है, और उनके विपरीत है। प्रारम्भ में उसका अर्थ था वह जो 'विषयवामी' है। परन्तुकि ने उसका प्रयोग अपने समय की संस्कृत में सामान्य किन्तु उनकी दृष्टि से बदबू, प्राचीन मध्य-काशीन भारतीय भाषा के कुछ रूपों के लिए किया है। जब कि मध्यकाशीन भारतीय भाषा उन्नत और आदर्श हो गयी थी 'अपभ्रंस' शब्द के अनुसार 'विभ्रष्ट' निरिभ्रत रूप से ऐसे रूपों को प्रभावित कर रही थी जो उस समय अधिक विकसित हो हो चके थे किन्तु जो साहित्य में आदर्श नहीं समझे जाते थे। लेकिन अब समय आ गया था जब कि न केवल उसके रूपों की कुछ संख्या प्राकृत में प्रवेश पा गयी थी बल्कि यह भाषा-स्थिति प्राकृत-समीप रचनाओं में स्वीकार कर ली गयी थी। छठी शताब्दी की एक काव्यशास्त्र-संबंधी रचना ऐसे ही वर्ग की है। इसी काल में बङ्गाली का राजा बृहसेन उसके पौत्र के अनुसार, संस्कृत प्राकृत अपभ्रंस तीन भाषाओं का उत्कृष्ट केलक था। और बाद की शैलाकार्यों ने प्राकृतों के साथ-साथ इस भाषा पर विचार करते समय प्राकृतों के साथ उसका समन्वय किया है। वास्तव में उसका सबसे अधिक प्राचीन प्रमाण जो हमें उपलब्ध है वह अधिक-से-अधिक सन् १००० का है और राजस्थान तथा गुजरात के जैनों से संबंधित है। लिखित रचनाओं के लिए आवश्यक प्राकृतीकरण को वास्तव में निर्धारित करने वाली भाषाओं का उस पर प्रभाव प्रतीत होता है। तत्पश्चात् अपभ्रंस अपने जन्म-स्थान से विच्छिन्न हो जाती है और समस्त उत्तर भारत में फैल जाती है। जैन धर्म ही उसका अकेला कारण नहीं है। उदाहरणार्थ और महाकाव्यों की दृष्टि में उसके रूपों का मिश्रण मिश्र जाता है। बहुत शीघ्र ही परवर्ती बौद्ध ग्रंथों द्वारा समर्पित एक पूर्वी रूप मिलता है जिसका प्रभाव मिथिला के विद्यापति कृत बँपना पदावली पर पाया जाता है और कुछ अंशों में प्राकृत शब्द-शास्त्र 'प्राकृत विमल' के उदाहरण प्रस्तुत करता है। भाष्यकारों ने उसे सुरंत ही मूल रूप और स्थानीय व्यक्तियों की याद दिखाने वाले 'अपभ्रंस भाषा' नाम से पुकारा है।

अपनी पूर्ववर्ती साहित्यिक भाषाओं की भांति अपभ्रंस का प्रसार उन प्रदेशों में स्वभावतः सरलतापूर्वक हुआ जहाँ भाषाएँ अपने मौखिक रूप से बलव नहीं हुई थीं और जहाँ राजपूत चारणों की भांति बहिष्कृत अपने जनक भाषाओं के ज्ञानरत्न में उसे एक अतिरिक्त गुण समझते थे। उसमें लिखित ग्रन्थों में किसी व्यक्ति द्वारा जोड़ करके समय उक्तसम में डालने वाले उच्च तथा संघट रूपों और साम्य भाषाओं के मिश्रण स्पष्ट

हो जाते हैं। अपभ्रंश प्राकृत के साथ अनिश्चित कभी-कभी बहुत अधिक परिमाण में मिश्रित है इसके अतिरिक्त वह नवीनता-सूचक 'बोलीपन' ग्रहण करती है अस्तु उससे माया-संबंधी एक स्थिति का पता चलता है, न कि एक भाषा का।

यह तो यथेष्ट रूप में ज्ञात है कि इससे वह अपवाद प्रस्तुत नहीं करती प्राचीन भारत की एक भी लिखित माया का स्पष्ट प्रमाण ही दृष्टि से मूल्य नहीं है। क्योंकि सखकों के लिए जो महत्वपूर्ण है, जो उन्हें अभिष्यन्ता का मापन चुनने के लिए प्रेरित करती है वह न जातीयता है और न प्रादेशिकता बल्कि कर्मसिद्ध प्राकृत के संघर्ष में देला जाता है, वह ही जन-स्यवस्या द्वारा (विमिश्रित) मनुष्यों की भाँति कठोरतापूर्वक विमिश्रित शैलियाँ (genres) हैं। स्वयं वेद में निचियों की विभिन्नताएँ कार्य प्रयोग की निरंतर सममानताओं के कारण हैं। स्वयं उपासना-व्यक्ति-संबंधी पाठ जो बाद के प्रतीय होते हैं उन संप्रदायों की रचनाएँ हैं जिनकी भाषा निस्संदेह पूर्वकालिक कवियों की अपेक्षा और उन बौद्ध संप्रदायों की अपेक्षा जो साथ ही संस्कृत तथा स्वयं शैली-बद्ध हो गये मध्यकालीन भारतीय भाषा के विभिन्न रूपों का प्रयोग करते हैं, स्वाभाविक भी थी। वहाँ एक उत्कीर्ण कक्षा से संबंध है अशोक के सेल एक सुन्दर अपवाद है तो भी इस बात की कल्पना की जा सकती है कि सूक्ष्म विस्लेषण द्वारा उनके रूप प्रकट हो जायेंगे जैसा कि उद्धरणों से उमका स्पष्ट होना ज्ञात है। हर शाक्य में दक्षिण के कुछ उत्कीर्ण श्रेण खालेक की प्रसक्ति की मित्रता केवल प्राचीन मघ की बोली के कारण है।

तो मध्यकालीन भारतीय भाषा की विविधकल्पता मायाशास्त्री के लिए बहुत कम सहायक है। मायाओं की स्वामीय बनाना वर्तमान है उनकी भाँतिक विवेक छात्रों द्वारा उन्हें निर्धारित करना, उनके अपने काम के ही अनुस्यू केवल एक दुर्बल रीति से ही हो सकता है, जो सामान्यतः स्वाभाविक और एक बाह्य रूप के जो संस्कृत का है, अनुकरण पर नियमित है। इसलिए अधिक उत्तम प्रणाली जो इस कार्य को संपन्न करने के लिए बहूज की जा सकती है और जो हमारी योजना के अनुकूल भी है, वह साक्षी बेचने में नहीं बल्कि भारतीय भाषा की क्रमागत स्थितियों के चिह्नों पर एक साथ विचार करने में है। बीच की श्रेणियाँ जानने अथवा अपूर्ण विकासों का अनुमान करने की अपेक्षा दोनों में से किसी एक में उपलब्ध विस्तारों से उसे निर्धारित करने से हमारे उद्देश्य की पूर्ति कम होती है।

साथ ही यह रूप स्वयं भारतीय सम्प्रदाय की एकता द्वारा समन्वित है इसलिए उसके द्वारा अभिष्यन्त साहित्य की विशेषता एकदम एक विस्तृत क्षेत्र में असाधारण अभिव्यक्तता में, और एक उचितशासी सामाजिक संघटन में है जो असंख्य विधियों

ब्राह्मण बर्षपत्र श्रेणी-विभाजन-संबंधी कल्पना खारने बाका है, जिसमें संस्कृति का अधिकारी और व्यवस्थापक ब्राह्मण सबसे आये है।

यह कोई नहीं जानता कि भारतीय-आर्य भाषा के विभिन्न रूप विभिन्न सामाजिक वर्गों में अपना अनेक क्षेत्रों में कितनी गहराई तक प्रवेश कर चुके हैं। राजनीतिक इतिहास भाषाओं के क्षेत्रों और विकास-शक्ति पर कोई प्रकाश नहीं डालता किन्तु भारतीय संस्कृति की एकता बहुत प्राचीन है। ग्रीक यात्रियों ने गंगा की बाटी में दक्षिण के राज्यों का अस्तित्व पाया था और उमिद की अत्यधिक प्राचीन कविताओं में संस्कृत का प्रभाव मिलता है। भाषा-संबंधी एकता की सीमाएँ ये ही हैं जो स्वयं ब्राह्मण-वर्ष की हैं। केवल बहुत दिनों तक बौद्ध धर्मावलम्बी उत्तर-पश्चिम (जहाँ वैदिक शिक्षा अब तक पाये जाते हैं, जैसे बसेरुवा जाति का नाम जो निस्संदिह उसी वर्ग का नाम है जिसने हमारा धर्मोद्धार सुरक्षित रखा है) और कंका जो अब तक बौद्ध है उससे बाहर रह जाते हैं। जो कुछ है या कम-से-कम जो कुछ उपयोगी है वह एक अप्रमत्त संस्कृत की उत्तमविकारिणी एक सामान्य मध्यकालीन भारतीय भाषा है।

अपना समझ ऐसा है। क्योंकि कुछ स्पष्ट अवश्य इस बात के प्रमाण हैं कि भारतवर्ष में जिसे हम वास्तव में संस्कृत कहते हैं उसके अतिरिक्त अन्य भाषाएँ थी थीं। वास्तव में यह जान कर आश्चर्य होता है कि एक व्यापक क्षेत्र में प्रचलित प्राचीन 'भाषा' के विभिन्न रूप न रहे हों और फिर स्वयं भारतीय-आर्य भाषा की सीमाओं और उनसे उसके साहित्यिक तथा सामाजिक स्थान को कुछ और निर्धारित करने पर ध्यान देना या अनुमान करना रोचक होता।

पाली में इस प्रकार के संकेत अधिकतम संख्या में उपलब्ध होते हैं। वास्तव में यह एक ऐसी भाषा है जो कसैसीकल प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत पर विस्तृत ही कम निर्भर है। इसके अतिरिक्त उसका अपेक्षाकृत प्राचीन रूप निरूपण को अधिक विरिधत बना देता है। पाली वैदिक प्रयोगों को सुरक्षित रखती है जैसे कौबत् कौब कितना—(संस्कृत के कौबत्-का स्थान कौबत् ने से लिया है) किनाति-करीवना—(बौ० कीजाति का पहला स्वर, अनुसंधान के रूने पर भी राज्य-भूतपति-विज्ञान के नियमा नुसार, प्रुप्त हो जाता है) वैदिक काल में ही परिवर्तित भारतीय रूप उसमें और भी अधिक है। महित लिपा इया—मधिक गुड रूप पृहीत इय—मही पातु—वृष्टि में अग्नि-विज्ञान की वृष्टि से उच्चवि—सुर जगह—का पर प्रत्यय इहूँ अपर्ष० प्रातु तुल० मू प्रातद् और संस्कृत उत्तराहि—उत्तर में के पर-आयय की अपेक्षा कम परिवर्तित होता है। अर्ष० अतीक—(बा० सं०) 'दर्यीक' की अपेक्षा पा० 'मौलक'—बिह्व निप्या—बम्मिक—'पीटी' का अधिक स्वाभाविक (तथा कम प्रचलित?) एक

ही प्रकार का पर प्रत्यय है, संस्कृत स्त्रीयु स्त्रीबन्-वा० सं० अस्नाबिर-(बे० टनर, ३.४ 'महर') के विपरीत अ० स्नावर-स्नायु पृष्ठा-में पा०-न्(भ)हाइ की व्याख्या का एक अंश निम्न आता है अ० हामा-बही-में पा० साम-समान-की, पु०का० सँय अ० 'से गाया० होइ में प्रा० से-उसका उमडा-की अनुरूपता निम्नी है। साथ ही ईरानीही एव ऐसी भाषा है जो ऐसे समानान्तर उदाहरण प्रस्तुत जिनमें प्रा० स् संस्कृत 'ख' क और 'भिय्यो-अपिक्-(सं० 'भूय') मभिय्यत् 'हेहिषि' सामान्य अतीत (२०१) अहेषि' तुल० पु० छा० आन्त्याय ३ एक० 'बिप्यो-बह हो-म० 'प्रिओ' (सर्मीति पु० ४६१ २ ८) के विषय क अनुरूप है यह पूछा जा सकता है कि क्या अशोक द्वारा कासमी में प्रयुक्त पुस्मिग 'इय' वही प्राचीन प्रयोग नहीं है जो प्राचीन छारवी में है (बाबनिस्त 'सुदी बाल्तीनी' III १२७ यह ठीक है कि दूसरी ओर पा० अ०मा० अय स्त्री सिग म है)। एम० एच० स्मिग म यह प्रदर्शित किया है कि आर्य भाषा से बाहर भी अन्य सादृश्य जोड़ना आवश्यक है जैसे सं० हि के विपरीत दु विषय के लिए [पा० वृत्तिय दूसरा, 'वृजिद्ध' दो बीम बासा 'दुपद'-वा पीर बाला तुल० डे० दुस्सेनस ओम्बी वृत्ति-नदीन का सेत (सेटीक) दुसेर्सीस—यो पहियों की गाड़ी] प्राकृत संबंधभाषी यह, तुह और निस्सदेह बहुवचन के लिए, कर्म० अह (म), 'उन्ह'- (जिससे सिंहली 'उम्ब' बना है)।

अस्तु, धार्यों के उद्गम संस्कृत में किन्तु उससे बाहर भी एक साथ जोड़ने होंगे जैसे पा० 'उपादि'-आधार-सामान्यत उपादा' के विपरीत पड़ता है, जैसे वैदिक 'निभि' निभा'-के उसका संस्कृत सापुंस 'उपाधि'- एक अन्य भातु से बना है। और बीच के रूपों के ज्ञान के अभाव म कठिन रूपों की व्याख्या प्राप्त करने पर ही विद्यपत निर्भर रहा जा सकता है इस प्रकार, मभिय्यत् के जैसे बहिस्वति एहिति।

अस्तु, प्राकृत की 'दियों' का एक प्राचीन पूर्व-रूप है और वह बहुत रोचक है क्योंकि इससे उसे छोड़ कर अज्ञात भाषाओं क अस्तित्व का पता चलता है। 'दियों' केवल संमी और आज भी पायी जाने वाली भाषाओं की शब्दावली में सिमे गये अर्थों की आर संकट करती है।

आधुनिक भाषाओं का अर्थ किस समय हुआ ? कोई नहीं जानता। यह अनुमान किया जा सकता है कि यदि छठी शताब्दी में अपभ्रंश सिन्धने की प्रथा थी तो वह भाषाकी जिस अवस्था क अनुरूप थी उसकी उत्पत्ति गुजरात में हुई (और) जो प्राकृत के समकक्ष रही जान की दृष्टि से अपेक्षा प्राचीन हो चुकी थी। श्री हाहीनुस्सा के अनुसाराबंगाल में कन्हा (कन्ह-अनु०) इत अर्था सन् ७०० के लगभग की है। ये भीत अत्यन्त प्राचीन

रूप में हैं अल्पम मध्यकालीन भारतीय भाषा से अक्षयाव और अधिक हो जाता है, विशेषतः जब कि प्राचीनक प्रबंध बहुत बुरे हैं। कुछ संक्षिप्त मराठी सिमासेख राजपूत राजकुमारों का एक छोटा-सा पत्र-व्यवहार, कुछ बंगला टिप्पणियाँ १२वीं शताब्दी की हैं किन्तु मराठी ज्ञानेश्वरी १२९० म समाप्त हुई एक और शताब्दी बाद गुजराती में एक संस्कृत व्याकरण १३९४ का है और उर्दू का प्राचीनतम प्रमाण येसू दरज की सूफ़ी रचनाएँ सन् १४०० के आसपास की मानी जाती हैं। केवल १५वीं शताब्दी में गुजराती के सर्वप्रथम कवियों का बिहार म बिद्यापति का और कश्मीर में महानय-प्रकाश का जो अभी निश्चित रूप से कश्मीरी नहीं है जाविर्भाव हुआ। मुहम्मद जामशी इत मरबी में छिलित पद्यावली और सर्वप्रथम असमी ग्रन्थ १६वीं शताब्दी के हैं सिक्खों के आदि-ग्रन्थ के प्राचीन भाग इसी काल के और बाद के हैं। यह बता देना आवश्यक है कि इन ग्रन्थों की परंपरा निश्चित नहीं है हम पूर्वीय राज राजों की यचना नहीं कर सके जो अपने आकार के कारण बहुमूल्य है किन्तु जो सन्वेहास्पद है हरहालत में शेषकों से भर है ज्ञानेश्वरी का १५८४ में संशोधन किया गया सामान्यतः प्राचीन ग्रंथों की हस्तलिखित परंपरा का मूल्य मौखिक परंपरा से घायद ही मच्छी कही जा सकती है और यह स्वीकार करना चाहिए कि अभी तक उसकी परीक्षा का प्रयास नहीं हुआ। इतना सब कुछ कहने पर भी आधुनिक काल के केवल कुछ अच्छे प्रमाण हैं स्पष्टतः सर्वोत्तम प्रमाण वे हैं जो सर जॉर्ज ग्रिमर्सन इत अत्यन्त सुन्दर 'लिब्रिस्टिक सर्वे' में संगृहीत विमात्रित और प्रतिपात्रित हैं उनका और भी अनुत्तमय नाम सगभग पूरे भारतीय-आर्य-भाषा-भाषी और प्रायः उसके बाहर के प्रदेश में बीने जाने में है। बुरी तरह म रचित और अपन रचयिताओं की इच्छा द्वारा ही सुसम्भित और मिश्रित प्राचीन प्रमाणों का प्रयोग के लिए सर्वोत्तम कश्मीनी उसी में मिलती है।

भारतीय-आर्य भाषा का मानचित्र देखने से जो पहला सक्षम ध्यान आकर्षित करता है वह उसके क्षेत्र की अविच्छिन्नता है। यह सक्षम बाह्य सम्मता के जो यहूदई तक पहुँचने से पूर्व उच्च बर्णों द्वारा ऊपर भाग तक रहती है विस्तार के अनु रूप है आज भी यह देखा जाता है कि कुछ भाषाएँ पड़ोसी प्रदेशों के लोगों में जाती पयी हैं अंगरही भी यूनानी-सिंटियों और प्रमासनों द्वारा फैलती पायी जाती है आज जितना मध्यम बर्ण निर्माण करता है उसे अष्ट प्रयोग विछड़ा हुआ बना देते हैं, और इन प्रकार मूम भाषाओं का नाम स्वानीय प्रयोगों को लष्ट द्विमे बिना उन पर कँठ जाता है। भारतीय-आर्य भाषा के अंतगत जंगली प्रदेश आते हैं उसने अपने दूर दूर तक भेजे हैं (मिहली एशिया और यूरोप की ज़िप्पी-भाषा) किन्तु उसके क्षेत्र में वह विच्छिन्नता नहीं है जो क्रिस्तो-उदीय भाषाओं की अपना रोमन कुच की विशेषता है

जिनके साथ उसका कुछ विकास-साम्य है। भारतवर्ष ने अपने विजेताओं को पना लिया है, और यदि इस्लाम ने उसे उर्दू ही है, तो उसने ईरानी या मंगोल के छोटे भाषा समूह नहीं छोड़े। विदेही उत्पत्ति के राजपूतों ने हिमालय में एक एसी भाषा अपनायी और प्रकृतित की जिसे वे बरस नहीं पाये। केवल देसन को जी ही नहीं चाहता बल्कि यह देखने की बात है कि विभिन्न भाषणिक भाषाएँ अलग-अलग हो गयीं प्राचीन भाषाओं पर निर्भर रहती हैं और उनकी विशेषताएँ फिर स प्रकट करती हैं।

वास्तव में अथवा कम-से-कम उस रूप में जिसमें भाषा-विज्ञानी उसे वास्तविकता समझता है, ऐसा स्तानम पूर्वतः प्रतीत होता है कि अनोखी मध्यकालीन भारतीय भाषा (संस्कृत जो स्वयं अनोखी-सी थी की उत्तराधिकारिणी) अधिकतर भाषणिक विभिन्न भाषा-भाषाओं का आधार थी बाहर गयीं भाषाओं और उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रदेश की भाषाओं की जो समाज में जीवित भी रही हैं वृष्टि से तो ये अन्तर स्पष्ट ही हैं स्वयं ये अन्तर इन भाषाओं का सम्बन्ध पूर्वतः उस रूप में प्रकट नहीं करते जिसे सुविधा की दृष्टि से 'प्राकृतिक' कहा जा सकता है। उनका रूप प्रायः अक्षुण्ण रहा है भाषाविज्ञानी उसकी सीमाएँ कठिनाई से निर्धारित कर सका है कभी-कभी मिथन द्वारा थी प्रियर्सन के कथनानुसार, 'द्विजम मिथन' द्वारा वे छिप जाती हैं परिवर्तन अधिकतर प्रायः धीरे-धीरे होते हैं जिसका शास्त्रार्थ है कि दो परस्पर भिन्न भाषाएँ अति सूक्ष्म अन्तरों वाली भाषाओं की धेनी में आ जाती हैं। तो इससे किसी को आश्चर्य न होना चाहिए कि सीमाएँ विचारणीय हैं क्या भोजपुरी अपने पूर्व या पश्चिम की भाषाओं से संबंधित है? कच्छ की भाषा क्या सिन्धी है या गुजराती? कोंकण की मुंबराती है या मराठी? श्री प्रियर्सन द्वारा असम की गयी और नामोल्लिखित सह्या के संबंध की दृष्टि से पंजाबी की पश्चिमी सीमा कौन-सी है? एक ऐसे देश में जहाँ अनिश्चित और परिवर्तनशील, राजनीतिक सीमाएँ जातियों के अनुक्रम कभी नहीं रही वास्तविक भाषा-संबंधी सीमाएँ त्रात करने की आधा नहीं की जा सकतीं जब कि प्रभाव-प्रधान समुदाय निश्चित हैं तो वास्तविकता की अपेक्षा अधिक निश्चित और अधिक अविच्छिन्न भाषा-क्षेत्रों को नहीं (जिन ऐसी अनेक परिस्थितियों पर विचार करना आवश्यक है, जिनमें एक ही क्षेत्र में और एक ही बोली में कई भाषाओं का सह अस्तित्व मिलता है) किन्तु प्रादेशिक सीमाओं का परस्पर अतिक्रमण करने वाली भाषा रेखाओं को बिचाने वाले स्थान तकसे में निस्तंभेह होने चाहिए।

संतोष की बात है कि प्रस्तुत रचना के उद्देश्य की दृष्टि से भाषाओं और बोलियों का निश्चित और पूर्ण पुनर्निर्माण अनावश्यक है। यहाँ प्रधान समुदायों की ओर संकेत कर देना ही यथेष्ट होगा।

हमें बड़ा अत्यधिक व्यतिक्रमों पर विचार कर लेना चाहिए। यदि उन निवास स्थानों पर विचार न किया जाय जहाँ से आर्य भाषा भारतवर्ष में फ़ैली तो अति प्राचीन भारतीय-आर्य निवास-स्थल के माध्यम द्वारा मध्यकालीन भारतीय भाषा समूह के रास्ते सिन्धु के दक्षिण में पहुँची। जहाँ यह द्रविड़ों के सक्रियकारी प्रभाव में आयी चाब ही पायी ने उसे महाद्वीप की संस्कृत के अनुस्यू रूप प्रदान किया। अस्तु, वह काफ़ी मिश्र हो गयी उसकी स्वरोज्ज्वल-गठित एक ही शब्द के स्वरों का एक-दूसरे पर प्रभाव मान कर जल्दी है। उसमें न तो महाप्राण है और न प्राचीन साम्प्रदायिक अर्थ से सीसी ही बदल जाती है। सर्वनाम (और) क्रिया के विशेष रूप हो जाते हैं किन्तु तो भी वह भारतीय-आर्य भाषा है।

जिप्सी भाषा या और भी उचित रूप में जिप्सी भाषाओं में कम परिवर्तन हुआ है, निम्नलिखित अचानक परिवर्तन क्योंकि वे बाय को अलग हुई और क्योंकि उनकी विशेष या गुण भाषा होने की विशेषता ने उन्हें सुरक्षित रखा। जिप्सी उपनिवेश बनाने वाले नहीं बरन् बूखों द्वारा अभिवृत्त होने वाले हैं, विदेशियों से संपर्क स्थापित करने के लिए उन्होंने उनकी भाषा सीधी और आवश्यकतानुसार उस भाषा के लक्षण ग्रहण कर लिए। आरमीनिया में पुरा व्याकरण किन्तु अधिकतर शब्दावली और यह ज्ञात ही है कि उच्चारण लिये मये शब्दों की ही रूपों की बिनासे मिश्रकोसिद्ध न यूरोप में अपना मार्ग जानना सीला। यूरोपीय समुदाय वास्तव में सुसम्बद्ध है एशियाई शाखाएँ उससे पूर्णतः मेल नहीं खाती। मूरी में ही केवल -स् व्यंजन का उच्चारण -स् की तरह होता है स्वर मध्यम -स् का रू हो जाता है, न कि -स्-। बूखी ओर सं० हस्त (-हाय) मूरी में ल(स्)त् यूरोपियन में वस् किन्तु आरमीनियन में हस् हो जाता है और आरमीनियन में स्वर-मध्यम में ही त् के स्थान पर 'स्' नहीं है, बरन् आवि में भी ('किस्' वह देता है— मूरी 'बिद्' यूरोपियन देस्-अ)। मूरी में स्पष्ट मुखर महाप्राण व्यंज महाप्राण-अभिहीन ही जाते हैं आरमीनिया और यूरोप में मूक। यह भाषा मूरी बस्। अंत में यूरोप की जिप्सी भाषा ही मध्यवर्ती व्यंजन के महाप्राणत्व को स्थानांतरित कर देती है फ़न्तः, सं० 'बम्'—(बापना) मूरी 'बन(द्)— आरमीनियन 'बन्' यूरोपियन *मम् > फ़न्— में वे अनिश्चितता की और भी बढ़ा देते हैं जिसमें एक तिबि (५वीं शताब्दी का प्रथमार्ध ?) संबंधी अनिश्चितता है और दूसरी जिप्सी भाषा की निश्चित उत्पत्ति के संबंध में। इन दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात 'द्' का ल या 'द्' में परिवर्तन है जो भारतीय आर्य भाषा में कम प्रचलन में (स्) गोदार में (द्) और समस्त विना में (ल) और ईरान की पूर्वी भाषियों में मरी मिश्रता अज्मान विनजानी विन्गाह, तुम० निस्तंदेह ईरानी से उच्चारण किया

गंगा बाहुर् खोलुम् (सं० 'गोमूमा') की भी तुलना कीजिए क्षेत्र के नामों के संबंध में एक और प्रमाण है नदी 'गोमख' (सं० गामती)। श्री बृहन्नर ने ठीक ही बताया है कि भारतीय-आर्य भाषा की सीमा आधुनिक काल की अपेक्षा पहले और पश्चिम तक फैली हुई थी और अज्ञान तथा वलौपी हास ही में महत्व ग्रहण करने वाली भाषाएँ हैं।

यदि भारतीय-आर्य भाषा ईरान की तरफ से आयी है, तो वह निश्चित रूप से हिमालय के निकले हिस्से तक गयी है। इतिहास वास्तव में वही राजपूतों के बघने का छात्री है और जैसा कि इतिहास बताता है, ए० ए० आई० १ पृ० १८४ में एक भाषा-संबंधी चित्रण उसे दर्शाता है। नेपाल में अब भी नेंबारी कही जाने वाली प्राचीन तिब्बती भाषा और नेपाली कही जाने वाली आर्य भाषा का अस्तित्व पाया जाता है। पश्चिमी भाग से वहाँ तक संबंध है समस्या अत्यधिक कठिन है। कश्मीर, भारत से शुरू होने वाली गिछगिट तक सिन्धु की भाटी (मैयाँ झिगा) स्वात (तारबाही) पित्तपल (बोबारी) कुणार और हिन्दुकुश के मध्य काश्मिरिस्तान (कफार, काफिर समुदाय पछई) और फिर काबुल नदी के दक्षिण में एक द्वीप (तीरही)। इस क्षेत्र में बोलियों की मासा बहती है जिनमें से बनेकी कश्मीरी को ही एक साहित्य का भेय प्राप्त है, और वे इस बात में आस भारत की भाषाओं से इस तरह मिल हैं कि उन्हें एक विशेष कुल में रखने की इच्छा होती है। बात तो यह है, कि उनका पृथक्त्व, जो बहुत प्राचीन है, उनकी अपनी विशेषताओं के बताने के बिये मजेद है। इसके अतिरिक्त उनमें से बनेक को अपेक्षाकृत हाल के आगमनों के परिणामस्वरूप समझी जाने की इतनी अधिक संभावनाएँ हैं, कि उन्हें अत्यधिक मिला पाने की आशा की जा सकती है। कश्मीरी पर ईरानी प्रभाव पर ध्यान दीजिए, और (ध्यान दीजिए) भारतीय प्रमाण पर जो विशेषतः उस पर अधिक रहा है (कश्मीर संस्कृत संस्कृति का एक बड़ा केन्द्र रहा है) तो श्री गीरगीस्वटिएन की रचनाओं के आधार पर यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि 'दर्य' अधिकतर भारतीय है। केवल उसका 'प्राकृत' रूप नहीं है उसमें व्यंजन और प्रायः स्वर-मध्यम पाये जाते हैं उसमें कुछ ओप्य ध्वनियाँ हैं, तथा महाप्राण ध्वनियाँ नहीं हैं, आदि। केवल एक समुदाय जो समस्या उपस्थित करता है काफिर है (कही या बसेगही प्रखुन या बेरोन अस्कून गबरवी) जिसमें कर्दूय ध्वनियों का ऐसा प्रयोग है जो ईरानी की याद दिलाता है।

ऊपर उल्लिखित आधुनिक भाषाओं की रोचकता उनके सस्या-भूतक महत्त्व से कही अधिक है। उसके सामने उन भाषाओं के जानने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, बिनका प्रायः वर्जन किया जाता है, यद्यपि उनमें से कुछ की गणना संसार की बड़ी-बड़ी

भाषाओं में की जाती है। व्यापक अर्थ में हिन्दी का उनमें उठा स्थान है, फ़र्सी के मुकाबले बंगाली जैसे स्थान पर जाती है। बिहारी ११वें पर, मराठी १९वें पर, पंजाबी राजस्थानी उड़िया कन्नड़ २२वें २५वें और २८वें पर (मेइए, 'कांग व म्मूरोप नूबेक' पृ० ४८१ में एम० ईस्निऐर के अनुसार)। उनके मूलतम प्रयोग की मचना करने के लिए, हमें केवल इतना स्मरण रखना चाहिए कि वे अपने विशेष बक्षरों (जैसा कि देखा जा चुका है उनके बिना भी स्पष्ट सीमाएँ हो सकती हैं) के आधार पर विभाजित क्षेत्रों में बँटी हुई हैं।

हिन्दू पर जाने से सड़बा मिळती है, फिर हिन्दी ये कुछ बातों में सास भारत की अन्य भाषाओं से अलग है और जो शब्द के विपरीत पड़ती हैं सर्वनामवाची पर प्रत्ययों और उच्चारण तथा अन्वय-संबंधी कुछ विशेषताओं के प्रयोग ऐसे ही हैं जो यह सोचने के लिए बाध्य करते हैं कि उनका 'भारतीयकरण' यदि ऐसा कहा जा सकता है अपेक्षाकृत हाल का है।

अन्य भाषाओं को अलग करने वाली विशेषताएँ अन्य प्रकार की हैं और या तो विकास के भेदों या अन्वय भाषाओं के प्रभाव की दृष्टि से विपरीत परिणाम दृष्टिबोधर होते हैं। सर्वप्रथम स्थिति तो दक्षिण-पश्चिमी और गंगा की घाटी के समुदायों की है मराठी और गुजराती का संबंध तब नहीं जाता जब पुरानी गुजराती और पुरानी राजस्थानी एक ही भाषा है किन्तु राजस्थान से सीधे गंगा की घाटी की ओर जाते हैं तो वहाँ व्यवधान होने पर भी अन्य स्थानों की अपेक्षा भाषाएँ अधिक निकट हैं। साब ही संस्कृत 'मध्यम' के समय से लेकर कन्नौज और दिल्ली के समय तक प्रकाश फँसाने वाले केन्द्र सबैव यही रहे हैं। हिन्दुस्तानी संभवतः सिपाहियों द्वारा पंजाबी बोलियों में ब्रज के मिश्रण से उत्पन्न हुई थी उत्तर की पंजाबी और राजस्थानी हिन्दुस्तानी के प्रभाव में बह जाती है कुछ समय पूर्व यह ज्ञात हो चुका है कि जहाँ पूर्व में लखनऊ तक जाती है जहाँ यह एक मिष्ट भाषा है, और अब कलकत्ते तक जहाँ उसने मिश्रित बँबाक बीबी का रूप धारण कर लिया है पूर्वी हिन्दी बनारस मादि तक जाती है।

इसके विपरीत पटना के लगभग यह सीमाबद्ध जाती है जिसे बेसी सीमा हिन्दी के लिए निर्धारित करते हैं वास्तव में यहाँ उस सीमा का पूर्वी समुदाय बिहारी बंगाली (इसी के साथ अछमी प्रदेश) उड़िया—में प्रविष्ट हो जाता है। इनमें 'अ' अर्थात् 'ओ' में सीमित कर लेता है। सास तीर से व्याकरण की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। अत्यधिक प्रमुख विशेषताओं में से एक है संवृत इत्यन्त से निवृत्ता-श् में अविध्यत्-काक। तब से एक मध्य समुदाय और एक बाहरी मण्डल भी प्रकट हो जाता है। पश्चिम में कुछ

अप्रामाणिक ऐतिहासिक अनुमानों को दिया दिया जाता है, संभवतः भाषा-वेत्ताओं के विचार न इस वर्गीकरण की स्पष्टता में लड़बड़ी उत्पन्न कर दी।

यह अधिक महत्त्वपूर्ण होया कि कालानुसार विभाजन किया जाय जो संपूर्ण नव्य भारतीय भाषाओं को अन्तर्गुण कर देता है सबसे नीचे मध्यकालीन भारतीय भाषा, वैसे कि हमें अपभ्रंस रूप के संतर्पण उदाहरण मिलता है अब भी संस्कृत से विद्युत् एक रूप है अथियाँ वाचन-विम्यास में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। किन्तु भाषावैज्ञानिक वर्गी-बन्धनों के अति प्राचीन रूपों में, विमलित-रूप अधिक-से-अधिक दो कारण स्वीकार करता है, जिनमें से एक परस्परों के साथ आता है प्राचीन वर्तमान जो क्रियायुक्त रूपों के सेपास का अकेले या उसके लगभग रूप में प्रतिनिधित्व करता है, नामजान्ति भाषि-रूपों के साथ अन्वय सञ्चय रहता है। इस काल से जाये व्याकरण-संबन्धी परिवर्तनों पर कोई स्फाट नहीं रह जाती बहुत पहले ही संस्कृत भाषा पारिभाषिक सञ्चयवली को संपुञ्ज करमा छोड़ देती है, यह कार्य बागे चल कर प्रारंभ ही अर्धरेखी से संपन्न होता है। किन्तु संस्कृत के सांस्कृतिक भाषा रह जाने पर, भाषावैज्ञानिक भाषाएँ इस संस्कृति में सासीदार नहीं बनती वे स्वयं कम सम्य अथियाँ के प्रभावान्तरित अत्यधिक सरल हो जाती हैं जैसे अन्वय में अन्वय संनिक्तों की भाषा की वाचस्पकता के लिए जैसे हिन्दु-स्तानी के संकथिय भाषाओं के रूप में बनी रहती हैं वे विद्युत्-वैदिक-वाच्य की अविम्व्यंजता के लिए उपयुक्त रहती हैं किन्तु विज्ञान के लिए नहीं। अब अब कि विज्ञान का प्रचार हो रहा है, वर्नाक्युक्तों को उलटी अपनी वाचस्पकतानुसार स्थित करने की हर अणु-कठिन समन्वय है, सामन तैयार नहीं है। आप देखें कि कम-से-कम किस प्रकार वाच्य-विम्यास स्वयं सबसे अधिक अग्रत भाषाओं में लोचनी रह गया है रोमक भाषाओं से प्रायः की यथी तुलना पर पुनर्विचार करने पर, ध्यान आकषित करने वाली बात है कि मती निर्वचक उपसय या उपसद और न क्रिया to have का कोई एक अर्थ ही मिलता है।

किन्तु यहाँ भारतीय भाषाओं का अविम्व्य निर्वचिष्ठ करना अहंसा नहीं है, इस रचना का अहंसा वैसे कि प्रारंभ में संकेत दिया जा चुका है, अतीत की स्मरण प्रस्तुत करमा है। पूर्ण विश्व प्रस्तुत करने के लिए अथक परिश्रम की आवश्यकता है उसकी सहायता साधन ही बहुत अधिक ही, क्योंकि इस विश्व के प्रचार अथ प्रचीन हाथों द्वारा सुदम पीठि से बनाय जा चुके हैं। जो कुछ इतने सुन्दर रूप में ही चुका है उस पर पुनर्विचार की बात ही क्या, मैं उसकी पुनरुत्थिति तक करमा नहीं चाहता अन्ति रहने पर भी मद्य इच्छा नव्य-भारतीय भाषाओं के उस तुलनात्मक अन्वय का सार ग्रहण करमा नहीं विम्वय अन्वयन प्रारंभ करने के परभाव यी अन्वयन की यह कार्य छोड़ देना पड़ा था—और अन्वयि कियती सामग्री तैयार कर ली थी।—और जिसके बारे में

श्री टर्नर ने हमें बचपन दिया है। यदि आवश्यकता हो तो मैं यह बता देना चाहता हूँ कि प्रस्तुत ग्रन्थ-संबंधी प्रयास की सराहना स्वयं श्री टर्नर ने की है। मेरा उद्देश्य काफ़ी सीमित है। अधिक समर्थ लेखकों से आवश्यक बातें लेकर, उनके स्थान पर दूसरों या स्वयं मेरे बताने हुए महत्वपूर्ण तथ्यों को बिलकावनी तथा पुस्तकों में उल्लेख नहीं हुआ रखकर, विभिन्न कालों के संबंध में सूक्ष्म रीति से कौनसी स्वयं तुलना द्वारा प्राप्त तथ्यों को यथासंभव प्रस्तुत करना और उनही व्याख्या करना।

सर्वश्री सिद्धी सेवी और ए० मेहर की परंपरा में पाश्चिमी-युद्ध मुझे बोलने वाली बातियों के इतिहास-सहित भाषाओं के विकास का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने के प्रति मोहू होगा चाहिए था। किन्तु यह यथेष्ट रूप से ज्ञात है कि लिखित साहित्य कुछ प्राचीन कालों के संबंध में न तो शासन-संबंधी न न्याय-संबंधी या निजी (कनैसीकल संसुद्ध में लिखित अंत्य दान-पत्रों को छोड़ कर) संग्रह प्रदान करता है न प्रादेशिक आईन न संस्मरण न पत्र-व्यवहार (निय के लिखित प्रमाणों के अतिरिक्त जो कभी तक बहुत-कम प्रयोग करने योग्य हैं) न अक्षरिण्य भाषण-कला-संबंधी ग्रन्थ न कॉमेडी और मैनर्स' इतिहास की महानुत्तम राजनीतिक और सामिक बटनाएँ बिना ठीक-ठीक स्थान और तिथि-निर्धारण के ही रह जाती हैं तथा उनके परिणाम और भी अधिक अनिश्चित रूप में पाये जाते हैं। मैंने अपने कौनसे भाषा-विज्ञान संबंधी और साथ ही व्याकरण-संबंधी निरूपण तक ही सीमित रखा है।

बिना उद्देश्य की ओर मैंने संकेत किया है उसे दृष्टि में रखते हुए मेरा सभी बातों पर समान रूप से विचार करना उपयुगी नहीं था। निरूपण करने में यह सभी ऐसी त्रुटियों के लिए मैं क्षमा किया जाऊँगा जो मुझे ज्ञात हैं और जो मुझे विषय की पूर्णतः समझने में बाधक प्रतीत नहीं होतीं। इसी प्रकार मैंने पूरी ग्रन्थ-सूची नहीं की किन्तु केवल उन्हीं पुस्तकों और लेखों (उनमें निस्संकोच कुछ मेरे हैं) की सूची की है जिनका मैंने इस ग्रन्थ की रचना में निरंतर उपयोग किया है और जिनमें मैं समान रूप से अपने पाठकों के सम्मुख उन्हें रूपने बचनों के परीक्षण और पूर्ण करने का सबसे प्रदान करने के लिए, प्रस्तुत करना चाहता हूँ। प्रत्येक पग पर संदर्भ देना मैंने आवश्यक नहीं समझा। मैंने ग्रंथ में केवल वे रचनाएँ ही उद्धृत की हैं जो सूची में नहीं हैं और जिनका मैं केवल अपूर्णतः सार प्रस्तुत कर सका हूँ। जब मैं सञ्चको को अधिकतर बिना अपना नामोल्लेख किये उद्धृत करता हूँ तो बिना संकेत किये उनका लक्षण (मैं स्वयं अपने को सामिल करता हूँ) करने के लिए करता हूँ। यह सभी प्रकार स्वीकार किया जायगा कि यह प्रकृति की जोरों का भ्रम बनने वाली पीठ अधिक है। विशेषतः इस बात का निर्णय करें कि जो मत वहाँ प्रकट किये गये हैं वे सर्वोत्तम हैं या नहीं।

जहाँ तक उपाहरणों से संबंध है जो मैंने अधिकतर अपने सामने जो लक्ष्य हैं, उनसे ग्रहण किये हैं मैंने उनका मूल उद्देश्य फिर नहीं लिया भले लिए इतना स्पष्ट है कि मैंने उनका कोई, प्रतिपादित या रूपान्तरित उपाहरण चयन नहीं किया।

स्वयं इस रचना के लिए मैं अपने मित्रों का अत्यन्त अनुग्रह ही हूँ। सर्वप्रथम श्री हेन्सन स्मिथ का। संनवत उनके जैसा अन्वेषक साथ ही नामक-दिनाग्र आलोचना साथ ही छोटी-छोटी बातों के लिए कठोर व्यक्ति एक ऐसी रचना से सम्बुद्ध न हाया जिसमें जितने प्रश्नों पर विचार किया गया है उतन ही समाचारों पर, और जो अब भी अस्त्यायी हैं वो भी उन्होंने मुझे महा यह कहने की अनुमति प्रदान की है कि मुझे उनका भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ है और यह मकेवल पार्सी और सिहली से जिन भाषाओं का उन्हें अद्भुत ज्ञान है संबंधित सभी बातों का विशेष ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने में बरन् निरन्तर एक शिक्षा देने में भी जिसकी प्रशुद्धा और मूल्य उनके साथ संबंध रखने वाले लोग जानते हैं। उनके ज्ञान के उपाहरण सहयोग के बिना इस ग्रन्थ में नहीं गया अनेक बातें और मझे डंप से होतीं या विस्तृत ही न होतीं।

सर्वथी रनु और बौधनिस्त ने अपनी सामान्य उदारता के फलस्वरूप दी गयी अपनी सहायता और आलोचनाओं द्वारा मुझे साम पहुँचाया है उन्होंने मेरी पाण्डुलिपि पढ़ी पहली बार पूरी (और उसमें बहुमूल्य बातें जोड़े बिना नहीं) दूसरी बार अंशतः। मेरी माति से भी यह ज्ञात है कि पाण्डुलिपि को उनसे साम पहुँचा है, केवल मैं ही जानता हूँ कि इस निरीक्षण से मुझे कितना आत्म-विकास प्राप्त हुआ है। कुमारी एक गिती का मैं उनकी प्रत्यक्ष वैयक्तिक सहायता के लिए अनुग्रहीत हूँ किन्तु उनसे प्राप्त होने के कारण ही जिसे मैं केवल वैयक्तिक ही नहीं कह सकता (अर्थात् जो सहायता वैयक्तिक से भी अधिक है—अनु०)।

अंत में प्रकाशक और लेखक को शोध-कोष (Caisse des Recherches) के (संचालक के) प्रति धन्यवाद देने में प्रसन्नता है जिनके बिना इस पुस्तक का प्रकाशन संभव न होता।

सहायक ग्रन्थ-सूची

[सदर्भ-ग्रन्थों सहित]

ईरानी

गाइपेर-कून 'ग्रुडिस डेबर ईरानीयेन शाहलोलीबी' । स्ट्रासबुर्ग १८८५ १९०१।

राइचेस्ट 'अवेस्तिसेस एसीमेंटारबुख' हाइडेसबर्ग १९०९।

मेइए-बाइनिस्त 'प्रीमबर द म्यू पर्स' डि० संस्क० पेरिस १९११।

संस्कृत

मेकडनिख 'बिबिक प्रीमर' स्ट्रासबुर्ग १९१०।

डेलबुक 'अलटिडिसे सिस्टैक्स' हल १८८८।

स्येमर 'अवेस्तिसेस उठ संस्कृत सिस्टैक्स' स्ट्रासबुर्ग १८९६।

बाकरलायेर 'अलटिडिसे प्रीमटीक' I-II I-III म्यूटिगेन १८९६ १९१०।

रजू 'प्रीमबर संस्कृत' पेरिस १९३०।

रजू 'क बीस्यूर दु पारऊँ बाँ लो हीम बेदीक' पेरिस १९२५।—'क तीप बेदीक' 'तुदीति' मेकडोड बाइये (पेरिस १९२५) पृ० ३०९ ३१६। 'क फॉर्म बीठ बाँ जीकुडीऊ दाँ क अग्बे'। एत्रेन (Etrennes)— बाइनिस्त (पेरिस १९२८), पृ० ६१-८०—'अ प्रीयो दु सबजीक् तीऊ बेदीक' बी-एस-एस XXXIII (१९१२) पृ० ५ १४।

मध्यकालीन भारतीय भाषाएँ

हुटन 'इन्स्क्रिपनस्य बाँड अयोक्' बाँसउठई १९२५। तुल० नूतनर, 'अयोक् टैकस्ट ऐंड क्लासरी' कलकत्ता १९२४।

डम्पू० गाइमेर 'पानी सिद्दुयद्दुयूर उठ स्याख' स्ट्रासबुर्ग १९१६।

एम० सिमय 'बिडीनांश दु तीप अयभंग बाँ पानी' बी-एस-एस XXXIII, (१९३२) पृ० १६९ १७२।

पियोक 'प्रीमटीक डेबर प्राइठ-स्यायेन' स्ट्रासबुर्ग १९००।

जे० ब्लोय 'अयोक् ऐ ल मागधी' बी० एम० ओ० एम० VI २ (१९१२) पृ० २९१ २९५—'बिस्फ डेडीनांश दोन्वेतीऊ बाँ मोयाँ-बाँदिरे'— एम० एस० एफ०

XXXIII (१९२७) पृ० १०७-१२०—'त्रैतमां हु धूप सस्कृत सीङ्गमात् + म्,
गही (१९२९) पृ० २६१-२७०।

एच० स्मिथ 'कात्र माठ अ प्रॉपो द कार्तिकिक प्रेसेवा' पृ० २७०-२७३।

एच० आकोबी 'मदिससक्तहा फॉन धमवाठ (Dhanavāla) म्युन्सन
१९१८ (विशेषत उद्धत भव०) 'सनवकुमार चरितम्' म्युन्सेन १९२१।

आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाएँ

जी० ए० प्रियर्सन 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया' कसकत्ता १९०३ १९२८
(विशेष रूप से LSI के रूप में उद्धत)।

बीम्स 'कर्मरेटिव प्रैमर ऑफ द मॉडर्न इंडियन लैंग्वेज' लंदन १८७२-१८७९।

जे० ब्लॉक 'ल फ्रीमोसियो द ल सांग मराठ' पेरिस १९२० (पुस्तक-सूची जो
यहाँ नहीं बुझायी गयी पृ० ३८४२)।—'यून यूरोपी रीट्रिविएन ऑ मराठ' बी०
एम० एल० XXXIII (१९३२), पृ० २९९ ३०६।

एस० जे० चटर्जी 'मीरिजिन ऐंड इन्वेन्ट्री ऑफ द बीगामी लैंग्वेज' कसकत्ता
१९२६।

प्रियर्सन 'ऑन द मॉडर्न इंडो-एशियन वर्नाक्युलर्स' इंडियन ऐंटिक्वेरी सप्ताहिक
१९३१ १९३३।

आर० एल० टर्नर 'गुजराती क्रानोलोजी' ज० आर० ए० एस० १९२१
पृ० ३२९ ३६५, ५०५-५४४।—'सिटीब्रेकाइजेयन इन सिंधी' जे० आर० ए० एस०
१९२४ पृ० ५५५-५८४।—'सिंधी रिफरिन्स' बी० एस० जो० एस III (१९२४)
पृ० ३०१ ३१५। 'लिंग्विस्टिका' (रिप्यूब) बी० एम० जो० एस० V I (१९२८)
पृ० ११३-१३९।

टेसिटटी 'नोट्स ऑन द प्रैमर ऑफ मोरड बेस्टर्न राजस्थानी' (इंडियन ऐंटिक्वेरी
से पुनर्मुद्रित)। बम्बई, १९१९।

बाबुराम सक्सेना 'लक्ष्मीपुरी ए इण्डियन ऑन मॉडर्न बर्षी' (ज० ए०
सोसा) बंगाल XVIII (१९२०) पृ० ३०५ ३४७ 'इन्वेन्ट्री ऑन द माउन इन
द रामायण ऑन तुलसीदास' इंडियन ऐंटिक्वेरी १९२३ पृ० ७१-७६।—'द बर्ष
इन द आर० ऑन टी० इलाहाबाद यूनीवर्सिटी स्टडीज II पृ० २०७-२३८।

एम० घाहीपुस्ता 'सँ घा मिस्ट्रीज द कम्प्ले ऐ द सरह' पेरिस १९२८।

प्रियर्सन-बार्नेट 'लक्ष्मी-बाग्यानि' सप्ताह १९२०।—ए० स्टाइन-प्रियर्सन
'इतिम्ह टेम्स', लंदन १९२३।

प्रियर्सन 'वोरवाली' कथन १९२९।

ग्रीहम बोली 'ग्रीमर ऑफ गिना सीमेज' संदन १९२४।

जी० मीगनैस्टिएर्न 'रिपोर्ट ऑन ए लिम्बिस्टिक मिशन टु अफ्रानिस्तान' बोम्बे १९२६।—'रिपोर्ट ऑन ए लिम्बिस्टिक मिशन टु नॉर्वे-वेस्टर्न इंडिया' बोम्बे १९३२।—'द सीमेज ऑफ द अस्कुन काक्रिस' नॉर्वेक टिस्किफ्ट (Norsk Tidsskrift) ऑर स्प्रीविदेन्सकप (Sprogvidenskap) II (१९२९) पृ १९९-२८९।

जे० नैमसन 'द डायलेक्ट ऑफ द बिप्सीय ऑफ वेन्स' ऑक्सफर्ड १९२६।

मैकैलिस्टर 'द सीमेज ऑफ द लवर ऑर बुट ((Zutt)) द मोमेड गिम्पस ऑफ पीसेस्टान' संदन १९१४।

जे० थॉमस 'सा वेजीनास द डूबिएम पेर्सन टु प्करिएस ऑ नूरी' जर्नल ऑफ द बिप्सी लोर सोसाइटी VII (१९२८) पृ० १११ ११३।—'किस्क फॉर्म बर्बल टु नूरी' जे० पी० एल० एस० XI (१९३२) पृ० ३ ३२।—'ल प्रेजाँट टु बर्ब 'ऐन' ऑ सिगान' इंडियन लिम्बिस्टिकस प्रियर्सन कौनेनोरेयन बोम्बे १९३३ पृ २७-३४।—'सा प्रीमिएर पेर्सन टु प्रेजाँट ऑ कस्मीरी' बी एस० एल XXVIII (१९२८) पृ० १६।—'सूबी बाम द संस्कृत' आसीत (Kait) ऑ ऑविणन मोहन' बी० एस० एल XXXIII (१९३२) पृ० ५५ ६५।

अंत में सामान्य प्रश्नों से सम्बन्धित

जे० थॉमस 'सम प्रीमिसेस ऑफ इंडो-एरियन फ्राइजीसीजी' I 'द लिट्टेरी सीमेजेज' II 'इंडो-एरियन ऐंड इंडो-इरान' III प्रेजेन्ट रिक्वायर्डमेंट्स ऑफ इंडो-एरियन रिसेर्च' V ४ (१९३०) पृ ७१९-७५६।

एक कौंस का उल्लेख करना यथष्ट हाया जो तुम्हारात्मक है और बहुत अधिक महत्त्व का है

आर० एम० टर्नर 'ए कम्पैरेटिव ऐंड एटिमोलॉजिकल डिक्शनरी ऑफ द नेपाली सीमेजेज' संदन १९३१।

उद्धृत पत्रों के संक्षिप्त रूपों में

बी० एम० एल०—बुमेठा द सा सीमिएर्न द लिम्बिस्टिक द पारी' बी० एम० थो० एम०—बुम्बेन ऑफ द स्कूल ऑफ ऑरिएण्टल स्टडीज' आई० एक०—इंडो-इरानियन प्रीमिसेस जे० ए-एम०—बुर्ना एसिएनीक जे० आर० ए० एस०—जर्नल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी जे० वेड०—वाइटगिफ्ट फ्यूर फार्नाइसेजे एनालोजीय एम० एम० एल०—मम्बे द सा सीमिएर्न द लिम्बिस्टिक द पारी।

प्रथम खण्ड
ध्वनि

स्वर

१ प्राचीन स्वर

प्राचीन संस्कृत की स्वर-प्रणाली मारु-ईरानी प्रणाली के बल्यन्त निष्कट है। उसमें ह्रस्व और दीर्घ अ इ, उ, ऋ (कल्प अ० कल्प की मन्मथ बाहु में ए सहित) हैं किन्तु यिनमें संयुक्त स्वर ए और वा उड़ी प्रकार हैं त्रिस प्रकार ऐ और औ। अ (अर्थात् *अ *ए, *ओ तथा स्वर-संबंधी कार्य में अनुनासिकों से उत्पन्न) इ (अर्थात् *इ) और उ की दृष्टि से उचिता ईरानी के साथ पून साम्य है

*अ	सं०	अजति	अ०	अर्जति	अटि०	एजिट	इ
*ए		अस्ति	पु०	अस्तिम्	सेति०	एस्ट	
*ओ		पति	अ०	पतिसे	प्री०	पौतिष	
*नू (स्वन्त)		अ	अ०	अ	प्री०	अं	
*नू (स्वन्त)		इय	अ०	इय	प्री०	इयै क्म	
*इ		इहि	गा०	इरी	प्री०	इयि	
*उ		उर	अ०	उप	प्री०	उरौ	
	इ सं०	मात्र	अ०	मात्र	सेटि०	मेर	
		मा	अ०	मा	प्री०	मूर्	
		याम्	अ०	याम्	प्री०	यामोन्	
		जार्त	अ०	जार्तो	सेटि०	जार्तुष	
		जार्त	अ०	जार्त	प्री०	जार्तोन्	
		जीव	पु०	जीव	सेटि०	जीवुष	
		भू	अ०	भू	प्री०	भूकरोन्	

साथ ही सं० आ कुछ परिस्थितियों में ह्रस्व *ओ के स्थान पर आता है मारु-ईरानी में यह विशेषता अब भी है प्री० मीरुमबोनद्, पु० अ० अस्मानम्, सं० अस्मानम्।

मारु-ईरानी में इ *अं से निकली है, प्रथम अक्षर में ही यह अनुस्वता है सं० निरुर् अ० निरुर्, सेटि० वेर,

किन्तु अकेली संस्कृत ही उसे मध्यवर्ती रूप में सुरक्षित रख सकी है

दुर्हता घी० वनयवतएर गा० द्रुघसरात्मक दुर्महा अ० साध-साध भाए
व्यंजनों की मुखरता को आत्मसात् करते हुए दु०ठव ।

रोप एक दुर्बल व्यन्निमात्र घी और वह न केवल स्वर से पूर्व लुप्त हो जाती है
बैसे भारोपीय में जन्-अन-पु० 'वनानेबाछा' तुल० अति-र्रर किन्तु जब कि वह
अपने को पूर्व य के साथ भिन्न केटी और उसके साथ एक हो जाती है (श्रित तुल०
घी० परिम-स्वह) तो एक प्रकार के अवरोधक विपरीकरण द्वारा म् से पहले उसका
रूप ब हो जाता है य-यति वेनु (अ० एणु 'स्त्री') ।

अन्य में संस्कृत ह और उ एक अस्थिर व्यन्नि नामे भारोपीय स्वर, जिसका
माध्य-ईयनी में रूप परिवर्तित होता रहता है, के अनुकूल है वे प्रारंभ से ही
व्यंजन और स्वर के बीच में स्वतंत्र वर्ण के आ जाने से उच्चारण-संबंधी कौमलता
धारण कर लेते हैं *०२ के संबंध में विशेषतः उच्च स्पष्ट है

गुह-	अ० गोरु-	घी० बरु-
गिरि	अ० गेरि	

*०३ के साथ योग स्थापित कर देने से यह कौमलता भारतीय भाषा को एक ऐसा
वीर्य स्वर प्रदान करती है जो ईयनी में प्राप्त नहीं होता

वीर्य	अ०	दूर्ध्व-अ-
पुर्ब	पु०	फा० पस्व अ० पजोउर्ब

अंतर इतना अधिक है कि यही भारतीय ई०, ई०, ईयनी के समान परचाइती
*०४ की याद दिखते हैं ।

वास्तव में संस्कृत में यह अ ह्रस्व पठित स्वर के रूप में है, जब कि ईयनी में
पहले उच्चारण की दृष्टि से, फिर स्वतंत्र व्यंजन अ० अ० (अ) पु० फा० २
[पठते समय इ] और प्राथमिक अ०

पृच्छामि	अ० वरंसा	अ० पुरसम्
अ०	अ०	अ-रंस् (जिसमें इसे- असे का प्रतिनिधित्व करता है)

की दृष्टि से भिन्न है ।

तो इस दृष्टि से ईयनी की अपेक्षा संस्कृत अधिक रुढ़िय है ।

इसके अतिरिक्त उच्चारण-भेद से अंतर के आपात का भेद उत्पन्न होता है जो

कुछ छान्दात्मक मापामों में व्यन्धधिक महत्व का है प्राचीन मात्रा को कबल भारतीय मापा ने ही सुरक्षित रखा है।

संस्कृत में वीर्य ऋ उपलब्ध नहीं है उसका अन्तिम तो कबल यादृतिमूलक सादृश्य के फलस्वरूप नवीनता के कारण है तबिए संबन्ध० और कर्म० बहु० पितृभाम् पितृन् गुणाम्, गुन् जो देवानाम् मिरीणाम् वसूनाम् देवान् गिरिम् बगृन् के अनुकरण पर हू बर में यब भी इन नामा में प्राचीन रूप सुरक्षित है गर-भान् वीसे अ० में दुर्भद्र-अम् और सटि० में पेट्र-उम ।

व्यावहारिक दृष्टि से इन सब में कबल एक मूल स्वर है ह्रस्व या वीप अ आ या ती अल के मध्य में हू या संयुक्त स्वरों के स्वर-संबंधी तत्त्वों में है। इसके विपरीत य् और व् के सभी स्वर-संबंधी रूपों से पूब इ और उ उषी प्रकार हो जाते हैं जिस प्रकार र् से ऋ इ-म य्-अन्ति सुनु-म सुन्-अन्ति जैसे बिन्-मः बिम्द् अति उषा से ही पु-भि बिभः, स्पू-त सीव्-यति। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इ और उ सर्वत्र वही काय करते हैं जा इ करता है।

वास्तव में यद्यपि वैयाकरणों के मतानुसार, संयुक्त स्वरों ऐ, औ का प्रथम तत्त्व कम-स-कम हमारे की अपेक्षा ह्रस्व भी हा सकता है उन्होंने ईरानी में सुरक्षित प्रथम वीर्य तत्त्व नाम संयुक्त स्वरों को बताया है संग कस्मी किन्तु अ० कहूमाह, तुल० प्री० आइमो उनका विग्रह आ + य्-अपवा व् (गों - कर्म० नावम्) के रूप में हा जाता है और तन्पश्चात् अर् के अनुस्व नहीं आर् के अनुस्व हो जाता है। भारत-ईरानी संयुक्त स्वर ऐ, औ प्राचीन ईरानी में सुरक्षित हैं। किन्तु अति प्राचीन संस्कृत में ही उनके संयुक्त रूप प्रारम्भ होने लगे हैं

अ० अएसो	तुल० प्री० अइमो	म	एभ
अएवा	तुल० प्री० आइजा		बेद
अएरति	पु अ० ऐतिर् तुल० (प्री०) एसि		एति

उनक मात्रा-कारक में जो निर्णय वीर्य रहता ह और स्वर से पूब उनके विग्रह में उनका प्राचीन रूप प्रकट होता है अेट्-कारक अ्व्-अति।

ए और औ ता ईरानी द्वारा सुरक्षित *अव् के प्रतिनिधि के रूप में अब भी पाये जाते हैं, ए अश्व के मध्य में और पहले *अव्भि तुल० अ० एवी के लिए अविष्ट-अ० नवविष्ट एभि ओ अन्त में (अ० १२६७. 'प्रियों जो अस्तु' वही संयोग की अवस्था में मनो-अव और कुछ के अन्त से पूब ह्वेपो-भि)।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ध्वनि-ध्वनियों की इतनी सरल सूची से निस्संदेह उच्चारण की विविधताओं का पूर्णतः अनुमान नहीं समया जा सकता। उदाहरणार्थ

स्वयं वैयाकरणों ने इस बात की ओर संकेत किया है कि आ की अपेक्षा अ का अधिक स्थिर रूप या और यह विभिन्न रूपों में प्रमाणित हो जाता है विशेषतः उन ध्वनि विरोधों से जो आज मात्रा-काव्य-संबंधी प्राचीन विरोधों के स्थान पर हैं उदाहरणार्थ बंगला अं ओ का विरोध अ (लिखित आ) से है अथवा यूरोपीय बिन्दी-आपा ए का विरोध अ से है ।

ग्रीकों द्वारा प्राचीन भौमोलिक स्थानों में विविधता है उनमें से कुछ ऐसे हैं जिनमें ग्री ∞ ह्रस्व अ होना चाहिए तमोस दक्षिण (तसपिला) सम्रकोइइमीस (चन्द्रमुष्ट) बसिसनबदेस् (दक्षिणापय) उबर आरिएन में कम्बिस्वोओइ (कापिप्ल) है किन्तु ये संकेत प्रथमतः समास के प्रथम शब्दों के अंत में मिलते हैं एरओबोस जिसमें 'ओ' के अतिरिक्त 'आ' भी है (हिरण्यवाह) सन्दरोर्कगोस (चन्द्रमगा) त्त्रोबने (ताम्रपर्णी) यह भी कहा जाता है कि टोसेमी ने उसका प्रयोग पूर्वी भावों के लिए, जिसे वास्तव में बंधाऊ कहते हैं, किया (एस लेवी 'टोलेमी स निहस एस्पुस एथियायीक ई-एक ई-ओ पृ० २२) अन्त में स्थाबोन में बेर्दइ (टोलेमी में वरइइ है) आरिएन में मेबोर (टोलेमी में मौबोवर) कन्वेजर्गोस लिबोस और नमर् के निकट पेरिपिक में बही कस्किर्न है।

पुरुषवाचक संज्ञाओं में अ और इ का परिवर्तन तो निश्चित रूप से बताया जा सकता है, विशेषतः उस समय जब कि ब्राह्मण प्रणाली से किसी दूसरी प्रणाली की ओर जाना पड़ता है घ० आ० नड नैपिच महा० नल नैपिच सं० मुबिच्छिन्व पा० मुच किन्द किन्तु पाठी में मॅनन्दरोस के लिए मिलिन्व में इ है, कुसलन और कुशीम्व कौटस्प- और कौटिस्य छातवाहन- और धास्त्रिवाहन पा० तपुस और पीने का नाम तपुस सं० त्रिपुप पुरुषवाचक संज्ञा और ऋपुप दुहरे प्रयोग भी मिलते हैं।

मध्यकाशीन भारतीय मापानों और उत्तरवात् आपुनिक भाषाओं में ऐसे पर्याप्त संख्या में उदाहरण मिलते हैं जिनमें प्राचीन अ के स्थान पर इ हो गयी है पा० तपु (अपर्व० ऋपु) पा० प्रा० मिन्वा तुल० सि० मिन् (मज्जन) पा० ईए(ह्)आल, आदि (अंवार) हि० किन् और चन् (सप्त-) हि० किन् (बैंगली) (तुल० कन्वा कनिष्ठ) यिन्- (पष्-) मिगुका यिन्, ओ मगुका पंजर के निकट इ इलाहाबाद (अस्ताह) डेकाना डरना (डर) के निकट हे, मॅडर् (मण्डूक) बंगला बिद् (बर्) टिन्का (उलिन्-) सिन्, ओ संपाक रूप (नर्) से प्रमाणित होता है। यह एक एही भाषा में होने का कारण और भी महत्वपूर्ण है जिनमें अ का उच्चारण अं या ओ आदि की भाँति होता है, जिनमें कॅट्स और विशेषतः ताम्ब

के प्रमाण की शक्य मिलती है इसी प्रकार हिप्सी और पञ्चमी में ह्, द्वारा अ वा टालम्बीकरण बराबर पाया जाता है जिसके अनुसार रोह लिखा गया रहे, सिं० किहानि हि० कहानि (कय) की अपेक्षा रहता है।

वैसा कि प्रतीत होता है यदि अ सामान्यतः टालम्ब उच्चारण ग्रहण कर लेता है तो उसी प्रकार के द्विविध रूपों को देखने की इच्छा होती है। क० मिप् (महा) हर ह्रास्य में समान रूप अक्षर्य मिलते हैं क० मेछमु त० तेष्य परीपिण् हरप्य (म) पु० तापा त० मेछसु, त० मिङ्गु सं० मरिष ।

इसके विपरीत ऋ० धुतुरी सं० महाकाव्य यतद् का परिवर्तन क्रम अपवाद स्वल्प है अचोक० उदुपान (उर) आपुष (ओपष) पा० पुष्कुस निमुञ्जति (मञ्) ओप्य की श्रेणी में आ जाते हैं।

यहाँ इस बात का स्मरण हो जाता है कि मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में ऋ का अन्त उच्चारण अ वा इ में हो जाता है और प्रारंभ में बिसेपठ इ में किन्तु केवल ओप्य के साथ होने पर उ में इसी प्रकार संस्कृत में स्वतन्त्र स्वरों की ध्वनियों के लिए है तिर, हिरप्य किन्तु पुर, किन्तु मयते स संभावक प्रकार भुरीय रि किन्तु गुन्- प्राय ह् के पहले इ ही जाती है ई० सं० मकिहाँ ई० सं० मरह् कमी-कमी अ के रूप में मिलती है पा० अरहन्त् से अरहा जिसकी व्याख्या है 'सन्तुओं को मर्त्त करने वाला'—मरि-हन किन्तु इस प्रकार उ के लिए मही कहा जा सकता।

वैयाकरणों ने ह्रस्व तथा दीर्घ इ और उ के उच्चारण की भिन्नता की ओर संकेत नहीं किया। किन्तु नामों की दृष्टि से जैसे किरंरह, वेरीपिण के सुरस्त ने अति प्राचीन काल में मिलते हैं सचरकोतोस (-गुप्त) पत्तिबौर (-गुप्त मेघोर (मबुर) एरभोर्बोबस (हिरप्य-) और टोकमा में गेरह अथवा -मेरेह (गिरि) विपर्यस्त रूप में मुद्राओं पर अगवृक्षेयस 'एयोपोमलीस' अचोक० में 'तुरमय' (टोसेमी)। तो इस बात का संकेत मिलता है कि ह्रस्व इ और बिसेपठ उ अपने धानुस्व दीर्घ रूपों की अपेक्षा अधिक विदूत थे। उससे निस्सर्विह पा० आयुसो (आयुष्मन्त) के मुकाबले में आयुष्मन्त- पुनर् की दृष्टि से पन (तुक० मराठी पन् बं० पणि) जो संस्कृत रूप के साथ-साथ अर्ध भी सुरक्षित रहे हुए ह की विवृति सरल हो जाती है। आधुनिक काल में शब्द के मध्य उसकी दुर्बल स्थिति को कठिनाई के साथ प्रमाणित किया जाता है केवल गुजराती में उसका रूप दिखाई देता प्रतीत होता है, उदाहरणार्थ मङ् (मिण), मङ् (मिण्) -हो (हि० होता)।

यह भी सिद्ध नहीं होता कि ए और ओ का उच्चारण एक ही भाँति रहा होगा। अपर्याय १ ३४ ३६ के प्रातिशास्त्र के आचार पर, ऐसा प्रतीत होता है कि ए और ओ आ के लयमय समान विभूत और अ की अपेक्षा अधिक विभूत रहे होंगे किन्तु १० प्राति २ १३-१४ से प्रत्यक्षतः इसका सङ्गन हो जाता है। इन दो उच्चारणों पर प्रकाश पड़ता है प्राचीन संयुक्त स्वर से अलग होने में जिनके लक्षण प्रारंभ में निकट रहे हों (बंध हो) मिश्रता के कारण अलग-अलग रहे हों (बँधो हो बिसेछे अर्थों बना)। वायुनिक युग में गुजराती की ऐतिहासिक दृष्टि से विशेषता प्राकृत से आये बिच्छेद के साथ ए और ओ जिनमें विभूति अधिक थी की अपेक्षा प्राकृत ए और ओ से आये ए और ओ की विभूति की भाषा में है (टर्नर, आसु० मुंबई 'पुबिली वास्तुम' पृ० ३३७)।

हर हासत में -ओ और *अस से निकले सं० -ओ समान नहीं है वैदिक संधि षड् इष्टि के मध्य मत अंम- (मनस् और यो से) का विघ्न करती है। *अस से निकला -ओ कमी-कमी -अय् में विभक्त हो जाता है। पूर्वी मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में अन्त में -ए रूप में समाप्त होकर यह विभक्ति हो जाता है अजोक के अपरिचयी अमिलेहों में सं० -अ सदैव -ए रूप में आया है 'बैधानापिने' (-प्रिय) 'भाजिने' (राजा) 'ने' (न) आदि किन्तु एक यौगिक जैसे 'यो-महात्मक और एक स्वरापाठ-विहीन जैसे लटों में संस्कृत की विशेषता सुरजित रहे गयी है जैसे 'नो' 'ओ' (तुल० वन्तु) (निय के प्राचीन प्रमाणों में यही बात मिलती है १० पृ० ८) में अ+उ से निकला जा।

कोई व्याकरण-संबंधी महत्त्व न होने के कारण इस रूप की विविधताएँ प्रत्यक्ष नहीं रही अथवा कम-से-कम उनकी ओर ध्यान नहीं गया। अस्तु, संस्कृत की स्वर प्रणाली अपूर्ण है किन्तु भारत-ईरानी की अपेक्षा यह कम अपूर्ण है क्योंकि प्राचीन संयुक्त स्वरों को प्रथम ह्रस्व रूप में ले आने की चेष्टा में उष यो मय ए और ओ प्राप्त हो गये।

किन्तु इन ध्वनि-धैतियों का विमात्रण मात्रा-नास की दृष्टि से अल्पव्यंजित है जो यद्यपि प्राचीन ध्वनि-प्रणाली का एक मूल लक्षण है केवल न इ उ में ह्रस्व और दीर्घ मात्रा-नास है यह कबल कुछ हासतों में अन्त में दीर्घ हो जाती है आर्यविमूलक गायम्य के कारण अन्त में ए और ओ के केवल दीर्घ रूप मिलते हैं।

व्यापहारिक दृष्टि में भी उनमें उनकी ही अयमानता है कबल न स्वर है इ, उ यह स्वनत है ए और ओ विच्छिन्न हो जाने वाले संयुक्त स्वर हैं और न अय् अन्म विनस्त हो जाते हैं जो सामान्यतः ऐ, *ओ से निरन्तर हुए होने चाहिए अथवा

ऐं औ का विच्छेद आम् आम् में हो जाता है। सामान्यतः, परिवर्तन क्रम जिनका मापा में प्रमुख भाग रहता है ध्वनि प्रणाली के अनुस्यू नहीं हैं। उसे ऋ के अनुस्यू आकृतिमूलक समुदायों की ध्वनि-श्रेणियों के उदाहरण द्वारा देखा जा सकता है अर् अ (सबसे मूख स्वर) अम् इ ए, इ (अर्थात् *अं) आ इन असमान रूपों की संख्या और भी बढ़ायी जा सकती है। इ जैसे अतिरिक्त परिवर्तन क्रमों में ध्वनि-श्रेणियाँ विभिन्न रहती हैं। इस प्रकार इ, स्वर अ जहाँ तक उसे *अं से निकला माना जा सकता है। स परिवर्तनीय है और साथ ही य् से भी बिना इस बात का ख्याल रखे हुए कि वह पिरि में ऋ से भी बनग हो सकती है।

एक ऐसी प्रणाली में जिसमें दुरुहताएँ रूपों के अनुस्यू न हों गंभीर परिवर्तन होना आवश्यक था।

२ स्वरों का परवर्ती विकास

(१) ध्वनि-श्रेणियों का लोप

व्यावहारिक दृष्टि से असंतुलित होने के कारण यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष सरलता और स्वाभिरथ (आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं में अपनी महीन ध्वनि-श्रेणियाँ एक प्रकार से विकसित ही नहीं हुईं) के रहने पर भी संस्कृत की स्वर प्रणाली को गंभीर अतिपूति प्रवर्धित करनी पड़ी है।

ऋ का स्वरीकरण

पहला ऋ के बहिष्कार हो जाने में है। इस दृष्टि से भारतीय भाषा में ईरानी तथा अन्य मारोपीय भाषाओं की भाँति एक दुरुह ध्वनि-श्रेणी विनीन हो पायी है, और जिसकी स्वर-स्थिति में ही व्यञ्जन तत्त्व निहित थे। किन्तु इस समस्या का भारतीय समाधान निराकार है। क्योंकि अन्य स्वानों की भाँति ईरान में यह परिणाम निकला कि एक समुदाय में एक साथ ही एक स्वर और एक र है। केवल भारतवर्ष में उच्चारण की क्षति पर मात्रा-काल की रक्षा एक ऐसी पद्धति द्वारा की गयी है जिसका प्रयोग ईरानी और ग्रीक भाषाओं में व्यञ्जना के संबंध में होता है और स्वभावतः इ, उ के संबंध में जो कोई कठिनाई प्रस्तुत नहीं करती।

यह बात निस्संदेह है कि उच्चारण में ऋ का स्थान एक विभूत स्वर ने ले लिया था। न कि किसी संयुक्त-स्वर ने अपना शब्दांशों का निर्माण करने वाला किसी समुदाय में। तो क्या लेख में ऋ के इतने दिनों तक सुरक्षित रहने का कुछ अर्थ है? जो भी हो

यह एक महत्वपूर्ण बात है, वर में ही उ द्वारा प्राचीन ऋ का प्रतिनिधित्व किया गया मिला है। यह संबंध ए० ए० पितु (*पितु-म्) जैसे शब्दों के अन्त में मिला है, तुल० अ० नौरते (*नू-स्) अ० का १ बहुवचन तुल० अ० पा० अंतर्हट, विको-हतरते(रे० मेहए, मिलाई बादिअनरय ए० सेवी' पृ० १७)। यह एक सामान्य तथ्य है कि ए० ध्वनि-अधी पहल अन्त में हो। किन्तु ए० उदाहरण भी पाए जाते हैं जिनमें उ० अन्त्य स्वर शब्दों के मध्य देखा गया है जिनमें परिवर्तन-अ० का कोई भी प्रतिफलन ऋ की उदा नहीं करता और जिनमें केवल शब्द-व्युत्पत्ति-विशेषण ही चिह्न पा सकता है विक० वि० तुल० पी० नेतरोस मू० (अ० भरवु रे० 'डोनम नेटासिसियम धिजतन पृ० ३६९) साथ ही तुल० पेह- गृह के समाप।

र + स्वर के भी कुछ प्रमाण मिलते हैं जिनमें शब्दाधिक मात्रा-वाक्य को भी स्वान मिला है: जिमि कृमि के समीप तुल० क्रा० किम रजत-अ० अरंअतम् व अग्रत्यज रूप से ध्रुवोति (अ० मुस्ताबीति अगोक० अनेयु वादि) द्वारा प्रमाणित होता है।

मध्यकालीन भारतीय और नव्य भारतीय भाषाओं में ये ही रूप मिलते हैं अथवा उचित रूप में ये प्रयोग और भारतीय-आर्य भाषा की विशेषता है वर में यह अन्त रूप में मिलते हैं जो वर को परवर्ती भाषा-स्थितियों के उक्त-चिह्न में सामान्यतः मिलते हैं। स्वर + र का रूप जैसा कि ईरानी में है, केवल संस्कृत से लेकर आधुनिक शब्दों के अनिश्चित उच्चारण में मिला है (अ० अमिरत अमरित और अग्रत क समीप) ऐसा ही फा० मिर्जा सन्निहा है इसी प्रकार शहबाबगढ़ी के अन्त के अन्तिमों के अनिश्चित रूपों में कोई जाहे ता *मुरपा आदि (मिकेन्सन जे ए० ओ० ए० × × × पृ० ८२) पढ़ सकता है जब कि पाठ के अनुसार वह अगो(तुल० अ० अ० अ०) मिलता है। फलतः यह स्वीकार करना चाहिए कि यह एक अतीना अपवाद है। जोवर धीर्ष (हम ग) जो कमी-कमी अपन को प० रिष् म० तीम् आदि वैदिक के अर्थ कमी अगुन ईष्, पछई के ईष् अच् गित ईष् से असम कर लेता है यही विचार कि जाने की दृष्टि से बहुत दूर पड़ता है।

र - स्वर, वैदिक जिमि की भाँति या प्रयोग संभवतः अगोक० (अ० अ० अ०) और पात्री में ओष्ठ्य के समीप मिलता है उदाहरणार्थ बृहति (ऊ के लिए, तुल० सं परिवृ म बना परिवृन्ह) बृहन् (बृहट्ट के अनुकरण पर बृह के लिए, अ० बृहिट्ट) ररन् (और ररन् पी हापास) साथ ही तुल० पा० पुषु (पुषक) के विरतीनह पुषु० प्रुमि। किन्तु पा० पुष्पति विष्पित अ० (पुष्पति विष्पित ऋत्) यह प्रमाणित करते हैं कि प्रायेण स्थिति में ये अपवाद-स्वरण हैं। प्राकृत में रि प्रारंभ में ही मिल जाता है रिष् रिमि रिष्-आदि किन्तु इति अ०-ओ

मिस्ते हैं तुम्हें। पाली और वंश प्रयोग महसूस। यद्यपि उसके कुछ विश्व व्यापक भाषाओं में मिस्ते हैं तुम्हें। पीछे उद्युत 'हमारा' के लिए पाठ्य, तो भी उनमें यह प्रयोग अपवाद स्वल्प है और एक स्थान पर मूल स्वर का हो जाना जिसे वैदिक भाषा में निश्चित रूप से विज्ञाया जा चुका है और साथ ही कस्सीक भाषा में (कोप्ट और कोप्ट भाषा का मिश्रण) मध्यकालीन भारतीय और नव्य भारतीय भाषाओं में भाषाएँ जो बिलक्षण समझी जाती हैं सामान्य प्रयोग के रूप में रह जाती हैं। स्वर की विशिष्टता पहले ही दिखाई पड़न लगती है गिरनार में अघोष और बाद में मराठी भाषा ने अ को पसन्द किया जिसे सिन्धी में कोई स्थान नहीं मिला, इ का प्रयोग बहुत हुआ है।

संयुक्त स्वरों का लोप

ए और अ के विकसित हो जाने से संयुक्त स्वरों की भारत-ईरानी प्रजाती का टूटना विकास की वह प्रथम श्रेणी है जो स्वयं बाद की मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में ऐ और औ के रूप में परिणत हो जाती है, साथ ही अब उसका आकृतिमूक मूल्य नष्ट हो जाता है इ, ए, ऐ उ ओ औ।

यह तो बचा जा चुका है कि संस्कृत में भारत-ईरानी संयुक्त-स्वरों आइ, आउ का प्रथम उत्पन्न अ अपना ठीक-ठीक मात्रा-काळ लो बैठा था। व्यापक भारतीय भाषाओं में ऐ और औ में फिर म ए और ओ जा गये हैं अघोष० केवट (वैवर्त) विकृतस्व स्त्री० एक० ये (-यै) का अन्त्य पौत्र (पौत्र) पा० वर (वर) पोर (पौर) जमो (जमौ) रतो (रतौ)। अथि अय से निकले ऐ, औ के अतिरिक्त अब वहीं भी ऐ औ में परिवर्तित हो जाते हैं गिरनार में अघोष ने सिखा है पैर (स्वदिर) और त्रैवस (त्रयोवस) जो पाली में बेर तरह मिसे जाते हैं। यही बात अपिनिहित के संबंध में भी है सह० (-या) समचरियम के लिए अघोष० समचैरम् बीच की उस स्थिति का घोटन करता है जिससे प्राकृत रूप अचर (आचर्य), आचर (आचार्य) निकले हैं और प्राकृत विशेषणों का रूप -रंर जिसका संबंधसूचक विशेषणों के प्रत्यय के रूप में प्रा० पु जिप्पी-भाषा आदि में अव्यक्त प्रयोग होने वाला था। अन्त में अचर-संज्ञकी सीमा द्वारा पूरक रूपेण ए और इ, उ आगे चलकर इस सीमा के संकुचित हो जाने से आपस में मिल जाते हैं तिगुलिना के अघोष-अभिधेयों में तो ओ (९) वः (चतुर्वध-) दिया ही हुआ है जिनमें अन्त्य का द्विपमीकरण हो जाता है साथ ही उनमें टोपण के रूप भी मिस्ते हैं चतु(पु)पदे चतुष्मासं और, परिवर्तन-

ये मध्य तथा अन्य संयुक्त-स्वर सबप्रथम मात्रा-काष्ठ की दृष्टि से प्रयुक्त हुए हैं। प्राचीन छंद प्रणाली में वे दोष रूप में आते हैं। उस समय से व प्राचीन दोष रूपों की भाँति रहे हैं किन्तु बौद्ध संस्कृत और परवर्ती मध्यकालीन भारतीय भाषा के दोष शब्दों में अन्य स्थिति धारण कर लेते हैं। म.० सीहासन (सिंहा) के लिए विहासन आदि।

(२) शब्द में स्थान के आधार पर परिवर्तन

कुछ लगभग अपवादों को छोड़ कर, स्वर-संबंधी ध्वनि प्रणाली इतिहास में बराबर बनी रही है। संस्कृत के व, इ, ए, उ ओ सामान्यतः फिर उस रूप में मिलते हैं जिस रूप में उदाहरणार्थ मराठी या हिन्दी में। इसके विनयित छयात्मक परिवर्तन हुए हैं।

संस्कृत में स्वरों का मात्रा-काष्ठ निश्चित रूप से निर्धारित है। उसमें ह्रस्व हैं दोष हैं और फिर दोष ह्रस्व के संयुक्त रूप में हैं (ध्वनों का 'युग्म' एक भिन्न बात है। एक ध्वनीय मंत्र हो सकता है स्वर ह्रस्व यदि इस स्वर के बाद दो ध्वजन आये)। प्राचीन छन्द प्रणाली द्वारा अनुमोदित मात्रा-काष्ठ-संबंधी विभिन्नता का संबंध विषयतः कुछ निश्चित आहतिमूलक प्रकारों से है। यहाँ कुछ प्रत्ययों (धुषो मन्) अपवादात्मक के प्रथम ध्वनों (विश्वामित्र-) और उनमें मिल गये आहति मूलक ध्वनों (तमन्वत् व प्रत्ययों से पूर्व विनोपध ध्वन) से संबंधित अन्य स्वर उद्भूत किए जायेंगे। भारतीय की यह एक परंपरा रही जिससे यह प्रकट होता है कि प्राचीन काष्ठ से ही जगमें ध्वनों से संबंधित "गुरुत्व" के परिवर्तन-कर्म का अत्यन्त महत्त्व रहा है। ह्रस्वमर्कम ह्रस्वम् (~ ~ ~) वाचुर्षे वषभ र्भरोमन् भरिभम्। इसी प्रकृति के कारण अनुकूल परिस्थिति में ह्रस्व स्वर का पुनः लोप हो जाता है। इष् मन् के लिए इष्महे मन्महे म ओप्य देविए धनिता की अपेक्षा जन का भाँति उपभारतमन् ध्वनों के मूक की इ को सृष्ट कर देने की शक्ति जिससे जनिम के समीप जग्मना (द० मेइए, एम० एम० एम० एम० XXXI पु० १९३) बनता है। इसी परंपरा के अनुसार मध्यकालीन भारतीय भाषा में यौगिक ध्वनों का व्याप्तियुक्त रूप मिलता है। पा० जातीयरम निन्धोगत-बौर इमो प्रकार संबंध० सतीमतो दे० कर्ता० सतीमा (स्मृतिमान्) किन्तु विपर्यन्त रूप में ह्रस्वीकरण मिलता है। उष्गत उष्ठा (सृष्ठा) क रूप में और पञ्च वा (प्रमावान्) तो यह एकपैमी समान बात है जो अन्य के अनिश्चित महत्त्व की बार उठना ही संकेत करती है जितना ध्वनों के छयात्मक समुदाय की ओर।

भाषा में मध्यकालीन भारतीय भाषा में स्वर-संबंधी मात्रा-कारण उतनी ही कठोरता के साथ सुरक्षित नहीं पाया जाता जितनी पहले व्याकरण की दृष्टि से और विशेषतः परिवर्तन क्रमों की दृष्टि से पाया जाता था यह बहुत कुछ शब्दान्तगत स्वरों की स्थिति की स्थिति पर निर्भर रहता है और वह भी जो रूपों में एक तो शब्दों के निर्माण की दृष्टि से दूसरे शब्द के रूप और विस्तार की दृष्टि से।

(अ) शब्दांश

प्राचीन प्रजाती के अनुसार, एक शब्दांश जिसके अंत में कोई दीर्घ स्वर आता हो और एक शब्दांश जिसमें ऐसा ह्रस्व स्वर हो जिसके पश्चात् आभित व्यंजन आया हो समान रूप से मन्व होता है तथा— उप्त—,उत्— को उरह्। व्यंजन समुदायों के परस्पर मिश्र होने से स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता पा० उप्त—(उप्त)—।

एक शब्दांश जिसमें दीर्घ स्वर और उत्पश्चात् एक समुदाय हो बहुत मन्व रहता था और कर्त्तवीर्य मध्यकालीन भारतीय भाषा में उसका आवर्ष रूप पाया जाता है। गिरनार वाले अक्षरों के अभिव्यक्तियों में उससे अलगवा पाया जाता है अ(अ)अ (अय) यु(य)उ- (युक्त) के निकट रूप में पढ़ने की निम्नता है उ(अ)ओ (उजना) मा(य)यव (मार्च) जो वैसे ही विरोधी रूप में है और अपूर्णत अनुसूचित समुदायों पर आचारित स्वर-संबंधी मात्रा-कारण में पाया जाता है चत्पाये (चत्पाय) जो आत्य (आत्य) के विपरीत पड़ता है।

पश्चिमी भाषा में भाषा-संबंधी यह परिस्थिति बहुत दिनों तक बनी रही सिंधी में उसके प्रभाव मिलते हैं जो वाच् (व्याघ्रो) वा चक् (चक्) से राच् (राची) का रच् (रक्ती) से काच् (काच्छम्) का अच् (अच्छी) से विरोध प्रकट करते हैं ऐसा ही बंजारी उच् (उची) और रच् (रक्त) और कश्मीरी में है काच् (काच्छ) जाच् (जाय) किन्तु उच् (रक्त-) तो इन प्रवेष्टों में द्वित्व रूपों का सरलीकरण हाल का है।

अय्य भाषाओं में इस रीति का अपवाद-रूप में प्रयोग हुआ है वह पा० दीच (दीर्घ) काया (काया) रूप में है। सामान्यतः शब्दांश की स्वर प्रहण करने की दृष्टि से उसका सामान्य "नुरत्" फिर प्राप्त हो जाता है और यह मध्यकालीन भारतीय भाषाओं के समय से उचित रत्त के रूप में कट्ट- अट्ट के रूप में अम्मा अम्मा- (अय्य-) के रूप में।

मन्वा ए और ओ जिनमें अन्त में ह्रस्व हो जाने की प्रकृति थी इन स्वरों पर भी अन्तर ह्रस्व ही पाते हैं। सामान्य लय वेदु- (वेदु-) की तरह कुछ प्रहण नहीं

करता अग्निहोत्र- (अग्निहोत्र) पुण्ड्रा (अग्निहोत्र) वीम लेख स्पष्ट हो जाते हैं जब कि ए और ओ का अस्तित्व स्वीकार कर लिया जाता है क्योंकि एक ही वायु ह्रस्व-के अन्त से और सगमग एक से अर्धं जृति (घृति-) क एष्य म मियय का अनुमान किया जा सकता है। किन्तु नक्ष (निष्क-) ओट्ट- (उट्ट) जैसे रूप जिनकी व्याख्या अन्व-व्युत्पत्ति-विज्ञान नहीं कर सकता, प्रस्तुत ह्रस्व रूपों का मान कर सकते हैं। इससे न कबल पूर्वोत्पत्ति उदाहरण हो, बरन् व्युत्पत्ति के उन उदाहरणों की भी व्याख्या हो जाती है जिनमें वृद्धि विन्मुक्त सुप्त हा यथो है सिम्बल (सैम्बल) इन्धरिय (ऐस्वर्म-) उस्मुक्त- (ओस्मुक्त)।

यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन मध्यकासीन भारतीय भाषा में बड़ हुए, इन तुल्य रूपों ने परिवर्तन-क्रमों की प्राचीन प्रणाली में कितनी कठिनाइयाँ उपस्थित कर दी हैं न केवल व्युत्पत्ति में किन्तु आकार की दृष्टि में स्वयं रूप-रचना में गुण की सुरक्षा का बचाव है। उल्टे आधुनिक काल तक उसमें और कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गयी हैं हि० एक इच्छा बेजाना दिखाना [जिनमें अन्व-व्युत्पत्ति-अर्धं की परिवर्तन क्रम से आदर्शजनक रूप में विपर्यस्त मूक-अर्धं की परिवर्तन-क्रम परिणाम ह तोड़ना (भोटयति) टूटना (भुटयते)]।

तो इस समय उसमें एक नये प्रणाली पाया जाती है जिसके अन्तगत ऋ का अस्तित्व नहीं रह गया और जिसमें धाय सभी स्वर ह्रस्व या दीर्घ हो सकते हैं। केवल एक कठिनाई यह है कि व्यावहारिक दृष्टि से इ एक साथ हो ई और ए दोनों का ह्रस्व रूप हो सकता है उभा ऊ और ओ का यह कठिनाई और भी बड़ जाती है जब कि ए और ई, ओ और ऊ परस्पर मल नहीं जात और परस्परिक परिवर्तन अपवाद रूप में प्रकट करते हैं।

हम देखते हैं कि मध्यकासीन भारतीय भाषा में द्वित्वों का सामान्यतः सरलीकरण हो गया है प्रस्तुत विषय की दृष्टि से पूर्व स्वर, जिसकी उत्पत्ति किसी कारण हुई हो दीर्घमान हो जाता है। यह चीज कुछ हालतों में मध्यकासीन भारतीय भाषा से बनी पानी मानी जा सकती है तुल० अघोष० में दिल्ली के स्तंभ में भविष्यत् रूप-ईसति है, ओ-इ (म्) सति के निकट ह। गंगा की घाटी और दक्षिण की भाषाओं में हर हालत में नियमित रूप से यह पाया जाता है वाप् (आरमन् प्रा० अप्प-) रात् (राधि पा रति-) मात् (अध पा० अज्ज) पात् (पत्र पा० पत्त-) मुत् (मुध पा० मुत्त-) पूत् (पुध पा० पुत्त-) मृगेय की जिप्पी भाषा में इब् (जाला) मात् (मो (मत्स्य), दोनों गम् (ग्राम-) क म सहित न कि केर् (कर्) के ए यादि सहित। इन्हीं से हिन्दी में मसन् माजन् (अद्यय) बती और बाती (बतिना) जैसे द्वित्व रूप हैं।

सिंहली में केवल ह्रस्व स्वर और साधारण व्यंजन अधिक हैं विकास के विस्तार प्राप्त नहीं हैं यदि अनुनासिक+स्पर्श से पूर्व स्वरों का विभाजन एक उसी प्रकार के विकास की ओर संकेत करता प्रतीत होता जिस पर विशेष रूप से धृष्टि वाली या चुकी है तो स्वरों का ह्रस्वीकरण हास का है।

वास्तव में अनुनासिक+स्पर्श वास्तव समुदाय व्यंजनों के समुदाय की साधारण स्थिति में टिक नहीं सकता और दूसरी ओर स्वर की अनुनासिकता जो प्राचीन समय में सिन्धु-व्यंजि सोम्य या महाप्राण (सर्षद् बंध संवाह महित) से पहले या मया की स्पर्श से पूर्व केवल देर में और आसिक रूप में आय। संस्कृत और बर्नास्यूडों में अनुस्वार द्वारा व्यक्त विद्वत्तापूर्ण शब्दों में वास्तविकता का प्रयोग नहीं पाया जाता।

पश्चिमी समुदाय में जिसमें अनुनासिक व्यंजन की शक्ति मरुता है स्वर स्पर्श समुदाय से पूर्व की शक्ति अपना मात्रा-काल बनाये रखने की क्षमता रखता है पं० कासा सि० कानो (काण्ड) पं० रम् सि० र्म् (रब्बा) किन्तु सि कामो (आम्) के निकट पं० अम् ।

अल्प स्पर्श की मुखरता पर सब कुछ निर्भर रहता है। मराठी में स्वर, जो (विद्यार्थों के प्रभाव से अल्प) शून्य शीर्ष होता है अनुनासिकता बनाये रखता है और स्पर्श के पश्चात् अनुनासिक मुखर हो जाता है चाँद् कठोर से पहले अनुनासिकता रहती है और व्यंजन से शुरुवात पहले जाती है चाँद् तथा तत्संबंधी लेख के बिना अनुनासिक-बिहीनता में उसका अंत होता है (हास के एक विवेचन के लिए, रे० मॉडर्न रिप्यू' १९२८ पृ० ४२*)। कुछ-कुछ मही बात गुजराती में मिलती है। तथापि सिंहली में अर्द्धुर (अंकार) कुर्मबु (कुम्भ) का विरोध कट्ट (कष्ट) मेन् (गाति) कर्ब (कम्) और साच ही मम् (मांस) से है तो मराठी में पुनर्विभाजन है सिवाय इसके कि सिंहली में शीर्ष स्वर ह्रस्व ही बात है।

हिन्दी में स्वर द्वारा अनुनासिकता का अपने में तीन किये जाने की प्रवृत्ति प्रमुख है पाँची (पाँच) पाँच् (पाँच) पाँच (पाँच) किन्तु एक घण्ट में अधिक शीर्ष पञ्चान् (पञ्चान्) पूची (पुञ्च) कौठ (कौट-) पाँची (पाँचिका) आदि एक अच्छे उदाहरण में स्वयं स्पष्ट हो जाता है चूम् (चुम्)। घण्ट ह्रस्व स्वर अनुनासिक के रूप प्रायः मिल जाते हैं जो निस्संवेह संस्कृत आस्यों के प्रभाव से मुख्य है वे चाँच् पंचू पिचि आदि ही हों तो ठार संकेतित आदि बली प्रकार के एकमुख विप्राची का घण्टों में न एक में ममानता पाय जाती है।

(मा) शब्द

अल्प स्वर

व्यंजनों के लुप्त हो जाने के फलस्वरूप मध्यकालीन भारतीय भाषा के समस्त शब्दों के अंत में स्वर रहता था। बाद की घट्ट के अन्त की निजी दुर्बलता की अभिव्यक्ति स्वर-संबंधी तर्कों में हुई। आधुनिक भाषाओं में संयुक्त स्वरों से निकले हुए स्वरों को छोड़कर, दीर्घ अल्प स्वर और नहीं रह गये हैं, इसे छोड़ कर, स्वरों में अक्षरा स्पष्ट रहने हुए व्यंजनों में अंत होने वाले शब्दों को बलिआई से मुना जाता है।

इस परिवर्तन के बिना मध्यकालीन भारतीय भाषा के प्राचीनतम प्रमाणों में पाये जाते हैं। ब्रह्मो-स्तंभों के एष छोटे-से समुदाय में -या -याः, -मात् स निकला -आ -अ लिखा हुआ मिलता है। सब के विन्यस्त हो जान पर प्राचीन वीरता फिर प्रकट हो गयी। सिध व, किन्तु बापि अन्य अभिव्यक्तियों में मात्रा-काल नियमित रूप से नहीं रह जाता।

पाली के अनुशेखन में बहुवचनी शब्दों सुरक्षित रह गयी हैं और शेष में रूप-विचार, जो प्राचीन प्रकार का है का बहु सामान्य लकाबा है। आदि एकवचन है आदी बहु वचन है। आदि किन्तु सामान्य अतीत ३ एक० में जिसमें परिवर्तन-क्रम एक दूसरे स्वर में होता है सामान्यतः लृप्त मिलता है। आदि (आनी आदीत) अस्तोति आदि, और फलतः विपर्यस्त रूप में अक्षिप्तों। जाकोबी का विचार 'ये धम्मा हेतुप्य मवा' के प्रसिद्ध सूत्र की परीक्षा द्वितीय शब्द के लृप्त -अ द्वारा करना है।

अनुनासिक स्वरों में एक प्रकार की समानता है। पिरलार में कर्म० एक० स्त्री० -याता (याताम्) है किन्तु अन्यत्र -यातं है। पाली में कम्मं और तदि (कम्मं, तदीम्) समान रूप से बरबर कम्मं और तदिम् (कम्मं, तदिम्) की तरह है। इसी प्रकार अघाक० और पा० वादि (इवादीम्) है। इसी प्रकार तिर ब्रह्मो० और पा० उबब० बहु गुणाम् अधिकरण० ए० स्त्री० परिसार्यं है। अनुनासिकता जिसका अब भी मामूली तौर से छन्द-व्यवस्था में महत्व माना जाता है के कारण स्वल्प सभी रूपों का दीर्घ तत्त्व विद्यतापूर्ण अनुशेखन में नहीं मिलता। वास्तव में अदि यसन्नाम वस्वनम् विम्हान मासे जैसी अभिव्यक्तियों में अनुनासिकता के बर्णन ही नष्ट होते और बहु भी आध्यय के बन्धन के बिना So. वीधम् अदान संसरम्। जैसी से प्राकृत में प्रत्ययों की संख्या में अनुनासिक स्वर रहने या न रहने की संभावना हुई, जिसके बिना इस संबंध में शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से निश्चित रूप से निष्कर्ष नहीं

निकासा वा सफ़टा उसी से छंद में अन्त्य अनुनासिकों की दीर्घ या ह्रस्व (अनुस्वार वा अनुनासिक) के रूप में गणना करने की स्वतंत्रता है।

इसमें बहाँ तक -ए और -ओ से संबंध है जब मध्यकालीन भारतीय भाषा कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करती और ऐसा प्रतीत होता है कि ये ध्वनि-भेदियाँ पसन्द न रही हों इस बात का प्रमाण है कुनु के -इ वा -ए वाले सभावक प्रकारों और अधिकरण कारकों में तथा -उ और -ओ वाले कर्ता० में मिश्रता है जिसमें इन स्वरों की दीर्घ के रूप में गणना होती है अ' १० गउह्लु (पा० गउह्लो) उवा ११ गोवरि (गोवरे) उठा प्रतिकूल रीति से व' १५ बहो वायक, १० बहो मापति ओ C^{vo} १२ बहो जनो (पा० बहूजना) के विपरीत है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें बम् उठम् (बर्म्मन् उठर्म) सबधु (पा० सम्प स्धम् सं० सम्पधम्), बहु अपवा बहो (बहू) के अनुनासिक स्वर की भाँति ध्वनि प्रच्छन्न हो जाती है। तो फिर यह संभव है कि महाबस्तु और प्राकृत कविता में ऐच्छिक रूप में ह्रस्व माने गये -ए और -ओ के बने रहने पर भी इनमें पहले ध्वनि परिवर्तित हो गयी है। इ कुनु० में बेबी पयी मध्यकालीन भारतीय भाषा के -उ रूप धारण करने वाले -उं (-औं) की प्रच्छन्नता अपभ्रंस और आपुनिक भाषाओं में सामान्य रूप धारण कर लेती है।

विशेषतः मध्यकालीन भारतीय भाषा के किमा-रूपों का विस्तार बहुत बड़े अंश में ध्वनि-संबंधी अनुकम्पता पर निर्भर है -अति अस्ति बते अन्ते। यद्यपि उसका और भी विस्तार हो सकता है आपुनिक भाषाओं के मूल में तो केवल अन्त्य स्वर ही ह्रस्व है।

स्वयं आपुनिक भाषाओं में इन ह्रस्वों में फिर अपने उचित स्वान की दृष्टि से ह्रास उपस्थित ही जाता है। कुछ भाषाओं में फूसफुसाहट वाली ध्वनि कठिनाई से मियती है किन्तु मुष्चित फूसफुसाहट वाली ध्वनि है सिपी की बे; ^उ (बेहा) ओ बेहू ^अ बहा से है आदि की विषयता है मैपिली में -इ और -उ बने हुए हे आन्ह, (अग्व) किन्तु औन् ^अ (अधि) बहू ^उ (बधू) पांश् (पञ्च) किन्तु तिन् ^अ (तीणि)। पूष लोप तो केवल बहुत पिछड़ी हुई शक्तिमें में मियता है। [उवा० कटी ब्रंर (भार इम् रोपम्) म्उम् (भूमि)], और धूमरी और अर्यपिक विकसित भाषाओं में कुङ्गली बरादी (कोंकणी को छोड़कर) बंगाली बिहारी (मैथिली को छोड़कर) अन्ततः हिन्दी और पंजाबी। तो भी यह बताना आवश्यक है कि अन्तिम भाषाओं के प्रवेश की गैबाक भाषा स्वाभाविक रूप से अन्त्य स्वर बनाये हुए

है और सब अथवा छन्दशास्त्रियों ने शब्दों के अन्तिम व्यंजन के बाद 'अ मूक' वाले शब्दाद्य की गणना की है।

उड़िया में सभी शब्द जिनका अन्त व्यंजन में होता है एक उदासीन स्वर जोड़ देने की प्रवृत्ति प्रकट करते हैं जो दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं के अन्तिम अस्विर-उ की याद गिनात है उड़िया के तो स्वयं व्याकरण में एक द्रविड़ रूप मिलता है 'संबंधवा जो इवन्त'।

अस्तु, ऐद्वान्तिक रूप से यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण बोधियों को छोड़कर, शब्दों के अन्त में जाने वाले स्वर स्वर-संधियों से निकले दीर्घ होते हैं या उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। अपवाद रूप में प्राचीन दीर्घ व्याकरण की वृत्ति से महत्त्वपूर्ण शब्दों में बने रहते हैं मराठी जो (य) मराठी अम्ही प्रा० अम्हें) तो भी इस बात की ओर संकेत करता आवश्यक है कि ये दीर्घ संभवतः केवल वर्ण-वित्यास (ह्रस्व) संबंधी है तुल० बगाली आमि हि हम्। मराठी में और हिन्दी में एक वास्तविक अल्प स्वर दीर्घ की भाँति बिचार्य जाता है इसी से हि० अन्वरी मई, गुसाई, जो बेंगलेसी से छिन बने महीनों के नाम हैं हि० छेन्नी जो सिक्खर, सिक्खर के जो एक ऐसे शब्द को दीर्घ बना देते हैं जिसमें केवल प्रथम स्वर पर आघात होता है और अन्तिम अस्पष्ट रहता है (सेन्टरी) विपरीत है। किन्तु कश्मीरी में चुर (चोरो चोप) राप् राभी, के निकट और दूसरी ओर उषार सिमे हुए शब्द दुप्या नदी से बयबा अपादान० चुरा (मध्यकाशीन भारतीय भाषा *चोरोंओ) विरोपन बोइ^३, कुइ^३ रूप में होते हैं तुल० हि० बड़ा बड़ी।

शब्द-लय

शब्दाद्य-निर्माण से संयुक्त होने पर भी शब्द-व्युत्पत्ति-विचार ही समस्त स्वरों के वास्तविक माता-कास की गणना करने के लिए यथ्य नहीं है। यह या वास्तव में आधुनिक भाषाओं के शब्द में पाया जाता है कि कुछ स्वर अन्य की अपेक्षा अधिक कठोर हैं। प्रथमतः, अन्तिम व्यंजन से पहले जाने वाला स्वर अक्षयी इवन्त वैकत् (-अन्तो) क्रियार्थक समा दख् फलत एकाग्रों बम्ब सद्व अपेक्षाकृत दीर्घ होते हैं। दूसरे, संयुक्त-स्वर से निकला अल्प स्वर (-अं/ -औं -आ जो प्राकृत के -अओ से है) एक -ऐ, -ए, जो प्राकृत -अदि से है में मुख्य कारण पुस्मिन्) जो अब भी ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति प्रदर्शित करने के रूप कमरा गुर^३ गुर^३। इसी प्रकार आदि स्वर भी बयबा बना गुर^३ है

(अन्त्यवर्ध-सौय के अन्तर्गत उपविद् से मराठी वीष्) हि० वीष् किन्तु उसका मात्रा काक स्वर नहीं रहता। इसका विपरीत मध्य स्वर सामान्यतः मन्द पङ्क बाठा है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से मात्रा-काक के संबंध में संकोच के बहुत भिन्नमे स्मृत है किन्तु मामूली तौर से सहायक बातों को समझाया जा सकता है। इसलिये प्रवाह के स्थात पर प्रवाह में मिलती-जुलती रचना मिछती है। अथवा तुम्हारे प्रत्ययों के रूप में जैसे मराठी ठले पा०० ठकक- का अनुमान करता है जो 'अपदान' (Apadāna) (एच० स्मिथ) के ठकक- का सच्चा छन्द-मात्रा गणन है वह कि हि० गू० ठककसं० ठकक के अनुकूल है। सि० बिसो हि० किन्ती से *बिडाक- की कल्पना होती है। अन्य भाषाएँ संस्कृत विज्ञान से साम्य रखती हैं। प्रा० पहिर, जिसकी पुष्टि हि० गहरा आदि से होती है। इस बात का अनुमान करते हैं कि सं० गभीर ने स्वर्गिर धिबिर आदि के प्रत्यय ग्रहण कर लिये हैं किन्तु मम्जार-(मार्जार) क निकट प्रा० मम्जार प्रा० सं० कुमार-के निकट प्रा० कुमार-जिसकी हि० कुबार के मुकाबले मु० क कुवर द्वारा पुष्टि होती है। श्री व्याख्या के लिए कुम्बर ईश्वर का स्मरण करने में संकोच होता है। यह बताया जाता है (सुमन 'स्टेटिफिक जाकीबी' पृ ८४ तथा बाद के पृष्ठ) कि हाल (Halla) में भीज (गीत) और उचशीर के निकट आश्रित समाश्रित मिलते हैं। यह भागेह, समाशेह का-एह में सामान्य प्रेरकार्यक पालु (पिबन्त) के रूप में प्रयोग है। धूमरी और उच्य मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से समास के द्वितीय पद के समस्त सरलीकृत आदि अनुदासों की स्थिति बनती भी है। नहीं भी बनती पा० निबिष्- अथवा निबिष्- (निबिष्-) जिसके अनुकरण पर ह पटिकक- अथवा पटिकक-।

जाबुनिक काक एक छन्द-व्युत्पत्ति-संबंधी मात्रा-काक की अपेक्षा छन्द-स्य की प्रमुखता रही है। यही कारण है कि आप और पूष् के मुकाबले में हिन्दी में अत्ता पुत्ती है। हि० बं० बिज(उ)सी में ह्रस्व ठीक-ठीक बीसा ही ह्रस्व नहीं है। वैसे सं बिजत् म ह किन्तु वह प्रा बिजकुलिभा की भाँति है। अन्यथा वह एक ऐसा बीच रूप है जो हाप ही में ह्रस्व हो गया है। निश्चित रूप से तीसा सं निकला निष्सा उसका दुष्पान्त है। ता ए की बँगला में बिबुति होती अनिवाय है। सिठसी (मेघलिका) और ई का नि० निभारो (धीतकाल-) में।

मराठी में नियमित रूप से किरा कीड (कीड-) का एक० बिहृत रूप अथवा पूरा (पूरित-) है। इसी प्रकार बलिनी उर्दु में हि० मीठा कस्बान पर मिअ है। हिन्दी वाग्नर म लय के रूपों का रक्षण करती है। उनमें पाएँ है। जब कि पंजाबी में पुभाष् (पादात्) है। पी० राम जेठ बी० एम० भा० एम० डा० पू० ३२३। उनी से आइति-

मूकक मूय का वैपरीत्य उत्पन्न होता है हि० देवता बिलाना बोसना बुसाना।

मध्य भाग की दृष्टि से बंगला में ठाट्टु का स्त्री-संग ठररन् है हिन्दी में बहीन् का बहुवचन बहनें है बकिनी उर्दू में बेबा (विमबा) का बहुवचन बेबे^मन् है उभार क्रिय हुए घञ् मुसाहात् वा उञ्कारण मुसहात् की भाँति होता है। हि० हमारा के समय मैथिली में हम्^मरा बंगाली में धाम्वा है। बम-से-कम हि० आँपेट (*अञ्कार- तुक० ने० आघ्यार) और अहेल् (अधिकारिणी) (पूरी बात ने लिए दे० एब० स्मिय बी० एस० एल० XXXIV पृ० ११५) में-इमा का बही रूप दृष्टिगोचर होता है जो-इम का उसी समय से बंगला के पुस्तकालय नामों में स्वयं ए का लोप हो गया है गम्वा (गम्वेस) बरना (बारेन्)।

इस प्रकार के लघ्वे बहुत से हैं और बोलचाल में सेसन से भी अधिक हैं उनका वर्गीकरण करना कठिन है। ह्रस्वीकरण के उदाहरणों की और विशेषतासूचक ध्वनि के लोप को ब्रह्म स्पष्ट रूप से रक्षना से विशेषतः कठिन है। स्पष्टतः कर्मात्मक चरम सीमाओं में बिनके बिना उनका पारस्परिक प्रमाणता का सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है उदा० म० कासन् और सि० कछू (कच्छु) की और विपर्यस्त रूप में म० क्यूस, हि० कपास् और मू० कापुस् (कार्पास-) की तुलना करना रोचक होमा अपवा पु० लोदी पूर्वी पं० लोहडा पश्चिमी पं० लोहाणा (लोहमाण्ड-) की। जो कुछ महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि स्वरों का मात्रा-काळ और शब्दार्थों का 'गुल्ल' अपने-अपने संबंध पर निर्भर रहते हैं।

इसकी ओर आचार-स्वरों की जो प्रायः प्राचीन स्वरों का स्वान ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु उनसे निकलते नहीं हैं मौल उत्पत्ति देखना भी आवश्यक है उसी से वैपरीत्या गैलास हि० जनम् (जग) है उन स्वरों की उत्पत्ति विशेषतः रोचक है जो अन्त में तीन व्यंजनों के समुदाय को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं

हि० सम्मा सम्माना समस्ता

म० उम्टा (सि० उच्छिटी) उच्छ्ने

और इसी प्रकार गुञ्जयी और ह्रस्वी में है किन्तु यह विश्वास ने० उञ्जु, उ० उञ्जिवा क्रियापद-संज्ञाओं में सिद्ध है।

यहाँ यह यकी भाँति स्पष्ट हो जाता है कि स्वरों का महत्त्व सब्ब के व्यंजनों के सामने दब जाता है। वैदिक प्रगाथी के घाब इससे अधिक विशेष पाना कठिन है।

३ स्वरों की अनुनासिकता

इतिहास के दौरान में कुछ अनुनासिक स्वर प्रकट हुए हैं जो प्राचीन परकीय अनुनासिक स्वरों से नहीं निकले। यह उस समय होता है जब कि स्वरों की प्रधान अनुनासिक ध्वनि अनुकूल स्थिति में प्रकट होने लगती है और मुख्यतः जब वह दीर्घ हो जाती है और जब वह अ के साथ प्रकट होती है [संकान्तेनार द सोकेसे प्रतीक है होत एत्युद (उच्च अध्ययन की व्यावहारिक विभाग-संस्था की संस्कृति) पृ० ६१]।

वेद के समय से ही यह ज्ञात आ रहा है कि कुछ अन्य स्वर जिनकी स्थिरता वाच्य से जवना सामान्य शीर्ष के द्विपुत्रित से (अर्थात् प्पुति) अधिक हो जाती है वे अनुनासिक हो जाते हैं। इसी प्रकार विवृति या विच्छेद के अन्तर्गत कुछ -अ हो जाते हैं (और केवल दीर्घ या प्रसारित ही नहीं)। ७१-२ अ विष्णु के अंत में अमिनन्तमें (ई) निस्सन्नेह विस्मयादिबोधक छन्द पवित्र ओम् प्राचीनकालीन साधारण ध्वनि (ओं ।) की व्युत्पत्ति यही है। यह केवल दीर्घ की अपेक्षा कुछ और है जिसकी तुलना मकाराकार की अमिनेपियों द्वारा किये गये प्राकृत के अनुनासिक उच्चारण से की जा सकती है। पिचरोती वी एस० ओ० एस० V पृ ३०९ ध्वन्य पाणिनि ने वाक्यांश के अंत में ह्रस्व और दीर्घ अ इ और उ की अनुनासिकता स्वीकार की है। यहाँ बात आपुनिक युग तक जमी आती है म० रि० बहु -मां (-अव) तते (तहि) ति प्रि (प्रिय) में। आधुनिक भाषाओं में सभी दीर्घ स्वर, मध्य की भाँति ही अनुनासिक ध्वनि विकसित करने की प्रवृत्ति प्रकट करत है म० केंन् (केण-) हि० ऊँद् (ऊट्ट-) सार् (सप-) त्रोल (मसि) ऊँबा (उच्च) पु० हि तँत् (तँत्-)। ये अनियमित रूप से बँटे हुए हैं बंगाली में जिनमें हि० पोपी (पुस्तक) के विकट पूर्वी है हि सार् (सप) के विकट सार् मिलता है किन्तु जो कुछ मिला जाता है और जो उच्चारण है उसमें अन्तर कैसे किया जाय ?

विभिन्न शक्तिपूर्ण मध्यकालीन भारतीय भाषा तक तुल्यता दीर्घ-अनुनासिक बनायी जमी जाती है कम-से-कम शिन्-ध्वनि के र (स) अथवा तामस्य (कडोर) को छिद्र तालस्य (कामस) को जिनका पूरा इतिहास भारतीय-आर्य भाषा में दीर्घ मध्य प्रकट करता है मुक्त करते हुए—उपाना र्छित ध्वन्य के सामने।

निम्नलिखित भी वे कम-से-कम कुछ अंतों में प्रा० पंचमि ह्रस्व (अप ह्रं) मुम्- (मुन्) अम अमि- (अभि) में अनुनासिकों की अविश्वलि है और विपरित रूप में पा० वा सीह (सिह) और सं० वा सीहि अनुनासिकता-विहीन

दीर्घ है। सभी से विशेषतः प्राकृत के अनुनासिक बंसु (बभ्रु), पंक्ति (पभित्), बंष्ट- (उष्) दसु (दर्स) भावि और उनसे निकले आधुनिक रूप हैं (खास तौर से सिं० ह्रस्व, बभ्रु की ओर ध्यान दीजिए जिनमें ऊर्ध्व से पूर्व का अनुनासिक एक स्पर्श को वियुक्त कर देता है)।

ये बातें आधुनिक मापामों में बहुत अधिक पायी जाती हैं और प्राचीन ध्वनि-संबंधी सीमाओं का अतिक्रमण हो जाता है न केवल हि० बाह् (बाहु) मिलता है बरन् गु० पीपद् आदि के विपरीत म० पिप्पसी (पिप्पसी) मिलता है स्वभावतः ऊँचो (उच्च) से ने० उँचो (ऊर्ध्व)। औपम्यमूलक उदाहरणों को आधिक रूप में ही सही प्रस्तुत करना आवश्यक है, जिनमें का अनुनासिक अन्यत्र मिलता है अथवा हि० बंगीठा (बनिष्ठ-) को जो बंग् भासे अन्य शब्दों से ह और जिससे सर्वप्रथम बंगार् बनता है।

अंत में समीपवर्ती अनुनासिक स्पर्श ध्वतियों के प्रभावान्तर्गत अनुनासिक स्वरों की ओर आइए।

१ शब्द के अन्त में प्राकृत के नाम प्रत्यय रूपों में संबंध० बहु० में-आणुञ्चै (-आणाम्) और-अँजर्म करण० एक० में-एण और एणर्म कर्ता० नपु० बहु० में सामान्यतः आईं [इ से पूर्व-अँमि के साथ स्पर्श अनुनासिक के मिक भागे के सहित तुक० अक्षरी में बरमाह, किन्तु बिहृत रूप बरुसन् (-बर्ष) ब्रज भाँते अथवा बातन्] पाया जाता है। अणभ्रम में करण० में भी परिचाम -र् में बुष्टिगोचर होता है नरें, और मविससक्तह में अनुनासिक स्त्री किन्म में मिलता है इसी प्रथ्य में अनुनासिक के परवर्ती सभी बरत्य -इ, -उ -हि अथवा -ह अनुनासिक हो जाते हैं १ एक० सुबर्दे।

२ शब्द के प्रारंभ में म् अथवा न् द्वारा परवर्ती स्वर, के अनुनासिक हो जाने की सम्भावना मिलती है। पा० में मककट (मकँट) मिलता है किन्तु साथ ही मकुक्क- (मकुक्क-) भी जिससे पं० मँगु किन्तु हि० चमोकन् बने हैं। यह एक अपने इय की तिराभी साथ ही आदर्शव्यंजनक बात है कि परबाह्वर्ती साथ ही स्पृष्ट उदाहरण ऐसे मिलते हैं जिनमें बाब में जानेबाधा व्यंजन मुक्त हो जाता है जैसे प्रा० मम्बर, हि० मँबर (मर्बर पा० मम्बार) बिहा० हि० मूण क्प० मोंप, सिहली मुर्नंगु मुम्, किन्तु म० मूण मु मण्, ३ मुण् (मुङ्ग-)। आधुनिक मापामों में कुक्क ऐसे उदाहरण मिलते हैं क्व मन्व सि० मन्वु बिप्पी-भापा मन्व सिहली म्मँनव और म्मँद (मप्प-) जो हि० मँम् आदि के विपरीत है सि० मुञ्ज, मु० मुश्- (मुष्टति) सि० मुञ्ज हि० म० मूष् किन्तु उ अद्यमी मुष् (मुष्टयति प्रा० मुद्देह)। और प्राक्- भिक न् सहित क्व० नोन, सिना ननु, सि० और यूरोप की जिप्पी-भापा नञ्जो हि०

प० मञ्जा किन्तु गु० नागी म० नाम्ना उ नाय्ना (मन्) हि० गु० नीन्द्
 ने० ठोरवासी मिन् यूरोप की बिप्सी-भाषा मिन्त्र किन्तु म० मी व ब० निष् सिह्की
 निम्ब और निडु। श्री स्मिन् ने सिह्की में बिन् का ऐसा ही विरोध देखा है नविपु
 अथवा नविर्पु। जहाँ केवल स्वर हैं, अनुनासिकता का विस्तार हो जाता है सि०
 नईर् (नदी) अथ० मईर् जो तुर् के विपरीत है।

ये अथवाह-स्वरूप तथ्य तासथ्य (कोमल) की सिधिसता की प्रकृति प्रमाणित
 करने की दृष्टि से रोचक है जिनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम है शीर्ष स्वरों का
 अनुनासिक होना और यह भी स्वयं ह्रस्व स्वरों के निदिबत अन्वयों का।

४ आघात

भारतीय की भाँति वैदिक भाषा में स्वरों की विरोधता केवल ध्वनि और मात्रा
 कास के कारण ही नहीं बरत उदात्त गुर से रहित होने के कारण भी थी इसका
 किसी अन्य रूप में स्वर की अन्य विरोधताओं या शब्द-रचना से कोई संबंध—और
 उनके लिये कोई महत्त्व—नहीं था।

सभी धर्मों पर आघात नहीं रहता था कुछ धर्मों में वह उसकी अपनी
 स्थिति के बाद या उपसर्ग के बाद होता था इस प्रकार क्रिया को गुर केवल विदिबत
 रूप से अथवा मनोबैज्ञानिक रूप से गौण पूर्वसर्ग म प्राप्त होता था संबोधन० को
 केवल एक पाठ के प्रारंभ में।

शब्द क एक अकेले स्वर को यह गुर प्राप्त होता था और गुर धर्मों को कोई
 विधय महत्त्व प्रदान नहीं करता था। शब्द में गुर का स्थान शब्द के रूप द्वारा निर्धारित
 नहीं होता था किन्तु आरुति-मूकक नियमों द्वारा जो अंशतः वही थे जो अन्य
 भारतीय भाषाओं में थे (इसी प्रकार पूर्वोक्थिचित सिद्धान्त से)। अस्तु पात्
 पात्तम् पर परिवर्तन म म प्री० पौत्तस् पौत्ता पौत्तस् का रूप प्रस्तुत करते हैं (किन्तु
 गुन में सुत्तस् का आघात नहीं है) कर्त्ता० एक० पिता के विरुद्ध संबोधन पित्र
 में आदि आघात पौत्त के विरुद्ध पौत्त की भाँति है कर्त्तु० सं० एष का और
 विमेष एष का तथा अथ और अथाः का विरोध प्री० तौत्तस् तौत्तस् प्शुत्तस्
 पुत्तस् के विरोध से सावृत्त रचना है संबन्धक सनाम (पत्नी तत्पुत्र) का
 आघात दोनों भाषाओं में पठत शब्द पर होता है संवृत्त अयुत्तस् तिहित-
 अर्वात्तस् का पत्तर गदुत्त है आदि।

यह अति प्राचीन प्रमाणी विषयके विनिध रूप है पापिनि के बाद विस्तुष
 नहीं रह जाती यदि कुछ बेयानरूप उमरा उत्पन्न करते भी हैं तो भी निम्नी प्रथ

में वह नहीं मिलती। इसी से भारतीय भाषाओं और ग्रीक में परस्पर विरोध है, क्योंकि ग्रीक में प्रत्येक शब्द में एक स्वर जो एक साथ उच्च और नीचे होता है, प्राचीन सुरों को जब भी सुरक्षित रखे हुए है और जिसकी छंद-योजना में आघात और आघात रहित के परिवर्तन-रूप की गणना की जाती है। निष्कर्ष यह है कि यदि स्वर-संबंधी सुरों के संकेत-चिह्न स्पष्ट हो जाते तो प्राचीन सस्कृत-रचना की एक महत्वपूर्ण विशेषता (और भारतीय के ज्ञान के एक महत्वपूर्ण तत्व) का अभाव हो जाता किन्तु इससे भारतीय-आर्य भाषा के अन्तर्बर्ती इतिहास में परिवर्तन नहीं होता।

यह कहा जा सकता है कि क्या इस विकास में एक नये आघात तीव्र आघात की प्रमुखता नहीं मानी जा सकती जैसा कि जर्मन और चेक में वह प्रथम पर है अथवा भारतीय-पैलेनेशियन और इटली में वह शब्द के अन्त के बाद है। विभिन्न विद्वानों ने कुछ आधुनिक भाषाओं में बहुत-कुछ तीव्र आघात की रीति देखी है। जहाँ तक वे अपने की निश्चित सिद्धान्तों तक रखते हैं वे सिद्धान्त एक भाषा से दूसरी भाषा में बदलते रहते हैं। सामान्यतः वे भाषा-शास्त्र की अवधि और शब्द में शब्दार्थों की स्थिति पर निर्भर रहते हैं। उनका यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है जो महत्वपूर्ण बात है वह उनकी विविधता है। तो फिर यह आश्चर्यजनक नहीं है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा कोई ऐसा प्रमाण प्रस्तुत नहीं करती, जिससे जनसाधारण में प्रचलित भाषा में तीव्र आघात के अस्तित्व के पक्ष में निर्णय दिया जा सके। यह बात ही अज्ञात थी [यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि पामी में उदात्त और उदात्त का पारिभाषिक अर्थ नहीं है और सर (स्वर) गान के प्रति केवल अर्थ प्रकट करता है]। आघात को प्रमाणित करने के लिये जिन बातों का उल्लेख किया जाता है—विद्ये के मदानुसार प्राचीन सुर पर, जाकोबी के मदानुसार शब्द के अंत से अलग प्रथम धीरे पर—उनकी व्याख्या अन्य रूपों में भी हो सकती है और विशेषतः लय द्वारा, छंद प्रणाली या तो शब्दांश-संबंधी या भाषा-शास्त्र-संबंधी रहती है। आघात, शब्द की अपेक्षा अनुवाय पर आघात कुछ आधुनिक भाषाओं में नहीं मिलता—स्वतंत्र रूप में। अस्तु भारतीय-आर्य भाषा के आधुनिक भाषाओं तक के विकास की व्याख्या के लिये आघात की गणना करना ठीक नहीं है।

एक बात सुर के एक उदाहरण के संबंध में कहनी है जो आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में एकदम अभाव-स्वरूप है और इतनी महत्वपूर्ण है कि उसकी व्युत्पत्ति जान लेनी चाहिए। पंजाब के उत्तर में (और श्री बी० डी० जैन की सूचना के अनुसार पूर्व में और दिल्ली के लगभग समीप के भूमिभाग में भी) और बास्तर में बांगक बोली में कुछ ध्वनि-संबंधी बातें पंजाबी के समान हैं रे०, एक० एस० आई० एड, पृ०

२५३) प्राचीन मुबार महाप्रायश्चनियों अपनी महाप्रायश्चन को होती है और ह् अथवा अथवा लोकर स्पर्श में परिवर्त हो जाता है किन्तु समीपवर्ती भाषाओं वाले स्वर मंत्र स्पर्शों में फूसफुसाहट वाली ध्वनि को बनाते रहते हैं इसी से स्वर पर सुर मिलता है जिसका मन्त्र भाग प्राचीन फूसफुसाहट के स्थान तक रहता है छोकर (साधु) देवोंका (प्रा० विचड्ड) चंड (हि० चड) विचड्ड तुल० वि० विहाड्डो कैड्ड (प्रा० कड्ड) का प्रेरणार्थक (गिजस्त) कडा।

लेप में आदि मुबारता के परिणाम-स्वरूप (सुर का) और भी मन्त्र रूप हो जाता है कड्ड, तुल० हि० नर यह विशेषता चीनी-तिब्बती के परिवर्तन-रूप की याद दिलाती है जिसमें अत्यधिक प्रमुख मुर कठोर ध्वजन के साथ जाता है कुर्क सुर मुबार के साथ (सातवींशियों की पंजाबी-पंजाबी में मुर-ओ देवोंके बंधु में ह् पु० ५७)।

इसी प्रकार का प्रभाव पिता में भी पाया जाता है जिसमें आवातमुक्त ध्वजाय का सुर ऊंचा जाता है, वहाँ के निवासी उस स्वर को हीर्न कहते हैं जिसमें यह प्रभाव पाया जाता है और वास्तव में निम्न व्युत्पत्ति के स्वरों के कुछ उदाहरणों में ऐसा मिलता है वारिं (दारक) में प्रस्तुत सुर नहीं है किन्तु वारिं (हार) में वह है वाप में वह नहीं है किन्तु गाह (घटिका स्वर-मध्यम र् वा लोप) में वह है वी ह् में वह नहीं है किन्तु बीहू (कुहिता) में वह है वप् (भापा) में वह नहीं है किन्तु वप्-वैरुका-(तुल० लोरवाली बरिसं-तरफ) में वह है एक वि(पुठ-)-में वह नहीं है किन्तु बहु० में वह है (मामूची तीर से बहुवचन में एक सव्याय अधिक होता है चित्तसि बहु० चित्तसिये) इसी प्रकार का क्वार्ट के बहुवचन में सुर है, जो सामान्य बहु० क्वार्ट में नहीं है।

अंत में पूर्वी बंगाली में कुछ ऐसे उदाहरण बताये जाते हैं (एम्० के० चटर्जी, आरक्षित ध्वनियों पु० ४१ 'इंडियन मिम्बिस्टिक्स'। में) जिनमें तीव्रता वाला आवात अधिक उच्च सुर के साथ जाता है और जिनमें महाप्रायश्चन अपनी फूस फुसाहट तो देती है—व अन्, क'अन् पंजाबी में भी ऐसा ही मिलता है।

यह विदित हो जाना है कि इन हास की बातों और भारतीय तथा वैदिक संस्कृत में प्रायः के किसी स्वर में प्रायः आइतिहासिक महत्त्व के स्वर-संबंधी आठोह-अठोह में कोई समानता नहीं है।

व्यंजन

भाष्य-ईरानी की व्यंजन-प्रणाली ईरानी की अपेक्षा भारतीय भाषाओं में बड़ मुठ रीति से अधिक पूर्ण रूप में सुरक्षित है।

(१) समस्त भारतीय भाषाओं में से केवल भारतीय-आर्य भाषा में सब भी स्पर्श व्यंजनों के चार वर्ग हैं अर्थात् चोप महाप्राय अर्थात् महाप्राय भीप। महाप्रायत्व इस हद तक मिलता है कि महाप्रायों के परिवर्तन के समय स्पर्शता ही क्षुब्ध हो जाती है न कि फुलफुसाहट वाली ध्वनि।

(२) तासभ्य वर्ग में संस्कृत व् में तासभ्यीय प्रकृति बनी हुई है जो म० सु और पु क्रा० ० में क्षुब्ध हो गयी है तथा काकुर भाषा में जो एक भारतीय बाकी प्रतीत होती है सब भी अत्यन्त प्राचीन ध्वनि-धोपी पायी जाती है।

(३) भारतीय धिन्-ध्वनि जो ईरान में स्वर या स्वनंत से पूर्व फुलफुसाहट वाली ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है भारतवर्ष की लगभग सब भाषाओं में अभी तक सुरक्षित रही है।

(४) बंध में स्पर्श व्यंजनों ने समुदायों में अपना उच्चारण स्थान बदलते समय भी भाष्यवर्ष में अपना स्थान सुरक्षित रखा है जब कि ईरान में वे क्षुब्ध हो जाते हैं। संस्कृत में व् के अतिरिक्त और कोई क्षुब्ध ध्वनि नहीं है।

दूसरी ओर संस्कृत में निदान्त मनीन ध्वनियों का एक वर्ग उत्पन्न हो गया था और वह वा मुह्य ध्वनियों का।

१ स्पर्श ! तासभ्य

क्षुब्ध रूप स्पर्श व्यंजन और भारतीय कंठपोष्ठप से बने स्पर्श व्यंजनों और मध्य स्पर्श व्यंजनों के किये टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है अर्थात्

सं० उपरि	पु० अ० उपरि	सं० अ०	अ० अ०
पिता	पु० अ० पिता	यथा	अ० यथा
कृत्	अ० अ०	सत्ता	अ० इत्
विद्	अ० -विद् (अबेस्ती इ के सम्बन्ध में सरव ऐसा ही)		

बीष

सं० बहिः	अ०	वरिबिसे	सं० भरति	अ०	वरैति
दन्तोति	अ०	वर्बनभीइति			
			मेनु	अ०	वरनु
पी	अ०	पाउसं	घर्म	पु०प्र०	घर्म
पीब	पु०प्र०	पीबा	हन्ति	अ०	पीन्ति

इसके विपरीत भारतीय भाषाओं में साम्प्रदायिक का विवेचन एक समस्या प्रस्तुत करता है। वैदिक भाषा ईरानी से जो स्वयं एकस्य नहीं है पूरक हो जाती है

शरद्	अ	शरै	पु० प्र०	शरै
बोप	बोप्टर	बामोते-		बोसैतर
हस्त		बस्त		बस्त

वैदिक प्रयोग से समस्त ज्ञात मध्यकालीन भारतीय भाषाओं और वाचनिक बोधियों के केवल काठिन के छोटे-से समुदाय को छोड़ कर, जिसमें स्पष्टतः भारतीय और ईरानी दोनों की अपेक्षा अधिक प्राचीन रूप हैं परवर्ती विकास का पता चल जाता है।

वास्तव में बबोप के लिये काठिन में ५ है (और साथ ही से, विमानन के उच्च सिद्धान्त के बिना जिसका उल्लेख हो चुका है) फलतः ऐसा प्रतीत होता है स्वयं मध्य-स्पर्श-व्यंजन जो भारतीय और ईरानी सिन्-ध्वनि से पहले ही जाता था कटी पुष (किन्तु बीगेमि-दीने, बरकुन-युस) सं० ब्रैष अ० दस कटी कुई (बीगेमि धोन् बरकुन पुन) , सं० सूर्य

बीष ध्वनियों का प्रयोग ईरानी की भाँति है

भारतीय *य	कटी	बोन्	सं०	बोप्टर	अ०	बामोते
*यइ		बिर		हन्		बैरैद्

यह भारतीय ए में पूर्व के कंठघोष से मिल है

भारतीय *य	कटी	बेयमि	सं०	बामि-
यइ		बेनैर		हन् अ वेंन्

तो हममें ईरानी की भाँति दो बर्ने अलग-अलग हैं जिनके संबंध में संस्कृत में अल्प बस्या है और महाप्रापराब का लोप है किन्तु यह हाल की बात ही मरती है क्योंकि सामान्यतः यह सब व्यंजनों के संबंध में होता है कनी जति (उत्था) अयूद्—३

दिन में—(चतुर्थ) बंमंन (अमर) शिरोर (दीर्घ); घुम् (घूम) महाप्राणत्व का शोष आसपास के भारतीय भूमि भाग में कभी-कभी मिल जाता है।

यह पूछा जा सकता है कि काकिल भारतीय है या ईरानी किन्तु उसकी ध्वनि और व्याकरण में ऐसी बातों का अभाव नहीं है जो स्पष्टतः भारतीय हैं फलतः यह एक भारतीय भाषा-समुदाय ही होना चाहिए जो काकिल स्वतंत्र रूप में रहा है और जिसमें ऐसे प्राचीन रूप मिलते हैं जिनका अन्वयन शोष हो गया है। ऊपर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि कम-से-कम अपने उच्चारण की दृष्टि से सं० श् अपने सदृश ईरानी उच्चारण से अधिक प्राचीन है और साथ ही ज् मूल ध्वनि-श्रेणी की मध्य-स्पर्शता के कारण अ० ख और पु० झ० श् की अपेक्षा अधिक निकट है।

संस्कृत की ओर जाने पर, यह बात ध्यान देने योग्य है कि उसका सम्पूर्ण मध्य स्पर्शी ठाण्ड्यों का वर्ग अपनी प्रत्यक्ष नियमितता के बावजूद, पुनर्निर्माण की क्रिया द्वारा बना है। एक ओर उसमें ज् है जो ध्वनि की दृष्टि से ख का शोष रूप नहीं बन श् का है जिसकी गणना घिन्-ध्वनि में की जाती है। दूसरी ओर महाप्राणों की व्युत्पत्ति मित्र हो जाती है।

अशोष श् जिससे ईरानी स् का सादृश्य है शब्द के मध्य द्वित्व जैसे रूप में जाता है और बहुत-कुछ लिखित रूप में मिलता भी है। साथ ही एक समुदाय स् ठाण्डवी भाव-मुक्त ऋन्त्य का मिलता है

सं० छायां प्रा साय प्री० निर्वर्त्त

पृच्छति अ० परंरति छी० पी(र)सिट

कल्लः यह सावर्ध्व समुदाय का वर्ग बन जाता है जो मध्यकासीन भारतीय भाषा की निजी विशेषता का पहला प्रमाण है यह उसी प्रकार है जैसे सं० पस्पा (अ० पश्चं पु० झ० पसा) से पा० पच्छा होगा और वैसे कि प्राचीन भाषा में अयवं० ऋच्छय जो वा० सं० ऋससा के समीप है मिलता भी है, यहाँ वैसे मध्यकासीन भारतीय भाषा में मिलता है ऋ शिन्-ध्वनि से युक्त कई प्रकार के समुदायों की अपूर्ण स्पर्शता के स्थान पर है।

शोष श् भी ह्राक की और संयुक्त ध्वनि-श्रेणी है। ऋन्त्येद का केवल अन्वयति कर्म० स्त्री० बहु० एक ऐसा शब्द है जिसमें यह जाता है और जिसकी असाद् जो हस् से है की वैसी प्राणीगता के रूप में व्याख्या की गयी है यह *पृह्-त् से निकले *गृह् की तरह हो जाता है मस्तु, यह अब भी एक शांत मध्यकासीन भारतीय भाषा का प्रयोग है और, वैसे कि पीछे देखा जा चुका है, ईरानी की भाव दिमाता है।

महाप्राय तालव्यो, जिनसे तालव्यों की सूची पूर्ण हो जाती है और फलतः समस्त संस्कृत स्पर्शों की सूची का मूलतः अल्पप्राय तालव्यों के साथ कोई स्थान नहीं है। ब्रुसटि और प्राचीन महाप्राय शेष व्यंजनों की समूची स्पर्शता सप्त हो गयी है और वे शेष से बलम हो गये हैं महाप्राय ह् को लीजिए, वह वर्णमाता के विस्तृत अंत में व्यंजनों के बाद आता है।

तालव्यों का उच्चारण बरकठा रहा है। संस्कृत में प्रातिशास्त्रों ने तालु से जीम के मध्य-भाग के टकराने में उनकी व्याख्या करने की अनुमति दी है कही भी ए (६) आदि के उच्चारण का प्रश्न नहीं है और अंतरंग स्फोटक मूलव्य का रूप धारण करता है न कि इत्ये का। मध्यकालीन भारतीय भाषा में कुछ श्रुतियों के कारण ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे यह अनुमान किया जाता है कि उनका प्राचीन उच्चारण पूर्वी भाग तक सीमित था (प्रियर्षन जे० आर० ए एच १९१३ पृ० ३९०) कस्य तथा और पूर्व की ओर असोक० में चिकि(स्)सा मिलता है किन्तु गिरनार में चिकी(स्)सा (चिकित्सा) मिलता है। इसी शताब्दी के लगभग सिहरी में च् और च् च् और च् हो जाते हैं साथ ही स्पर्श के मध्य (उत्तर रश्) ए (१३) उच्चारण का अनुमान किया जाता है। सिहरी के तालव्य हाक ही के हैं और च् के परवर्ती इत्थो या मूर्धन्यो से निकलते हैं। उत्तर-पश्चिम सीमा पर बाहिर में मध्य स्पर्श इत्ये है। कश्मीर में च् (चोर) च् (चक) और च् (चिह्ना) च् (म० भारतीय भा-१) है च् या तो केवल ईरानी शब्दों में अबका विज्ञाप्य शब्द में आता है च् (उत्तर) च् (उत्तर) भी विज्ञाप्य शब्द हो सकते हैं च् (म० च्) को ऐसा कहना कठिन होगा।

जिना में तालव्यों के दो रूप हैं जिनमें से एक च् या च् बाल समुदायों से निकले मूर्धन्य हैं च् मया किन्तु च् च् च् (चाता)।

२ मूर्धन्य

जिन्हें वास्तव में इत्ये कहा जाता है जो जीम के शर्तों से या ठीक उनसे ऊपर टकराने से प्रकट होते हैं उनके अतिरिक्त भारतीय-आर्य भाषा में स्पर्श-व्यंजनों का एक पूरा वर्ण है और वे जीम की शक्ति की सहायता से किन्तु तालु के अग्र भाग में टकराने के कारण बोलते जाते हैं और वह भी जोड़ी-बहुत प्रमुख परबन्धुता के बाद है। भारतीय-आर्य भाषा में इन वाक्यों का सह-अस्तित्व आर्य भाषाओं इतिहास और मुग्धा (मुग्धा की एक छोटी बोली मोर, ही भारत की एक ऐसी बार्नी प्राचीन हानी है जिनमें केवल इत्ये है) में भी विद्यमान है।

भाषा की यह तबीयत स्पष्ट देखीय भाषाओं में इन दो वर्गों के अतिरिक्त की कार्यक्षमता द्वारा स्पष्ट हो जाती है निस्सन्देह यह एक ऐसी अत्यधिक निश्चित बात है जो संस्कृत के अत्यन्त प्राचीन पाठों को कुछ भारतीय मान लेने के लिये प्रेरित करती है। अफ़ग़ानी में मूर्धन्यों का अतिरिक्त समस्त भारतीय भाषा का प्रमाण है।

जिस व्यंजन ने लचील वर्ण की रचना संभव बनायी वह हूँ, जो स्वयं सामान्य भारत-ईरानी में उस सूत्र से निकला है जिसके पहले ह, उ ऋ (और उनके संयुक्त रूप) और ऋ आते हैं जिसके साथ स्थापित संपर्क के कारण प्राचीन इन्धियों में परिवर्तन होता है फलतः ईरानी में उदाहरणार्थ इति एक ऐसे समुदाय से अनुरूपता रखता है जिसमें अत्यन्त उ शकार ध्वनि के अनुकूल हो जाता है दोनों ही दन्त्यों उ पुष्क हो जाते हैं और मूर्धन्यों का बोधी रूप धारण कर लेते हैं। भारत-ईरानी भाषा का ये भारतवर्ष में हो जाता है अथवा इ (हाल के रू की भाँति प्राचीन रू के अतिरिक्त) मूर्धन्य की तरह हो जाता है दे० और जागे।

संस्कृत में मूर्धन्यों का एक और स्रोत तालव्यों में है। यदि यह उस काल में प्रसिद्ध क्रिया वाच जो तालव्यीय मध्य-स्वरों के संस्कृत रूप धारण करने बर्णात्, नू, ऋ से तुरन्त पहले या तो वे कुष्-कुष् एस्, इस्, इन्स् के निकट उच्चरित होते हैं किन्तु सबप्रथम अंश धूमरे में मिल जाने की प्रवृत्ति प्रकट करता है तत्परन्तु मूर्धन्य रूप धारण करने में। अथवा जहाँ तालव्य अंतरंग स्फोटक हो जाते हैं वहाँ यही एक अर्थ रह जाता है। पद, से० सेक अ० लृषेवसे अथवा लृषा० एक० बिद् औ रूप की दृष्टि से *विन्-म् वास्तव में *वि^{र्}स्(स्) से निकला है और करण० बहु० बिद्म्य (अ० बीद्म्यो) ऐसे ही उदाहरण हैं जिस प्रकार विशेष परिस्थितियों पर निर्भर रहता है (मेहर, आई० एफ० XVIII पृ० ४१७)।

उस मध्यकालीन भारतीय भाषा में और उसके बाद तक नू समुदाय के मूर्धन्य का प्रयोग भी सिद्ध होता है जिसमें प्रथम अंतरंग-स्फोटक अक्ष (जो बाधुनिक भाषाओं के बिद्वत्तानुप शब्दों में अन्व्य वर्णों के अंतगत पुष्क क्रिया वा सकता है म० नू हि० और अ० रू) समुदाय में प्रयुक्ता ग्रहण कर लेता है। सं० आत्मापयति के लिये मिरतार में अत्मा के आ(अ)अपयामि विवा है, किन्तु महाबाहपत्री में अथपयामि अर्थात् *अप्या पाली में आत्मापयति है अर्थात् के बहुगिरि-लेख में आत्मापयति जिसे कात्यायन ने संस्कृत के लिये अनुकूल रूप बताया है (ईरान के परबात् टिप्पण के सरलीकरण की दृष्टि से) पाली में आत्मापयति किन्तु आपयति अथवा

(भासा) पञ्चा भी हैं तुल० सहवाचयद्दी र(म्)ओ (रत्न) को भाति (हाति) के रूप में।

यही प्रयोग प्राकृत में मिलते हैं और बाद को संस्कृत -म् और -म् के लिये यह जानना कठिन है कि क्या मध्यकालीन भारतीय भाषा में -म्- द्वारा अपने में आये जाने वाले म् के मिश्रण होने से ऐसा होता है (ऐसा ही पिरलार में पाया जाता है हिरम्भ- अर्थात् हिरम्भ से *हिरम्भ ओ सं० पुष्य से निकले अपुम्भ उत्पत्त्यात् पुम्भ के निकट है) किन्तु ऐसा अधिक संभव प्रतीत होता है कि ऋन् से पुष्क होने पर ऐसा हुआ वास्तव में म् सामान्यतः आधुनिक भाषाओं में नहीं पाया जाता सिन्धी में जिसमें यह है चाम् (चाम्प-) रिम् (बरम्प-) का भाग (भासा) से बिरोध है।

यहाँ पर स० ऋन् के लिये 'पम्भ' संख्यावाची पा० पम्भरस और 'पम्भीस' संख्यावाची पा० पम्भीसति पम्भीसम् शब्दों का उल्लेख करना ठीक होगा।

वैदिक भाषा में स्वतंत्र मूर्धन्यों का वर्ण अपूर्ण है जगमें वास्तव में केवल एक स्पष्ट अक्षर है। महाप्राण अक्षर का अस्तित्व केवल समुदायगत है और आकृति मूलक दृष्टि से सप्त स्थिति में -इष्ठ- में समस्त विशेषण व्युत्पन्न विशेष्य पूर्व (अ० पर्यं) द्विरुपवाचाद्यत् तिष्ठति किन्तु बर्ध और कर्ध (अथवा सहकृष्टिका) की शब्द-व्युत्पत्ति मूलतः नहीं है यदि निषध्, जो वैदिक नहीं है की उत्पत्ति निषध् से निरिषध् है तो यह *निषध्-से उत्पन्न महाप्राणत्व की कठिनाई की असंभावित पति द्वारा सिद्ध होना चाहिए। इसी प्रकार सामान्य अक्षर भी केवल समुदायगत है विद्भिः स्वर-मध्यम जो म् के निकट है (स्कोफ्ट 'पेपर्स ऑन पाणिनि' पृ० ४५) और जो ष्वयेद में ऋ के रूप में मिलता है और उसके महाप्राण के लिय भी एगा है ही नीङ्, बोङ्गुम् एगा ही पाली में मिलता है -इ और -इ बाद की नियमित रूप से मिलते हैं अधिकतम आधुनिक प्रचाली के प्रभावान्तगत और अर्ध-वर्षी संज्ञान की आवश्यकता के कारण बोङ्गुम् दम्भम् की भाँति घोडा द्विवा की भाँति आदि साप ही अक्षर निम्नन्देह रूप में क्योंकि वास्तविक बोधियों में इ इ वास्तव में एगा है उही आदि। इसके अतिरिक्त इन मूर्धन्यों में से कुछ जो प्रचाली के अनुकार नहीं बने रहने बर्षीकृत संस्कृत में म् रूप में मिलते हैं उदाहरणार्थ अन्- रिम्पु पा० अन् धी० बीरदास (स्पृडम भावकान्ते ई० कृतन पृ० ३१३ 'ग्रेटिंग्स चाइनामेन्' पृ० २९४)।

वैदिक भाषा में अनुनासिक मूर्धन्य भी है जो तुरंत पूर्ववर्ती इ ऋ ए के आपस में मिल जाने से बनता है (वर्ण तुल्य इत्थं) और भाव बल कर अपने इतिहास में यह कभी-कभी नहीं भी मिलता (पाणि तुल० पत्तमि पुष्य तुल० पुगाति निष्प तुल० धी०

में (रोस्)। स्पर्शों की अपेक्षा अनुनासिक र् और प् का यह पारस्परिक प्रभाव कुछ अन्तर पर, स्वयं अपने मुगम और स्वर-अभ्यग होने की शर्त पर,—कल्प्य शब्द में अधिक कमजोर स्थिति में—प्रकट होता है और जो स्पर्श या उष्म के जिनमें बिह्लास को यति प्राप्त होती है, संबंध में कोई स्फाभ नहीं डालता कमज रूपन लौमभ किन्तु बुबन रोभन दर्शन । इस नियम के जो संस्कृत का अपना है, मध्यकालीन भारतीय भाषा में भी बिह्ल मिळते हैं अघो० गिर० प्राणुणाति पा० पापुणाति तथा साप ही अघो० गिर० व(स्)सभ किन्तु पा० दस्सभ जो सं० दर्शन से है। किन्तु पासी में प्रत्ययीं में दस्य हमेछा बना रहता है कारणम् कारकेन । पंजाबी में आज एक विपर्यस्त शीब दिखानी बेठी है उसमें स्वर-अभ्यग-म् र् की अनिश्चितता के कारण दस्य हो जाता है भोबम् (सं० प्रत्यय -रनी) किन्तु कुहुरन् गुभार्णी ।

जो अत्यन्त प्राचीन मूर्धन्य शकार ध्वनि के सम्पर्क में आने से वन्त्य-स्पर्श हो जाते हैं और न् को प् अथवा र् का प्रभाव स्वीकार करना पड़ता है ।

इसके अतिरिक्त वेद में मृष्ट ऋ द्वारा मूर्धन्यत्व को प्राप्त स्पर्शों के उदाहरण मिळते ही हैं ऋ० काट (जो कमी पुस्तक I में पा) जो कर्त्त के समीप है ऋ० कटुक- तुल० साहित्यिक कर्त्तुस बिक्ट, तुल० क्त (जसबीं पुस्तक में दोनों ग्री० हापावम्) इन शब्दों में ऋ का मध्यकालीन भारतीय भाषा-प्रयोग ध्वंजन के प्रयोग की सापेक्षिक गवीनता प्रमाणित करता है। बाद में मिळते हैं वा० पुट तुल० अर्मन प्रस्त जाइय तुल० ऋम् कर्त्तुसीकल मट (गृत्) हाटक- तुल० हिरष्य कुटिक- और कटास (तुल० ग्री० कुर्तास्) तथा अन्य प्रकीर्ण शब्द जिन्हें शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान की दुर्बोवता ने सुरक्षित रखा है ।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में यति साधारण हो जाती है, यद्यपि सदैव ऐसा नहीं होता ।

इस प्रकार पापी में सुकृत् (सुकृत्-)के निकट सुकृत् विसृत् और विसृत् (बिष् सुकृत्) ह्य (ह्य ह्य का इत्यन्त रूप है) के लिये धकेसा हट है, किन्तु मृत् के लिये सदैव मत् यह ठीक है कि टीकाकारों ने एक ह्यिपार क नाम (P. II ३२५) मटभ में 'मृत्' को बताने कासा इत्यन्त स्वीकार किया है। -रह(ह्) से अम्ब (अम्) बद् (बर्द) तुल० अघोक० बरिड (बुदि-) । विविधताओं का प्रयोग अर्थ-विचार संबंधी बातों के लिये होता है बद् का प्रयोग बुमाने के अर्थ में होता है, बत् का प्रयोग अस्तित्व या प्रभा के अर्थ में होता है किन्तु विद्वत्तापूर्ण शब्द अकबरी में वस्य है (जैन प्राकृत में अकबरी है) जब कि अकबरी—'wheel of trough'—भी है ।

अशोक के अभिलेखों में दक्षिण-पश्चिम में दक्ष्य जबिक सामान्य प्रतीत होता है [मिरलार-अ(त्)बाय कालसी-अ(ट्) ट्ये] मराठी और गुजराती में भी यह प्रवृत्ति बहुत पायी जाती है। उनमें मूर्धन्य शब्द सामान्यतः भारत-व्यापी शब्द हैं। उनमें एकमूलक निशार्थी द्विरत्वयुक्त शब्दों का भी अपेष्ट स्थिरता के साथ प्रयोग पाया जाता है। परा० कट् कर्त् किन्तु परि 'बाक्' के सिद्धे अस्तुन और वीधेति में कटा कटी में कट्त्वं है। तो पुत्र० में कात्, सिंहली में कर्त्त जित्थी भाषा में कट् कारि है। विरोधी बातें भी बहुत हैं। एक ही भाषा में बर्द्धम-के, अर्ध के दो-दो रूप मिलते हैं। इस संबंध में कोई सामान्य नियम नहीं है, प्रमुख बात है मूर्धन्यों का महीन विस्तार।

वैदिक काल के बाद प् और र् के व्यवधान के प्रभाव के कुछ बिह्व न केवल नू पर, किन्तु स्वर्णों पर भी बृष्टिबोधर होते हैं। अशो० गि० जोसुड-(औपुभ)ओ कालसी के जोसव के विकृत है, और जिसकी व्याख्या उत्तर-पश्चिम के बीच के रूप ओप(ड)ड्राप हो जाती है। ई० आ० और महाकाव्य पट्-(और ई० सं० प्रपाठक-मी)प्रप् से निकला है। पा० सटिक-ओ सं० सिचिक और प्राकृत सिचिक के विकृत है, अष् समुदाय में आता है। खरोष्ठी के उत्कीर्ण लेखों द्वारा पूर्णतः, प्राकृत के पदम (प्रथम) द्वारा और सिंहली के पदम द्वारा प्रमाणित पाली पठम का विरोध है। नासिक और ननपाट के पदम से खारबेल और सांची के पदम से जिसके साथ बेल के सभी रूप दक्ष्य द्वारा सादृश्य रखते हैं। हि० पहिला घिना पुमुको आदि। प्रति का प्रतिनिधि नियमित रूप से अशोक० में पटि और सिंहली में पिठि है। किन्तु पाली में और उत्कीर्ण लेखों की प्राकृत में पटि के स्थान पर साधारणतः पठि मिलता है। प्राकृत में और आधुनिक मराठी में पठि पद् के स्थान पर वी- मिलता है। जब शब्द में मूर्धन्य आ जाता है, तो र् उत्पन्न हो जाता है। [जिससे वा० पठिरूप पठिमन्तेति जिसमें मन्त्रयति पठिरूप पठिट्ठति निहित है। खारबेल पठिअपयति प्राकृत वीज्या ओ प्रतिज्ञा से है, निस्संदिह् कृष्ण *वीज्या के प्रमाबान्तर्वत है। तुम० व० वीम् और वीज्, मे० वीओ ओ वीओसी (प्रतिवेद्य-) के विकृत है।]

जित उदाहरण पर अन्त में विचार किया गया है। उसमें यह प्रवृत्ति प्रचुर मात्रा में मिलती है। किन्तु उसके कुछ अन्य प्रमाण भी रोचक होंगे। यह तो देखा ही जा चुका है कि परवर्ती त् पर ष्ट का प्रभाव फैलने में उससे सहायता प्राप्त हो सकती है।

इसके विपरीत इस संपूर्ण मुप में पूर्ववर्ती दक्ष्य पर र् का प्रभाव बहुत कम बृष्टि बोधर होता है। ऋग्वेद में केवल अनुनासिक पर आधावृत्त बोध के निरिचत उदाहरण मिलते हैं। आष्य तुम० वसन्त माण्डुव (वे० ६५. वेदो) और दण्ड (तुम० वी० बेंद्रोन्)। संभवतः ६३. डींठर पाली इति और दपति परि वह वैदिक वी के साथ डा के मिल जाने से बना है। के प्राथमिक भोग को यही स्थान देना आवश्यक है। महाकाव्य

और पा० उच्ची (anght). खीयते निश्चित नहीं है)। बोड़े का भारतीय नाम, आ० श्री० बोट एक इबिड रूप बुतू से साम्य रखता है महाकाव्य पद्य की उत्पत्ति पत्र से केवल कठिनाई के साथ मानी जा सकती है। अयो० का० हेडिस ईवूस का प्रतिनिधित्व करता है इसके विपरीत सारलाब और बीसी में हेडिस शहबाबगदी में एविष। प्राकृत बुडड सं० सुप्र से जय कम प्रमाणित होता है, क्योंकि प् अघोक्० ओसुठ की भाँति हो सकता है। केवल ये बातें ही हैं जिनकी व्याख्या और वर्गीकरण करना कठिन है, जो आधुनिक कास से पूर्व प्रमाणित की जाती हैं, जिनमें इसके अतिरिक्त केवल निरंतर मूर्धन्यत्व के रूप में सिमी में (उत्तर में ट्, ड् इतिथ में ट् इ) और वर्ध में दन्त्य + ट् है, कम-से-कम जब कि समीकरण उपस्थित होता है मार्सी पूट् ('पुत्र') ठा (किन्तु मार्सी में ट् कठोरता की ओर संश्लेष करता प्रतीत होता है) सिना गोद् पद् (द्विचर्तन बी० एस० ओ० एस० VI, पृ० ३५७)।

अंत में श्रुम्बेद में जो समीपी शब्द मिलते हैं जिनमें से एक अनुनासिक दन्त्य स्वर मध्यम मूर्धन्य हो जाता है, बिना बूसरी ध्वनि-श्रेणी की सक्रियता के स्वाधु और स्पृगा अ० स्तूना निस्सिंहै ठै० सं० गुण तुल० अ० गबोन का उल्लेख भी कर देना चाहिए (त्रिबीसस्की वे० मार० ए० एस० १९३१ पृ० ३४३)। परिवर्तन का यह प्रथम विह्वल ही बाद को नियमित हो जाता है।

आज पूर्वी बोलियों में केवल अनुनासिक दन्त्य है कम-से-कम सिद्धित रूप में ऐसा कासरी और पूर्व के अघोक्-अभिकेसों में या ही बूसरी ओर सिंहसी-न्-और-न् में रूप स्वीकार करती है।

मूर्धन्यत्व के समी रूप, जिनका आधुनिक भाषाओं में बहुत निकृता है, परंपरा के प्रारंभ से ही बचे जा रहे हैं। मूर्धन्यों की संख्या और भी अधिक होती गई है, और कुछ स्थानीय बोलियों से भी मिले हैं संभवतः मूर्धन्य वाले समी शब्द निश्चित रूप में मिल जायें तो इस संबंध में प्राचीन तथ्य और भी पुष्ट हो जायेंगे।

किन्तु श्रेणों के बाद मूर्धन्य उन शब्दों में भी जाते हैं जिनमें पहले से ही शब्दों का साम्य रहता है, और जो बिना किसी कारण के निश्चित किये जा सकते हैं। क्रिया अटति जो उस भारत-विरागी मूक से है जिससे 'अटति' शब्द बना है, महाकाव्य में अटति है पत् जिसका पहले वर्ध वा उड़ना (अवेस्ता में 'उड़ना फेंकना') फिर अघर्बनेद में 'विरना' मध्यकासीन भारतीय भाषा और अग्नय समी मध्य भारतीय भाषाओं में पद् (किन्तु कर्० में पं-) हो जाता है इस संबंध में एक ओर एड़ी और पीर संबंधी इबिड शब्दों का और बूसरी ओर 'गिरना' या 'रिटना' का सर्व प्रकट करने वाली किसी इबिड वातु के प्रभाव का संदेह किया जा सकता है। किन्तु सं० कब का पाली कर्द्- प्रा० कर्द्

से जिसके प्रमाण मध्य-भारतीय भाषाओं में भी मिलते हैं। सादृश्य क्यों है, यह ज्ञात नहीं होता। अन्त में आधुनिक भाषाओं में एक ऐसी संज्ञी सन्ध-भाषा है जिनमें मूर्धन्य की स्पर्शता से शुरू हो कर वापे बहुत बड़ा विस्तार हो जाता है। मे० टीको टेल्- बुंगुट्ट- बफ- डाम् आदि यहाँ इतिहास भाषा को कारण माना जा सकता है जिसमें आदि मूर्धन्य कमजोर नहीं हैं।

केवल कुछ शब्दों और भाषाओं के केवल एक घाम के संबंध में संभावित समीकरणों का प्रमाण मिलता है सं० बण्ड ने० डेंडो आदि जो म० डीबा कड्हा बच्चा सिना दोषु कद० योन् के समान नहीं है सं० वृष्टि ने० वृष्टि आदि किन्तु म० वीट्ट सिहली विट्ट गु० बीठो। पाली इसति (तुल्य० बंस-) और बहति के बाद उन शब्दों के दो परिवारों के संबंध में जिनमें मूर्धन्य का प्रयोग हुआ है थी एच० सिमब का यह प्रश्न है कि क्या इदन्तों से जिनमें एक ही प्रकार का सावर्भ्य होना चाहिए, अन्य शब्दों की व्याख्या नहीं होती बट्ट- और बड्ड कम-से-कम जो प्राकृत में मिलते हैं।

अन्त में सिपी में वे समस्त धोप-बन्ध जो सुरक्षित हैं, फलतः जिनकी विशेष स्थिति है, मूर्धन्य हा पाते हैं। बसिष् बन्ध (न् ही एक ऐसा उदाहरण है जिसमें बन्ध पाये पाते हैं) को बर्द्ध सद्।

आधुनिक युग में क् और क् से दन्तों और मूर्धन्यों का सादृश्य पूर्ण हो जाता है। पहले के संबंध में मराठी गुजराती राजस्थानी पंजाबी में (पूर्व और पश्चिम में फैलते हुए, निरसंदेह विधायक भाषाओं की बोलियों में एल० एच० आई० IX । पृ० १०९ और टी० बेनी ब० मार० ए० एस० १९१८ पृ० १११) शिमला मड़वाल और कुमायूँ प्रदेश की बोलियों में अन्त में उड़िया में उदाहरण मिलते हैं। क् और क् से यहाँ एक संबंध है सिपी हिन्दी और पंजाबी नेपाली बिहारी उत्तीसमड़ी बंगाली और उड़िया में उदाहरण मिलते हैं। कस्पीरी घामीष बोलियों में घिना ये हिमाचल प्रदेश की बोलियों में बाफिर में भी उसका उदाहरण है। इनमें स्वतंत्र ध्वनि-भेदियाँ नहीं किन्तु स् और क् के स्वर-मध्यम हैं सकेत जो आवश्यक नहीं रहा अवमान है, जिसका कभी कभी वास्तविक उच्चारण डाय (पूर्व में) प्रतिपाद हो जाता है। इसका विपरीत कभी-कभी उसका अभाव निराने में मिलता है जब कि सुनने में तो जाता है जैसे मराठी में और निरसंदेह गुजराती में। पारजा और लिगाबट में (लिपि-बिहारी की वृष्टि से क् स क् का नाम निकाल लिया जाता है) इन दो नई ध्वनि-भेदियों का प्रकट होना महत्वपूर्ण नियम का परिणाम है जिसके अनुसार स्वर-मध्यम स्वरों का अपने ही प्रकार के विशेष स्थिति वाले स्वरों से विशेष हो जाता है। तो क् और क् का मूल नहीं है जो बहुत बड़ अंश में क् का किन्तु उनका अनुपेक्षित अवमान है, और उनका ऐतिहासिक मूल्य

परिचलनशील है। नेपाली बिहारी और हिन्दी (पूर्वी और सामान्यतः पश्चिमी) ३ सिहली क या क् सिमी और पंजाबी इ एक प्राचीन स्वर-सम्पग इ की तरह है जब कि नेपाली बिहारी और हिन्दी इ सिहली के इ पंजाबी और प्राकृत इ क तुल्य है। दूसरी ओर जिनसी भाषा का इ एक साथ प्राचीन -इ और -इ शब्दों के साथ साम्य रखता है (टर्नर, 'इंस्ट्रिप्ट आफोर्बी' पृ० ३४)।

नये स्पर्शों क प्रकट होने के समय तक मूर्द्धन्य चिन्-ध्वनि इस रूप में नहीं रह जाती—शाना को छोड़ कर जिसमें एक नवीन मूर्द्धन्य-प्रणामी मिलती है।

अन्त में इस सम्भावना का उत्सेस कर देना आवश्यक है, जो काफ़ी आश्चर्यजनक है, कि विदेशी शब्दों में भी कुछ मूर्द्धन्य मिलें। अस्तु न ता स्यु पा और स्वाणु की न मुण की व्याख्या करन का साहस हो सकता है। किन्तु बाद के युगों में हम डैटॉम पा० क्रेट्रम की म्यासगत रूप में तुलना कर सकते हैं उस सेमेटिक शब्द से जो बहुत बाद की अरब रूप क्रिया के अंतर्गत प्रवेश कर चुका है (एस० सेबी 'एल्युड आर० सिनोसिए' पृ० ३९७) टक-आधुनिक टाका जो नाप-तोस और सिक्के के रूप में है छातारी टक शब्द है, आरमीनिमन बन्क श्र० तना टकुर अर्थात् टकुर, उच्चवर्गीय की उपाधि का भी सिद्धें सेबी के अनुसार उत्तरी प्राकृत लेकिन से संबंध है जो रामायण में टकुर (जिसका तात्पर्य जनसाधारण से था और बहुत बाद की सोहगा या बिना शुद्ध किया हुआ छोहामा श्र० तिनकार) के रूप में मिलता है। आधुनिक युग में बंगाली चिन्गी नूरी देन्गीब (dehngi) तुक० पु० तुर्की देप्रिबु, की तुल्यता देखने की बात है। हास में क्रिये मये बंगरेबी शब्दों क मूर्द्धन्य का वास्तविक उच्चारण हो जाना निश्चित है क्या यह भी स्वीकार करना होगा कि ये शब्द तुर्की शब्दों के एक विशेष उच्चारण का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं?

३ महाप्राण स्पर्श

इराणी में महाप्राण खबोप सोप्य हो जाते हैं, खोप ध्वनियों का महाप्राणत्व क्लृप्त हो जाता है। इसके विपरीत संस्कृत और आज भी लगभग सभी भारतीय-आर्य भाषाओं की विशेषता महाप्राण ध्वनियों और फुलफुलाहट वाली ध्वनि से विहीन स्पर्शों में स्पष्ट भेद उपस्थित करना है।

दोनों प्रकार की फुलफुलाहट वाली ध्वनियाँ एक ही प्रकार की नहीं थीं। उनमें स्वर-यंत्र-मुखी कर्पणों का अस्तित्व या अभाव ही एक बड़ा भारी भेद है। यही कारण है कि यदि अन्य स्पर्शों की भाँति महाप्राण ध्वनियाँ पहले आन वाले ध्वजन पर अपनी अतिनी मुखरता (या व्यक्तता) स्थापित कर देती हैं (बैल्य अवेस्ता-भाषा वाइस्ता,

तुम्हारे बीच और विपर्यस्त रूप में एक-से एक मन्-से मन्-से) तो वे भाष में आने वाले व्यंजनों को उतनी ही मात्रा में प्रभावित नहीं करतीं।

अधोप जैसे के जैसे बने रहते हैं और इषाकारक वास्तुओं के जो उनकी उत्पत्ति के स्वयं प्रमाण प्रतीत होते हैं इत्थन को प्रकट हो जाने देते हैं (कुटीसोविच Kurylowicz, 'सिम्बोली ईमैटीक रोडावदोस्की', *Symbolae Gramm. Rozawadowski*, I पृ० ९५) पश्चिम (किन्तु ईरानी में साक्ष्य सहित अ० पा० पश्चिम) स्तम्भित, स्तम्भित, प्रथित उसमें व्यंजनों का वास्तविक योग नहीं है (अर्थात् नृपति जो मन् से है और नृ० के एक समानान्तर अर्थ के नृपति के अनुसूच है)।

इसके विपर्यस्त भारत-ईरानी भाषा के समय से अधोप ध्वनियों का अधोप और उनकी फुलफुलाहट परवर्ती स्पर्श की ओर अतिक्रमण कर जाता है (बारबोकोमी का नियम) और इससे व्यंजनों के योग का सामान्य नियम अक्षिप्त होता है।

वास्तव में स्पर्श के सम्पर्क के कारण अधोप महाप्राण ध्वनियों के प्राणत्व में कुछ स्वतंत्रता आ जाती है। यही रूप है जिसमें अन्य भारतीय भाषाओं की भाँति ही संस्कृत में प्राचीन महाप्राणत्व का प्रथमतः विपरीतकरण हो जाता है, फिर वह अधोप रूप में प्रकट हो सकता है, जिसका उदाहरण सू-मविष्यत् बाके सामान्य अतीत विषयक विकारों में मिलता है। बुध् से मूल्य-या मुह्, से मुल्। जहाँ तक चिन्-ध्वनि जो संस्कृत में स्पर्श के बीच आ जाती है [मन् से अमन्(सु)त्] के अंतर से संबंध है फुलफुलाहट अक्षिप्त संयुक्तों की ओर चली जाती है। जैसा कि *रुम् से निकले *रुम्-त् के उदाहरण में देखा जाता है जिसमें दो अधोप तन्त्रों के बीच का अधोप अधोप हो जाता है। यही संबंध एक आ, भारतीय-ईरानी *मन्, अ० अमी से हम नहीं बनता वरन् *मन्, जिसका संबन्ध न हो सकने के कारण महाप्राणत्व लुप्त हो जाता है जिससे बनता है अम्।

चिन्-ध्वनि से प्राण-ध्वनि का अतिक्रमण हो जाने के फलस्वरूप उसका अधोप संबंध नहीं हो सकता ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार संस्कृत सू केवल अधोप हो। यही कारण है कि मन् का इच्छार्थक रूप है *चिन्-सु- > *चिन्-सु- > चिन्-सु- जो अ० पा० क्रियापद संज्ञा चिन्-सु-माइ के निकल है। इसी प्रकार है, सद् का इच्छार्थक रूप सीद् [त्रिमं दीपं ई लुप्त हो गई अधोप शकार ध्वनि का प्रमाण है चिन्-सु- चिन्-सु- तुम्हारे गिद् जो चि(श्)त् से निकला है] ३ बहु० अप्सति जो मन् का विकसित रूप है।

सापेक्षता अस्तिर तत्त्व होने पर भी महाप्राण ध्वनियों का प्राणत्व कायरी स्थिर तत्त्व है और यह ज्ञात हो जाता है कि संस्कृत की अधोप महाप्राण ध्वनियों में स्पर्श है, न कि प्राण-ध्वनि जो अंशान् अंश पड़ जाती है।

आधुनिक भाषाओं में शब्द के अंत में अथवा किसी अन्य व्यंजन से पहले महाप्राणत्व लुप्त हो जाता है हि० सममता के विरुद्ध यु० में समन्वु हि० सीसता के विरुद्ध शिद्ध, जिनके सादृश्य पर ही प्रेरणासंक बागु (भिन्नन्त) सम्जावु, शिकपुं यह लम्प, जो प्रायः देना जाता है, निस्संदेह इतना अधिक सामान्य है कि विभिन्न भाषाओं की बर्ण विन्यास-कला से उस पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता ।

अल्पप्राणीकरण काष्ठिर में एधिया की जिप्पी भाषा में, बंगाल और सिंध आदि की कुछ बोलियों में बहुत-कुछ भाये बड़ा हुआ है । जहाँ तक बोप ध्वनियों से संबंध है, यह कश्मीरी और सिन्हा में स्थायी रूप से मिलता है (किन्तु कुछ ऐसी महाप्राण अक्षर ध्वनियाँ हैं और कश्मीरी में एक नया हू है जिनकी उत्पत्ति प्राचीन अकार ध्वनियों से है हेप्, सिन्हा सिन् हप्, शि० सुर्ब) ।

बोप ध्वनियों का महाप्राणत्व सकायेक लुप्त नहीं हो गया था, हर हासत में प्राचीन फूसफूसाहट वाली ध्वनि का चिह्न गुञ्जटी (बू एन जो मेन् मा बेहेन के रूप में लिखा जाता है, सं० भमिनी कपेटें जो कर्तुं के रूप में लिखा जाता है सं० कपितम्) और पूर्वी बंगाली में क्रोमल स्वर-यन के वर्णन में पाया जाता है, उत्पत्ति की दृष्टि से ये आन्वसित ध्वनियाँ सिन्धी की आन्वसित ध्वनियों से जो विशेष व्यंजनों का प्रति निमित्त करती है भिन्न है सामान्यतः सिन्धी में महाप्राण ध्वनियों का प्राचल्य सुपक्षित रहता है (टर्मर, 'सिन्धी रिक्विथ्स', बी० एस० को० एस० III, पृ० ३०१, अटर्नी 'रिक्विथ्स इन् न्यू इंडो-एरियन, 'इवियन लिम्बिटिक्स' I पृ० १) ।

पंजाबी में स्वर है जिसमें लुप्त प्राणत्व के बोप कम्पनों का चिह्न मिलता है जैसा कि पहले देखा जा चुका है, उसमें एक ऐसा अंश रहता है जिसका धुर प्राचीन महाप्राण के सम्पर्क में आने के कारण अधिक दूर जा पड़ता है अं (बड़) हों (घब-1) कड़ (प्रा० कबिज सं० कबित-1) आदि ध्वनियों के संबंध में इस अंश धुर का अस्तित्व परिणाम रूप में अपोपत्य उत्पन्न कर देता है कड़ हि० बड़, बड़ हि० भाड़ । एक ओर तो शिमला नृमिनाय की बोलियों में और पुरखी और कुनार, पयाई और खोबर की निम्न और उच्च भाटी में पंजकोर के पड़ीस की पाटी में बक्षारिक में (पसोहा जो इस बोली को पूर्ववर्ती बोलियों से अलग करती है बहुत प्राचीन नहीं है) ऐसे सप्त लम्प बराबर मिलते हैं ।

अल्प बोप महाप्राण ध्वनियाँ अपने प्राचल्य की रक्षा के लिये अपने को सीधे अक्षर बना डालती हैं उत्पत्ति कल्प में [युम् (युम्)] और विशेषतः जिप्पी भाषा में ऐसा पाया जाता है, बहू (प्रा० पूषा) किन्तु नुम् (नुम्) । आरमीनिया की जिप्पी भाषा हर एक स्थिति में महाप्राण स्पर्श ध्वनियों को अक्षर बना लेती प्रतीत होती है बोब्

(बाह- कुम् (कुम्भ) और इसी प्रकार छद्, फल माई (भाता) किन्तु पुंसे (पुंड) मन्त्रं (मन्थ) । युरोप की जिप्सी भाषा में केवल भादि ध्वनियाँ अक्षर होती हैं एम् (यर्म) कम् बुव्, जिनमें मध्यकालीन भारतीय भाषा की मध्य महाप्राय ध्वनियों की प्रागल्भ्य-भाष्य हाल की महाप्राय ध्वनियाँ जुड़ जाती हैं युव् (युग्म-) किव् (विषवा) फन् (बन्) व (ह)इव् (जिह्वा) प्राचीन अक्षर ध्वनियों का स्व महाप्रायत्व की ओर नहीं पाया जाता (कद् प्रा० कद् से) और शोष ध्वनियों का स्व अक्षर ध्वनियों के प्रागल्भ्य की ओर नहीं पाया जाता प्रा० देव् से दिव्- वेद्य जिप्सी भाषा का पृथक् हाल का है।

सीरिया की जिप्सी भाषा स्वर-मध्यम -य् या कम-से-कम उसका प्रतिनिधित्व करने वाली सोप्य ध्वनि का अक्षरीकरण कर ली है येषू (गोवूम-) २ बहु० -स् (-जय) से ('जर्नल जिप्सी लोर सोसायटी' VII पृ० १११) । प्राथमिक ह् की खन् [हस्] वि (हृदय) और एक दुर्लभ स्वरयंत्रीय ध्वनि में परिवर्त हो गये स्वर मध्यम मु^ओ (मुष) आमे^ओ (प्रा० अम्ह) स्वरयंत्रीय ध्वनि अन्य कारणों से भी हो सकती है मु^ओ (मूषि) से तो ऊपर उठत शिवा की बात याद आती है।

सिंहली ही एक ऐसी भाषा है जिसमें सभी महाप्राय ध्वनियाँ अक्षर हो गयी हैं, अक्षर और शोष दोनों में से (भूमि का विम् पशु का वा शीर्ष का विग् लम्ब का लय प्रथम का पक्षम् उष्म वा उष्) स्वयं ह्, केवल बहुत कम विवृति के रूप में (सोहोम अपवा सोन सं० श्मघान- किन्तु निय सं० गल्) अपवा स् के हाल के एवज में आता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि तमिल में जो उसकी समीपस्थ इडिड भाषा है महाप्रायत्व नहीं है और उगम से प्राचीन स् सृष्ट हो गया है इस भाषा का सिंहल पर प्रभाव संभवतः बहुत पहले ही पड़ चुका था तुल० 'बिटिकिस पासी विवरावरी ६० अट्ट ।

उन विधियों में से जिनमें महाप्राय ध्वनियों में परिवर्तन उपस्थित हुआ हो, सुसंगत भाषाओं में सोप्य उच्चारण लक्ष्य ब्रजात है।

उत्तरे प्राचीन प्रमाण अत्यन्त दुर्लभ हैं। आप्त्य महाप्राय ध्वनि ही एक ऐसी ध्वनि है जिसके लिये सोप्य में उच्चारण की कुछ-कुछ रथा की गयी निकली है -यवम् के विरुद्ध पा० -या म कुछ भी प्रमाणित नहीं हाता क्योंकि अनन्दिता अजग्मितो में -य् का परिवर्तन -म् के साथ हो जाता है उच्चारण विधेय होना चाहिए जैसा मय्मम् में जिनता मी प्राङ्गन मे मज्ज (म्) मे होता है। पुरपवाचक सरम् सं० सरम् तुल० ह० दुनु० मन्मद् क मूल रूप म निस्मग्देह सोप्यता थी तुल० टोमेयी । किन्तु

किसका उल्लेख करना उचित होया ? ह० दुनु० में भू धातु से है प्रकृ बभिव्युम्बु किन्तु वह एक निरासी बोली है। यह संभवतः मध्य का बस्वायी भू ही है जिसके तुल्य बाद ही हो- में मध्य ध्वंजनों की अपेक्षा हुआ है।

महाप्राय ध्वनियों से निकली सोम्य ध्वनियों का यह ण्यभ्रम पूर्ण अभाव भारतीय धार्य भाषा में सोम्य के अभाव की प्राप्ति है। व् और बभोय धिन्-ध्वनियों को छोड़ कर, संस्कृत में वह बिल्कुल नहीं है और इस दृष्टि से उसका ईरानी, प्राचीन और आधुनिक भाषाओं से विरोध है जिनमें विशेषतः अथोय महाप्राय ध्वनियों का स्थान सोम्य ध्वनियों ग्रहण कर लेती है, और जिनमें उदाहरणार्थ क्व् ध्रुव से ही ख्व् हो जाता है (मेरए, आई० एफ० XXXV, पृ० १२०)। मध्यकामीन भारतीय धार्य भाषाओं में थोप स्वर मध्यम ध्वंजन (या ऐसा होने वाले) अपने को विवृत बना लेते हैं और अनिधायं रूप में मध्य सोम्य की स्थिति से मुक्त होते हैं किन्तु वह परिस्थिति बोड़े बिनों के लिये रही है, और नियमित रूप से तो यह केवल धिषिक् और अनुनासिक व् जो-म् का स्थान से केता है, के संबंध में देखी गयी है अथवा प्राचीन (कश्य और दण्य) ध्वंजन-काठ अनिधायित उच्चारण वाली भाषा को बागे किये जाने से बिरा रह्ता, जो जैनों में यु, जिसे प-भ्रुति कहते हैं के रूप में देखा गया है, जो कुछ भाषाओं में लगभग स्वरों पर अपना प्रभाव छोड़ जाता है, उदाहरणार्थ म० से० जो ध्रुव से है और हिन्दी सी (बीच की स्थितियाँ क्रमशः *सया *सऊ) के विषय है, अथवा म०-र्य, मु०-र्य एक० तपु० से सं०-अकम्, किन्तु मराठी ये-ना हिन्दी मय्+आ दोनों का संबंध यय (गठ) से प्रकट किया जाता है। यह ध्वनि-भोधी-काठ अवलत धिषिक् सोम्य व् नी हो सकता है, अपभ्रंस में व् और जो (मबिस० पृ० २४) के बाव मराठी में किन्हीं स्वरों के बीच में तुल० सिह्मी में निय (मब) के निकट तुवर (नयर)। विवृति के लिये अथवा ठीक-ठीक रूप में एक स्वर से दूसरे स्वर तक पहुँचने के काम के लिये ह् का प्रयोग बहुत कम मिलता है। समीपवर्ती स्वरों के बीच में-म् और-म् के प्रवेश की प्रवृत्ति से दक्षिण की प्रविष्ट भाषाओं की याद आ जाती है।

कैलीकल मध्यकामीन भारतीय भाषाओं में केवल य सोम्य ध्वनियाँ ही हैं जो अथय रूप में नहीं हैं। जरोप्टी में लिखित अभिलेखों और पाठों में लिपि-बिह्व सहित कुछ ध्वंजन मिलते हैं जो र् से मिलते-जुलते हैं, किन्तु जो बहुत महत्वपूर्ण नहीं हैं उदाहरण बर्दक (Wardak) में भग के समीप मय इस बात का प्रकोपन भी होता है कि उसमें सोम्य ध्वनियाँ ईही धार्य विशेषतः अथ कि-म् से निकले-म् से उसकी तुलना की जाय। किन्तु विशेषतः ह० दुनु० की भाषा वास्तविक पंजाबी और सिन्धी से संबंधित है अथवा, इन भाषाओं में सोम्य ध्वनियाँ नहीं हैं। केवल सीमांत बोहियाँ

में सोप्य ध्वनियाँ हैं कुछ च् कुछ चं, कुछ मूर्द्धन्य च् भी शिना मर्द्ध (मत्र) प्रेन् (शोण) और साप ही जा (भाटा) कुछ ० पछई ०से "३" (वम) ०सूच् (प्सुपि), कुछ अल्प-अल्प कण्ठ्य खोबर मुख लो०ओर या संयुक्त रूप में कृती बद्धत्व (अपगृह) फूर्ब (प्राप्त) पछई ०कम् (कर्म) बगकारिक काम् (शाम) उसी में स्वर-मध्यग -च् (और -च्) -स्- भववा -च् का प्रयोग भी पाया जाता है खोबर छेच् (सेनु) छेच् (सोहित) जिल (जीवित) किन्तु पा (पाब) सी (सेनु-) सेंड (स्वेत) आदि और इसी प्रकार गु (गृध-) संभवतः स्वर-मध्यग ल के स्पर्शत्व द्वारा जिसके इस भाग में कुछ उदाहरण मिलते हैं यूरोपीय जिप्सी भाषा कळ् (भाटा) बुवेल् (सुवति) पीएस (पिबति) मूरी जुमाद् पिबद्, गिर् (बूत), बद् (०बर के छिय) [किन्तु बिपरीत उदाहरण भी मिलते हैं मूरी सि (धीत) सी पै (पति-) पी (पाद) रो (रोबति) अग्यन -च् सू हो गया है पीछे देखिए]। ये प्रयोग ७-मान कर चलते हैं जैसा कि पूर्वी ईरानी की बोलियों में मिलता है। अफ़ग़ानी मुंजनी और पियस की भाँति प्रशुन और आरमीनियन जिप्सी भाषा में आदि द् >स्- भी है।

स्वयं ज्ञास भारतवर्ष में बाहर से आयी हुई सोप्य ध्वनियाँ अल्पतः कठिनाई के साथ अपने को अनुकूल बना पायी हैं अरसी लुवा (xudā) को लुवा पामीन्वार को बामीवार आदि कहा जाता है। किन्तु इतर-उपर से आयी सोप्य ध्वनियों का अस्तित्व उसमें पाया जाता है। पामीन पंजाबी में एक थोड़ी-बहुत सुबक इन्त्योप्य ध्वनि पाई जाती है जिसका फ् के साथ परिवर्तन हो जाता है जब कि च् वास्तव में कठोर है। बपाधी में फ् और च् का उच्चारण ठेड़ी के साथ क् और च् की भाँति होता है दोनों द्विजोप्य हैं। दक्खिन में प्रचलित उर्दू में सितफम् और घाब ही रन् है, किन्तु यह अरबी का अव्यक्त प्रमाण ही सकता है (दे ज्ञादरी 'हिन्द० प्रोनेटिक्स' पृ० ३१) और घाब ही मराठी में (बी मास्टर के प्रमाणों के आधार पर) भी ऐसा ही पाया जाता है। यूरोप की जिप्सी भाषा में च् च् च् हैं जो फूल् च्, लम् के समीप हैं यह तो देना ही जा चुका है कि एशिया की जिप्सी भाषा के स्वर-मध्यग च् का आरोपण सोप्य ध्वनि पर भी हो जाता है।

४ महाप्राच ध्वनि

संस्कृत की ध्वनि-धेनी ह्, पोप च्मपुनाहट वाली ध्वनि है उसी प्रकार जिस प्रकार पोप महाप्राच ध्वनियों की च्मपुनाहट वाली ध्वनि यद्यपि दोनों में पूर्व साम्य नहीं है क्योंकि सिंधी में ह् से पूर्व अतिम स्पर्श लक्ष्मण महाप्राच स्पर्श की अपेक्षा एक दूसरी ही बात प्रवृत्त होती है बिच् हि>बिच् पि सध्वंन् हिता>सध्वंन् पिता ता ह का अभिपान यहाँ स्पष्ट है।

संस्कृत ह.

अथर्व-सूत्राति-विक्रान्त की दृष्टि से ह. प्रारंभिक-साधना महाप्राण ताकथ्य ध्वनियों का रोपांच है

भारोपीय गृह.	बहति	अ० बर्बति	सैटिन उग्रहि
	हिम तुल०	अ० ययर्ब न० एक०	हिमस
साध ही	अहम्	अ० अजम्	इयो
	हृ	अ० अरं	कीट
भारोपीय *गृह.	ए से पूर्व	हृति (तुल० अन्ति) अ० वीति	
	हुह.	(तुल० हुग) अ० हुग	द्वय

स्पर्श का यह पूर्ण सोप मात्रार्थ क सिधे ठीक है किन्तु वह भारतवर्ष में सर्वत्र नहीं पाया जाता। काठिन भाषा में उच्चारण सुठित है कती किम् बिर, दे० अन्त्य। स्वर्ण संस्कृत में कुछ द्विरवपूर्व या पुनरावृत्तिपूर्ण रूपा में उसके चिह्न मिलते हैं, जिनमें पूमकुमाहुट वाली ध्वनियों का विपरीतकरण ताकथ्य को प्रकट करता है, जो उसके वात् स्वायी हो जाता है जहाति प्राचीन *असाति अ० अजामि इसी प्रकार हृन् के आकार्य २ एक० के संबंध में है अहि, प्राचीन *अभि अ० वीदि। सर्व० अ० के सिधे अन्त्य देखिए।

यह तो स्वामाधिक है कि प्रारंभ में स्पर्शता शोष मध्य-स्पर्श ध्वनियों में परिवर्तित हो। इतिहास के क्रम में समस्त रोप महाप्राण स्पर्श ध्वनियों (प्राचीन शोष और उनके साथ अशोष ध्वनियों शोष हो जाती हैं) की स्वर-मध्य स्पर्शता मृत्त हो गयी है अथवा शोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियों क माध्यम द्वारा क्रम जाती होता है और यही उसका प्रथम चरण है इसी प्रकार पिछले युग में जब कि अ बना रहता है *अ प्रकट होता है, अन्त्य में तो यह मिळता ही है कि कुछ हृ, *गृ से निकलते हैं प्रत्ययों में -महि, -महे, तुल० याथा० -नीदी -नेदे घी० -नेप आकार्य में विशेषतः कीर्ण स्वर के बाद हृमि क मुकाबले में पाहि अ० -दि घी० -वि (एम् एस् एस्० XXXIII, पृ० १०५ साम ही दे० की एच० स्मिप यह हृस्व के बाद है जब कि पाठी में -मि कभी-कभी बाद तक मिळता है पण्डितेहि, इतिमि सम्बेहि माठिमि) सामासिक ध्वनों में (सह जो सब ने समीप है -हित जो पहले रचना में था से है) अथवा सह-स्वों में (हृ, तुल० पासी इव *हृ-रप से असीक० हिव हुह, याथा० कुठम पृ० कुरा) साध ही कुछ ऐसे ध्वनों में जिनमें परिवर्तन-क्रम द्वारा स्पर्श ध्वनि की रक्षा होनी चाहिए (अहि, माहु) तुल० २ एक० मात्प अ० माठम अ० गृहानु गृहान जो गृम्वसि गृम्वते के समीप है ठी० सं०

में सोम्य ध्वनियों हैं कुछ र्, कुछ व्, कुछ मूर्द्धन्य र् मी रिना मर्द्ध (अप्र) श्रेण (शान) और माय ही प्रा (प्राज्ञ) कुछ ० पाई श्ले "१" (वयः) श्मूष् (ष्मूष्) कुछ मलय-वलय कन्व्य खोबर नुष् मो/ओर मा संनुस्त कय में कपी कनूर्द्ध (कानूर्द्ध) श्मूर्द्ध (प्राप्त) पाई श्लेम् (कर्म) बदकारिक कान् (शाम) उरी में स्वर-मध्यम र् (और -स्)-क- कपवा -र् का प्रयोग भी पाया जाता है खोबर शर् (सेनु) सेक (कोहित) बिक (बीकित) किल्मु पा (पाय) सी (सेनु) कंड (श्वत-) बार्दि और इती प्रकार म् (युय-) संबन्धः स्वर-मध्यम क के स्वर्णत्व द्वारा सिद्धते इस भाग में कुछ उदाहरण मिलते हैं पुणेरीय बिप्पी भाषा कम् (प्राज्ञ) बुवेक (बुवति) पीएक (पिबति) नूठी कूबाद् पिबद्, पिद् (पूत) बद् ("वर के श्ले") [किल्मु बिपटीठ उदाहरण भी मिलते हैं नूठी सि (सीत) सी र् (पति) पी (पाय) रो (रोयति) कम्ब प् र् हो पना है, पीछे देखिए]। ये प्रयोग ८-मान कर चलते हैं वीता कि पूर्वी ईरानी की बोलियों में मिलता है। अफ्रानी, मुजनी और सिन्ध की भाँति प्रकृत और भारतीयिनन बिप्पी भाषा में बार्दि र् >क- मी है।

स्वर्ण सास भारतीयों में बाहर से आनी हुई सोम्य ध्वनियों कायस कन्नियाई के साथ बनने को अनुकूल बना जाती है। उदासी कुवा (xaddā) को कुवा यमीन्वार की यमीन्वार भाँति कहा जाता है। किन्तु इतर-उतर से आनी सोम्य ध्वनियों का अस्तित्व उसमें पाया जाता है। इसी प्रकार में एक मोड़ी-बहुत पुर्वक दन्त्योच्च ध्वनि पाई जाती है बिबका फू के साथ परिवर्तन हो जाता है, जब कि न् वास्तव में कठोर है। बपाली में फू और न् का उच्चारण लेवी के साथ फू और न् की भाँति होता है यानों क्रिमोप्य है। दक्षिन में प्रचलित उर्दु में सिद्धर और साव ही र् है, किन्तु यह बरबी का अत्यधिक प्रभाव हो सकता है (दे. क्राण्टी 'हिन्द० प्रोनेटिक्स' पृ ३१) और साव ही मछली में (की मास्तर के प्रमाणों के आधार पर) भी ऐसा ही पाया जाता है। पुणे की बिप्पी भाषा में वृनुद्, वृओद् हैं का पूक वन्, कम् के समीर है। यह तो देखा ही जा चुका है कि एशिया की बिप्पी भाषा के स्वर-मध्यम र् का अठो-प सोम्य ध्वनि पर नौ हो जाता है।

५ महाभाष ध्वनि

संस्कृत की ध्वनि-श्रेणी ह्, ओर पुनकुटाट वाली ध्वनि है, उरी प्रकार बिष प्रकार बोप महाभाष ध्वनियों की कनकुटाट वाली ध्वनि यद्यपि दोनों में पूर्व क्षम्य नहीं है। स्पष्टि बिषी में ह् से पूर्व श्रितिय स्वर्ण उरनुस्व महाभाष स्वर्ण की कक्षा एक बूतरी ही बात प्रकट होती है बिद् हि > बिद् बि सद्मन्स हिडा > उग्रमन् बिडा तो ह् का अविदान यहाँ स्पष्ट है।

संस्कृत ह.

ध्वंज-भ्युत्पत्ति-विज्ञान की दृष्टि से ह. प्रार्यविहासिक भोप महाप्राण तासभ्य ध्वनियों का रोपांघ है

भारोपीय गूंह	बहति	अ० बहति	संदिभ उएहित्
	हिम तुल०	अ० बयर्त् न० एक०	हिएम्त
साध ही	महम्	अ० महम्	इगो
	हृत्	अ० बर्द्-	कीई
भारोपीय *म् ^१ ह	ए से पूर्व	हन्ति (तुल० ध्नन्ति) अ० धँन्ति	
		हुह (तुल० हुग्व) अ० हुप्-	हुत्त

स्पर्श का यह पूर्व भोप भारतीय के किये ठीक है, किन्तु यह भारतीय में सर्वत्र नहीं पाया जाता। नाकिर भाषा में उच्चारण सुरक्षित है कटी जिम् बिर, दे० अन्यत्र। स्वयं संस्कृत में कुछ द्विरूपपूर्ण या पुनरावृत्तिपूर्ण रूपों में उसके चिह्न मिलते हैं जिनमें फुसफुसाहट बाकी ध्वनियों का विपरीकरण तासभ्य को प्रकट करता है जो उसके बाद स्वामी हो जाता है अहति प्राचीन *महाति अ० बहामि इसी प्रकार हन् के आकार २ एक० के संबंध में है अहि, प्राचीन *महि अ० वैदि। सर्वत्र० ध्म के सिधे अन्यत्र देखिए।

यह दो स्वाभाविक है कि प्रारंभ में स्पर्शता भोप माध्य-स्पर्श ध्वनियों में परिवर्तित हो। इतिहास के क्रम में समस्त रोप महाप्राण स्पर्श ध्वनियों (प्राचीन भोप और उनके बाद अर्धोप ध्वनियाँ भोप हो जाती हैं) की स्वर-मध्य स्पर्शता क्षुप्त हो गयी है अथवा भाप महाप्राण स्पर्श ध्वनियों के माध्यम द्वारा क्रम जारी होता है, और यही उसका प्रथम कारण है इसी प्रकार पिछले युग में जब कि बू बना रहता है *म् प्रकट होता है, शब्दों में तो यह मिलता ही है कि कुछ ह. *म् से निकलते हैं प्रत्ययों में -महि -महे, तुल० पापा० -मैरी -मैरे प्री० -येष आकार्य में विशेषतः बीर्भ स्वर के बाद हृदि के मुकाबले में पाहि अ० -दि, प्री० -पि (एम० एस० एस० XXXIII, पृ० १७५ साध ही दे० श्री एष० स्मिध यह हृस्व के बाद है जब कि पासी में -भि कमी-कनी बाद तक मिलता है पणिङ्गेहि, इगिन्नि सभ्नेहि भातिनि) सामासिक ध्वनों में (सह जो सभ के समीप है हित जो पहले रचना में था से है) अथवा सह-ध्वनों में (इह, तुल० पाली इव *ह-इष से अरोफ० हिव कुह पापा० कु०अ गु० कुवा) साध ही कुछ ऐसे ध्वनों में जिनमें परिवर्तक-क्रम द्वारा स्पर्श ध्वनि की रक्षा होती चाहिए (अर्द्ध, बाहु) तुल० २ एक० आत्प, अ० आ०अ अ० पुहवातु गृहान जो मृन्मयि मृन्मये के समीप है, ठी सं०

उपार्णहो द्वि० जो उपान्त का कर्म० है ऐत० ज्ञा० न्यघोह (एक उस अक्ष में जिसमें धामीय रूप परंपरामत रूप के विषय है और अन्ध-भ्युत्पत्ति-विज्ञान की दृष्टि से ठीक है) अर्चन० न्यघोत्र पा० निरोध के लिये है।

अति प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषाओं से ऐसे उदाहरणों की संख्या में बहुत वृद्धि हो जाती है अघोफ० और पाली में आधिक सह-संयोग (मवति) के ध्वज के आदि में होती है स्वर-मध्यग की दृष्टि से अघोफ० अघु (अघु) अहेनु (म्), तिपोह- (म्) पाली में सं० वधाति के लिये वहाति (तुक्० अघोफ० उपपदेनु) है, जो वरि सं० श्लि-पर विचार करके देखा जाय तो पुनर्निमित्त किन्वा मा सुरक्षित रक्षा का संभ्रता है मठ में कुछ बहिर, साहु जैसे अन्व है। बाद की मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में परिवर्तन सामान्य हो जाता है, कम-और स्थिति वाली सभी महाप्राय स्पर्श ध्वनियों में से केवल चोप फूसफुसाहट वाली ध्वनि हू बच रहती है।

अबोध महाप्राय धिन्-ध्वनि से उत्पन्न मध्यकालीन भारतीय हू

इसके अतिरिक्त संस्कृत में अबोध महाप्राय ध्वनि की किन्तु उसकी पचना स्वतंत्र ध्वनन के रूप में नहीं होती और क्योंकि वह अबोध से पूर्व या मूक से पूर्व अन्वत्प-अ के स्थान पर आता है। लिखावट में वह देखा जाता है, वही वह विसर्ग

है मध्यकालीन भारतीय भाषा में उसके चिह्न नहीं मिलते परि पूर्ववर्ती स्वर को धीरे बनाने (अप्यि अथवा अम्पी < अन्दि) में नहीं और -अ क संभव में नहीं तो इस बात में कि -अ जो स्वभावतः संभूत और जो उतना ही संभूत है अतः कि अन्विम चोप से पूर्ववर्ती अन्व के अन्व *अह्, *अह् से निकले सं० -ओ के साथ मिल जाता है।

मध्यकालीन भारतीय प्राकृत में समुदायगत सू विवृत रूप में रहता है, और उससे नवीन महाप्राय स्पर्श ध्वनियाँ निकलती हैं। अब कि समुदायीकरण अबोध स्पर्श के साथ होता है, तो समुदाय ही अघाय रहता है अब कि वह बने हुए अनुनासिक के साथ होता है तो प्राय-नासु ध्वनि चोप ही जाती है पा० ग्हा गहा (स्वा) पन्ह्, (प्रस्न-) उन्ह् (उन्ध-) लिम्ह (धीन्ध) ठिम्ह (ठीरध) आदि। चोप ध्वनियों जो निस्सर्विह, साथ ही अति तीव्र तत्पुत्रं अज्ञात भ्युत्पत्ति वाले स्वर-मध्यग हू से ।

प्रारंभ में मूक धीरे के पदवात् स-वर्धित्वात् वाले क्रियामूलक प्रत्ययों में पा० काहामि जो *करूप्यामि से है, तुक्० अघीम्ह० अह० कप्(प)अति? -स्य- -व्य का सामान्य प्रयोग पा० -स्स है। इसका अतिरिक्त पाली में ही -ह् से एहिति और पवेति से पवेहिति (पसामति) हैं जो एहिति के अनुकरण पर निर्मित हुए प्रतीत होते हैं हा और हर से हाहिति हो-से होहिति आहिति पराहिति कुछ और भी हैं, विशेषतः संयोजक

स्वर कतिवृत्ति प्रकार जो वैन प्राकृत में सामान्य हो जाते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि इन वर्णों से जिनकी अब तक व्याख्या नहीं हुई थी -ह वाले आधुनिक भविष्य० का सर्वप्रथम बोझा जा सकता है। यह भविष्य० अब भी काफ़ी भिन्नता है उस लोच से बाहर भी जहाँ सिन्धु-धनियौ सामान्यतः विवृत होती है (मारवाड़ी ब्रज बुधेली मोरपुरी प्राचीन बंगाली कश्मीरी छिन्नित्सीत की विप्ली भाषा)।

बहुत बाद को आधुनिक भाषाओं द्वारा प्रमाणित प्राकृत को एक महत्त्वपूर्ण धाखा में संस्थापनी शब्द मिलते हैं, सं० रस- का प्रतिनिधित्व र्ह और रस- द्वारा हुआ है (-रह और -रस वाले योगात्मक शब्दों में) और -सप्तति- वा -हृत्ति- वाले योगात्मक शब्दों में संभवतः क्या यह स्वीकार करना आवश्यक है कि प्राचीन काल में समस्त भारत में मिलने वाले संस्थापनी शब्द पश्चिमी क्षेत्र के थे (गु० सि० सहरा कर० तुळ० ष्ट० सुयोमा सिंध के पूर्व में बहुत प्रचलित था मेगास्थ० सौबनोस् बधवा सोबनोस्, आधुनिक घोहान) जहाँ अन्य स्वार्थों (पूर्वी बंगाल का विशेषतः इस युग के किये उदाहरण न दिया जाय) की अपेक्षा विवृत सिन्धु धनियौ अनुनासिक के बाद जोप हुई अपवाद स्पष्ट धनियौ (किन्तु चारबेक में पत्तरघ भी है) और साथ ही कुछ-कुछ स्वर-सम्बन्ध-रु जो-रु रूप में हो जाते हैं, अधिक उपलब्ध होते हैं? किन्तु-हृव (संघ) इत्यादि नागार्जुन-कोण्ड में मिलते हैं एपी० इति० २५, पृ० १७ २० और सुब्रह्ममाह भट्टिप्रोक्त में, जो निश्चित रूप से पश्चिमी प्रभाव की ओर संकेत करते हैं। हर हाकट में यही बात सामने आती है कि बयोयात्मक शब्दों में सिन्धु-धनियौ से उत्पन्न-रु है वे० पिसेक पृ० २६२ और यदि श्री एच० स्मिथ ने अत्यन्त कौशलपूर्वक बि(रु)ग्रह की व्याख्या अह(रु) द्वारा विवृत सं० पा० दिवस- से की है तो भी अन्य उदाहरण हैं जो इस व्याख्या के अन्तर्गत नहीं जाते।

अपभ्रंश के नाम प्रत्ययों (संघ० एक०-अह बहु०-अह अधि० एक०-अहि, अया -अहौ) और क्रियासूचकों को अलग रखना आवश्यक है जिनमें आकृतिमूकक साधुस्य का हाव है। किन्तु यह प्रत्यय व्युत्पत्ति मूलरत और राजपूताना में एक नहीं जाती जहाँ ऐसे निश्चित भाग हैं जहाँ रु के किये ह का प्रयोग प्रायः मिला जाता है, देखिए अन्यत्र।

महाप्राण के बाव की स्थिति

शब्द के प्रारंभ में ह सामान्यतः कटोर रहता है किन्तु स्वार्थों के बीच में वह कुर्वल रहता है। इसी से उदाहरणार्थ आधुनिक बंगाली के विवृत रूप (अपभ्रंस-अह) से बन-जा में पाये जाते हैं, २ बहु०-आ बधवा-ओ में जो अपभ्रंश-अह,-अह से हैं। कुछ

घर्षों पर से प्राचीन स्पर्शता का धारा प्रभाव मिट गया है म० घेर (सिद्ध) मेषुम् (मेषुम) आदि।

स्वर-अभ्यग ह की दुर्बलता से इस बात का पता चलता है कि उसका प्रयोग सामान्य विवृति की दृष्टि से रहा हो म विजो (प्रिय) के समीप विहू नहीं बचता नई (नदी) बंगासी बेहुआ (विपुआ) आदि सिहली में एसा प्राय मिलता है। किन्तु प्रा० विहृत्वि (वितस्ति पा० विहृत्वि-) पर निस्सरेह हृत्- (हस्त-) का प्रभाव है (एच० स्मिच)।

कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें महाप्रायत्व ने किसी पूर्ववर्ती व्यञ्जन से सम्बन्ध रह कर अपने को बनाये रखा है। युरोप की जिप्सी भाषा में इस संभावना के कारण आदि बोप को अबोप होते देखा जाता है विद् (विहृत्) मुद् (मुह-) जो बम् (बर्म) बोम् (बाब्) की भाँति हैं, आदि।

जब कोई ध्वन्य स्वर से प्रारंभ होता है, तो फूसफूँटाहट वाली ध्वनि में उससे पहले जाने की प्रवृत्ति पामी जाती है प्रा० होट्ट- म होट्ट (ओठ-) हि० हम्, मु० हमे (प्रा० बम्हे) गू हुनो (उप्य) आदि।

अभिध्व्यञ्जक ह्

अंश में स्पृष्ट रूप में कुछ आदि ह् मिलते हैं जो ध्वन्य-भ्युत्पत्ति-विज्ञान द्वारा सिद्ध नहीं होते और जिनका प्रभाव लक्ष्य कुछ ध्वनों की अभिध्व्यञ्जकता बढ़ाने में है *ह-इष के लिये असोक० हिष, हेब हेमेव [ए(ब)मेव] हेविस (पा पविष- सं० एतावुष), हुवे(व-यस् तुष पा० याम्बे और सं० यद् च) पा० हुवं हेवं हाकिप हेवं आदि (वे० सङ्गीति पृ ८८९ नोट ८ पृ० ८९४ नोट १३)। आधुनिक कास में पं० होट्ट राज० और बक्सली हीरु, गैनाक हिन्वी हद्, छाहिरियक हिन्वी और (अपरम्) पं० बोमी हेनक (एक- उसकी पुनरावृत्ति देखिए) म हा बं होषा हेषा (प्रा० एत्प) हाकुकि- (बाकुकि-) सिहली है, हो जो ए, ओ के समीप हैं और वह भी इतने प्रमुख रूप में कि सिहली ह् के बोप की ओर झुक रही है (एच० स्मिच)।

५ शिन्-ध्वनि

भारत-ईरानी में एक दन्त्य शिन्-ध्वनि है सामान्यतः अबोप किन्तु बोप स्वर्ण ध्वनिजों की समीपता के कारण जो बोपत्व प्राप्त करने की क्षमता रखती है (अ० अस्ति च्दि तुष सं० अस्ति एचि) और बूसरी और ह्, उ र् और कर्द्व (अभि एक० अ इर्पवम्, तुष सं० सुमत्तु किन्तु अ० अस्पास्ते, तुनुबन्-अ सं० अस्वपु,

विष्णु नृपु अ० संबध० एक० नरैरे) के बाद नियमित रूप से शकार ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है।

भारतीय भाषा में यह नियम पहले से ही रहा है, और ईरानी की अपेक्षा अच्छे रूप में रहा है जिसमें समीपवर्ती भारतीय भाषाओं की भाँति आवि और स्वर-मध्यम रूप में असंयुक्त विष्णु स् है सं० सन्धि अ० हन्ति, सं० अवि, अ० अहि।

किन्तु यह देखा जा चुका है कि सिन्धु-ध्वनि से निकले शकार-ध्वनि वाले रूप ने जो मूर्धन्य हो जाता है संस्कृत दस्य स्पर्श ध्वनिओं के एक महीन वर्ग को जन्म दिया जो मूर्धन्य कहा जाता है। जबवा प्राचीन ऋ के पूर्ण स्वरिकरण ने जिसने सिन्धु ध्वनियों सहित समीपवर्ती दस्य ध्वनियों का मूर्धन्धीकरण कर दिया वा यह फल प्रकट किया कि स्वर व के पश्चात् प की काफी बड़ी संख्या है और वह स् के परिवर्तित रूप की तरह नहीं है पाप्ये वा संभवतः सदृश जर्मन फ्रेस्स घी० पेस्स लिचोस् से निकला है कपति तुल० साहित्यिक कर्त्तव्य। यह एक महत्त्वपूर्ण नवीनता है।

दूसरी ओर भारतीय भाषा में वे शोष ध्वनियाँ नहीं रहीं जो ईरानी में सुरक्षित रहीं। कंस्य वा ओप्य ध्वनिओं से पूर्व वे नहीं मिलती अब्य पहलवी अन्तम् विद्भिः, तुल० अ० बीजैभ्यो। दस्य सं पूर्व के स्वर को जो वीर्य हो जाता है अपना कपन प्रदान कर बिछीन हा जाती है और ह्रस्व अ के सभ्य में ध्वनि का परिवर्तन कर देती है नैविष्ट- अ० नञ्चित सद् (तव *स-द्) से पूर्व० ३ बहु० सेविरे *आसध्वम् से २ बहु० अपूर्व० आप्यम् *निवेद से नीद- तुल० जर्मन नेस्ट सींजन्त प्राचीन *सि-न्-स- यह का ह्रस्वार्थक ह्रस्व रूप। शब्द के अन्त में-स् जो शोष से पूर्व-सि हो जाता है, से निकली वो शोष ध्वनिओं में से एक-ह् स्वर का संकोच करण में बिछीन हो जाती है अन्वो दूसरी-न्-द् हो जाती है अग्निद्।

संस्कृत में जो सिन्धु-ध्वनियाँ प्रतीत होती हैं, जो सापेक्षिक दृष्टि से स्वतंत्र हैं, और दोनों ही विस्तृत अशोष हैं। जबवा उसमें एक तीसरी सिन्धु-ध्वनि आ गई है, और वह भी विस्तृत अशोष है, और जिसका कारण यह है कि भारतीय की तासव्यापीय ध्वनिओं के विभिन्न प्रयोग ने *क संस्कृत में ध् हो गया जब कि *गू का प्रतिनिधित्व *गू^व (ए) की भाँति ज्वाय और *गू^ह का प्रतिनिधित्व *गू^ह (ए) की भाँति ह्वाय होता है। वो कमभय सबस्य भारतीय भूमि-भाग में (केवल काकिर में प्राचीन स्पर्श ध्वनि मिलती है) प्राचीन अशोष स्पर्श ध्वनि एक तीसरी सिन्धु-ध्वनि में परिवर्त हो गयी प्रतीत होती है और जिसकी विवेकता है तासव्यापीय उच्चारण और वह भी विस्तृत अशोष इसके विपरीत ईरानी में वह अपनी शोष प्रकृति ग्रहण किये रहती है अ०

स् व पु० प्र० ०१ ६। संस्कृत में अन्य चिन्-ध्वनियों के साथ इतना अधिक संबंध है कि कुछ परिस्थितियों में प्राचीन ऋत्यू ध्वनि एकार ध्वनि हो गयी है, और वह अपने को मूर्द्धन्य चिन्-ध्वनि के रूप में प्रस्तुत करती है। मर्दा अ० अर्द्ध अ० ओमटो वटि, अ० बरेंटी तुक० बरिन अ० बरंगी।

तो संस्कृत में तीन चिन्-ध्वनियों की एक नितांत नवीन प्रभावी मिलती है, जिनका संबंध बीच के अक्षर मात्र की गति द्वारा प्राप्त तीन प्रकार की स्पष्ट ध्वनियों से है। इसके अतिरिक्त इन चिन्-ध्वनियों का आपस में परिवर्तन भी हो जाता है। यह तो बेका ही का युक्त है कि स् और प पूर्ववर्ती ध्वनि-ओमी पर निर्भर रहते हैं, और स् और प परवर्ती पर। अन्य रूपों में सामान्य ध्वनियों के सामीप्य द्वारा स् व् हो जाता है (परच, तुक० अ० पस्व साहित्यिक पस्वर्द स-स्व ओ सव् का बोद्धा रूप है) अथवा समीकरण द्वारा हो जाता है (इबसुर, तुक० अ० हसुर। इसी प्रकार मध्यकालीन भारतीय भाषा की पश्चिमी बोलियों में अशोक० अनुसंधान) स्वल्प द्वारा भी वह प् हो जाता है। पोल्हा को 'सर्वथा से है दो प् के विपरीकरण द्वारा व् हा जाता है। मुष्-ओ 'मुष्क उच्चरित से निकले 'पुष्क-से बना है अ० हुस्क- सुमुप् से निकले अशोक० सुमुप् मादि।

इसके अतिरिक्त ये चिन्-ध्वनियाँ अपनी ही बौद्धि-बहुत अल्पवत्ता के कारण समाप्त हो जाती हैं और बाह्य वृष्टि से उनका सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में बना रहना नास्तिकता से साम्य नहीं रहता। अशोक के अभिलेखों में अकेले उत्तर-पश्चिम सीमा भागों में तीनों चिन्-ध्वनियाँ मिलती हैं और यही परिस्थिति बरोपी में विद्यमान और ह पुनु० में बार के अभिलेखों के संबंध में कही जायगी (समाप्त अल्पवत्ताओं सहित उदाहरणार्थ रूप सं सङ्ग और सर्व कोनाड 'हेस्टिफिट विधि' पृ० ९१)। अशोक के अन्य अभिलेखों में (कुछ अवसरों पर जो केवल केवल प्रभावी के कारण हैं, काठमांडी के अंतिम बोधवा-यनों में वृष्टिवोचर होती हैं) और मध्यकालीन भारतीय भाषा के सभी उत्कीर्ण लेखों में चिन्-ध्वनि सामान्यतः स् के साथ अपवाद रूप में व् के साथ जुड़ी हुई है। अट्टिप्रोक् का समाधि-स्मृत एक अपवाद है जहाँ एक ओर स् का वा में परिवर्तन हो जाता है पुठ(स्)घ, पुसरी और म(म्) पुया और सरीर के सिधे एक विशिष्ट भिन्न है (अट्टिप्रोक् के स्वल्प पारस-अण्ड में एण्ड से भिन्न प्रकार ध्वनि मिलती है किन्तु केवल सामान्य के संबंध में मूर्द्धन्य का कोई उदाहरण नहीं मिलता) साथ ही इस समाधि-स्मृत के कारण ही तो उत्तर-पश्चिम के कुछ रूप नहीं हैं यद्यपि अट्टिप्रोक् का स्तुव इज्जा-समुदाय (अनुरावती बडपेट, नावावत कोण्ड) के अन्तर्गत जाता है। मध्यकालीन भारतीय भाषा के साहित्यिक चिन्-ध्वनि

को ही मिठा बेटे है (सू में केवल नाटकों की मागभी में सू) केवल एक अपवाह मूच्छकटिका में ऋडा की बोली (जो डककी या टककी कही जाती है) में पाया जाता है, जिसमें प्रत्यक्षत ऋ है, सू और पू का सू में योग उपस्थित होता है किन्तु स्वयं इसी अक्षेसे अक्ष के लिये पाठ ठीक नहीं है और निष्कर्ष अनिश्चित है। चित्तापूर्ण उल्लेखों में जो बात देखी जाती है वह है इ का स द्वाय प्रतिनिधित्व के लक्ष्य में एक "मागभिसन्ते" और एक वह बात जिसकी बार की विशेषता है संस्कृत -अ- -अम् के लिये -उ प्रत्यय का प्रयोग यह विषयवामी प्राकृत का एक प्रकार है।

चिन्-ध्वनियों की अव्यवस्था संभवतः एक सापेक्षिक दुर्बलता का चिह्न है। हर हाकत में इतिहास के प्रारम्भ से ही अक्षोप ध्वनि विग्राम-स्वर पर अपने को विभूत करती है शब्द में धातु के अन्त में स्पर्श का पुनस्तव र्बसा वह मात्र से मार्गमि उपसू से उपस्मिः, अर्बर्ब० वच् से अवात्सी में है, अपवाह-स्वरूप है और आकृति-मूलक परिस्थितियों से सबधित है।

कभी-कभी मध्यकासीन भारतीय भाषा में -व्य- का प्रतिनिधित्व ह्, द्वाय होते हुए देखा जाता है। विशेषतः स्पर्श ध्वनियों के अस्तित्व के कारण चिन्-ध्वनि निमित्त रूप से अपने को विभूत करती है और अनुपाय की शक्तता में पुस फुताहट वाली ध्वनि अपना स्थान बना लेती है—महाप्राग स्पर्श ध्वनियों वाली भाषा में यह एक आचरण बात है—साथ ही यदि स्पर्श से पहले प्राचीन चिन्-ध्वनि आवे तो ऐसा होता है हृत्- (हृत्-), वरु- और वद- (त्तरु-) सुकृ (पुष्क-) पम्ब (पम्) और अनुनासिक के साथ चिन्-ध्वनि अनिवार्य रूप से पहले आती है अग्ने (अग्ने) उग्ने (उग्ने)।

जो कुछ भी हो भीषित चिन्-ध्वनियों का सम्बन्ध संका में जगमग सर्वत्र पाया जाता है (किन्तु जहाँ व् और सू फिर आपस में मिल जाते हैं)। इसके अतिरिक्त उरका उच्चारण परिवर्तनशील है इसी प्रकार मागभी प्राकृत में केवल सू या सू जो सामान्यतः इत्य है नेपाली में मन् घकार ध्वनि है और बंगाली तथा उड़िया में विशेषतः उसकी विभूति और भी अधिक होती है और आसामी और भीली में वह व् हो जाती है पूर्वी बंगाली वैयाक पुनरावृत्ति सिद्धी (शब्द के अन्त के अतिरिक्त) और चिन्धी के स्वर मध्यम में ह्, भी संस्कृत पू का व् उच्चारण और उनके बिलने में समानता जो उत्तर भारत में प्रचलित है सोम्य ध्वनि की भी कल्पना करते हैं किन्तु यह कब और कहाँ से हुआ है?

ताम्रभ्यीय स्वरों के कारण मराठी में वर्य चिन्-ध्वनि का ताम्रभ्यीकरण हो जाता है, उन्हीं परिस्थितियों में जिनमें ताम्रभ्यीय कही जाने वाली स्पर्श ध्वनियों का।

उत्तर-पश्चिम की भाषाओं में अब भी सिन्धु-ध्वनियों की थोड़ी-बहुत विद्येपता है जैसा कि सारोप्टी में लिखित मध्यकाशीन भारतीय पाठों में मिलता है। कश्मीरी में है १ छत् (छत्) और बौस् (आस्य) २ सुर्देह् (पद) दूरह् (बोझत) किन्तु बेह् (बिप) ३ हीर् (घिरः) वीर बुह् (विघति-) रहुन् (अयुन)। इसी प्रकार सिना में १ छत् (छत्) सूँ (सेना) २ पोह १६" ३ सूँ (या सुग), किन्तु संयुक्त रूप में औपु (अभु-) ऐप् (स्वभु-) पै (स्वास)। अथवा सिन्धु-ध्वनि और छकार ध्वनि में मेव मिलता है कटी बसुत् (बसन्त) सी (सीत) उषे (औपव) ठारबाकी ह्स् (हँसना) वस (१) प्पहसे (१६) तिस (प्यास)। इसी प्रकार यूरोप की जिल्पी भाषा में (एशिया की प्राकृत के साथ बसती है) ग्रीक छो- (सोना) सप् (साप) बस् (बास) लॉ (६) बेसे (बर्से) सेम् (१०) बेसे (१०) बिसे (२)।

यह देखा जा चुका है कि भारत-ईरानी में सिन्धु-ध्वनि और छकार ध्वनियों के शेष रूप मिलते हैं विभिन्न कारणों से वे (शेष रूप) संस्कृत में नहीं हैं। "प्राकृत" भाषाओं में यह निष्कासन निश्चित रूप से है बाहर से आने वाले शब्दों का व अर्ध-विभिन्नों में बदलना व हो जाता है आ० जमीन्दार के जिये जमीन्दार, छ० राजी क जिये राजी। ईर में व और बे पाए जाते हैं जिनकी पुष्टी व्युत्पत्ति है

१ काकिर व गह् से उत्पन्न व् यूँह् (ए) से उत्पन्न कटी बीम् (बर्क) बेंर्दे (मार डालना)।

२ व् स्वर-मध्यम -स् से कभी-कभी पसई ङ्गौन् की हनुबन्-इ (अंत में सं०-आसति से निकला प्रत्यय है -यैँस्) तुळ० पसई और लोवर की अव्य बोळियों में -बस्, सीराही सस् (स्वसा)। कुरेस की सिना में प्रायः बाव् (मास्य) ह्व (हँसना) विव् (विघस) तुळ० गिळगिट में जीह, ह्स् जो वेव् के समीप है।

तुळ प्रसुन हजैह (अधि) बुव् भी जो कटी बँदेव (विघति) के विकस है।

३ मध्यकाशीन भारतीय भाषा की ठासव्य ध्वनियों का शोष्मीकरण सिना बनें, कर० बन् (बहाते) सिना बूतेसँ (छिद्यते) मटी (मध्य) साव ही बिबे (*भिय्म्) बी (बुहिता) का विकृत रूप (बिबे) कर वात्- (स्वाक्य) बूजोपव् (उत्पद्यते) प्रा० उप्पबूई) सिना में मूर्त्थ्य व् र् वाके एक समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है विगु (वीर् से *वीन्-) वा (भस्ता) [वात् (वास्ता) में व् सुपरिष्ठ है]।

म० २ के प्रयोग का निम्न मध्यकाशीन भारतीय भाषा में उत्तर-पश्चिम की ओर भी मिलता है मनिपयल के बमिजेब में मसे (मासे) मिलता है, निय के पाठों में बस और बस् (बास) अबवा व् सिक्कों में शुद्धस्स राजा के हस्ताक्षरों में मिलता है

तो यह पूछा जा सकता है कि क्या इस प्रमाण की बीबी में स्वर-मध्यम सू के लिये जू नहीं होना चाहिए (रैफ्लन खरोष्ठी इन्स० III पृ० १०३, ११२) किन्तु ह० डुनु० के प्रथमहि में जू वास्तविक अर्ध-स्पर्शी है दे० अल्पम।

विदेशी नामों में जू के अन्य रूप जू, यू, स्फू, छ—कोनोउ, खरोष्ठी इन्स० पृ० १०८ के अनुसार जू भी उतना ही विदेशी है और भारत में उसका वास्तव में प्रयोग नहीं मिलता यद्यपि उसका प्रवेश बौद्ध रहस्य की कर्त्तवीकृत बर्धमाना में प्रवेश हुआ होगा, दे० एस० लेवी Feestbundel kkl Bataviaasch Gen. १९२९, II पृ० १००।

६ अनुनासिक

संस्कृत ने भारत-ईरानी से मू और मू लिये हैं। इस बात को जानते हुए कि मू को समुदायों में क्या स्थान मिलना चाहिए, हिन्दू व्याकरणों ने व्यञ्जनों के प्रत्येक वर्ग में अनुनासिक रखे हैं और ङ, ञ और ण का मेव उपस्थित किया है। किन्तु अकेली मूर्धन्य ध्वनि ही एक स्वतंत्र ध्वनि-श्रेणी है और जा स्वरो के बीच में आ सकती है अर्थात् प्रापैतिहासिक ष्ट का प्रतिनिधित्व करने वाले स्वर के साथ अथवा स्वयं उसके पहले इ या ए हो सकते हैं। तो उसमें वह एक नई ध्वनि-श्रेणी है किन्तु उसका सीमित अस्तित्व है वह भाषि में नहीं मिलती और मध्यकालीन भारतीय भाषा में ण का अत्यन्त विस्तार हो जाने पर भी वह उसमें कई पाठों में केवल भाषि में आता है और बाहुनिक भाषाओं में सभ्य के प्रारंभ में ण नहीं आता।

बाहुनिक समय में ङ और ङ केवल गीज रूप में और बाह्य शाखा की भाषाओं में मिलते हैं सिन्धी मिश्र प्रा० मिठ्ठव सं० मञ्जव शिवा बमेइम् (ननि ?) कद० बमे (मगिनी), खरसी के मियाँ के लिये मिया, ने० काश्मिरी काईयो शिवा कोद्यि (ककूट) अफ़्गुन अरब्बा (मज़ार) बंगाली बाइल (बनाक)।

तो मू, नू और ण एक ऐसे देश में अकेली स्वतंत्र ध्वनि-श्रेणियाँ हैं जहाँ वन्य ध्वनियों के साथ उनकी बड़बड़ नहीं हुई।

७ अन्तस्य

प्राचीन ईरानी में भारतीय अन्तस्य ङ और ङ दोनों ही का प्रतिनिधित्व इ द्वारा होता है। खरसी अभिलेखों में ङ केवल तीन विदेशी नामों में आया है उन विदेशी नामों में जो वहाँ के लिये सामान्य हो गये इ ही मिलता है जैसे बीबीबोन का नाम है बाबरसे। मध्यकालीन खरसी का ङ प्राचीन समुदाय इ के फलस्वरूप है। तो भी

घ्रासरी में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका म् निश्चित रूप से भारतीय है। कम्, चिन्तेन्, नाम्, बाभ्रम् (तुल्य० सै० कट्टम्) कम् (अ० कौर्ब सै० कल्लुस सं० अतिकुल्य)। बोसोएस में प्राचीन क् बराबर मिलता है। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि सामान्य भारत-ईरानी में तो क् और र् के।

यह संस्कृत में भी बराबर, और अधिक स्पष्ट रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है। राम्, सै० रेम् मरुति सै० प्रुटं नयः, सै० ट्रेस हूसरी और मुम सै० कुवेट अर्चवं अस्म साहित्यिक अस्मन्स पश्चिम- तुल्य० प्री० पेस्त्रिर्मोस् म्हा तुल्य० कौर्बोन (kouchéon) क्काम (klāya) (अपने को अस्त्र न पाना) प्कीहा तुल्य० प्री० स्फेम् आदि।

किन्तु ऋग्वेद में जो अपने विषय की दृष्टि से उत्तर-पश्चिम भारत तक सीमित है, र् समागम उतना ही प्रमुख है जितना भारत-ईरानी में आसमन के कोप में आदि क् वाले शब्द केवल हो कामनों में हैं, जब कि आदि र् वाले शब्द ५८ में हैं और ये शब्द, इन रूपम सभी शब्दों की भाँति जिनमें किसी-न-किसी स्थिति में ल जाता है, कुछ अर्थों में हार (Hala) के संग्रह में मिलते हैं। योही ही संख्या में वे र् के साथ स्वयं ऋग्वेद में प्रायः मिल जाते हैं। यह देखना आवश्यक है कि किस सामान्य रीति द्वारा प्रायैतिहासिक *स् या *स मूर्तम्भ अभिगमों की उत्पत्ति के क्रियम् और त् पर आधारित होकर र और ऋ की भाँति हो जाते हैं।

वर्गीकृत संस्कृत में र् की अत्यधिक महत्ता है, किन्तु ऋग्वेद के अति प्राचीन अर्थों की अपेक्षा कम निवारक रूप में। सर्वप्रथम वह भारतीय से आये क् वाले एकमूलक भिन्नार्थी शब्दों में से एक में प्रकट होता है। ऋग्वेद के कुछ प्रारंभिक अर्थों में लभते लभ मिलते भी हैं जो सामान्यतः प्रु (प्री० प्बेओ) वास्तु से हैं। सेभिर्दे, वाळम्भ- सेमान जो रम् (तुल्य० प्री० एर्बीइडेक) के विपरीत है। बहु० सामान्य अतीत विषयक अलिप्तत प्रुटि रिपु (प्री० अडेइको) चकाचक- अविचाचसि जो चर् अर्चवं चक- (प्री० पेलोमइ) के आवृत्ति वाले रूप हैं। पुम्- (प्री० पौंइ) और संमुक्त रूप में मिल्ल- जो पुम्- और मिभ के लिये हैं जो वर्गीकृत भाषा में एकमात्र उदाहरण हैं। ऋ के बन् बन्नक- के विच्छ वा० सं० मे वर्मीक- (बहुत प्रचलित ई प्रत्यय सङ्घित) ऋ के रनु र्प् के लिये अर्चवं में कम् काल्प् है, ऋ० के रिह्, हार के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों में रिह् ह्क- है, अर्चवं० गिर् के बाद वा का गिम्- जाता है आदि। वर्गीकृत संस्कृत में अर्थ के अनुसार इन एकमूलक भिन्नार्थी शब्दों में से कुछ का पुनर्बिभाजन हो गया है।

क वाले अनेक शब्दों की अटलता और अभिव्यक्ति की दृष्टि से भारतीय ने वास्तविक माया में उनका बंधे हुए रूपों को बनाये रखा है। अन्वेष में उसकी अस्पष्टिक दुर्बलता हीनी की अपेक्षा बोली की कसौटी कम है उसमें उनकी विशेषता या उभरा प्रयोग दृष्टिपोषक होता है स्वयं कसौटीकक संस्कृत में उनकी सापेक्षिक दुर्बलता ब्राह्मण परंपरा की शक्ति का प्रतीक है। इससे उस क्रम की गणना करना समझ हो जाता है जिससे व्याकरण की परंपरा पतपत्र ब्राह्मण III, २ १ ३३ की एक कथा क मंतगत रखती है शब्दोच्चारण करने से संबंधित पर्याप्त असुर पिप्पला उठे थे हेमयो हेळ्यु (ओ) जिसके दूसरे रूप हैं हेलो हेळ (ओ) पतंबलि न हेमयो हेळ्यु (ओ) रूप दिमा है जो हेरेय का बर्बर रूप होना चाहिए। इससे कसौटीकक नाटकों की मागधी प्राकृत के प्रयोग पर भी कुछ प्रकाश पड़ सकता है जो निम्न श्रुती और हास्यास्पद व्यक्तियों के सिद्धे प्रयुक्त होती थी।

यह प्राकृत निदान्त कल्पित नहीं रही और कम-से-कम एक भूमि-भाग और एक युग में एक ऐसी बोली के रूप में रही है जिसमें न केवल स का अस्तित्व रहा बरन् जिसमें परिचयी और ईपानी बोलियों के विपरीत रू भी मिश्रता है। केवल इसके प्रमाण है रामपद के सुतनुक-शक सोहूपीर (गोरखपुर) के पत्रक में केवल स है विरोपठ बघोर के उन अभिलेखों में जो गया की घाटी और उड़ीसा की तरफ निकले हैं नियमित रूप से स है। इस भूमि भाग के परिचयी सीमांत पर, बैरट (बैरट?) के अत्र्युत अभिलेख में शारि और स्वर-मध्यम क् मिश्रता है (सत्र चित्त गारुये, विहास्र्तं) और यह अस्य अस्म्य किय गये संयुक्तों के उदाहरण में मिश्रता है (असहामि सं० अहामि पत्नियामि), किन्तु संयुक्त रूप में रू किसी शक्य रूप में परिवर्त नहीं होता सर्व प्रियवसि अभिप्रेतं प्रसारे [उपविषपयिने (-अस्त) एक ऐसा उदाहरण है जो साबुणोवाक और अक्षियवसामि की शक्ति है यही अभिलेख है जिसमें विभिन्न पूर्वकालिक वृद्धत अभिवादेतुना मिश्रता है बैरट (बैरट?) के दूसरे अभिलेख में जो परती बोयथा-मत्र का उदाहरण है, वाक्येतेमे है, किन्तु देवर्नपिये भी है]। दक्षिणी सीमा पर सांची में चिक- (चिर) और सुबमिके (सूर्य- से उत्तरघ) रूप हैं रूपनाथ में ये दोनों अक्षर मिश्रते हैं, किन्तु बिना किसी प्रत्यक्ष सिद्धान्त के।

यदि यह बात स्वयं मागधी प्राकृत नाम से स्पष्ट और प्रमाणित है कि इस विभिन्न क वाली बोलियों का कन्द्र बनारस और पटना का भूमिभाग ही होना चाहिए, तो प्चनि-बोली के साम्प्रतिक विस्तार और उसकी तिथि की गणना करना कठिन है। अन्वेष में शक्ति और विशेषण अद्यतन- (साहित्यिक शक्ति) के विपरीत बघोर का एक उदाहरण मिश्रता है, और सौमन्- के दो उदाहरण बाद की एक शब्दा में जिसका

सामान्य रूप है रोमन् [तुङ्ग० भावर्तेडिय रपेम्ने (ruanne) र्वाग्नी (ruanne)] । ये रूप तथा अन्य जो प्राचीन पाठों में मिलते हैं, उदा० वा० सं० बभ्रुया ऋ० बभ्रु [तुङ्ग० गे० भ्रुते (*भ्रुक-) जो सं० यस्क्रु- से बने भाभ्रु के निकट है], बभ्रवं० मिस् ऋ० रिस् (तुङ्ग० रिस् ग्री० ऐरेइकी) एक कठिन समझा प्रस्तुत करते हैं। क्या यह स्वीकार करना आवश्यक है कि अन्य बातों की भाँति इस बात के संबंध में 'पूर्वी' मध्यकालीन भारतीय भाषा का परिवर्तन जो उसकी विशेषता है, अत्यन्त प्राचीन है और सर्वप्रथम प्रमाणी के समय का है? अबका यह स्वीकार करना आवश्यक है कि नाटोपीय में एक अस्थिरता का बिड़क मिलता है जिसकी ओर अनेक बार संकेत किया जा चुका है और जो निस्संदेह अर्ध० अम्पति पु० एक सुपिति, ली० सुम्पि सं० सुम्पति ली० रम्को और परिवर्तन-कर्म की दृष्टि से पूर्व उक्त मिलति बर्नात् पु० एरु और पु० एरु- (वे० अन्य के अतिरिक्त मेइए, Ana. Acad. Sc. Fennicae, XXVIII, पु० १५७) की गचना करती है? वास्तव में प्रत्येक आधुनिक भाषा ए और क का बोध उपस्थित नहीं करती बंगाली प्राचीन ए और स् का भली भाँति भेद करती है। यही बात बिहार में है जो प्राचीन मगध के मूमिमाप में और साथ ही पूर्व और पश्चिम में दूर तक बोली जाने वाली भाषा है और ए क का स्वर-अभ्यय रूप है (टर्नर, 'केम्ब्रिज एंड आर्यो' पु० १६) देव के रूप हाठ के हैं पयलस—पु(ब) रस् १०१५ के एक इलाहाबाद के निकट के अलिसेख में है (साहूनी आर्यमोलोबीकस सं० १९२३-२४ पु० १२३) सिंधी में भी ऐसा ही भेद मिलता है।

यह पूछा जा सकता है कि क्या अलिसेखों में प्राप्त विभिन्न क का उच्चारण विभिन्न ही प्रियर्शन का यह अनुमान है कि कम-से-कम कुछ उच्चारणों में यह रूप ए का प्रतिनिधित्व करता है। यह सच है कि इसका मतलब यह हुआ कि सामान्य ए स्पष्टतः मूर्धन्य होना चाहिए, जो एक ऐसी परिभाषा है जिसकी छिपि पाश्चिमी तक जाती है और जिससे संभवतः यह भी प्रभावित हो जाता है कि परवर्ती नू पर जिसका मूर्धन्य-प्रभाव है उठना ही निवेचना का है। अनेक ध्वनि-ध्वनियों को अपने अंतर्गत लेने वाली एक सेक-मपाली की कल्पना अशोक द्वारा एक ही से अलिसेखों में प्रयुक्त ए के प्रयोग द्वारा संभव प्रतीत होने लगती है। यह सचस्या प्राकृत के नू के संबंध में भी उठती है। प्रत्येक रूप में यह नू भीप है जबकि अन्तस्व (बट्ट सं० बट्ट प्रकार) के अर्धक से वे वक्ष्य ध्वनियाँ त्रिनका मूर्धन्यीकरण हो गया हो वास्तव में अशोक के 'पूर्वी' अलिसेखों की विशेषता है।

जिस प्रकृति पर हम विचार कर रहे हैं, जो इतनी प्रमुख है कि कुछ किञ्चित् पाठों में पाई जाती है, उसने कुछ अन्य बिड़क भी छोड़े हैं। पाली में चलासीत मिलता है जो

प्राकृत एक में है, और जो संस्थावाची नामों द्वारा प्रस्तुत समस्याओं की सूची में एक समस्या और जोड़ देता है प्राचीन विधमीकरण द्वारा पा० कृद् (रीड्र) प्रा० हलहा, दक्षिद् दहसु (हरिडा दरिद्र, दर्दुर) की व्याख्या की जा सकती है अंतिम में इक्ष- (रुचिर) की प्राप्ति प्रायः मिलने वाले एक प्रत्यय का प्रभाव है पा० अस्तमित्त में भी समवत हो मूर्द्धन्य सत्त्वों (अस्तमित्त) के विधमीकरण का चिह्न विद्यमान है क्या यही बात ही पा० एभ्यश्च तद्भुव (एरश्च, तद्व) जैन कलम (कलम) में नहीं है? दूसरी ओर जैन कलम चतुर्वि के साथ चरम के विहृत प्रभाव का परिचय है अंत में इन्द्रास संस्कृत बंधार मातेनीय सभ्य, साहित्यिक अर्थालय प्र० नियास आदि की अपेक्षा अधिक छोटे रूप में मिलते हैं। इन मय रूपों में से कुछ मरठी जैसी प्राचीनता-प्रिय भाषाओं के प्रयोगों द्वारा प्रमाणित होते हैं।

तो सबभ रूप से आधुनिक भाषाएँ एक ऐसा मिश्रित रूप प्रस्तुत करती हैं जो कौटिल्य संस्कृत के लगभग निकट है।

उर्दू में स्थानीय दृष्टि से उर्दू वाले समुदाय से निकले कुछ ल मिलते हैं कबिन् की पदाई काम् भजेगल की अस्तुन म्काम् (घाम) पदाई काम् अस्तुन म्काम् (कर्म) पूर्वी पदाई स्त्रि "३" यह उन परिवर्तनों में से एक है जो इस क्षेत्र के समुदायों में जन्मी शक्त हो में उत्पन्न हुए हैं।

शब्द में व्यंजनों का विकास

१ अस्त्य व्यंजन

लिखने में और संस्कृत के श्रियाकरणों के अनुसार, प्रत्येक वाक्यांश के अंत में सभ्य का वास्तविक अन्त होता है, उसे छोड़ कर, परवर्ती सभ्य का आदि जब पूर्ववर्ती के अन्त पर निर्भर रहता है तो स्पष्ट व्यनियाँ जो चाहे अचोप हों या चोप, अनुनासिक व्यनियाँ जो चाहे उच्चरित हों या न हों सिन्-व्यनियाँ बिनाका प्रतिनिधित्व अचोप पुसपुताहट वाली व्यति द्वारा अमभा उ द्वारा हो प्रत्यक्षत पूर्वत कृप्य हो जाती है।

किन्तु वाक्यांश में शब्द के अन्त के व्यंजन का प्रयोग उसी रूप में नहीं होता बिना रूप में मध्यवर्ती व्यंजन का।

मध्यवर्ती व्यंजन या तो अचोप होता है या चोप, और उसमें केवल एक सूक्ष्म व्यंजन से पहले जाने पर ही परिवर्तन होता है स्वर्णत और स्वर से पूर्व अचोप बना

रहता है मूल यथै की भाँति। इसके विपरीत छब्ब के अन्त में परवर्ती छब्ब का आदि छब्ब है जिससे व्यञ्जन का रूप निर्धारित होता है। फलतः अमरत् तत्र किन्तु अमरत् अस्मी अमरत् न् अस्तु, शब्दों के अन्त के लिये क्रमशः परिवर्तनशील रूप हैं। बाक्यांश के अंत में अक्षरों का प्रयोग बल पड़ा है, किन्तु इस संबंध में वैवाकरण एकमत नहीं है और पाणिनि को यह पसन्द नहीं है।

एक ऐसी भाषा में जिसमें महाप्राण ध्वनिर्वा एक प्रकाली का मुख्य तथा महत्त्वपूर्ण अंग है, यह एक बात यह है कि शब्द के अन्त की महाप्राण ध्वनि बाक्यांश में बाक्यांश के अंत की भाँति अपना महाप्राणत्व खो बेठी है। अ० ५.८१ १७ कपुद् विभ्वसुमात् १०१ १२ कपुद् नर। जो अन्त्य से निकले कपुव के विच्छेद है। ठो वारवोओमी का नियम केवल छब्ब के मध्य के लिये काम आता है। अभाक २१ सामान्य अतीत विषयक जो अन्त्य के विच्छेद व(म्)ह से बना है। ५.१४ १६ विच्छेद् गायत्री। इससे अ० सुत्कार में० स मन्वत् की रचना छब्ब के अन्त में स्पर्श ध्वनि के बाद की फुलफुसाहट वाली ध्वनि के इस अंश की तुलना समुदाय के दूसरे व्यञ्जन से की जा सकती है। वास्तव में महाप्राणत्व सामान्यतः कटोर होता है, और यह देखा जाता है कि स्वर-अन्त्य महाप्राण स्पर्श ध्वनियों में, स्पर्श-भाव फुलफुसाहट वाली ध्वनि के बिना उच्चारण और ध्यान दिये हुए जा पया है।

अन्तों के समुदाय का जो शब्द के प्रारंभ और मध्य में सामान्य होते हैं, अन्त में आना असंभव है। वहाँ से प्रथम स्पर्श में परिवर्तन हो जाते हैं। अतः कर्त्ता० तुल० विकरभयुक्त अन्तर्त्- शोक अथवा शोम्, जो परवर्ती छब्ब के बाद आते हैं, और जो *अयोर्त् से निकले हैं, तुल० मुक्त जो अ० मजोरत् के विच्छेद है। शौरत् के विच्छेद *अर्त् और *अर्त् के लिये २-३ एक० अरु, पराह *परान्तैक लिये जो अ० वृत्तों के विच्छेद है, शोयत् (म्) *शोयत् के लिये जो अ० अर्त् के विच्छेद है। यह देखा जाता है कि यह विशेषता भारतीय भाषा में है और ईरानी से उसका संबंध है। यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि प्रवर्ती ध्वनियों में शब्दों को अलग-अलग करने वाला बिह्व मिथता है। जब कि भारतीय लिखावट अदृष्ट क्रम से समझार चकती रहती है।

ये सब बातें अन्त्य व्यञ्जन की विशेष दुर्बलता की ओरक हैं, वास्तव में प्राचीन वैवाकरणों ने अन्त्य स्पर्शों को 'मन्व' और 'वृत्त' कह कर लिखा की है, और फिर अन्य परवर्ती स्पर्शों के संपर्क में आदि स्पर्शों की भाँति ही अंतरंग स्फोटक कह कर।

उच्चतम मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से इस विकास ने रूप धारण किया जब कि प्राचीन स्पर्श ध्वनियों (और इससे भी अधिक फुलफुसाहट वाली ध्वनि को

प्राचीन सिन्धु-ध्वनियों और अनुनासिकों की सुस्तरता का प्रतिनिधित्व करती थी) का स्वयं अंतरंग स्फोट ही बिलकुल सुप्त हो जाता है। मध्यकालीन भारतीय भाषा में स्वर मध्य के रूप में अत्यंत महीन हैं नवीन अस्य स्वरों ने अपने को आधुनिक काल तक बनाये रखा है। इससे ध्वनों और वाक्यांशों में भी परिवर्तन हुआ है, क्योंकि ध्वनों का अन्तर्गत फिर सामान्य हो जाता है।

अस्य व्यंजन आधुनिक काल तक स्थायी बने हुए हैं किन्तु अर्धगुणित ध्वनों में अर्धोपसर्ग के बिह्वल मिलते हैं म० जाच् और जाप् (अ० जबाब) छत्तीस० सुपेल् सराप् (अ० सुप्रेद सैपच्)।

२ मध्यवर्ती व्यंजन

भारतीय-आर्य भाषा के व्यंजनों के इतिहास में ध्व्य के मध्य में दो प्रकार का परिवर्तन-क्रम प्रमुख है स्वर-मध्यियों की दुर्बलता और दूसरी ओर समुदायगत अनुस्मृता महाँ एक कि उनका पूर्ण आत्मसाठ किया जाना। दोनों परिवर्तन सम्बन्धों के बिभाजन को बहुत इतर एक अनुष्म बनाये रखते हैं।

स्वर-मध्यय

स्पर्श ध्वनियों में शोष महाप्राण ध्वनियों सब से कम उच्चरित हैं क्योंकि पूर्व इतिहास काल में ही *ह् का जो स्पर्श-आद्य या बहु भारतीय धूमि-भाग के अधिकारता में सुप्त हो गया था केवल काकिर अपवाद स्वल्प ही सं० ह्त् कती बेमीर ख० बन् ह्त्, कती बिर, अ० बरंक्-मह बाठ उस समय तक जाती रहती है जब कि शोष महाप्राण ध्वनियों अपने को स्वाभाविक दुर्बल स्थिति में पाती है अर्थात् स्वरों के बीच में। इसी कारण से वेद के समय से प्राच्य-सहि जादि है। जिस समय समस्त स्वर-मध्यय अर्धोप ध्वनियों शोष हो जाती हैं महाप्राण ध्वनियों में भी वैसे ही बटित होया है द्वितीय सताब्दी ईसवी पूर्व से पठजलि और लारनेस प्रमाण है। मधुर्य का पेरीप्लस ने ब्रिजिमबेस् (-५४-) विद्या है, ह० वुनु० के हस्त० में गद्य मय (गाथा याका) है इन नवीन शोष ध्वनियों ने शोष महाप्राण ध्वनियों के प्रकार का अनुगमन किया है और कसैसीकल श्राव्य में वे ह् हो जाती हैं।

इस विकास का लक्ष्य मूर्धन्य ध्वनियों को छोड़ कर सभी महाप्राण ध्वनियों से है और हर अमह उसके प्रमाण मिलते हैं, केवल फ्रिजिस्तोम की जियी भाषा को छोड़ कर, जिसमें-य् और-व् (४ह के फिर से अर्धोप हो जाने के कारण) से निकला स २ पर

आधारित -इ से मिल है या लुप्त हो जाता है टि० बहु० -स्(-अच) वेसू (मोचूम-)
पुस् (गुप्त) किन्तु पिन्नर (पिबति) यादि।

अन्य उच्च समूची स्वर-अध्यय स्पर्श ध्वनि की दुर्बलता की ओर संकेत करते हैं।
पुरोहित या उसकी स्त्री से संबंधित यजुर्वेद के एक मंत्र में समीपवर्ती स्वरों में ओष्ठ्य
भाव उत्पन्न करते समय इ का जोष हो जाता है ठोँठो बबबा ठोँठे राय (तब के
लिए ठोँ) मध्यकालीन भारतीय भाषा में यह एक सामान्य बात है अब के लिये
ओ बधोक्० मोठि होठि (गिरलार भवति) जदि के लिये ऐ, ए बघोक पिरलार
बैर पा घेर (स्वविर) और इसी प्रकार निरंतर रूप में -अय- -अमि के लिये ए
(-ए रूप में प्रेरणार्थक वातु)। यह क्या अय/ए और अब/ओ की समानता नहीं है जिससे
अवैदिक संस्कृति संबंध स्पष्ट होती है—ए अ -ओ अ > ए' अ' ?

श्रुतेर की केसन-प्रवाही में स्वर-अध्यय इ के लिये इ (और इ के लिये इह) देखे
ही जा चुके हैं जो इ के साथ इ से निकले समीचीनक के कुछ इ द्वारा और पाली में
निरंतर इ द्वारा प्रामाणित होते हैं। इसके विपरीत या ठो अंतरम स्फोट बाधे (डिर्बिन-)
बस-मुक्त (इच्छ) या पुनरावृत्त (विर्बिद्ध) रूप में इ बना रहता है। एक विशेष
सेखन प्रवाही द्वारा अनेक आधुनिक भाषाओं में इ (ह) का दुर्बल रूप अब भी देखा
जाता है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में अक्षर-मसग रखी गयी मूर्धन्य ध्वनियों महाप्राच
न हुई स्पर्श ध्वनियों मिलती हैं। सर्वप्रथम अक्षर ध्वनियों जोष हुई जिससे सर्वप्रथम
प्रीक भूगोल-सेखकों में पकिबोन्न (पाटमिपुत्र) और पेरीपिल मे बनिनबरेस् (पा
दकिबनापच) किर्बेरइ (किराठ) तुस० मिन्नगर (नगर) का साधारण जोष। पाली
में यह स्थिति केवल एक बहुत बड़े अक्षर में उदाह (उताहो) में और कुछ ऐसे शब्दों में
जो कम स्पष्ट हैं पायी जाती है पिबति (पिबति) निय (निब) और सुब (सुक) में
बहु अपवाद रूप में आगे बड़ी हुई दिखायी देती है किन्तु सामान्य रूप में बहु रुचि-प्रिय
है। अक्षोक भी कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं काकसी मे है हिब (हित) किस्ती
में है किमि (किमि) औमइ के (हिब) सोग से छोक- के अन्य सभी उदाहरणों का
प्रतिपाद हो जाता है क्या यह प्रम है ? सह० हेदिस धीमि हेदिस काकसी हेदिस में
पाली एदिस की भाँति जोष ध्वनियों का अक्षर जोष मिलता है *ए(दा)दिस जैसे
गिरलार में एतारिस (और एतारिस) एक विपरीतरण विपरीतरण के कारण
अनु(र)ब (अनुर्व) चानु(इ)बस तुस पाली अनुस(अनुर्व) में -इ का लयमय
पूर्व जोष हो गया मिलता है। सहवाचयदी में जो अन्य दृष्टियों से रुचिवाही है दीर्घस्वर
के बाव इ के स्थान पर ए मिलता है काबोय एय समय पाली में प्राय-इय और

-इ- प्रत्ययों का परिवर्तन उसी प्रकार क विकास का अनुमान कराता है, कंठ्य ध्वनियों का प्राथमिक तालमयीकरण कालधी में पाया जाता है बाह्यमा (बाह्य वृत्ति) पितृक्य और लोकोक्य किन्तु कलिम्य क्रमसे -य वाला रूप होना चाहिए यही बात रामयज्ञ के संबंध में है, देववाचिक्य।

बाह्य को उसी प्रकार के प्रयोग कंठ्य तालम्य और दन्त्य ध्वनियों के लिये सामान्यतः मिलते हैं, और जैन तथा आधुनिक वर्ण-विन्यास से उभरा अनुमान सवाम् या सवत्सा है सं० सठम्, प्रा० स(म्)वम्, म० सं हि० सै-क्यों और सी सं० रामा प्रा० रा(म्)व आधुनिक राह और राबो विपरीकरण के उदाहरण जिसकी ओर संकेत किया जा चुका है (पा० वीरस भाषि) और यूरोपीय जिप्सी-भाषा और शिता क न् प्रयोग एचिमाई जिप्सी-भाषा और लोबार के रू प्रयोग को छोड़ कर, इतना ही है जिसका संबंध दन्त्य ध्वनियों से है। इसी प्रकार -यू और न् से न् की उत्पत्ति होती है और, अनुनासिक न् -म् का प्रतिनिधित्व करता है (दे० आये) ऐसे सब उदाहरण शोष्मि-करण की सोझी-बहुत स्थायी गुणायस रक्त हैं।

स्पर्श ध्वनियों की भाँति स्वरों के बीच अनुनासिक ध्वनियों में भी परिवर्तन होता है। इस दृष्टि से म् से जहाँ तक संबंध है उसका आधुनिक भाषाओं में स्त्री-कीकरण हो जाता है (हि० गाओं पु० म० गाम्बु सं० घाम्-) मध्यकालीन भारतीय भाषा म भी उसके कुछ उदाहरण मिलते हैं, किन्तु के अनुनासिकों के कारण और फिर विपरीकरण के कारण हैं नम् का प्राइत में लम्बे जैन जगदवमा जो पा० अनमतमा के लिये है।

दन्त्य अनुनासिक ध्वनि मूर्द्धम्य में परिणत हो जाती है। वैदिक स्थानु आदि को देवा ही वा चुका है। पाषाणि को हर ह्रास्य में दन्त्यमाध्वन्य श्रात वा जो मामत्र से है ष्ट० मन् पन्थ के लिये पतंत्रिकि ने मत्र और सतपय ब्राह्मण ने पमास्य दिया है। पासी में ऐसे बनेक उदाहरण हैं प्राण (ब्रान) जो जानाति के विद्यत है, फेग मुण और मून सं० घनी के लिये सगिम् इन्तपान जो पवन के समीप है जन्गु-ओ जानु के समीप है, वादि। प्राइत में यह नियम है कि सब स्वर-मध्यम न् मूर्द्धम्य हो जाते हैं। कुछ पाठों में वैवाकर्यों द्वारा प्रपाणित प्रथक स्थिति के लिये इसी लेख-प्रणाभी का प्रमाण मिलता है। यह सामान्यीकरण जो उच्चारण की दृष्टि से नहीं बताया जा सकता अनुकूलन-व्युत्पत्ति के साधारण तथ्य क कारण होना चाहिए निस्संदिह न् के दो उच्चारण हैं उदाहरणार्थ जैसे मुमिध (स्वप्न मुक्क० स्वपति के लिये पा० मुपति) में म् अनुनासिक न् है और इसके अतिरिक्त एक निश्चित न् है। यह कहना शय है कि कोनबल के असोक के अभिलेख में प्राइत नियम का ही पालन हुआ है, और जो साव ही

वियमीकरण द्वारा प्रमाणित प्रतीत होता है (टर्नर, 'द्वि पवित्रम इत्यदि० औष वधोक्' पृ० ११ १२) किन्तु यह सूझा जा सकता है कि क्या इस विभिन्न उदाहरण में केवल प्रभाषी का विपर्यय तो नहीं हो गया।

हर हास्य में यही बात यह जाती है कि न् और न् का विरोध शक्तिशाली और दुर्बल का विरोध है, और जो प् अथवा न् और न्, ए अथवा न् और ष अथवा न्, न् और ष के विरोध के अनुरूप है। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि श्री टर्नर ने पुनराती न् का अनुनासिक घोष के रूप में उल्लेख किया है।

अथवा आदि न् या पुनराती रूपों स्वर-सम्बन्ध न् का विरोध ह० कुम्भ० में कुछ प्राकृत अभिनेत्रों में और काण्व पर किन्हे जैन हस्तलिखित ग्रन्थों में सामान्यतः मिलता है और यही बात वाचुनिक भाषाओं के बहुत बड़े समुदाय में मिलती है मराठी पुनराती सिन्धी पंजाबी राजस्थानी कुमायूनी स्लोक-प्रचलित हिन्दी बर्ब (जिसमें न् ए है जो बोझा-बहुत अनुनासिक है)।

कुछ मिलाकर, स्वर-सम्बन्ध दुर्बल स्वरों का एक वर्ग ही प्रदान करते हैं, जो बोझे बहुत स्थायी हैं जिनका परस्पर तीव्र विरोध रहता है, जिनके उच्चारण आदि स्वरों और वेसा कि वेसने को मिलता है प्राचीन समुदायों द्वारा मिलते हैं।

३ व्यंजन-समुदाय

मात्र में व्यंजन-समुदायों की सामान्य प्रवृत्ति तबकों को आत्मसात् कर लेने की ओर है यह न केवल वर्णों जिनका संबंध मुश्किल से है (पूर्व एक १ बँद, २ बँद अथि० एक० यदि बहु पत्तु सामान्य अतीत २ एक निश्चयार्थ शक आशार्थ० यानि आदि) किन्तु साथ ही वर्णों की जिनका संबंध उच्चारण से भी है। पहली प्रवृत्ति ईरानी में मिलती है और सामान्य आबन्धकताओं से उत्पन्न होती है इसी भारतीय-वार्थ भाषा की विशेषता है।

इस प्रकार न् आगे आने वाले ए का मूर्द्धनीकरण करता है जुष्ट (अ अस्त) जिसमें ए प्राचीन ए से निकला है अत् (अ अस्त) जिसमें ए एक प्राचीन टालम्प से निकला है तुक अर्थात् इसी प्रकार मृष्ट *बँका चिह्न रैकि किहू से केकि, जो अन् से निकले एकि के चिह्न है के मूर्द्धन् में दिखाई पड़ता है। टालम्प स्वयं अथि पूर्ववर्ती ए पर कश्चित अ० कनिष्ठा न् पर, न केवल उस समय जब कि वह पहले जाता है (पञ्च अ० पत्त) वरन् यह अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है, जब वह बाद में जाता है यत्र (अ यस्त अर जैन् स्वर्ण के दो विभिन्न प्रयोगों सहित किन्तु अनुनासिक को बराबर बनाये रखते हुए) प्रभाव छोड़ती है।

सिन्धी में वस्य ध्वनि की गड़बड़ एक ही केन्द्र-बिन्दु से उच्चरित परबर्ती अन्तस्य के साथ हो जाती है अज्ञात लॉमून ।

दो स्पर्श ध्वनियों का उदाहरण विशेषतः जास बात है। भारत में ये दो स्पर्श ध्वनियाँ प्रारंभ से ही रही हैं किन्तु प्रथम ध्वजन के स्फोट में स्पष्टता का अभाव है साथ ही अल्प अर्थ होने के कारण उत्पन्न सुबोधता की विहीनता और निश्चितता के अभाव की ओर प्रवृत्ति मिलती है साथ ही स्फोटक का उच्चारण अंतरंग स्फोट पर अतिप्रमत्त कर जाता है। इस रीति के अनुसार, भारतीय का ईरानी से स्पष्ट विरोध है। ईरानी में तो सौम्यीकरण स्पर्श ध्वनियों में से प्रथम के उच्चारण को आत्म प्रदान करता है। समुदायों में उनके दुहरे उच्चारण बने हुए हैं उदाहरणार्थ अ० बन्त फ़ा० यब्त् सं० मत्त में जो प्राकृत मत्त हि० मात् के विषय है अ० में ह्यत् फ़ा० में ह्यत् सं० में स्यत् प्रा० में सत्त हि० में घात् ।

समीकरण मध्यकालीन भारतीय भाषा की विशेषता है किन्तु अति प्राचीन काल से पुषक-पुषक् शब्द (अयोगात्मक?) इस बात के प्रमाण हैं कि दाम्य-भ्युत्पत्ति-शास्त्र और आकृति-विचार-शास्त्र से प्रभावित लिखित परंपरा की अपेक्षा उनका अधिक प्रचार हो गया था उच् से उच्चा तुक्० अ० उत्पं बुक्कों तुल० अ० बर्त्तक- *मब्त् तुल० मब्यु के सिधे मब्बति । इससे यह जान कर आश्चर्य न होगा कि एक ग्रीक परंपरा जो ३०० ईसवी पूर्व के लगभग की है मध्यकालीन भारतीय भाषा के लिखित प्रमाणों से पूर्व की सम्राट् चन्द्रगुप्त का नाम इस रूप में प्रदान करती है चन्द्रकोतोस् ।

दो दोनों स्पर्श ध्वनियों के संबंध में यह तथ्य सर्वव्यापी और प्राचीन है जब समुदाय में केवल वास्तविक स्पर्श ध्वनि आती है, तो अन्य तरब के सिन्-ध्वनि या स्वर्गत होने के कारण भीड़ें बड़े पुरुष रूप में सामने आती हैं।

१ सिन्-ध्वनि—ईरानी में सू अपने को आवि में और स्वर-मध्यग में ही विवृत नहीं करता वरन् स्वर्गत हो जाता है (अ० अह्मि पु० अ० अमिय् सं० अस्मि, अ० हबद्दरम् फ़ा० हबाद् सं० सहसम्) किन्तु वह स्पर्श ध्वनि पु० अ० अस्मि, अ० अस्त् (अस्ति), अ० पस्काठ पस्त् (पस्चात्), और साथ ही बोध अ व्दी एभि मब्गम् फ़ा० मब्त् (मब्गति) अस्नात् (-अगत से तुल० नब्त्स्यो) और अकार ध्वनियों बहिस्त फ़ा० बिहिस्त (बसिष्ठ-) अस्त अ० हस्त (अष्टा) मीर्त्त-अ० मुन्द् (मीर्त्त) से पूर्व रहता है।

संस्कृत में सू फ़ोरे है, यहाँ तक कि यदि आकृति-विचार-शास्त्र की दृष्टि से सहायता प्राप्त हो तो वह असाधारण रूप में स्पर्श हो सकता है अथर्व० अभात्सी जो व्त् से है माद्भिः, उपद्भिः जो माद् उपस्-से हैं। मध्यकालीन भारतीय भाषा में

जाति और स्वर-मध्यग स् बने रहते हैं और इसी प्रकार सामान्यतः आधुनिक भारतीय भाषाओं में। किन्तु स्पर्श ध्वनियों के साथ मध्यकालीन भारतीय भाषा में उसका प्रयोग समान नहीं है।

पाषी और कर्षीकक प्राकृत में छिन्-ध्वनि का ठीक-ठीक उच्चारण लुप्त हो जाता है जैसा कि दो व्यंजनों के समुदाय में दुर्बल व्यंजन अथवा स्पर्श के साथ का स्वगत बहुकेसक फूसफूसाहट वाली ध्वनि रह जाती है, जो जैसा कि महाप्राग ध्वनियों से पूर्व भाषा में स्वामाबिक है स्पर्श ध्वनि के बाद आती है, ठीक वैसे ही यदि मूळ छिन्-ध्वनि उच्चारित स्पर्श ध्वनि से पहले आती फलतः शुक्ल- (शुक्ल-) जो पक्ष (पक्ष) की भाँति है हृत्प (हृत्प) अट्ठ (अट्ठ) बप्प- (बाष्प) जो बर- या क्क- (रक्क-) अक्कप (अक्कपस्-) और प्रानेतिहासिक दृष्टि से भी प्रत्यय -अ- अर्थात् जो *स्के- से है, की भाँति है।

अथोक० में हर अपह प(च्)छा (पश्चाद्) मिलता है और उदाहरणार्थ प(क)कि (पकिन्) जो प्रमुक्त हैं किन्तु स् का प्रयोग सर्वत्र एक-सा नहीं है। गिरनार और राहबाबपड़ी में पाषी की भाँति संम्बि(स्)ठ (-क्षिप्) है किन्तु कम् (कम् पाषी कम् पाषी में विद्येय्य कमा भी है जो विद्वत् रूप में सामान्य है) और छम् (छम् पाषी कम्) गिरनार में छु(स्)रक- (भूर) है किन्तु राहबाबपड़ी में भूर और काकसी में कु(स्)र है अंत में काकसी में छम् है, किन्तु कम् भी।

स् वर्ग (और स् विभमें योग उपस्थित होना स्वाभाविक है) में राहबाबपड़ी और गिरनार में अस्ति मास्ति हस्ति समुदाय (और गिरनार विस्तृत ग्रह० विस्तिठ) की दृष्टि से साम्य है, जो काकसी के अ(स्)वि न(स्)वि इ(स्)वि समुदाय विठ्ठ- के विठ्ठ है उससे राह का ग्रह(स्)प है जो गिरनार भरस्त (तुक् सं० गृहस्व) के विपरीत काकसी ग्रह(स्)प के साथ आता है पूर्वी प्रमात्र के अंतर्गत प्रतीत होता है किन्तु गिरनार और (स्वविर) अथवा इ(स्)पी (स्त्री) जो काकसी के समान है और फिर राहबाबपड़ी के इसी और सियक के बारे में क्या कहा जाय ? दूसरी ओर, भरस्त विभमें पहले महाप्राग द्वारा दूसरे महाप्राग का विपमीकरण कठिनाई से स्वीकार किया जा सकता है इस बात का सम्येह उत्पन्न करता है कि स् अनुकेसन फूसफूसाहट वाली ध्वनि प्रकट करने के सिमे यथेष्ट है फलतः उच्चारण की अनुमेजन-पद्धति देर से हुई। इस सम्येह की दृष्टि मूर्धन्य समुदायों की तुलना से होती है, विभमें गिरनार में सेस्ट (सेष्ट-) विस्तमूतो विस्टेय (विष्ट्-) अविष्टाम (अविष्टान) और स्थिठ-(स्थिठ) में महाप्रागत्व-विहीन है बेलिए उस्ताम (तुक् सं०

उत्था) जो दृह० से (ट)ठ कासयी से (ट्)ठ दाह० ति(त्)ये सह० चिर(त्) चित्तिक-, धीकि चित्त(ट्)ठिर्तीक- के विरुद्ध पूर्ववर्ती रूपों (तुल० प्रा० ठाह और आवि द्- के समस्त आधुनिक रूप) के प्रभावान्तर्गत है। इस रूप में या अन्य रूप में मह स्वीकार करना आवश्यक है कि परिचयी बोलियाँ अधिक रुढ़ि-प्रिय थीं।

यदि असोक ने प्राचीन ठीक उत्तर-पश्चिम में चिन्-ध्वनियों (यू से पहले यह स्वयं संबंध० एक० -अस्स किन्तु मविष्य० इत्यति) का भेद बनाये रखा तो यह कोई संयोग नहीं है, और न यह कोई संयोग है यदि स्वयं गिरनार में दू का इधर कोप जो आने से अनुसृष्टि (मिकेडसन जे० ए० ओ० एच० XXXI, २३७) के मूर्द्धम्य की समस्या हल हो जाती है और जोमुह का भी प् सृष्ट हो जाता है। उत्तर-पश्चिम सीमा की बोलियाँ आज भी बनी हुई हैं और चिन्-ध्वनि का और शकार-ध्वनि का भेद बना हुआ है, और समुदाय में चिन्-ध्वनि के जोड़-बहुत स्पष्ट चिह्न सुरक्षित हैं सं० शुष्क (पा० प्रा सुक्य हि० सूजा चिहमी सिक्नु)के प्रतिनिधि हैं कर्० ह्रीस्^३ घिना सूनु जिप्पी-भापा सुंको किन्तु अस्कृत बाईं संभवत ए० बस है। दन्त्य या मूर्द्धम्य से पहले मिळता है घिना ह्स् कर्० जय किन्तु जिप्पी-भापा बस् जोबार होस्, पघई हास्, हास् (हस्त) और कर्० ह्स्^४ (हस्तान्) कर्० झेंठ किन्तु जोबार ओनेट्, पघई अस्त् घिना अप् (अष्ट) घिना पिट्, कर्० पेद् क्ती पृटि किन्तु जिप्पी भापा पिनेट अस्कृत प्रिटि कलाघ पिरेटो (पृष्ठ-) चिन्-ध्वनि घिना बप् अस्कृत बम् (बाप्य) में स्पष्टत ओष्प पर छापी हुई है कर्० बस् (बृहस्पति) कर्० पोसे, क्ती पिम् (पुष्प) यह प्रयोग ह० दुनु० में तो मिळता ही है पुप तुस पोपपुरिज पेराबर का रहने बाक-जो अर (Ara) के अमिजेस में है। कर्प से पहले भी ऐसा ही मिळता है कर्० मास्करी से बों सि।

२ स्वतन्त्र—स्पर्श ध्वनि और स्वतन्त्र के संपर्क से जो समस्या उत्पन्न होती है उसका समाधान दो प्रकार से हो सकता है। या तो स्वतन्त्र के घोप कंपनों के एक जस से स्वर-शरब अपने को मुक्त कर लेता है जो जोड़ा-बहुत बजाठ होता है और एक नया स्वर प्रदान करने की शक्ति रखता है या वैसा कि दो स्पर्श ध्वनियों के संबंध में देखा जाता है, जगमें समीकरण उत्पन्न हो जाता है व्यंजन का उच्चारण या तो सुरक्षित रहता है या उसे अनुकूल बना लिया जाता है उदाहरणार्थ द्>द्व, क्द द्द>द्व, प्द इव>द्व द्द।

पहली रीति संस्कृत की नवीनता नहीं है। भारतीय में ही व्यंजन के बाद जाने वाला स्वतन्त्र व्यंजन-पक्ष के अंतर्गत स्वतन्त्र से संबंधित स्वर-शरब द्वारा प्रतिनिधित्व

प्राप्त करता है। सं० पुरः शी० परोस् ष्(इ)या शी० विजोस्, संबंध० भुम्-र्भ शी० ओहुरुओस्। भारत-ईरानी में म् और ष् वाले विविध रूप मिलते हैं, वैदिक में तो विशेष रूप से बहुत हैं और यदि अनुलेखन-व्यक्ति की अपेक्षा छन्द की दृष्टि से गणना की जाय तो।

पु० प्र० मरुतिय अ० मस्य विजहात्पत्मक सं० मरुत्(इ)य-है, किन्तु पु० प्र० हृषिय (जिसमें म् स् के साथ सम्पर्क प्रमाणित करता है) अ हृष्य सं० सत्य-है, प्रस्तुत उदाहरण की भाँति अनेक उदाहरणों में पुर्नविभाजन समुदाय से पूर्व आने वाले ध्वन्याद्य के मुख्य पर निर्भर रहता है उदाहरणार्थ यह प्रकृति म्(इ)य प्रत्यय के दो रूपों के संबंध में दृष्टिमोचर होती है। शेष स्वयं वैदिक में जिसमें स्वर्धता सबसे अधिक प्रहण की गयी है, वह सीमित है -स्व (१ उदाहरण को छोड़ कर) में संबंध० एक० के प्रत्यय में -त्वा में अन्त होना वाले क्रियामूलकः विधेय्य में भी सबसे अधिक अत्य (अ० अस्व-) चत्वार (अ० चत्वारो) त्यज गपु० (अ इध्वेर्भो ह्यसत्पत्मक) स्वप्न (अ० स्^वअप्न) की भाँति अत्य-अत्य धब्बों के समुदायों में प्रचलन कभी नहीं हुआ। और मध्यकालीन भारतीय भाषा इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती है कि प्रत्ययों में स्वर्धों का अस्तित्व संभव है अर्थात्० शीतिक क(इ)तविय जो घिना क(इ)त(इ)व के विरुद्ध पड़ता है, तुल० पाली कत्तम्म [मिरमार में तो वही प्राचीन समुदाय मिलता है क(इ)तम्म] कर्मभाव्य जिसका पाली प्रकार है पुञ्ज-व्यति तुल० सं० पुञ्ज्यते रूप स्पष्टतः सुरक्षित रखने की इस स्वर्धता का एक प्रयोग है जो वही प्रकार है जिस प्रकार वैदिक स्तुब्-भक्ति स्फुट शब्दों में सामान्य नियम समीकरण का है अथोक० और वा सच्च (सत्य), अथोक० काकशी च(इ)तामि (किन्तु मुसरता के समीकरण सहित मिरमार चत्वारो अन्तस्व ष् का तुरंत स्पर्श ही आने से किन्तु उच्चारण का साक्ष्य नहीं होता) पा० चत्वारि यही बात पा० चजति (त्यत्) के आदि के संबंध में है जिया हिय्यो की गणना क्या इह के अनुस्य वैदिक धब्बों की भाँति की जाती है ऐसा ही अन्य भाषाओं से निकले आधुनिक शब्दों में मिलता है (उदाहरणार्थ मैवासी शिउरि, हिओ) जो निस्संदिग्ध रूपक्यता के समान ही स्पष्टता के कारण संभव हो सका है।

स्वगत के अन्य उदाहरणों में वैदिक और मध्यकालीन भारतीय छन्द यह प्रकट करते हैं कि आगम इतना अधिक होता था कि किञ्चित् समय उसका प्रयोग होता ही नहीं। ईरानी में पु० प्र० हुक[सं० भुव अ० इ(उ)व] जैसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। किन्तु इ से संबन्धित अत्यन्त उदाहरण वेद में मिलते हैं इन्द्, पिद् रों, चाप ही एतत् धिन्-धनि से पूर्व द्रष्टव्य अनुनासिक सहित बज्ज। इससे यह स्पष्ट

हो जाता है कि प्री० एरप्रोस् का प्रतिस्व अचर्ब० दधिर हो सकता है तथा यदि स्वर का मात्रा-काळ मुख्य तुक्० पा० पुरिस पास में परिवर्तनीय हो सकता है प्राचीन रूप पूर्वें इटैलिक *परुसो- से० परि-सिब के अनुस्व है -उर- उरि वाले रूप उची प्रगासी पर आधारित है और पित्रो के आभित पित्रो जैसे दन्त्यों का प्राचीन 'मुख्य' बनाये रहते हैं। स्वरो के वितरण में इस स्वतन्त्रता ने अन्तु और अन्त जो अन्तिमन् के निकट है, इन्मसि भी जो इन्मसि के निकट है विकरण के निर्माण की सफलता संबंधी एक छोड़ कर एक के बाद रहने वाली ध्य की प्रकृति को विपर्यन्त रूप में उत्पन्न होने में सहायता पहुँचाई है।

कर्मसीकस संस्कृत में दू वाले उदाहरण बहुत कम हैं, यदि कम-से-कम कोषों द्वारा प्रवत अन्धिर जैसे उदाहरणों की गणना न की जाय अचर्ब० का दधिर से वा० दहर (वै० दह) महाकाव्य मतारथ (*मनो-दूब-) अन्धिर (अन्ध) और मिच्छते हैं। किन्तु प्रकृति सबक रही है और बाह्य से छिपे गये धर्मों में बहु अक्ष भी पुष्टिगोचर होती है।

रमन् के बिरद पाली में तुमो तुमस्य हैं जो सिहली तुमह (Ep. Zcyl. I, पृ० ७३) और घिना ठोमूं द्वारा विवक्षित हो जाते हैं जब कि विप्ती-भापा पेस भारमन् की प्रकृति ध्वनि के साथ साम्य रखता है प्रा० अप्प हि० आप् यादि। सं० प्राप्पोति का प्रतिनिधि गिरमार में प्राप्पुनाति पाली में पाप्पुनाति ह० दुनु० संभावक प्रकार (आन्तर्य०) में पम्पुनि (*पामुने) है इन रूपों की पुष्टि ने० आवि के पाब् पु० पाम् सिहली पूर्वम् द्वारा होती है पाली पप्पोति का कोई रूप शेष नहीं है।

संस्कृत राजा का संबंध० राज है, किन्तु पाली में राजिना अक्षोक० में दू(अ) जिने भाजिने है प्राकृत में पा और अक्षोक० गिर० अह० रक्षो प्रा० रणा क निकट रहने हैं वास्तव में संज्ञा-रूप विकरण-मुक्त रूप हो जाने के कारण उसमें विस्तृष्ट नहीं रह जाता केवल नेपाली भाषि के राजि में ही राजी का रूप शेष है।

स्वर्गत समुदायों का समीकरण एकत्र नहीं हो जाता, तुक्० प्री० अन्तबोत्तोस् त्रिसका पहले उल्लेख हो चुका है जिसमें द्वितीय समुदाय पर, और अक्षोक० की परिचयी संज्ञक प्रगासी पर प्रथम समुदाय बाब का है। किन्तु बहु बनने बहुत पहले ही छपा या कम-से-कम दू वाले समुदायों से उसका अनुमान काम्या जा सकता है जिनमें अत्यन्त प्राचीन वैयाकरणों ने स्पर्ध का सापेक्षिक महत्त्व देखा है पुत्र छंद में स्वीकृत स्वामी उच्चारण है पाणिनि ने उसे वैकल्पिक माना है, किन्तु हीन प्रयोग में बहु अक्षमक है प्रथम दन्तोंस कबल बौद्ध संस्कृत में नियमित रूप से ह्रस्व मिलता है, उत्पत्त्यात् एक ऐसे युग में जब कि समुदाय वास्तव में कठिनाई स मिलता है।

सामान्य नियम यह है कि प्रत्येक परिस्थिति में स्पर्ध ध्वनि प्रधान रहती है सर्व

से पा० सप्प उर्र से उइ आम्(ब्)र से अम्ब शुक्ल-और शुक्ल-से शुक्ल- पाप् से उट्ट- अम्ब से सक्क उप्पते के मिय बुक्कति अम्बन् से अइ मम् से मग्ग आदि। किन्तु इस स्पर्श ध्वनि का उच्चारण स्वर्गत के साथ अनुकूलता प्राप्त कर सकता है इस प्रकार पा० सप्प (सत्प) मग्ग (मम्प) में दस्य ध्वनियाँ लक्ष्य हो जाती है।

ये अनुकूलताएँ समान रूप से नहीं मिलतीं।

इत्थ +ब् बाड़े समुदाय से इत्थ या ओत्थ मिलता है, जो उपासीन नहीं व नियमित रूप में होता है। गिरनार के अशोक-अभिषेखों में क्रिया-भूकक विशेष्य के रूप -त्वा (-त्वा) चत्पारो (चत्वारः) इवारस (इवारस) में मिलते हैं और वाससी में च(त्)वादि (चत्वारि) मिलता है और इवारस सुरक्षित मिलता है। पासी में चत्पारो है और कर्म तम् (त्वम्) है किन्तु वारस भी है और दूसरी ओर क्रियामुक्त विशेष्य के रूप में इ(त्)के और -त्वा रूप सुरक्षित मिलते हैं उद्यम इवार भी उस समय मिलता है जब कि टोसेमी ने नगर का नाम बरके (वारका) दिया है किन्तु उसमें बीप-(दीप) मिलता है जो अशोक० (अंबुदीप) टोसेमी (इवदिओठ) और प्राकृत के साथ साम्य रखता है। इस अंतिम शब्द में ओत्थ के अस्तित्व ने निस्संदेह उसके प्रति अनुकूलता प्रकट की है किन्तु अन्य प्रयोग कम-से-कम अस्वामी रूप से दृष्टिगोचर नहीं होते। उपाहरचार्य सं० अर्थ के लिये पासी में उइ है जो कौसीक प्राकृत की ओर भी मुका हुआ प्रतीत होता है एक असामी अर्थ जैन प्राकृत में उम्भ (एक० पा० उम्भ-उम्भ-) है जिसकी पुष्टि उमा सि उमो पं० उम्, बंगाली उदि द्वारा होती है साथ ही उसमें उइ भी है जिसकी पुष्टि सिहली उइ से और संभवतः सिहल से बहुत दूर, पसई उइे कर० उओइ से होती है। प्रत्येक शब्द का अपना इतिहास है इतिहास जिस पर प्रकाश नहीं पड़ा प्रमुख बात यह है कि माध्यकासीन भारतीय भाषा के प्रारंभ में ही विविधता मिलने लगी है।

ए +म् के सिद्धे पासी में आश्चर्यजनक रूप में अत्त है और साथ ही अशोक में पूर्व और उत्तर में है किन्तु गिरनार में आत्प है, जो उस विकास का प्रथम चिह्न है जो प्रा आत्प रूप धारण कर लेता है जो महाराष्ट्री में अत्यधिक प्रचलित है और जो नाटक में पहले रूप के साथ परिवर्तनीय है अत्पा विशेष्य कर्ता० है किन्तु बंगाली में आपत् है जो सिद्ध रूप पर आधारित है और आप् रूप जबमग सर्व-प्रचलित है (सिहली अत् को छोड़ कर उत्तर-पश्चिम में तम् बाड़े रूपों का मूळ ईरानी है जिना तोमूँ)। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि प्रत्यय-त्वा -त्वन से -त्प प्पम (हिन्दी -त्वा -त्प आदि) रूप धारण पहले ही से केवल गिरनार (महत्पा) में

मिलते हैं और पासी की भाँति प्राकृत भी केवल -त्, -त्तन स्वीकार करती है, यहाँ सामान्यतः उच्चारण क्रिये जाने का संदेह किया जा सकता है।

इत्थ + र् के समूह के लिये पुनर्बिभाजन उल्टा भौगोलिक दृष्टि से है। अशोक के अभिलेखों में 'तीन' के लिये सहजाबगड़ी में त्रयो है गिरनार में भी तिरह् Mana में त्रेडह है, गिरनार में त्रैदस किन्तु इसके अतिरिक्त त्रिन्नि तेषस रूप मिलते हैं दिनके साथ पासी तयो तीन्नि तेषस का साम्य है साथ ही मिलते हैं घह० और पिर० पराकम्- [गिर० में परा(क)कम् भी] ओ काष्ठी भादि के पस(क)कम् सेमिप्र है घह० अग्र किन्तु गिर० अ(य)ग । अबका परिपत्ती वास्मियों में र् वाले समुदाय थोड़े-बहुत सुरक्षित हैं कती गृद् याम् अश्नुन म्नाम् जिससे मयाँ एाम् (ग्रामा) निकला है कती वृद् अं पित् र् पघई काई (भाठा) कती पुद् पघई पुँसे सिना पूर् (पुत्र), अश्नुन त्रापु, जोवार श्रोत्र, सिना जष (द्राक्षा) खावार श्रोत्रुम् (शी० इँडिम) है ओ हि० वाम् से मिप्र है। जिप्ती भाया म केवल इत्थ और ओप्य्य वाले (समुदाय) संयुक्त रूप हैं फस (भाई) त्रिन् (रत जो *र्यद् का वयिम रूप है और रात्री से है) त्रिन् (हि० नीम् सं० निश) इत् किन्तु गम्। सिपी में मूर्त्तय्य हुए कवस इत्थ संयुक्त हैं ट्रे (तीन) पुँ इत् अं निग्द् इत् किन्तु पक्त् (कम्) अयि (अग्र-) भाई भादि।

अन्य र्,ओ पूर्ववर्ती व्यंजन को द्वित्वयुक्त व्यंजन की भाँति बना देने में सहायक होता है अपने को पूर्ववर्ती व्यंजन के साथ मिला देने की संभावना प्रकट करता है दीर्घ >*नीर्ब कती वृद् सि० त्रिपो(न कि *त्रिहो) कलाघ त्रीग सिना त्रिगु तात्र कद० वाम् सि० वामो पु० गुज० त त्रिबु तुल० कती में ही त्रूष (तत्र)।

यदि दूसरी ओर व्यंजन से पूब र् की समस्या पर विचार किया जाय, तो यह ज्ञात हो जायगा कि एक ही शेष में र् आदि व्यंजन के साथ भी सम्बन्ध हो जाने की प्रवृत्ति प्रशङ्कित करता है किन्तु ऐसा बहुत कम होता है कलाघ प्योन् ओम् तुल० सिना ओम् पघई श्नाम् इसी प्रकार अशोक० में कम् म् पू(क)क प्रन मिलते हैं किन्तु कीर्ति के लिये विट् वयं के लिये अग्र प्रकारों के अस्तिरब से निर्दिष्ट निष्कर्ष तक पहुँचने में रुकावट पड़ती है।

इन दुर्लभ किन्तु भारी भाँति स्थानीय बातों को ध्यान रख देने पर, मध्यकाशीन राष्ट्रीय भाषा और लघ्वे राष्ट्रीय भाषाओं में अब भी र् इत्थ की संभावना रख जाती है वास्तव में परिणाम होता है कमी इत्थ कभी मूर्त्तय्य।

अशोक के अभिलेखों में ऐसा प्रतीत होता है कि गिरनार वाले अभिलेख की

प्रकृति बन्ध की ओर है [अ(र)ब अनुब(र)र क(र)त(र)ब ब(र)र-
की(र)ति] और पूर्वी अभिलेखों की प्रकृति मूर्धन्य की ओर है [कि(ट)टी बह
दिय(र)ड] किन्तु बौद्धों में अ(र)ब क(र)टदिय- और क(र)तदिय मिलते
हैं काछसी अनुबट् और अनुबत् उत्तर-पश्चिम में अत्र बत्र बिल्ल मिलते हैं, किन्तु
किट्टि भी मिलता है और अन्त में घह० अनुबत् ।

अस्तु, न तो एकठा से न बोधी हाप और न घब्ध हाप निश्चित लिप्यर्थ निकलता
है। इसी प्रकार पासी में बककबती है, वैन प्राकृत में बककबटी। पासी में बत्त बहुत
आता है किन्तु अट्ट भी प्रचलित है बिषयतः सामासिक रूपों में दोनों समीपवर्ती
रूप एक संवाच में मिलते हैं, वृषप प्रसन्न में पहका स्वामी को बिये गये उत्तर में
इसके विपरीत अह्द की बनेआ अह्द कम मिलता है, संभवतः संस्कृत से निकले रूपों
अह्द और अह्वन् क कारण उसका प्रयोग कम होता गया हो। पासी में किमामूठक
रूपों में सबैव किति बत्त कतम्ब और बह्म मिलते हैं किन्तु सावही बह्द और
बुह्द- बह्द बुह्द और बुह्द जो बहुत कम प्रयुक्त हुआ है इसी ओर बह्दकि-
(बह्दक-) है अन्त में बह्द सं० बह्द यह संभवतः भावि रू के कारण निरोधात्मक
विपरीकरण के फलस्वरूप उसका बन्ध रूप होना चाहिए। तो बोलों प्रयोग प्राचीन है
आधुनिक विभाजन वृहत् है और सम्भावनी पर निर्भर है, केवल सिमी को छोड़ कर,
जिसमें श्री टर्नर के मतानुसार, केवल रू + ब् से मूर्धन्य होता है, रू + रू व्, ब् से बन्ध।
उगसे मिले शब्द के किये प्रत्येक भाषा में समानता नहीं मिलती। सर्वत्र के किये मरछी
में पाडब् तथा गम्हा है, और सिंहली में ब्हुंहुं वु तथा वहुवु है।

इसी प्रकार अनुनासिक के बाह्र आने बाधी स्पर्श ध्वनि के भी अनेक प्रयोग हैं।
यदि अत्यधिक बेबेगये तर्प्यों पर विचार किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि विभाजन
भौगोलिक आधार किये हुए है। ह० हुनु की बोली में विशेषतः अधिक अनुनासिकता
ने (तुळ० पमुणि पा० पापुने सं० प्राप्नुयात् ममो पा नावम् बहमबो सं वत
बन्त ब् के अनुनासिक रूप से ऐसा हुआ है तुळ विपर्यस्त अनुलेखन-पद्धति पुषविब
सं पुष्यम् इव) एक तो अनुनासिक के बाह्र आने वाले कठोर को मुखरत्व प्रदान करने
में प्रोत्साहन दिया पग (पङ्क) पज (पञ्च) सज (सम्पन्न) प्रबसहि (-संसति)
वे० इसके बाह्र इसकी पुष्टि एक पुष्यवाचक नाम हाप होती है प्री० छम्बाह
टोकेमी (छम्पाक-)।

इसरी ओर उगने भोय स्पर्श ध्वनि को (कंठ्य ध्वनियों को छोड़ कर) आर मछत्
कर लेने के किये प्रोत्साहन दिया है तुनहि (तुन्) उनुमर (उनुम्बर) बन्हन-
(बन्धन) गम्हिर (गम्भीर) पमिब (पच्छिब)।

ये दोनों विशेषताएँ आज सिन्धी, सहंदा और पञ्जाबी में अविरल रूप में और एवं तथा जिप्सी-भाषा में स्पष्ट रूप में मिलती हैं

१ अनुनासिक + अघोष

सि० पञ्जाह (पञ्चासद्) जो हि० पञ्चास् से मिल्न है वर० पञ्चाह्, किन्तु पञ्चह

सि० कषा सि० कषो कर० कोण्ड^{वै}, यूरोपीय जिप्सी-भाषा क्गुरो नूरी कम् ने० काँदो यह विकास सिना कोण्ड (कषट) तक में पसता है

सि० पम्बु, पं० पम्बु, नूरी पम्बु सिना पीने पछई जोबार पन् (पम्पन्)

पं० ने० हित्त्तु कर० बन्द, यूरोपीय जिप्सी-भाषा इवेत्तु, पछई येमन् सिना योर्ने जोबार योमुन् (हेमन्त),

३ बहु० के प्रत्यय सि -अनि पं० -अन् नूरी -अन्, यूरोपीय जिप्सी-भाषा -एन् (-अन्ति),

सि० पं० कम्ब, ने० काम् कर० कम (कम्प),

सि० सङ्कर, पं० सङ्कर ने० सांगको तथा साग्सो सिना सङ्काई किन्तु कर० होंकम् मु० म० साकह (शुबला)

सि० बम्बु, पं० बम्बु (बंघ), सि० हुम्बु, पं० अम्बु (अम्बु) सि० कम्बु (ह्)ओ (कास्व) सि० हुम्बु, कर० संम्ब^{वै}, स्त्री० अन्त्रिम् (हंघ) ।

२ अनुनासिक + घोष

सि० कामो पं० कात्रा कर० काम् सिना कोन् (काषट)

सि० पं० कर० पुम्बु (बुम्ब) सिन्धी को जोड़ कर स्पर्श ध्वनि इस लक्ष में हर अपह अपना छोप कर लेती है

पं० बन्गह, कर० बॉम्^{वै} सिना ब्जॉम् नूरी -अनि (बम्बु) कूम् बान् जिसमें 'बौ' का अर्थ प्रारंभी में बम्बु हो जाता है और जिससे यह प्रकट होता है कि यह प्रकृति सर्वत्र रहती है ।

तो भी यह सोचना उचित होगा कि यह प्रकृति पश्चिमी भूमि-भाग में ही मिलती है । माकवा (बह भूमिभाग जिसमें गौतरीय के स्थान पर मोनारीय रूप मिलता है) के निवासी बीयाकरन पतञ्जलि (ईसवी-पूर्व दूसरी शताब्दी) के नाम को अति प्राचीन और स्पष्ट महत्त्वपूर्ण नाम पतञ्जल से जन्म करना कठिन है (प्रिन्सिपल्स बी एस० एच० XXXIII, पृ० ११) स्वयं पतञ्जलि ने, उसे स्वामीय कारण के अंतर्गत न मान कर, मन्थक (मंघ) के स्थान पर बन्गह उच्चारण मन्थक-की ओर संकेत

किन्नाषट में अब भी बुहृप व्यंजन मिश्रा है और कविता में अण् (अध) की दीर्घ गणना सुरक्षित है। कच्छ की सिंधी और मड़ौच की गुजराती में पूर्वी राजस्थानी में बोलचाल की हिन्दुस्थानी और सामान्यतः गंगा की बाटी की सभी ग्रामीण बोलियों में पुनरावृत्त रूप मिश्रते हैं। किन्तु वे सरल रूप में भी मिश्र सकते हैं, और साहित्यिक भाषाओं में वे ही सरल रूप प्रचलित हैं। हि० भूजा बेटों में होता किन्तु स्थानीय बोलियों में भुक्ता (बुभुक्षित) बेटो (क्षेत्र), होता (पा० भवन्तो)। मराठी में यह सरल रूप सामान्यतः मिश्रा है। अन्त में सिन्धी में जिस प्रकार सभी स्वर ह्रस्व हैं उसी प्रकार सभी व्यंजन सरल हैं (पौन शब्द-रूपों को छोड़ कर)।

निष्कर्ष यह है कि मध्यकाशीन भारतीय भाषा के समय से पुनरावृत्त रूपों का सरलीकरण हो जाता है, और यह भी एक अनुकूल परिस्थिति में अर्थात् दीर्घ स्वर के बाद। यही नीच है जो व्योमके के भविष्य० के प्रत्ययों में चित्-स्वनि की विवृति प्रभावित करती प्रतीत होती है। साम ही तुल० पा० कर्हापन (कार्यापन-) आदि स्वर का ह्रस्वीकरण एक दीर्घ शब्द में और इसके आसपास अपनी स्थिति सरलतापूर्वक स्पष्ट कर देता है।

वीन प्राकृत में समवायगत रूप व् दीर्घ स्वर के पदवात् ए की भाँति ही परिवर्तित हो जाता है। माय- (वाच) गोय (गोत्र) खेय (क्षेत्र) जाया (माता) राई (रात्री)। यह अन्तिम रूप कर्षेतीकक मराठी में मिश्रा है (क्या राइजी सं रवनी हि रैन् के प्रभावान्तरगत ?)। आज भी बंगाली में गा(म्) वा के प्रमाण मिलते हैं। सिन्धी में रूजी 'घट' मू "मूच" हू "बाया" (मूच सूच-) हैं।

कर्षेतीकक प्राकृत में वीह जो *वीच से जो स्वयं वाच को *वीच- (दीर्घ) से निकला है वैसे वीच *वीच- (दीर्घ) से और पास *पास- (पार्ष) से। सं वेप् से पानी में वेद् है ही जिससे सौर० वेद् जिससे अन्ततः म० वेद् बंपानी वेद्, ने० वेह आदि निकले हैं इसी प्रकार ने कोर् जो कुच्छ- से है, खरठ जो काठपाहुका से है।

इन जगमग अपवादों में पुनरावृत्त रूप जो स्वयं सरल हो गये हैं, विशेष व्यंजन हैं। यह देखा जा चुका है कि इसके विपरीत अल्प और स्वर-मध्यम लट्ट हो जाते हैं अथवा कम-से-कम दुर्बल पड़ जाते हैं। इससे मध्यकाशीन भारतीय शब्द की विशेषता निर्धारित होती है जिसमें केवल आदि या पुनरावृत्त रूप में विशेष व्यंजन रहते हैं, जो किसी अल्प स्थिति में नहीं रहते और जिनमें विवृति प्रायः रहती है। बहुत बाद को स्वरीय अल्प के लोप पुनरावृत्त रूपों के सरलीकरण और विवृति के न्यूनीकरण ने भारतीय-आर्य भाषा को एक सामान्य रूप-रेखा प्रदान की है, किन्तु जिसमें व्यंजनों का समुदायगत रूप कठिन हो जाता है।

तो मध्यकालीन भारतीय भाषा की व्यंजन-प्रणाली की प्रमुख विशेषता है आदि, आभित और पुनरावृत्त स्पर्श-ध्वनियों में निरन्तर विरोध और स्वरों के बीच में सौम्य ध्वनियों का बोझा-बहुत बना रहना। अधोप दन्त्य ध्वनियों के लिये हैं

तिष्ठ- अस्त पुत्त- (पुत्र) मुत्त (मुस्त), शौर० मेहुण (मैबुन) आदि उचित रूप में कही जाने वाली स्पर्श ध्वनियों के लिये।

एक विचित्र बात सिन्धी दन्त्य ध्वनियों से संबंधित है (जिसमें विशेष ध्वनियों के साथ सामान्यतः काकलीय आवाज रहता है) उसमें मूर्धन्य दन्त्य का विशेष रूप है डही (धधि) छद्^उ (सब्ब) जो डून् की भाँति है, हद्^उ (प्रा० हद्दिड) इ केवल अनुनासिक के साथ आता है तम्प^उ (तम्पु)। जैसा कि देखा जा चुका है, ग् पुर्बल रूप है ग् का ज् कहीं कहीं है (सिन्धी मराठी गुजराती राजस्थानी पंजाबी उर्दिया) ज् का पुर्बल रूप है कई भाषाओं में विविध रूपों ज् और ड् का भेद पाया जाता है (नैटर, क्रैस्टघिफ्ट आकोबी पृ० ३४)।

यह प्रणाली स्वतंत्र ध्वनियों के लिये भी जागू होती है (जबा० म् का दर्द, सिन्धी और गुजराती में ज् एक पुर्बल रूप है) और यह दो मनों में वास्तव में ज् का दुर्बल पक्ष ज्, ज् का विशेष पक्ष ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्रकट करता है पाली से आये मध्यवर्ती पुनरावृत्त रूपों में यही बात पायी जाती है कट्टम्ब (कर्त्तव्य) जो दन्त्य (दर्द) से मिल है सिन्धी में अभी बहूनाम्^उ (व्याम्ब) बोधी में है, किन्तु चकुण्^उ (चर्क-) कट्टब्^उ (कर्त्तव्य) भी है क्यमम पूरे हिन्दी समुदाय पूर्वी समुदाय दर्द के बोझ से भाग (लोबार, सिगा कलाघ टीराही) और यूरोपीय बिन्धी-भाषा में एक साथ आदि ज् है ज् तो इनमें केवल स्वरों के बीच आता है (सिन्धी मराठी पंजाबी कश्मीरी काठिर और एधियाई बिन्धी भाषा में अकारण सर्वत्र ज् सुरक्षित है)।

यही बात ज् के दुर्बल रूप ज् के संबंध में है सिन्धी कश्मीरी और सिन्धी आदि ही उनका भेद उपस्थित करती है, जब कि सामान्यतः य् "सबल" की ज् से गड़बड़ हो जाती है सि० जो कश्० यु सिन्धी य (सं० य), किन्तु सि० जब्^उ कश्० यब् सिन्धी अर्द (प्रा० अज्ब सं० अद्य) की भाँति सि० जिम्^म, कश्० जब्, सिन्धी दिग् (जिह्वा)।

सिन्धी-ध्वनि के लिये पीछे देखिए।

४ पुनरावृत्त रूप

यह देखा जा चुका है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा में और उत्तरपूर्व भाषात्मिक भारतीय भाषाओं में प्राचीन समुदायगत रूपों से निकले अथवा उद्भूतरूप पुनरावृत्त रूप भरे पड़े हैं उदाह० पाली में समास के द्वितीय शब्द क आदि व्यंजन का पुनरावृत्त रूप हो जाता है पठि-क्क- सं० प्रति-क्क- पठि-क्कमति सं० प्रति-क्कमति हिन्दी में जैसे मट्टी और माटी मक्कान् और मालत हैं जैसे ही मीठी और मिठी "बेच का प्रथम स्थान" जो मीर (अरबी अमीर) से हैं, अहक "पाठ" (अरबी अरक "आय") हैं। मध्यकालीन भारतीय भाषा में प्रत्ययों का आदि पुनरावृत्त रूप बारम्बार कर देता है जो उसके बिना साधारण स्वर-मध्यग में परिवर्तित हो जाने की संभावना रखता है प्रा० ति(इति) प्प(इव) ज्येष्(वीच) मुळ० म०-चि किन्तु ति०-ञ् "वही" इसी प्रकार इपशरामक सं० हु(इ)म जैसे सहायक शब्द के स्वतन्त्र के बारे में है जिसका लोप हो जाना स्वयं शब्द को संकट में डाल देता है वा० हिम्पो, ऐसी हिम्पो यूरोपियन लिप्सी-भाषा इन् (यह शब्द सब अर्थ नहीं बना रहा) आदि।

अंत में एक पेशा ही किन्तु अधिक महत्वपूर्ण उदाहरण उस पृष्ठ के रूप का है जो कम-से-कम विप्लवापूर्व शब्दों में स्पष्ट है (प्रा० सर्वेष्म आदि) जो उससे उत्पन्न होने वाले व्यंजनों के ह्रास और श्लेष पर बारी परिस्थिति की दृष्टि से आवश्यक उपाय है वेष्म या वेष्म और वेष्म लोह प्रतिनिधित्व करता है लोम और लोह का यह बात बंधाकरणों की अपेक्षा लेखन प्रणाली और साथ ही बोलने में अधिक देखी जाती है। बंधाकरणों केवल उनके परिवर्तनों की व्याख्या करते समय उनका उल्लेख करते हैं।

किन्तु इसके अतिरिक्त और बहु भी लिखित प्रमाणों द्वारा न माप सकने योग्य अनुपात में प्रत्येक युग में अभिव्यक्त या केवल लाक्षणिक पुनरावृत्त रूप रहे हैं अनुलेखन-मञ्जि-परंपरा की सामान्य बढोच्छा के रूढ़ पर भी अति प्राचीन संस्कृत में उसके उदाहरण मिलते हैं, और इससे इतर के उदाहरणों के महत्व की रक्षा होती है।

पृष्ठावरोध (interpe lation) के रूप ब्रह्म पर आधारित अर्थ जिसकी व्युत्पत्ति भारतीय है, को बलपूर्वक देते हैं (दे० मेहए, बी एस०एल० XXXIX, पृ० १) उसका अति प्राचीन प्रयोग निरूपणात्मक रचनाओं के प्रत्ययों की संघटन बनाता है

अ० इत्या इत्यम् जो उदाहरणार्थ कथा कथम् से मिलता है। पाली में इत्थं मिलता है किन्तु अन्य प्रथम में स्वामीय अर्थ ग्रहण कर लिया है (-स्व से निकले -स्व वाले नामों का प्रभाव ?) फलतः इत्थं और सामान्य विवरण के साथ निरूपणात्मक रूप के

सम्बन्ध द्वारा एवम् अञ्जल्प (अञ्जला) कल्प आदि। यह वर्ग जीवित रहा है सिद्धी एत म० एम् एये प० इत्ये "यही" हि० इत् उत् आदि। इसी आदर्श के अनुकरण पर पाली में एतो (इत्), एततो एतावता मिलते हैं।

॥० ने प्रथम अष्टक के अन्त में जो टोना-संबंधी ऋचा है उसमें पुस्तिक इयत्कः, स्त्री० इयत्तिका ओ नपु० इयत् से निकले हैं, -अकः, -इका प्रत्यय सहित हैं तुल० पा० यावत्कः- (स केवल द्वित् आदि म पाया जाता है)। पा० ऐत्कः- तत्कः- यत्कः- कित्कः- बर्ष का यह प्रथम प्रतिनिधि है जो प्राकृत में सामान्यतः प्रचलित है [एतिय जेतिय केतिय] और आज तक प्रचलित है ने० एति, इतो हि० इत्ता इता आदि यूरोपीय बिन्धी-नापा केति नूरी कित आदि।

मध्यकालीन भारतीय भाषा की वृष्टि से प्रथम नहीं बल्कि प्रथम व्यंजन है जो इत्त्व रूप ग्रहण करता है। उससे प्राकृत में एम्ब बना जिससे निस्तन्देह नु० एवो निकला अथवा म० एव्ही और एक- (हि० आदि 'एक')।

उसका स्पष्ट मूल्य वह प्रमाण है जो शब्दों के एक ही समुदाय में मध्यकालीन भारतीय भाषा द्वारा निरखर प्रयुक्त एक अम बात में है अर्थात् फुलफुलाइत वाली ध्वनि का उपसर्गिकरण (इसके बिपरीत ह निपात परसर्ग के रूप में आता है)। पीछे दिये गये उदाहरणों में मूब० ह्व् जो एवो क समीप है, सि० हिक्रु आदि भी जोड़ लेने चाहिए।

इसी प्रकार हि० अब् जो 'ओ' से मिल है, तब् जो तो से मिल है जैसे कम एक प्रकार से *जम्ब *तम्ब (भावत् तावत्) का प्रतिनिधित्व करते हैं। परसर्ग प० उप्पद्, हि० ऊपद्, यूरो० बिन्धी-नापा औप्रे जो हि० पद् म० बद् के निकट है, *उप्परि से संबन्ध प्रकट करते हैं। यही बात कि० बि० अपभ्रंश मब० सप्रित (घने) म० मुदाम् (बरबी मुदाम्) में दिखाई देती है। विशेषणों में पाली में उम्बु तो है ही जो उब्जु (ऋजु) के निकट है। रोमन की भाँति बंगाली में 'मूब' के बिये शब्दों में पुनरावृत्त रूप मिलते हैं—अप्रित शब्द में और शिष्टतापूर्ण शब्द में शर्बी (सर्ब), समकली (तरसम सकल)। यदि लिखित की अपेक्षा वास्तविक उच्चारणों की गणना की जाय तो सूची निस्तन्देह बहुत बड़ी हो जायगी म० औता का उच्चारण अब जाता होता है, आदि।

कुमपवृत्त रूप सरसतापूर्वक पहचाने जा सकने योग्य सर्वनामों और क्रिया-विशेषणों या विशेषणों से बाहर प्रचलित मिलता है। कुछ स्पष्ट बातों की शक्य देखी जा सकती है। एक शब्द जैसे पा० कन्वति सं० महा० कन्वते स्पष्टतः कवा कन्वति (कवा के संबंध से कपम् आजकल प्रचलित नहीं है) का जनक है। पशुओं के कुछ नाम देखना आवश्यक है (तुल० सै० उबक जो सं० बसा से मिल है) वैदिक कुपकुर्त् (v अ.

कोकोत्वं) धञ्ज् नुक्-गुल्। अ० वृ०। अर्ध०। कुङ्कुर कुङ्कुर से पहले का है, किन्तु हि० कुता म० कुट्ट में जो पुनरुक्ति है वह सोपदिष्ट कुङ् मुञ्जि कुङ्, बङ्गपार कुँर (भावात् देते समय क्) में नहीं है यही बात 'उत्' धञ्ज् के लिये है जिसका अर्थ 'मूर्धं मनुष्य' भी होता है। सं० उन्कृ हि० आदि उत्कृ निस्सन्धेह 'माम्' धञ्ज् के संबंध में भी मन्कृ-अर्थात् 'मेक-गुल्' पुं० हि० अ० बेरो जो सं० बभ्रु से मिल है, *भूये- हि० भूय साथ ही 'भोर' का नाम अशोक० म(ञ्)भूम-घह० म(ञ्)भूर और मे० मुनुर जो सं० मयूर से मिल है, अशोक० गिर० प्रा० मोर हि० मोर्।

घटीर के कुछ हिस्सों के नामों का उल्लेख विशेषतः किया जाता है। पाकी में तो जम्बुक-ही ही म० कुस्ता और साथ ही कुला में स्क्-की संभावना है, गुल्० देधी कुलं लै० कुनुस् पं० पुस् म० पु० हि० पूर, क० चोन् आदि (स्त्री०) जिनकी व्युत्पत्ति जो भी हो (इतिक् गुल्० वा० पापु) उनमें पुनरुक्ति कम है (देधी कोस्तो कुस्तो जो संभवतः इतिक् है, गुल्० क० कोरल् कोस्थ और उल्लेख साधारण परि वर्तन प्रकार है)। इसी प्रकार म० सेप् सेप् देधी छिप्य जो सं० सेप से मिल है मन् निस्सन्धेह एक विद्यतापूर्व धञ्ज् है जिसका प्रयोग बहुवचन धञ्जों के लिये होता है (गुल्० प० नर्णु युरो० बिप्ती भाषा नर)। एक धञ्ज् विद्यतापूर्व होने पर भी उसकी व्युत्पत्ति का अनुमान नहीं किया जा सकता म० चान् जो पं० चान् (स्तन स्तन्यम् का अर्थ दुग्) है। अतः में प्राकृत नक्क जिससे 'ताक' के व्यापुनिक धञ्ज प्राप्त होते हैं, स्पष्ट नहीं है।

अभिव्यञ्जकता ही हर एक बात की व्याख्या के लिये घण्ट नहीं है एक-स्वयं-पूर्व है किन्तु क्यों "१९" पं० में उधीह है जो सि० उधीह, म एकुभीस् से मिल है, क्यों "८०" हि० पं० में 'अस्ती' है, किन्तु सि० असी (अधीति) है और क्यों "९०" हि० पं० में नन्वे म० नन्वद्, अ० नन्वी (नन्वि) है? क्या जब तक उनमें प्राकृत छट्टि ९०" छत्तिरि "७०" का सापुस्य न देखा जाय? किन्तु कारण से प्राकृत में अकारक लभकुड और लौड कौड-और *किस्त-आ पए? म कित्थिनें (विहपन) से मिल हि० किल्लामा किमा तो सोची जाती है किन्तु प्रा० चल्ठि म० चाल्थे क्यों? *चक्ष्यति तो अर्धमव है इसी प्रकार देधी में कोनो "कोना" और कोन्वो "मकान का कोना" (मपटी कोन् और कोन्) तर्क और तत्सम "विस्तर" तर्क और तर्क "कैना" कोन्वो और कोन्वो छोटी नहीं" साथ-साथ चलते हैं।

निस्सन्धेह यहाँ एक अधिक सामान्य प्रवृत्ति प्रस्तुत करने के लिये स्थान नहीं है पंजाबी में एक नक्क प्रकार के धञ्ज का उच्चारण सामान्यतः कपमय चलान् होता है (धी धियसंन के अनुसार)। ऐसा प्रतीत होता है कि अंत में यदि बोलचाल की भाषाओं

में प्राचीन दुहरे रूप बनाये रखने की प्रवृत्ति है, तो यह संभवतः इसलिए क्योंकि उन्हें मध्यवर्ती प्रथम व्यंजन को दुहरा रूप प्रदान करना प्रिय है हि० में बोला जाता है ओम्नों वे वास्तन् बंगाळी में सादि (अरबी० शारि)। इस समस्या का अध्ययन नहीं हुआ।

अंत में पुनरावृत्त रूपों के पर-अक्षरों की ओर संकेत करना भी आवश्यक है पाकी प्रगत करटी है दुट्टुस्स- अदिट्टुस्स- जिनमें महत्त्व से निकसा महत्त्व- जुड़ जाता है तुल० अघोक० दिल्ली महा-कक- स्स- वाले पर-अक्षरों के बड़े अच्छे दिन रहे हैं और उन्होंने विशेषतः प्राचीन भूतनासिक कृमियों को विस्तार प्रदान किया है। -क- वाले रूपों का व्युत्पत्ति में अक्षरविक महत्वपूर्ण स्थान है हि० उड़ाक, उड़ाका सि० पिमाकृ वासामी धमक- (स्तम् बतक-)(बर्धयति) आदि।

निष्कर्ष

भारतीय-आर्य ध्वनि-अनासी पर समग्र दृष्टि से साय ही काल और विस्तार की दृष्टि से विचार करने पर, उसके तत्त्वों के स्थायित्व की ओर ध्यान आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता। साहित्यिक भाषाओं की अनुलेखन-प्रवृत्ति यदि इतनी अपरिवर्तनशील हो तो जिसित और बोके जाने वाले रूपों में इतना असाम्य पृथक्त्व देखने की न मिले जिसके सुन्दर उदाहरण फ्रेंच और जर्मनी भाषाओं में पाने जाते हैं। यदि अरबी शब्द जमेद से बने उपु सम्य उम्(म्)ईर का उच्चारण कोई मुने तो तुल्य जात हो जायगा कि एक ऐसे मुसलमान से काम पड़ रहा है जिसे एक अच्छी इस्लामी धिशा का गर्भ है किन्तु वही व्यक्ति एक भारतीय व्युत्पत्ति के शब्द के ए का उच्चारण कभी ई नहीं करेगा।

यदि इतिहास के सुबीर्य काल में ध्वनि-अनासी स्वामी रही है तो वास्तव में उसका कारण यह है कि इतिहास के आदि काल में ही परिवर्तनशील सिद्धान्तों को ग्रहण या समन्वित कर लिया गया था। मूर्खियों की सृष्टि, स्वर ऋ महाप्राण ध्वनियों का विस्पर्शन ऐसी ही बातें हैं केवल एक वास्तविक नवीनता ने अर्थात् तीन धिन् ध्वनियों के हास के सरस्तीकरण ने हर जगह अपने को अपने शब्द तक सीमित नहीं रखा और वहाँ उसने सीमित रखा है, वहाँ उस समय उसने धिन्-ध्वनि और अकार ध्वनि के युग्म में सुधार उपस्थित किया है (मराठी बंगाळी) यही है जो भारत-ईरानी सूत्र था और एक ऐसा सूत्र जो त्रिपक्षीय समुदाय की अपेक्षा अधिक सामान्य और अधिक स्थायी है। इन महान् घटनाओं के समीप केवल आदिम और स्वामीय नवीनताएँ हैं, जैसे काश्मिर में उ का टालम्प-भाव कश्मीरी का स्वर-संबंधी साम्य सिद्धान्त में

कर्मरी में और (बद्ध) मराठी में तात्पर्य-ध्वनियों का दृश्य-भाव आत्मसिद्ध ध्वनियों अथवा सोप्य ध्वनिर्वा का प्रकट होता।

किन्तु यदि प्रभाषी के तत्त्व बने ही रहते हैं, तो उनके रूप में परिवर्तन हो जाता है। बहुत दिनों से ए और ओ संयुक्त-स्वरों के रूप में नहीं रह गये और आधुनिक ऐ, औ विभक्ति के कारण हैं और उनका कोई विशेष आकृति-मूलक महत्त्व नहीं। अब तो व्यंजनों के समुदायगत रूप भी नहीं मिलते अग्यथा जो इक्षर के के और जिन्हें अलग-अलग किया जा सकता था। उदा. में उनका स्वान विशेषता तत्त्वों का विभाजन प्रकट कर देता है। वे स्वर जो प्रबल स्थिति में नहीं होते वे अपने प्रधान मात्रा-कारण के लोप हो जाने की ओर अपनी ध्वनि परिवर्तित करते की प्रवृत्ति प्रकट करते हैं, चाहे वह संवृत होने के कारण हो (ए > इ) चाहे उदासीनता के कारण हो (इ > अ शुभ्य) चाहे अतः समीपवर्ती स्वरों के सावर्ण्य द्वारा (सिंहली, कर्मरी)। व्यंजनों का नितरत्व उनके धारणिक बल जो मध्यकालीन भारतीय भाषा में उनके तुल्य रूपों द्वारा निर्धारित होता था की अपेक्षा दृश्य-ध्वनित्व पर कम निर्भर रहता है।

ध्वनि-ब्रह्माक्षी के इस महीन सम्बन्ध के आकृति-मूलक परिधामों की महत्ता आसानी से देखी जा सकती है। संस्कृत प्रभाषी अग्यथा नियमित की कम-से-कम स्पष्ट की ध्वनि की दृष्टि से मात्रा-कारण की दृष्टि से यौगिक रूप धारण करने की प्रवृत्ति की दृष्टि से निश्चित स्वर, समीपवर्ती व्यंजनों से स्वतंत्र स्वर व्यंजन अधिक परिवर्तनशील किन्तु जिसकी परिवर्तनशीलता तुरन्त समीपवर्ती ध्वनि-ध्वनियों से सम्बद्ध रहती है (दूर जाकर मूर्द्धन्य हाँ वान चाहे म् को छोड़ कर) उपयोपिता रहने पर भी जिसके समुदायगत रूपों का सरलतापूर्वक विश्लेषण किया जा सकता है (क म् को छोड़ कर, जो ठीक प्राकृत-स्वभाव के वे और जो संस्कृत यौगिक रूपों से बाहर के हैं)। इस प्रकार की ध्वनि-ब्रह्माक्षी उस रूप-विचार के भली भाँति अनुकूल रहती है जिससे अर्थ प्रभावित रहते हैं मूक और प्रत्यय-संबंधी तत्त्वों के स्वर-संबंधी परिवर्तन-क्रम चातु और पर-प्रत्यय के बीच पर प्रत्यय और प्रत्यय के बीच व्यंजनों का संपर्क। अब से इन परिवर्तन-क्रमों का अन्तः होने लगता है, इन रूपमार्गों के बीच की सीमा अस्पष्टस्थित हो जाती है, इस प्रभाषी में परिवर्तन होने लगता है।

द्वितीय खण्ड
रूप-विचार

1

शब्द परिवर्तन-क्रम

भारतीय की भाँति वैदिक संस्कृत के शब्दों में विविध और दुबहू चिन्ह होते हैं जो एक ओर बालु द्वारा अभिव्यक्त केन्द्रीय विचार से संबंध प्रकट करते हैं, दूसरी ओर वाक्यांश में उनके कर्म का द्योतन करते हैं। इसके विपरीत शब्दों के क्रम का कोई व्याकरण-संबंधी महत्त्व नहीं होता। प्रसुत चिन्ह तत्त्वों और विशेषतः स्वर-संबंधी परिवर्तन-क्रमों, के विविध पक्ष प्रकट करते हैं। मूर्तों का कार्य-संपादन जो प्रायः उसमें सम्बन्ध रहता है। बोधे-बहुत महत्त्वपूर्ण प्रत्ययों की उपस्थिति या अभाव (पर-प्रत्यय अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय) अंत में प्रत्यय।

कुछ परिवर्तन क्रमों का महत्त्व केवल ध्वनि-संबंधी है। उदाहरणार्थ ये वे हैं जिनका संबंध सिन्धु-ध्वनियों से है (अस्, एस् इस् एस् वादि) अनुनासिकों का मूर्त-संज्ञक (यन्- प्रयान्-) स्पर्श ध्वनियों का समुदायगत रूप (इवादि रसे वेहि विद्यन्, विद्मिन्, विष्णु) अंत में वाद में जाने वाली ध्वनि-श्रेणी के अनुसार भारोपीय ओष्ठ्य-दंत्य ध्वनियों का द्वित्व पक्ष [हन्ति जिह्वन्ते वन मज्जति भग] यह अन्तिम परिवर्तन क्रम जो भारत-ईरानी में अब भी सामान्य है अ० तुल० 'को' संबंध० ब्रह्मा संस्कृत में नहीं मिलता कः कस्य किम् चित्, अ० अस्त् से चित्त नवीन है, अ० चित्। बाह्य-मूक (या रूप-विचार क) महत्त्व के परिवर्तन-क्रम स्वरों में प्रकट होते हैं।

सर्वाधिक प्राचीन ज्ञात ध्वनि-व्युत्पत्ति-विचारक यास्क धिष्यते से निकले शब्द (ऋ० १०) की व्याख्या करते समय एक ओर तो म् के स्वान पर सामान्य पर-प्रत्यय-व माना है, दूसरी ओर मूक स्वर का गुण तो वे और चि एक ही बालु के दो पक्ष हुए। इसके अतिरिक्त (ऋ० १-२) उन्हें वा- से प्र-त्-त्म् (दिया) में अस्- से स्-त् में गम् से अ-गम्-ञ में स्वर-लोप की निमित्तता और गम् से ग-त्म् साव ही चरम् से च-त् में स्वर-लोप का लोप स्वीकार किया है। उन्होंने प्रम् में पूष् का अन् में अर्त्तिका बल देखा है। क्योंकि उन्होंने इन सिद्धान्तों से उत्पन्न निकर्ष निकाले हैं, क्योंकि उन्होंने अन्य क्रम अपने वाली बातों का उत्प्रेक्ष किया है। इसलिये उन्होंने परिवर्तन-क्रमों, जो भारतीय की भाँति संस्कृत में बालुओं को प्रभावित करते हैं, के एक पक्ष की गणना की है। परवर्ती व्याकरण इस सिद्धान्त को ठीक करते हैं और बुद्धि स्वीकार करते हैं।

भाषण में धातुओं और कुछ रूपमात्रों में स्थायी व्यंजनों और परिवर्तनशील स्वरों का जगजा किसी परिवर्तनशील स्वर का, जो भारतीय में ऐ, ओ, ए, जो अर्थात् शुभ्र का रूप धारण कर लेते हैं, कंकाल-भाषा है। भारत-ईरानी में *ए और *आ की *अ के साथ गड़बड़ के कारण ध्वनि-प्रवासी कंकाल भाषाकातिक विकार स्वीकार करती है अ आ शून्य (अद् भाद्, अद्)।

एक और बुराहवा अनुनासिकों में मिलती है अन्य स्वरों के स्वर-संबंधी रूप से अ, इ, उ जब कि भारत-ईरानी में *अ और *अू अ हो गये थे तो यह स्वर व्यंजनों और स्वरों की धातुओं में गुण का द्योतक था किन्तु अनुनासिक की धातुओं में शून्य योनी का जहाँ तक अनुनासिक की धातुओं के गुण से संबंध है, उसमें एक साथ ही स्वर और अनुनासिक व्यंजन पाये जाते हैं, न कि केवल स्वर (य अद् अद्)। जहाँ तक अन्य स्वरों से संबंध है उनमें गुण उसी रूप में नहीं मिलता प्राचीन संयुक्त स्वरों के सरलीकरण के कारण ए और ओ उसी रूप में जाते हैं जिस रूप में अर और इसी प्रकार ऐ, औ आद् के सङ्घ है।

भारतीय अ का *ए/ओ के साथ योग आ इ, शून्य (जो स्वर से पूर्व *अ का प्रयोग है) के भारत-ईरानी परिवर्तन-क्रम की उत्पत्ति के कारण है उदाहरणार्थ पा पति पत् मही-म् मही मद्-ए। यह परिवर्तन-क्रम ईरान की अपेक्षा भारत में अधिक अच्छे रूप में सुरक्षित है। ईरान में प्रस्तुत इ आदि ध्वनि के अतिरिक्त [पित किन्तु दुग्(अ)दा] व्यंजनों के बीच गुण हो गयो है, और जहाँ वीर्य खेनी क्रियाया में सामान्य हो गई है अ० स्टाठ सं० स्मिर्त ओ स्वा।

जब भारतीय *अ वाली उपलक्ष्यक धातुओं में मध्यवर्ती ध्वनि-योनी स्वरों को तो उसमें विरोधी जाते उत्पन्न हो गई जिसके स्वरों के अनुसार विभिन्न परिणाम श्रुतिगोचर होते हैं

अभि मूर्त अयि अीठ किन्तु परि पूर्ण-; वीर्य तुल० प्राचीय अति जाठ (सार्त) ममि आठ।

ये अक्षर-द्वारा, जो अक्षर संस्कृत के ही ध्वनि-संबंधी विकारों के कारण हैं, वैदिक रूप-विचार को विशेषतः बुरा बना देती हैं, और फलतः भाषा के कारणों से बचने की उसकी शक्ति क्षीय कर देती हैं।

उच्च के सभी अक्षरों के क्रिये परिवर्तन-क्रम लागू हो सकते हैं, और उनमें समुच्चन रहता है उदाहरणार्थ किसी एक अक्षर की शून्य योनी का दूसरे की अधिक या बड़ी उच्च योनी से विरोध होता है

स्तौ-नि बहु० स्तु-भ्य कर्म० स्तु-न्-इ भया० स्तु-भ्यो, वन्(स्त्) संव्य०
 वत्-भ्य ।

यह बात छिपी रहती है, उदाहरणार्थ कर्म० एत्-० की-भ्यम् प्रत्यय वाली यज्ञाओं में क्योकि भ्यम् *सु क स्थान पर आता है उसीसे दम्-भ्यम् को वत्-भ्य से भिन्न है अथवा किसी क्रिया में क्रिममें विशेष पाठ 'दृबल' रूप में सुरभित मिलती है अतः मि क्तिन्तु वत्-भ्यन्ति ।

ये गोप्य दृक्-ह्रस्वार्थ प्राचीन ज्ञात्री की मङ्गलदो वङ्गाने में सहायक होती हैं और जैसा कि देखा जाता है धीरे-धीरे माया ने इन सभी परिवर्तन-जनों का बहिष्कार कर दिया बहु रूपों के एक ऐसे वर्ण की पूर्ति करने की ओर झुकी जो प्रागैतिहासिक काल में प्रचुर मात्रा में थे अर्थात् क्य जिन्हें विकरण-मुक्त कहते हैं ये वे हैं जो मूल (धातु और उसके पर-प्रत्ययों से निर्मित हैं) के बाद स्वर स्वीकार करते हैं, भारत-यूरोपीय *जो भारत-ईरानी और संस्कृत-भ्य और जिनमें स्वरत्व स्थायी रहता है और स्वयंवात निश्चित ।

अविकरण-मुक्त अथवा विकरण-मुक्त भारतीय-आर्य भाषा की कुंजी में विभाजन सत्ता और क्रिया के सिधे बराबर महत्त्वपूर्ण है ।

सज्ञा

संस्कृत सभा

विकरण

वैदिक संस्कृत जिन संज्ञाओं से सुसम्पन्न है वे अभिकांशतः भारतीय-ईरानी हैं और उनकी रचना उन्हीं विद्वानों और अभिकारण में उन्हीं अप्पों से हुई है जिनसे ईरानी और भारोपीय संज्ञाओं की रचना हुई है।

संज्ञा सामान्य हो सकती है या संयुक्त। उसकी रचना प्रायः भारतीय-ईरानी काल और उद्यसे भी पहले से चली आ रही है।

वास्तव में वैदिक संस्कृत में भारोपीय शब्दों की रचना के सभी रूप सुरक्षित और विकसित हुए हैं। केवल वे जो द्वितीय कक्ष पर स्थित संज्ञा संबंधित क्रियामूलक रूप हैं, जिनके क्रिये प्रारम्भ में कम प्रमाण मिलते हैं, वेदों के बाहर क्षुप्त हो जाते हैं। वे बाटिबार अद्यत्सु और (भारतीय-ईरानी का) क्षयपूर्व प्रकार के हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रकार तीनों की संख्या के हैं।

द्रव्य का संबंध विशेषणों से है मीरुकाहित अर्धर्ध० वाक्षिजसम्ब किन्तु विशेषण-विशेष्यों से यहाँ भारतीय-आर्य भाषा एक ऐसा साक्षिभ्य प्रस्तुत करती है जिसके दो पद द्विवचन में हैं अर्ध-अधिधी संबंध० मित्रयोर्द-वस्त्वयोः, तुक० अ० संप्र० अहुरएइभ्य मि०एइभ्य, सामान्यतः संस्कृत पहले पद को विकरण में परिवर्तित करती है। इन्द्रवायु और अर्ध को आये बढ़ाने की दृष्टि से सत्यक रूप में बहुवचन अहो-रात्रिभि अथवा समष्टिगत तपुंसक० इष्टान्-पूरुतम् अर्धर्ध० इत्याकृतम्।

तत्पुंस्य समिबेद्यन अथवा अनुकूल बनाने की अपेक्षा धातय के विविध रूप प्रकट करता है। कुर्या-कपि पूर्व-हृदि, विश्-मपि मो-हृत्, अ० गमोर्ध्वेर्ध्वन्। द्वितीय अंश समास के विशेषणों को प्रायः प्रमाणित करते हैं हृदि-अद् वसु-विति, सोक-कन् तुक० अ० तसु-कर्त्तृत् इस स्थान पर पूर्वकाकिक इत्यन्त नहीं मिलते न इत्यन्त किन्तु -त वासा क्रियामूलक प्रायः मिलता है गोत्रात् अहर्त्वात् तुक० अ० हठिभो-वात्। प्रथम अंश कभी-कभी अपने प्रत्यय को बनाये रखता है अमयकर तुक० अ० कीर्त्तम् षन् विभिन्नित् पहला प्रकार, जो एक ऐसे उदाहरण में जिसमें अनेक ह्रस्व शब्दांश बाय में जाते हैं निश्चित रूप की संभावना प्रकट करता है, संस्कृत में बहुत विकसित हुआ।

बहुव्रीहि अपने आधिक्य और लचीलेपन के कारण संस्कृत रचना की एक अद्भुत मौलिकता है रजि-मुन अद-वुष्ट- अर्ध-० यम-ओष्ठ- प्रति-भ्याम, तुक-० अ० ह्रस्व-र-गमोस-। संस्कृत ने एक विशेष प्रकार को जन्म दिया जिसका पहला पद-त बाधा धियामुम्क है जिसका बाद में माने वाली संज्ञा के साथ क्रिया-जैसा संबंध रहता है प्रयत्न-दक्षिण नसीसीकस साहित्य उसका संबंधवापी परसर्गों क रूप में प्रचुर प्रयोग करता है।

ऐच्छिक रूप में बहुव्रीहि में समासान्तविहीन पर-प्रत्यय आते हैं प्रत्यर्क-इ-, सुहृत्-य महाहृत्स्तिन् संय-अ विन-दु-क- तुक-० अ० इव-अएँ ह्र-री०य सर्व-आप- अन्तिम तीन प्रकारों का विशाल अधिनाधिक और होता जाता है विशेषतः अन्तिम वा के विकरण की सामान्य प्रवृत्ति और भी अधिक होती जाती है। वास्तव में-अ द्वारा पर प्रत्यय का प्रयोग बहुव्रीहि वर्ग की सीमा की बहुत अधिक पार कर जाता है और निरन्तर रूप में विस्तृत होता जाता है चाहे वह अल्प के छंट जाने के कारण हो पद-अ चाहे प्रायः व्याप्ति के कारण हो सुप-पूर-वाहर्षे। इससे सब प्रकार के दुस्क-बल प्रकट होते हैं किन्तु रचना एक दम सरल और सामान्य रहती है।

वेदों में समासों की आवृत्ति और व्याप्ति समय-समय वैसी ही है वैसी होमर की रचनाओं में नसीसीकस भाषा में उनकी बड़े प्रचण्ड रूप में वृद्धि हो जाती है किन्तु उसमें यह प्रयोग शैली की दृष्टि से रोचक है, न कि भाषा के वास्तविक इतिहास की दृष्टि से निस्सन्देह इतकी व्याख्या शिथिल टार्किक संबंधों के और रूपों के स्थिर समुदायों के प्रति रचि द्वारा हो जाती है, और जहाँ तक उसका रूप से संबंध है वह संस्कृत की दुस्क-रचना की आवृत्ति को निरर्थक करती है किन्तु यह अन्तिम कारण उसी हृद तक ठीक है जहाँ तक प्रत्यकार, जिन्हें अपने व्याकरण की वैज्ञानिकता प्रकट करने में आनन्द आता है, एक पाठक-मन्त्रस प्राप्त करना चाहते थे बिनाके लिये मध्यकाळीन भारतीय भाषा या वैसे ही एक पुणनी और सापेक्षिक दृष्टि से दुस्क हो गयी थी। जो कुछ भी हो अद्योक्त की मध्यकाळीन भारतीय भाषा उदाहरणार्थ और आधुनिक भाषाएँ यह प्रकट करती हैं कि रचना का प्रयोग एक प्रकार से निर्बंध रहा है।

विकरण की रचना की दृष्टि से समासों के द्वितीय पद, सिद्धान्तव जिनके अकेले संज्ञा-रूप हो सकते हैं साधारण रूप में आते हैं।

इसमें से कुछ नाम-वाचुओं ने अपने प्राचीन परिवर्तन ऋत्यों को बनाये रखा है बहु० कर्ता० अर्ज- संबंध० अर्जाम् (अ आपो अर्जाम् एक० कर्म० पविम् संबंध० पर-अ० पार्वम् परो) एक० कर्ता भू- संबंध भू- (धी० ओ० फा० दे०, ओ० कर्त्तव्योस),

एक० कर्ता० सः, संबंध० ञ्म और सादृश्य द्वारा क्म (विपर्यस्त रूप में अ० कर्ता०
 अर्धं अंशो के व्यञ्जन सहित) यौ०, गाम् संबंध० बहु० गबाम् (अ० गाउसे, गमम्
 गम्भम्) क्वा, क्वास्मिन् संबंध० शून (अ० स्मा स्पर्शम् शूनो) दा सप्र० -ये
 (तुळ० अ० बहु० इर्बइहो) आदि परिवर्तन-रूप बाह्, बाचम् करण० एक०
 बाचा जो अ० बाह्यै, वचं से मिश्र है, में सृष्ट हो जाता है अद् (कर्तृबाची
 संज्ञा) करण० आर्वा (कार्यबाची संज्ञा) में भाव्य-ईरागी के समय से उसका भिद्य
 (अ० बीस् पुराणीकारसी वि०) क्म (अ० पु० अ० अ० अ०) में भारोपीय के समय
 से मास् (अ० पु० अ० माह्) में उसका अभाव पाया जाता है। इन संज्ञाओं के प्रमाण
 कम और अपूर्ण हैं विद्येयत् कर्ता० के बहुत ही कम हैं कर्म० नक्तम् (क्रिया विशेषण)
 द्वि० नक्ता से मिश्र तक केवल एक बार आता है किन्तु एक० सवव० अस्ति (अ०
 अइहो) के छिमे कर्ता० वास्त्रम् (सै० योस्) है एक० करण० रणा सप्र० रणे कर्ता०
 कर्म बहु० क्वा जो सै० सृष्ट से मिश्र है संबंध० एक० वनस् (पति) बहु० वनाम्
 जो कर्ता० एक० वनम् से है संबंध० एक० ह्य आदि जो हृदयम् और हृदयि से
 मिश्र है कर्ता० कर्म० बहु उदा० जो एक० उदकम् से मिश्र है वृत्ति वृत्ते क्रियार्थक
 संज्ञा। एक काप्ति अक्षी यस्मा ठो केवल समास के त्रितीय पद के रूप में छ सर्वथा-
 पूर्ववा- वृत्तह्त् वसिणावृत् और आवृत्ते परिपद् क्रियार्थक संज्ञा और आम् आसवे
 गतास्क्र क्रियार्थक संज्ञा और आस्त्रम् क्रियार्थक संज्ञा आदि। अंत में समुदाय का
 विस्तार क्रियामूलक वातु इ, उ और ऋ के बाद -त् व्याप्ति के नियमित प्रयोग द्वारा
 सीमित है जैसे वित् वृत्-वृत् -स्वत् (अ० वरैत्, -स्वत्) इसी प्रकार अक्रियामूलक
 विकरणों के बाद क अस्त्रक (सै० अस्त्र) के ह्रस्व ऋ को आभय प्रदान करता
 है, यइत्, अ याकरअं यइत् (ऊपर, स्वर के विपरीत) में कृष्य ध्वनियों के समझ
 -त् अस्त्रि रखा है।

वास्तव में सव्यावली का एक बहुत बड़ा अंश संज्ञाओं से निर्मित है जिनमें वातु
 पर-प्रत्यय से आती है, पर-प्रत्यय दुर्बल होने अथवा पर-प्रत्यय से आये शब्दों के साथ
 सम्बन्ध होने और जिनमें अर्ध बना रहने क अतिरिक्त एक विशेषता छिये रहते हैं
 जो षोड़ी-बहुत प्रमुख रहती है अब कि एक ओर उदाहरण द्वारा क्वत्तों और तुल-
 नात्मक रूपों की परिभाषा प्रदान की जाती है, तो दूसरी ओर साधारण विस्तार या
 व्याप्ति के तुल्य प्रयोगों की।

व्युत्पन्न शब्दों का मूल रूप प्रायः परिवर्तन के साथ परस्पर सम्बन्ध रहता है।
 विशेषतः गीण व्युत्पत्ति आदि में वृद्धि के साथ वा सफटी है सीमनधम् "सुमनस्
 होने की स्थिति", तुळ० अ० इओमनइहोम् अस्त्रम्, साप्यम् "सप्त-समूह" पार्श्व

पार्श्व(इ)र्ष तुल० पु० छत्र० मार्गब-। उसमें यह भारोपीय और भारत-ईरानी प्रयासी हैं जिस पर अबैस्ता में गीण ह्रस्व रूपों का आवरण पड़ा रहता है, जो इसके विपरीत संस्कृत में बहुत अधिक विकसित हुई है—जिसमें विद्वत्तापूर्ण गद्य की संस्कृत का भाषुनिक भाषाओं से संबंध स्थापित होता है।

एष और प्रयोग की दृष्टि से पर-भ्रत्ययों की सूची बहुत-कुछ ईरानी की सूची से साम्य रखती है।

कर्तृवाच्य कृचन्त वर्तमान सन् अ० सन् /सत्- भवन्- अ० कर्म० वरंमूर्त्तम् एषत्- प्री० विषेइस् पूर्ण विष्वास् (संस्कृत में ठीक-ठीक अनुनासिक) / विष्णु-गाथा० कर्त्ता० वीद्वर्भं करण० बीदुसै।

पुनगात्मक वस्य-यस् अ० बन्-यह स्वाप्-ईयास् (विधेय कारक में ज्ञात में ठीक-ठीक अनुनासिक) / स्वाप्-ईयस् तुल० प्री० एडाइओन्।

संबंधवाचक विधेयण, एक ठो बहुत कम मिलने वाले मभवन् अ० म०/अन श्वात्मन्- अ० अर्सेवन् दूसरेको प्राप्त मिलते हैं पुनवन् अ० पुँरवन् मधुमन् अ० म०/अमन्, स्वाविन् अ० श्वावन् इससे संस्कृत में एक तथा कृचन्त उत्पन्न हुआ कृचन्त (अ० विचरेत्कृचन्त ही अकेला इस प्रकार का ईरानी उदाहरण है) -न् मनीपिन्, तुल० अ० परेनिन्।

संज्ञार्थो कर्तृवाची संज्ञार्थो विधेयार्थो कार्यवाची संज्ञार्थो जो क्रियार्थक संज्ञार्थो अथवा धाववाचक के निर्माण की प्रवृत्ति रखती है वे प्रकार के अनुसार रूप

भवस् अ० सवह् पुमवस अ० ह्योसवह्

जाति पीठि क्रियार्थक संज्ञा-रूप में पीठये तुल० अ० कर्ते राइतिम्।

बन्तु अ० वन्तु पातु अ० पातु "स्वाम्" इस पर-भ्रत्यय में -तवे के सप्रधान क्रियार्थक संज्ञा और -तुम् के रूप में कर्म प्रदान किया है।

अयमन् अ० ऐयमोन् धामन् अ० धाम क्रिया सं० विद्मन्ते अ० स्तामोमैने क्रिया० सं० शर्वने मु वीद्वमोइ अ वीद्वनो

संबंधवाची संज्ञार्थे एषसर अ० स्ववह् इ पितर, अ पितर् कर्तृवाची संज्ञार्थे वीठर् अ वाठर्।

यह प्रवृत्ति पर-भ्रत्ययों के संबंध में है क्योंकि स्वयं रूपों द्वारा व्याख्या-योग्य कुछ धाव ऐसे हैं जिनका संस्कृत की दृष्टि से विग्रह नहीं किया जा सकता वसन् (अ० वसन् प्री० वसोन् वसुमन् अ० वसुमन् प्री० वसमोन् उपस्- अ० वसह् प्री० ऐमोस् भावि) इसी प्रकार कुछ पर-भ्रत्यय केवल ग्रहण किये गये शब्दों में बिना किसी विवाहक भावे हैं जैसा कि वे प्रधानतः -इ और -उ (अभ्य-ति और -तु) के रूप

में हैं। केवल द्विगोपु, पृथनामु पृतन्मु जैसे व्युत्पन्न क्रियामूलक विकरण के सर्वथ में यह नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के रूप में दिये जा सकते हैं

पति अ० पैति- घी० पींसिस् क्रिया० सज्ञा-निभे तुळ० अ० नमोइ पयि अ० पयि (परिवर्तनीय) सख्ये संप्र० थ० हर्से जो सज्ञा से परिवर्तनीय है अ० हस्य पुर अ० पभोरु- घी० पोरुस् याहु अ० याहु घी० पूरैकृत्सु घुनु अ० हुनु योभिक सुनुस् कुक्क रूप उर्मि अ० वरमि घीमि तुस० अ० सएति क्षिपन् तुस अ० पसन्-।

प्राचीन कुक्क प्रत्यय और भी हैं पयिन् अ० परयिन् सर्वथात् (जिससे है सर्वथात्) अ० हीरंथात् बहुत-से तो उन शब्दों या शब्दों के समुदायगत रूपों तक सीमित हैं जो भारतीय-ईरानी भाषा से आये हैं और जो वास्तव में प्रचलित नहीं हैं प्रातर्-इत्बन् तुळ० अ० अरं०००वन् वायुप् जो वायु के समीप है, अ० वामु, अधिकरण० अस्मिन् तुळ० घी० अइएस् और अइएन् मन्मु, अ० मैन्यु मृत्सु अ० मरं०००।

बहुत अधिक प्रचलित और वह भी पुरु से प्रत्यय विकरणयुक्त स्वर है। कुछ उदाहरणों में तो व्युत्पत्ति का मूल्य अब भी स्पष्ट है वर अ० वार -वर जो वृणीते से निभ है, अ० वरंने उदना अर्थ कभी तो स्वराघात द्वारा प्रायः किसी भारतीय नियम द्वारा निश्चित होता है वर "पसन्" वर "विवाहायी" सौंरु- "फूट पड़ना" साक- 'वमक प्रकाश'। किन्तु यह बल बश में स्पष्ट नहीं है वराम (अ० वरंम तुळ० सै० डेसेम डेसीमुस) में और विशेषतः अंश (अ० अस्प-) वृक (अ० वृहक-) देव (अ० वएव) मय (अ० व०अ) इस्त- (अ० अस्त), कुछ सर्वनाम एन् एत, अ० अएत अएत कुछ विशेषण बीर्भ अ० वरं अ- अन्य अ० अन्य आदि जैसे ग्रहण किये गये शब्दों के मात्रा काम में व्युत्पत्ति के चिह्न नहीं मिलते।

वास्तव में -अ यदि प्रत्यय से अधिक नहीं तो उसी मात्रा में व्यापकरण के कारण काम आता है ऋग्वेद से उदाहरणार्थ पारि माँ- भ्रात्र प्राप्त होते हैं जो अपने सभ्र अधिकरणयुक्त के साथ-साथ मिलते हैं। अन्यत्र वैसे कि देना जा चुका है, -अ समासों में स्वयं जुड़ जाता है, विशेषतः पत्नी उत्सुन्प समासों में (पडल- उत्सुन्प- और द्विपु समासों में (समुद्र)।

यह रूप अधिकरणयुक्त रूपों को अधिकामिक आघात पहुँचाते हुए प्रचलित होता है उसमें उसके क्रिये मूल की अपरिवर्तनीयता और स्वराघात की स्थिरता रहती है (जहाँ तक क्रिया-विशेषणमूलक महत्त्व से संबंध है उसे छोड़ कर दक्षिण 'वार्य' जो रक्षिण से है) उससे पहले का -आ अथवा -ई द्वारा स्त्रीलिंग बनाने में

संस्कृतपूर्वक सहायता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त उससे प्रायः निकल जाने वाले उन उदाहरणों की ओर संकेत करने में काम होता है जिनमें विकरणयुक्त-अ अमूर्ताधिक संयुक्त स्वरों की दृश्य श्रेणी से निकलता है बिना-बं बेच-कर्म अधिराज इससे विकरणयुक्त इन विकरणों के परिवर्तन की भूमि तैयार होती है तुल्य तै० सं० अलोमक-। शेष विकरणयुक्त स्वर शुरु से ही भारतीय-वैरागी से भागे कुछ पर-भत्यमों को प्रभावित करता है और स्वयं अम्य (पर प्रत्ययों) तक प्रसारित हो जाता है।

निम्नलिखित प्राचीन और महारण्यपूर्ण विकरणयुक्त पर-प्रत्यय हैं

मध्य अविकरणयुक्त कृन्त-भान म दवात (अ० इ०भान) (विना मध्य अर्थ के अतिरिक्त बी० ए० एक० अ०००००००० पृ० १८) जिनके आचार पर संस्कृत में विकरणयुक्त क्रिया-रूप ग्रहण करते हैं-आम अं०-म्न इच्छमान अ० इत्तम ।

क्रियावाचक विशेषण में मह सिपति-त (सुर्व अ० अत मृत अ० बरं-त) और-न- (पुन अ० परं-न-) में निरुद्धी है क्रियावाचक विशेषणों के लिये-य- [बस्(इ)य अ० बरंम्य, मर्त्(इ)य अ मरंम्य] और-त्त्व [बस्(उ)व अ बस्(इ)व] -त (यजत अ० यजत) में सम्भावना रहती है ये अंतिम दो रूप धारण में लुप्त हो गये हैं जब कि दूसरे-अनीय-अम्य-एय्य वाले रूपों से सम्बन्ध हो जाते हैं और वे ही अकेले शेष रहते हैं।

उपबन्त-इच्छ-में मिलते हैं जो तुल्यनामक पर-प्रत्यय-यस् से स्वानुपक पर-प्रत्यय-य (सप्तम 'सात' अ इच्छ०अ) दहित निकले हैं बहिष्-अ बहिर्-त उपबन्त बहुवचनी समुदाय में स्थिति प्रकट करने वाले पर-प्रत्यय दहित (अन्तम अ० अन्तम) -तम ये। इसी प्रकार कुछ विशेषण-विशिष्ट तुल्यनामक हैं जिनमें मूळ समुदाय में विशेषण प्रकट होता है उपर अ उपर उपस्तर तुल्य अ० असे अलोभस्तर जो वैदिक ओजियस् से मिले हैं। ये अन्तिम दो रूप संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में बहुत अधिक प्रचलित हैं।

साधन अथवा वस्तुवाचक संज्ञार्थ ओजम् अ० अलोभस्तर मध अ० मूळ० ओ वर्तमानकालीन विकरण पर आधारित कृन्तम की रचना से प्राचीन काल में पर-प्रत्यय की शक्ति का परिचय मिलता है किन्तु बर्हिष्काल भाषा में वह केवल विपरीत रूप में ही अधिक है।

कार्य और भाववाचक संज्ञार्थ-अ में यज्, अ० यजस् से स्वानुप्य पु० अ स्तापम् समरजम्, पु० अ हृमरजम्। नपुंसक० अर्थ से जो अधिकाधिक उर्बर संस्कृत में क्रियावाचक संज्ञा का तुल्यार्थक और एक अर्थ तक आधुनिक भाषाओं में ह

त्रियार्यक संज्ञा मिलती है करणम् हि० कर्मा। -त्व में भाववाचक वसुत्व अ० बह्वृत्त्वं और -त्व-न में वसुत्वान तुस० अ० नाहरि०वन- ।

अन्य पर-प्रत्यय विशेषण व्युत्पत्ति बताने के काम आते हैं। गौण व्युत्पत्ति में -इ (सार्धं उपुपि) बहुत कम मिलती है -य बहुत अधिक मिलता है और यह विभिन्न रूपों में आता है (सत्य हिरण्यय स्वर्णम् बन्धनमूषक कृदन्त पीछे बेलिए)। सब से अधिक महत्वपूर्ण -क- है, इसलिये नहीं कि यह प्राचीन शब्दों में मिलता है (सुष्क अ० हुँक- अस्मान् अ० महामर्कम्) न कि इसलिये यह सरलतापूर्वक साधारण विशेषणों का कार्य सम्पन्न करता है (अन्तक- जो विशेष्य से निकला है एकक- जो एक से निकला है) किन्तु इसलिये कि शीघ्र ही बिना समाधान के व्याप्ति उत्पन्न करने का कार्य सम्पन्न किया सनक- सन की भाँति बीरक- बीर की भाँति दूरकें दूरे की भाँति मुहुकें मुहु की भाँति और इसी प्रकार यकें यें की भाँति और फलक- बा० सं० असकौ बसौ की भाँति (रतु 'स्ट्यूडिया इंडो-ईरानिका' पृ० १६४) जिसमें साधारण व्याप्ति का महत्व जिसकी रूप रचना निर्धारित नहीं की जा सकती मन्त्री भाँति प्रदर्शित है।

इस व्याप्ति का -क- -क- -क- (जो -न्- -र्-, -इन् वाले अन्य विकरणों में मिल जाते हैं) रूपों के अन्तर्गत महत्व केवल नग्यकाष्ठी भारतीय में विकसित होता है और नापुनिक विकरणों के दो बड़े वर्गों में से एक उससे निकलता है।

यह भी देखने की बात है कि उसमें इन रूपों के समीप निस्संदेह शीर्ष स्वर से अधिक सम्बन्ध रूप होने चाहिए, जिनके ईरानी में सुन्दर प्रमाण मिलते हैं *पावक- ऋ में पावक का आयस्क छद्-मात्रा-मचन है (यह ठीक है कि जगमन के अनुसार यह स्त्री० पर्वा पर आधारित होना चाहिए और फलक- व मसैयक- प्रकार से भिन्न होना चाहिए, किन्तु वही यहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है कि रूप के परिवर्तन की व्याख्या प्रचलित पक्ष के रूप के प्रति प्रतिकूलता से होनी चाहिए) जीव-जतुओं के नाम देखने योग्य हैं मयूक- जमूक- पू दाकृ बा० सं० बर्मीक- जो ऋ० के बभ्रक- बर्त्री के समीप है (प्रचलित छ देखने योग्य है)। शेष अन्य संस्कृत पर-प्रत्ययों में विकस्य रूप में शीर्ष उपात्य स्वर होता है -ऊक- -आमु- -भार -ईन- आदि।

विकरणबन्धुत स्वर और पर-प्रत्ययों का यह अन्तिम समुदाय समासों में प्रचुर मात्रा में मिलता है इसके अतिरिक्त बाह्यदिगुलक सरलीकरण का कार्य उसमें बही है जो साधारण में है (बोम्न- जो गोहन्- से भिन्न है, प्रपदम् जो अ० फलक- से भिन्न है) इनसे समुहयुक्त विशेषण की विशेषता का भी पता चलता है छत-कारक उरु-भस वि-मयूक- ।

पर-मत्स्यों का एक महत्वपूर्ण वर्ग यह है जिससे स्त्री-बनाने में सहायता प्राप्त होती है। वे भारोपीय (-आ -ई, से निकले हैं और कम-से-कम स्वर वाले विकरणों में पुंस्त्व के साथ युग्म निर्मित करते हैं। कर्द्व्य ध्वनियों की व्याप्ति में यह देखने योग्य बात है कि -अक का प्रचलित स्त्री रूप -इका है। यतिष्ठा से मिल बर्तका बोली के प्रयोग के रूप में पाया जाता है तुल पा० बट्टका (एस० केबी के० ए-एस० १९१२, II पृ० ५१२)।

परिवर्तन-क्रम

जैसा कि देसा का बुका है, विकरणयुक्त सन्तानों में एक अपरिवर्तनीय विकरण रहता है। इसके विपरीत अविकरणयुक्त जिनकी प्राचीन काल में संख्या बहुत थी, कुछ परिवर्तन प्रवृत्त करते हैं, वे चाहे विकरण के बचन में हो चाहे स्वर-ध्वनी में अंत में चाहे स्वरिष्ठ में हो।

१

पुष्पवाचक सर्वनामों और कुछ निश्चयवाचक सर्वनामों में भारोपीय के काल से नियमित रूप में अंतिम वस्तुओं के लिये एक विशेष विकरण रहा है

महम् माम्, मम

सं सा त्व तस्य तँ मादि

विशेष्यों का विशेषण तपु का एक प्राचीन समुदाय भी उसी प्रकार अनुनासिक विकृत-अप का विकरण प्रस्तुत करता है जो कर्ता० कर्म० एव० के विकरण का विशेष करता है या अपने को उससे सम्बद्ध कर देता है।

(१) -र् का मुख्य काल

अहर् महर् संबंध बहु० अहर्नाम् (अ० अस्तम्)

अर्नाक अस्म (हिती एवैहर्) एयैतसै

इसी प्रकार अर्बर्, पड्वर् (तुल० सै० इएहर् इएकिम्) छड्वर्।

पानी का नाम जिसका इस वर्ग से संबंध है अपने मुख्य बाल का विकरण कर लेता है

उबकम् उबन् (तुल० हिती अवर केतेमसे ओन्नी उनुर्, अप-बाल जने)।

(२) इ युक्त मुख्य काल

अधि षि अर्धी (अ० अर्धि) तुल० कर्ता० अर्नाक (-स् की व्याप्ति भारतीय-ईरानी है, तुल० सै० ओक-उरुस सं० अर्नाकम् प्रतीकम् तथा नीच वाले विशेषणों की माला) संबंध० एक० अस्तम्।

इसी प्रकार अस्मि (तुल० अ० अस्-वत् त० ओस) अस्मि वीच ह्रासि (तुल० य० कर्पूर)।

(३) चिन्-ध्वनिधों वाले विकरण के -न् द्वारा ब्याप्ति

भिर (अ० सरो)शीर्ष्यं बहु० शीर्ष्या जिससे गौच विकरण शीर्ष्य (त्रि० शीर्ष्ये ऋ० कर्ता० एक० ऽर्ष्यम् अर्ष्यं) निकला ही है।

इसी प्रकार तै० सं० यू (सै० इउस्) ऋ० युष्णः दो (तुल० दकोसे-) अर्ष्यं० त्रि० दीपयी।

विकरण वाले कर्ता० (तुल० उदकम् हृदयम् वनम् जो संबंध० बहु० वनाम् से भिन्न है आदि) वास्यम् (सै० ओस) ऋ आस्म ओ मास (अ० अँइहो और वँइहानो) की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त हुआ है उपर अधिक प्रचलित भासा से भिन्न करण भासा विभिन्न प्रयोग है।

(४) -उ (बाद हुज जो हों की ओर संकेत करता है) वाले विकरण के न् द्वारा ब्याप्ति यह भारतीय है और -उ तथा -इ वाले इन नामों की रूप-रचना पर अपनी संबद्धता स्थापित किये हुए है, तुल० प्री वीर वीरु/मतीस क्रिन्नु अ० वाउद इप्रोसे।

पेठन संज्ञाओं में परिवर्तन क्रम पुस्किग -न् मिळता है स्त्री० इ विशेषतः कुछ विशेषणों में (पौवान् पौवरी प्री० पिजोग् पिइइर) और वृद्धरी ओर संदेश् सेबिस् क सैटिग संज्ञा-रूप का विभिन्न संवृष्ट रूप है जो पन्था पयि (अ पन्थं गामा० एक० पथो पु प्थ कर्म० स्त्री० पथिम् (तुल० पथइ, इंडियन स्टबीब डीनमेन' पृ० ३)।

शेष इन समुदायों में अति प्राचीन रूप है (मूल और अस्-भ्युत्पत्ति की दृष्टि सं जमकी संख्या और भी बढ़ायी जा सकती है) जो अस्त-नवीन रीति में पाकित पोषित है।

२

स्वर-संबंधी परिवर्तन क्रम पूर्व-प्रत्यय-अद्य (मूल अथवा पर प्रत्यय-संबंधी) पर आधारित रहते हैं कुछ विकरणों की दृष्टि से प्रत्यय में बही एक परिवर्तन-क्रम मिस्रता है जो प्रथम की शक्ति प्रदान करता है इस प्रकार के -उ वाले दो विकरण हैं, पुरो दिद्-अ।

भारतीय परिवर्तन-क्रम ए ओ की मात्राकालिक परिवर्तन-क्रम से बदल देने के कारण भारतीय-ईरानी के संज्ञा-रूप में अथक और पुर्बक कारकों की विशेषता आ पाठी है विशेष काक एक० और त्रि० के मुख्य काक (कर्ता० कर्म०) हो जाते हैं बहु०

में बैठन कर्ता० सबल हो जाते हैं। मधु० में कर्ता०-कर्म० संभवतः सबल या दुर्बल हो सकते हैं। मामानि (अ० मामान्) और नामा जिनमें माखीय वृष्टिकीय से एक दीर्घ स्वर भी रहता है।

स्वतंत्र वाले विकरणों में संस्कृत में फिर भी दो प्रकार के परिवर्तन-क्रम हैं।

संबंध० एक० बाला मूल और प्रत्यय के सहायक परिवर्तन-क्रम बघो- (पाषा० बघ्नाउसै) किन्तु परस्-अ, (अ० परसो)

अधिकरण० एक० बाले में रू और नू से पूर्व ह्रस्व स्वर मिळता है। नेवर इ, अहनू -इ और -उ वाले विकरणों में दीर्घ स्वर और मूय प्रत्यय बघों (अ० बघ्नाउसै) पिरा (अ० पर)।

बहुत कहीं मारोपीय -ओ- -ए मूय का परिवर्तन करती है, मारोपीय-ईरानी में मा अ मूय के अनेक रूप मिलते हैं। इससे स्वतंत्र वाले बैठन विकरणों में तीन परिवर्तन-क्रमों की स्थापना होती है।

बुनहा (*-सान्) अ० बर'र'र'र'र' (*-सान्)

बुनहाम् बर'र'र'र'र'म्

बुनहन बर'र'र'र'र'नी

इसी प्रकार

पिता (अ० पित) कर्म० पितरम् (अ० पितर'म्) संप्र० पिबे (अ० ऊँठरोइ पिरी) उसा उषबम् (अ० उषे'र'म्) और उषा'वम्, उषा' (अ० उषे'र'नी) किन्तु बुपा बुपा- बुपबम् से भिन्न अबेस्ता में हैं। अर्थात् अर्सेनी और दीर्घ अर्से'र'म् में कर्म ।

कमी-कमी तृतीय धेनी केवल संबोधन में प्रकट होती है। सत्ता (अ० हृत्) सत्तापम् (अ० हृत्वाइम्) संबोधन० सत्' (इ)या (अ० हृत्) पुमान् संबोधन पुम- कर्त्तरी० पुमन् संबंध पुंसः, कर्म० पुमांसम् विक्रित्वा'न् विक्रित्वाः, पिबिन्तु प ।

अनुनासिक के संबंध में शून्य धेनी के स्थान पर स्वर या व्यंजन हो आगवा व्योम्ब प्रत्यय का प्रारंभ व्यंजन या स्वर से होता है। उसी से इनमें तीन परिवर्तन-क्रम मिलते हैं।

पवा (अ० स्वा) कर्म० स्वा'नम् (अ० स्वा'नम्) संबंध० मुन्-अ (अ० मुनी) करण० बहु सच-भि ।

अंत में पर-मध्यय के परिवर्तन-क्रम संहित

पवा (अ० पाम्) पवा (अ० प'र'नी) प'बिभि (तुल्य पु अ० कर्म स्त्री० एक० प'र'म्) ।

सामान्यतः एक बृहते परिवर्तन-क्रम की प्रकृति पायी जाती है यह पाया जा सकता है

बीर्षं श्रेणी द्यून्व, उदाहरणार्थं -भा -न्-ए, -या -य-ए (दाबा० किमार्थकसज्ञा पोह) ताऽऽ (अ० स्तारो) स्तुभि (तुल० अ० स्तरैभ्यो) द्वारि दूर (यहाँ ईरानी में अ० द्वरैम् मिलता है जो प्राचीन है तुल० सै० क्रोरैस) नपात्म् (अ० नपात्तम्) नद्म्य, हारिं ह्वर (तुल० अ० वरैवा)।

बीर्षं श्रेणी अ श्रेणी। यह संयुक्त-स्वरवासे विकरण में मिलती है जैसे गौं गाम् (अ० गाउवै, गम्) यवाम् गोभि (अ० गवम् यवोवित्) और उन सज्ञाओं में जिनमें द्यून्व श्रेणी असंभव होनी चाहिए अप० कर्म० अप० संबंध० अपात्म् (अ० आपो, अपो अपम्) अंगिया संबंध० बहु० अगिरसाम् द्वि० मासा (तुल० पु० अत्र० कर्म० एक० नाहम् नसो)।

अ श्रेणी द्यून्व। उन बृहन्तो में जिनमें द्वित्व नहीं किया गया भवन्त्म् भवत् (किन्तु एक कर्ता० नपुं० बहु० ऋ० सगित रूप है) और इसी प्रकार बृहन्तम् बृहत् (अ० बरैवन्तम् बरैवतो) अप० त्रिम्य (अ० शिवापो, शिब्यो) कर्म० मग्म् सप्र० नरे नृभि (अ० नरैम्, नरोह, नरैभ्यो-भ)।

किन्नामूकक वर्तमान के प्रभावास्तर्गत विकरण युग्म में अनुनासिकता आ जाती है इसके फलस्वरूप उसमें अ अन् से तुलनीय लय-युक्त परिवर्तन क्रम उत्पन्न हो जाता है। अस्तु ऋ करण० मुजा संबंध० मुजः, कर्ता० बहु० मुज से विपरीत उच्च रूप मिलते हैं कर्ता० द्वि० युञ्जा जो मुजा कर्म० एक० १ युञ्जम् जो १५ युञ्जम् के निकट है वा०सं कर्ता० युज् (युञ्ज् के स्थान पर)। विधि अनी प्रकाश में नहीं आई सैटिन कोमिउ (नृ)स्य अवेस्ता में कर्ता० अहमरैन्त्से से निकला संबंध अहमरैन्त्से है तुल० मरैन्त्से।

सामान्य रीति से परिवर्तन-क्रम वैदिक और अवेस्ता के एक ही आहृतिमूकक वर्गों में आते हैं उनके कुछ स्फुट मन्माबधेय हैं जो अपने को पूर्ण या सबुद्ध बनाते दिखायी देते हैं उदाहरणार्थ बहु० संप्र० नद्म्य जो नपात् से है से त्रिम्य अवेस्ता में संबंध० एक० नपुं० अदि० बहु० नपुं० मिलते हैं वैदिक में कर्ता० एक० बें है, अवेस्ता में यवोवै। किन्तु यह साक्षर्य पूर्ण नहीं है नपुं० के मुख्य काल एक० के रूपमात्र-इ का प्रभावित होना एक भारतीय नवीनता है परिवर्तन क्रम प्रायः क्षुप्त हो जाते हैं वीसा कर्म० एक० और कर्ता० बहु० के संबंध में है कर्म० बहु० में अपि मिलता है जो विकरण उपपत्तौ उपात्त मिलते भी हैं नहीं भी मिलते बल्कि समी रूप-रचनाओं में अपना बीर्षं अंध बराबर बनाये रखता है जब कि गाथाओं में एक० कर्ता० बाल्से,

संबंध० बर्षों धातु स्तु के निकट दुर्बल कारक में भी पाया जाता है जमा के निकट जमा करण० है संबंध० म० म० तर्कसे से भिन्न है स्वर से निकसे संबंध० सुरुः जवेस्ता हूरो की भाँति है, जिसका रूप रचना के सामान्य प्रकार के अनुकरण पर पुनर्निर्माण हुआ है अकेले जवेस्ता में संबंध० स्वान्तु का परिवर्तन-अम र् न् में सुरक्षित है। फलतः वैदिक पुरुहताओं में प्राचीन उपस्थिति के अतिरिक्त और बातें भी हैं।

३

वैदिक संज्ञाओं के एक बहुत बड़े भाग में सुरु सभी रूप रचनाओं में निरंतर एक ही स्वरान पर बना रहता है (घीं, गांय, एभाम्) इसके अतिरिक्त बहु मूक से प्रत्यय की ओर जाता है आप अपामि पदिम् परं पुंस्त्रिय महा मपु० महि, संबंध० महा पशु, पस्व०।

भारोपीय में स्वराभाव के समुच्चय का सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है, जिसके बिना लक्ष्यों के विस्तार में सर्वत्र अविच्छिन्नता बनी रह सकती है। श्री कुरीपोविच कुछ बातों में जवेस्ती से सादृश्य उपस्थित कर सके हैं जिनमें स्वराभाव स्वर-संबंधी ध्वनि पर अपना प्रभाव छोड़ जाता है

संबंध बसो, ज० बद्बहासै किन्तु मृत्पों, ज० मरठ्यमोसै

संप्र बसने ज० बद्बहने किन्तु महें म० मबोइ।

किन्तु जसी में जहाँ प्रमाणीकरण संभव है भारतीय और ईरानी में पूर्ण साम्य नहीं मिलता। शेष पशु और पशु मति और मति जैसे एकमूकक मिभाभी दाबों में से एक यह प्रदर्शित करने के लिये यथेष्ट है कि वैदिक भाषा के कुछ प्रागैतिहासिक परिवर्तन कम सुप्त हो गये हैं।

तो प्रत्येक दृष्टिकोण से वैदिक भाषा में प्राचीन बातें मिलती हैं और उसमें वास्तविक प्राचीन प्रयोग सुरक्षित मिलते हैं किन्तु प्राचीन प्रमाणी पूर्णतः प्रतिबिम्बित भी नहीं होती और उसमें नवीनताएँ दृष्टिगोचर होती हैं परन्तु इतिहास ही यह प्रदर्शित कर सकने योग्य होता कि ये नवीं बातें उसकी ध्वनि की प्रतीक हैं या उसके विनाश का पूर्वजात।

नाम-प्रत्यय

संस्कृत और ईरानी प्रत्ययों के रूप और विभाजन समान समान रूप से अल्प अल्प होने की स्थिति में हैं।

एकवचन

कर्ता० कर्म० अथेत्तन विकरणयुक्त संज्ञाओं में प्रत्यय-न् क्षत्रम् (अ० ऋतेऽरेन्) । अविभक्तयुक्त में कृत्य प्रत्यय म् (मठेत्) स्वद् (हृत्), मन् (मने) महत् (मवत्) । पूर्ण साम्य ।

कर्ता० चेतन जहाँ कहीं परिवर्तन-कर्म कर्ता० का कर्म० से अन्तर स्पष्ट करने के लिये यथेष्ट है, कृत्य प्रत्यय जो मारोपीय नियम के अनुसार है पिता (पित) स्वा (स्वा) सखा (हृत्) और साधुस्य द्वारा हृत्वीं (धनुष ईरानी कर्म नहीं है) । इसके अतिरिक्त ह्रस्व अथवा, प्रत्यय-न् बुक् (बहको) गित् (गिरिसे), क्तु (घण्टसे) पंवा (पम्भं) इसी प्रकार एकाकारत्वक स्था में गौं (गावसे) क्षी (क्षी) री, रीं मू., रीं रें । कृत्य रूप के अन्तर्गत *मा *वा पर प्रत्ययों वाले व्युत्पन्न स्था में सर्वै स्वम् (अ० सोकस्व किन्तु अ० ततुसे जो कर्म० तनूम् से मिल है) पापा जाता है, किन्तु मप्ती और रेर्षी दो प्रकार की इसी प्रकार अथेत्ता की गामाओं में बर्तवती (सं० बृहती) और वाऽरिसे (तुल सं० अनित्री) मिलते हैं पु० क्रा० में हरीवतिसे है जो अ० वास्वतीसे से मिल है ।

अन्य व्यंजनों के समुदायों के बाव अंस की अपेक्षा अन्य अंशों का कोप होता है जिसके फलस्वरूप शुक से ही संस्कृत में प्राचीन ईरानी की अपेक्षा-न् बहुत कम रहे हैं फलतः व्यंजन और ऊप्य भूमियों से सभी विकरणों के बाव कर्ता० बिना अपने विशेष प्रत्यय के दृष्टिगोचर होता है वाक् (अ० वाक्से, अ० उजोक्स) स्पद् [अ० स्पसे, अ० स्वेक्स] विद् (अ० वीसे) (अत)मु क [अ० (कोत्)इजक्स] पत् (अ० पेस्), अपाक (अ० अपाक्से) जो *अपाकम् के लिये है, कन्दत् सप् (सप्त स्वर से पूर्व वेद में -न् एक बावित् वाके अन्तर से पूर्व दृष्टिगोचर होता है —अ० ह्रमस् पूर्वकन्दत् विद्वान् (अ० विद्वन्, प्री० एवेदेत्) की माति संबंधवाचक विशेषण स्वामान् (अ० स्वाम्, तुल० प्री० -न्एइस) की माति तुलनात्मकों वस्यान् (तुल० अ० स्पन्मं) की माति वृत्त ऐसे रूप हैं जो विभुद्ध मारोपीय हैं ।

कर्म० चेतन स्वर-संबन्धी विकरणों के लिये -न् अक्षम् (अ० अक्षम्), क्तुम् (अ० क्तुम्), क्षाम् (अ० क्षम्) पाम् (अ० पाम्) अन्य में ईरानी (तुल० प्री० पौं) की माति -अम् पावम् (अ० पावम्) स्वाम् (अ० स्वाम्) ।

संबोधन० मारोपीय काल से प्रत्यय (पूर्ववर्ती स्वर आक्षेपकता से अधिक बीर्म हो सकता है) का और अब स्वरान्तर होता बावित् स्वरान्तर का अभाव होता (तुल० प्री० अवेल्से अवेल्पोस् पठेत् पठेत्), अमुर (अ० अमुर) पितर (तुल० अ० वावर्) मय्यो (अ० मय्यो) विश्वमन (तुल० अ० इमनो) । पूर्व विकरणों में -अम्

वाले विशेषों में तुलनात्मकों में -स् प्रकट होता है विकृतः, ओजीय । -आ वाले स्त्री० में ईरानी के साथ पूर साम्य बराबर मिलता है, मरवे सुमने तुल० अ० इएनूर् । सादृश्य द्वारा बेबि यमि अघर्ष० वयु (तुल० अ० बडरहि) बने हैं ।

कारण० वैदिक भाषा में भारतीय-ईरानी की समय स्थिति ज्यों-की-त्यों पायी जाती है । प्रत्यय -आ ।

ध्वंजन-संबंधी विकरण भाषा (अ० अर्ष) पदा (अ० पा०अ) मनसा (अ० मनइह) जना समा (अमा) वृषणा (वर्षण) ।

विकरणयुक्त यथा तुल० अ० वस्तां किन्तु इसका पुस्तिका रूप बहुत कम मिलता है, -आ वाले विकरण स्वर्ण जिह्वा (तुल० पाषा० इएना) भारत-ईरानी में प्रयुक्त होने वाले रूप जिह्वया [तुल० अ० इएनय] -इ और -उ संयुक्त विकरण सस्या [अ० हसे] कथा [अ० कूरथा] भारतीय-ईरानी में चिती (अ० चिस्ति), किन्तु ख्रेण के अनुस्यू भारतीय भाषा में नियमित संज्ञा-रूप नहीं हैं ।

स्वर-संबंधी विकरणों में संस्कृत में कुछ नवीन रचनाएँ पायी जाती हैं और वे सब केव द्वारा प्रमाणित हैं और जो कर्त्तवीकक युग में अन्य रचनाओं का स्वान ग्रहण करने वाली थीं स्वर के वीर्णिकरण द्वारा उत्पन्न प्रत्यय विभिन्न हल-य-वर्ग का कारण वा (हि० के संबंध में मनु० बनु० के संबंध में अम्यवस्था के क्रिये, बेखिए कर्णा० एक० के संबंध में) इसके अतिरिक्त अन्य रूपों की सापेक्षिक दुबलता के कारण अथवा किसी अन्य कारण से संस्कृत में स्वर-संबंधी विकरणों के प्रत्ययों का समूह मिलता है ।

-न् की सहायता से ही संस्कृत में ये नवीन कारण० बने ये विकरणयुक्त में -एन आवेद से उत्पन्न बहुव-से -आ पर लाया हुआ है ज्ञातान ज्यों में यही अकेला प्रत्यय रह जाता है । -इ और -उ से युक्त संज्ञाओं में -यां -आ वाले प्रत्यय स्त्री० तक सीमित हैं और साथ ही -मया के समकक्ष हैं । पु० और मनु० में दो प्रत्यय मिलते हैं जो अनु-नासिक हैं वह प्राय मिलता है ।

संप्रदान भारतीय-ईरानी की विशेषता * -ए है फलतः ध्वंजनवात संज्ञाओं में वृहत् (अ० वर्दीते) पिर्ने (अ० पिरे) बसने (अ० बइहने) मिलते हैं । विकरणों में संस्कृत में केवल सर्वनामों (जैसे अ० अहमाह) में अ० अहुपाह से स्वर-संधि-युक्त संयुक्त-स्वर है सामान्य रूप तो असुपाह है, जो निश्चित रूप से भारतीय नवीनता नहीं है तुल० पाषा० अहुपाह मा' और साथ ही एक उच्च 'याताया' में किन्तु इस संबंध में संस्कृत के क्रिये ही यह सामान्य बात कही जा सकती है ।

स्त्री० में सं० देव्ये और अ० बइहुपाह, और साथ ही सं० सुयोनी और अ० इएनयाह के बीच का साम्य मध्यवर्ती अ के मात्रा-वाक की जपेक्षा केवल अनुकूलन-संबंधी हो

सकता है अथवा परस्त्री व्यञ्जना का परिमाण है। हर हास्य में करम० को छोड़ कर मीन कालों क सभी -आय अक्ष के प्रयोग की दृष्टि से संस्कृत का ईरानी स साम्य है।

संबंध० व्यञ्जनजात विकरणों में वैदिक और ईरानी दोनों भाषाओं में एक ओर *—अस् अप (अ० अपो) वाच (वर्षा) फ्रुवा (स्त्रुवा) है दूसरी ओर गुण के पूर्व-प्रत्यय वाले रूप के साथ *—स् गिरे (मरोहसे) रों (एयोसे) (पतिरु) दन् (तुळ० अ० दमान् पतिसे) है मूल में -अरु से युक्त संज्ञाओं में दृश्य श्रेणी मिलती है पितु (तुळ० अ० लरंते, किन्तु सं० नरः पुतरंभमा है)। यही प्रत्यय दीर्घ स्वर वाली संज्ञाओं में है बहुव्या०, तुळ० अ० बरंवेत्सं जिह्वाया, तुळ० अ० दएनपूर्व।

इन साम्यों का पूर्ण विस्तार नहीं मिलता है, जैसे परब का पस्मांडस।

विकरणयुक्त रूपों में असुरस्य (अ० अहुराया)।

अपादान विकरणयुक्त रूपों को छोड़ कर संबंध० क संबंध म दृष्टिगोचर होता है सौमाद् (अ० ह्योमाद्, तुळ० मि०रा०-अ) इस दृष्टि से अवेस्ती बिसमें अस्य बत्य का अन्य विकरणों में विस्तार पाया जाता है की अपेक्षा संस्कृत अधिक प्राचीनता-मिय है।

अधिकरण व्यञ्जन वाले विकरणों में प्रत्यय -इ मनसि (मनहि) मरि (नरि) विधि (वीसि वीस्य) तन्नि (तन्नि) विकरणयुक्त अ के साथ मिलकर इय -इ से -ए प्राप्य होता है इरे (दुररे इरण) हस्ते (बस्तय-अ)।

प्राचीन काल में यह -इ परसर्गात्मक निपात अव्यय के रूप में और प्रत्यय-रहित अधिकरण मारुतीय-ईरानी में एक बहुत बड़ी संख्या में था ही। उसका -न् से युक्त विकरणों में मिलने वाले अन्य विकरणों के साथ सह-अस्तित्व वा बहुन् (तुळ० अ० अय् मन्) अज्मन् (तुळ० बरंस्-मन्) -ई और -ऊ से युक्त में नहीं तनु (एक तदाहरण अवेस्ता में केवल तन्नि है—अ० 'तन्नि' उ उवा०) परद् (तु० प्री० परंसा) जैसे धिया विशेषणों में और एक ही स्वर-संबंधी श्रेणी में -इ और -उ से युक्त विकरणों में ही।

-उ से युक्त विकरणों में अ० परंते गा० अद्-अ की मति -ओ की संभावना प्यती है संभवत एक अकेले सानो जो कठोर उच्चारण में सुरक्षित है, जो छोड़ कर, संस्कृत में केवल -ओ मारुत य-ईरान *—आह है वही जो गाबा० बह्रात की मति है, जिसके समीप अ० बह्रात इसके स्वर्ण विपर्यस्त रूप से संस्कृत में बस्यवि है जो अ० ईन्हो ईन्ह से मिल है।

-इ से युक्त विकरणों में *—आह, जिसकी संभावना की जाती है नहीं मिलता यही केवल धनि-संबंधी (या उच्चारण-संबंधी ?) एकमूलक भिन्नार्थी शब्दों में से एक में -आ मिलता है, अर्था सुता, तुळ० अ० गद, ऐबी-दरंस्ता। मह

अनुमान किया जा सकता है कि यह एकमूकक मिश्राधी संज्ञों में से एक में *आत् के स्थान पर भी रहा है और उसी से अर्धों गिरों इष्टों के -ओ (स्वर से पूर्व -आम्) उत्पत्ति हुई है तुल० ऐसा ही ईरानी में म० गये।

धीर्भ स्वर-युक्त स्त्री० में भारतीय भाषा में -आम् प्रत्यय है सरस्वत्(इ)माम् (पु० छ० हरह्रुवतिया) स्वभु(ब्)माम् उसुराम् प्रीषामाम् (अ० प्रीषय)। केवल स्वर भारतीय-ईरानी है संस्कृत -भ्यां से भिन्न म्याम् के द्विवचन की भाँति अनुनासिक ध्वनि जुड़ जाती है वह ईरानी में असाधारण रूप में मिलता है म० हुबर्त्तुजम् जो हुबर्त्तो के समीप है (तुल० सं० भृत्याम्)।

द्विवचन

कर्त्ता कर्म । ईरानी से पूर्ण साम्य।

अधेतन संज्ञाओं में -ई प्रत्यय वसीं (असि) सत्ते (सैते) इसी प्रकार -जा (प्राचीन समूहवाचक) से युक्त स्त्री के लिये यमें तुल० म० चर्बैरे रमें (गाभा० चर्बे)। अन्य ह्रस्व स्वर-युक्त धेतन संज्ञाओं में वह धीर्भ हो जाता है पुत्रा (पु०र) बाहू(तुल० मैन्यु) किन्तु छात्र ही बाह्वा मी म० बाबव पती(तुल० म० मीरि) इसी भाँति -ई से युक्त विकरणों के छिये देवीं की भाँति है (तुल० अ० अवी)। व्यंजन और -ऊ से युक्त धेतन संज्ञाओं में प्रत्यय -आ और -औ हैं जिनका उस अंश के परचात् विमानन हो जाता है जो वाक्यांश में आते हैं या की प्रमुञ्जता मासा (मूर्धन्) मय (मर) स्वाना (स्वान) पाशा और पाशी (प०अ और प०ओ) पितर्य और पितरी (पितर्) बृहन्ता (बर्त्तन्त)। विकरणयुक्त संज्ञाओं में भी बराबर -ओ है जो -आ के समीप है हस्ता और हस्ता (बस्तो)।

करण सप्र० अथा० सामान्य ईरानी प्रत्यय है पु० छ० -विया म० गों जिसके स्थान पर संस्कृत में -म्याम् पितृम्याम् (तुल० अ० नर्त्तव्य) है। अथेस्ता में दो बार एक ही ध्वनि (ब्रह्मव्यंजम्) में अनुनासिक ध्वनि प्रमानित होती है उसका मूल निस्संदिह भारतीय है ईरानी से पूरक होने की दृष्टि से संस्कृत में तो भारतीय-ईरानी प्रत्यय के प्रयोग का विकास ही हुआ है।

इस प्रत्यय से पूर्व विकरणयुक्त संज्ञाओं में एक धीर्भ स्वर होता है ईरानी में छाकारणक एक संयुक्त-स्वर हस्ताम्याम्, अ० अमृतएभ्य पु० छ० बरत्तविया ईरानी में मयु के छिये केवल दोहृषिध्वय है यहाँ ऐसा स्वतंत्र प्रचाली हाप हुआ है।

संबंध० अधिकरण संस्कृत का -ओ प्रत्यय अथि० भारतीय-ईरानी *ओ,

अ० -ओ और सवध० * -अस् अ० -अन् -अं के प्रत्ययों को मिला सेता प्रतीत होता है (नामानिष्ठ वी० एष एष० XXXIV पृ० २५)।

बहुवचन

अचेतन कर्ता० कर्म० वैदिक भाषा और ईरानी में निम्नता है। अबस्ती में प्रत्यय -इ (गाया० सास्त्रुव्यानी तुळ० सग्वारुवा) के केवल कुछ ही उदाहरण हैं जो सम्बन्ध में सामान्य हैं चत्वारि मनासि (गाथा० मनुष्यं) विपर्यस्त रूप में ध्वन्य प्रत्यय ने जो अवेन्ती में प्रचलित है नाख में केवल कुछ दुर्लभ चिन्त छाडे हैं। उनमें केवल स्वर-सवधी विकरणा में साम्य है वह इस अर्थ में कि ईरानी की मति वैदिक भाषा में वीर्य स्वर-युक्त प्रत्यय के कुछ उदाहरण सुरक्षित हैं अथा (खोँर) श्री (ठी) गुरु (पोडक) इसी प्रकार अनुनासिक-युक्त विकरणा के लक्षण में नामा (नञ्जम)।

किन्तु इन अनुनासिक-युक्त विकरणों में मनीनता के प्रवर्तन का सिद्धांत पाया जाता है जो भारतीय की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। पृथक् ही समय उसमें वा नामा नाम और नामानि जा ईरानी की मति है (एक ओर नञ्जम इमरी और नामुअन् और समबत नामुआनि)। इसमें अर्था प्रकार की ओर अर्था प्रकार को आकषित किया है जो पहले की अपेक्षा ऋ में लगभग बहुत है भी और जो प्रभाव की दृष्टि से प्रायः मनावाहित धीसो के साथ सम्बन्ध किया जाता है अथर्व० में नवीन रूप के विकल्प-विह्वल मिळते हैं इस प्रकार का विस्तार त्रिंशि पुरुषिक तक होता है।

इसके अतिरिक्त प्रारम्भ से ही संस्कृत में सन्धि पृथवान्ति प्रकार के मध्य-अनुनासिक का प्रसार -स् युक्त विकरणों तक हो गया था मनासि (तुळ याथा० मनुष्यं) हवीं पि यह ठा बाद की परिणाम दृष्टियोंवर होता है कि अनुनासिक व्यंजन अथवा मध्यवर्ती व्यंजन से मध्य काल गपु० बहुवचन का कार्य संपन्न होता है इसके विपरीत पूर्व-प्रत्यय नाम सव्योच की वीर्य अथवा परंपरानुगत विशेषता का प्रयोग बन्ध हो जाता है उससे अथर्व० बृहन्ति पा० -बृन्ति -अञ्चि -युञ्चि।

चेतन कर्ता इस दृष्टि से वैदिक भाषा बहुत प्राचीनता-प्रिय है *ए अणी के व्यंजन-संबंधी विकरणा के परचात् -आ भाप (भापो) मिरय (परया) धीवन्तः, तुळ० अ वृत्तवन्तो -आ विकरणयुक्त और -आ युक्त स्त्री० में अत्वा (अस्य) सेता (हएन तुळ उद्वर्ध्म) और इसी प्रकार बृहजो (बृरुवतीसे) -अ युक्त पुल्लिङ्गों में इसके अतिरिक्त प्राचीन ध्याति-युक्त प्रत्यय मिळता है अरवात् (अस्यवन्हा) जो वैदिक में कुछ स्त्री० विशेषणों तक ध्यात् हो गया है (वृमि-वन्ति)।

वैतन कर्म० अविकरण-युक्त -अ-अ०-ओ सिद्धांततः कुछ विकरणों के परस्पर अप (ओषो) भीषत (तुल० इर्मर्गवणो) ह्यम् (किन्तु स्थानो) । स्वर-संबंधी विकरणों का संभवतः वही रूप है जो भारतीय-ईरानी में किन्तु कुछ बोझ-सा अन्तर है मत्(इ)मान (गामा० मसैय्यान्गु अ० मसैय्यस्वं सं० मात् व) सना (तुल० उर्वर्त्सं) और साप ही मसूवी (बदलहीवें) किन्तु गिरीन्, ऋन् जो गीरींसे आरतसे ।

करव० सं० -मि-अ० बिसे । विकरणयुक्त में -रामि और -ये का साम्य मर्द(इ)ये, मर्द(इ)येमि, अ० मसैयाइर्व, पु० छा० मरुतिवैवित् (फारसी में केवल यही अकेला प्रयोग है, अनेकता में सगमय विलुप्त नहीं है) ।

अपादान -म्य-अ०-म्यो ।

संबंध० इसमें भी वैदिक भाषा भारतीय-ईरानी की स्थिति सुपरिचित रहती है । अंबज-संबंधी विकरण -आम्-अ०-अम्, प्रायः द्वयस्यारामक अपम्(अपम्) बृहन्मि (वर्तकत्तम्) । स्वर-संबंधी विकरण -आम्-पु०-का -नाम् अ०-अम् मत्पानाम् (मसैय्यान्कम् तुल० पु० अ० अयाताम्) उर्वर्यानाम्, (तुल० पञ्चोत्तरम्) विरीशाम्(गीरिन्कम्) पुष्कान्(पोडल्लम् पु० अ० पक्षान्) और अकेली भारतीय भाषा में यौनाम् जो गशाम् (यद्भय्) के निकट है और विशेषतः -रु युक्त विकरण नृगम् जो गराम् (नदृम्) के निकट है, पितृनाम् (तुल० दुर्मर्इयम्) विकरण युक्त में -आम् वाले कुछ उदाहरण बेद और अनेकता में सुपरिचित हैं (वैशम् अर्द्धवर्षम् आदि) ।

अविकरण दोनों भाषाओं में बराबर सं० -नु(-यु)-अ० पु० छा०-मु-नु-ह (जिसके साथ प्रायः-अ परसर्ग जुड़ा रहता है जो अन्य रूपों में वृष्टिगोचर होता ही है) ।

नाम-संबन्धी रूप-रचना

तो संस्कृत का प्राचीनतम संज्ञा-रूप सम्यक वृष्टि से पुरातन है और भारतीय-ईरानी के निकट है उसमें वह बिना उस रूप रचना के ही निकला है जिसे ठीक-ठीक धियादिशयणजात काक कहते हैं जो ईरानी क्रेटिक और हर्टीक को छोड़ कर सब अमह मृत हो गया है ठी सं० निबुर्नीह- वसीह- प्रार्मीन् तुल० अ० एस्तेवुये सी० कृषीकेसीवर । किन्तु साथ ही उसमें कुछ ऐसी नवीनताएँ हैं जो साधारण पुनर्निर्माण नहीं हैं और जो स्पष्टतः संस्कृत को ईरानी से पृथक् करती हैं -आम् युक्त संप्र० एक पु० नपु० का -ओ युक्त अविकरण का -मी युक्त वि का सामान्यीकरण,

द्वि० के तिर्यक् प्रत्ययों अल्प-न् और विद्यपत् -न् का करण० एक० और कर्ता० कर्म० यह० के विविध रूपों में कार्य।

वेद में प्राचीन रूपों के जाने से यह निस्संदिग्ध प्रकट नहीं होता कि सामाजिक भाषा की वास्तविक स्थिति क्या थी। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के पाठ में पाय गये पुरातनत्व के सम्बन्ध में सामान्य अनुमान का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि उसमें एक ही कार्य के लिये विभिन्न रूप हों। अबका मध्यकालीन भारतीय भाषा में जल्दी जा रही एक रीति के अनुसार, बहुत-से प्राचीन रूपों का महीन रूपों के सामिश्र में प्रयोग करने का उद्देश्य साहित्यिक प्रभाव उत्पन्न करता रहा है उसी से है बिस्वा जातानि बिस्वा वसुनि बिस्वा ज्ञेपाधि और विपर्यस्त रूप में बिस्वानि दुर्गा इसी प्रकार त्रीं पूर्णा—पदानि जो त्र्योपि पदां से निम्न है पुरु वसुनि और पुस्वि वसु। पुपतन रूप, श्लेष-मह दूधरे के कारण कमजोर होता है यही कारण है कि ऊपर दिग्गानि १ ६४५, इति दीर्घमुत् ८. २५ १७ जैसे रूप मिलते हैं। संज्ञों में यह प्रणाली मिलती है कर्ता० बहु० की तुलना की जा सकती है

बृहद् बरेम विर्ये सुर्वोरा २ १ १६

तथा सुर्वोरातो विदवम् आ बरेम २ १२ १५

अथवा करण० बहु०

यातम् अस्वेनिर् अविषमा ८.५ ७

तथा आदित्येर् यातम् अविषमा ८ ३५ १३

अथवा और भी

अद्विरोमिर् आ गहि यद्द येमिः, अ० १० १४५

तथा अद्विरोमिर् यद्विदैर् आ गहीह अयर्व० १८ १ ५९

वास्तव में प्राचीन रूपों के संख्या अधिक नहीं मिलती अधिक प्रबल कारण की वजह से अक्षरबद्ध मूक्य पुपतन किन्तु सामाजिक प्रयोग की दृष्टि से निम्न में बहु महीनता प्रसिद्ध होती है जो नैसर्गिक स्थिति की ओर झुकी हुई भाषा में दृष्टिगोचर होती है। अस्तु, रूपों की तात्पर्य के आधार पर अस्वेद की भाषा-संबन्धी स्थिति पर कुछ सोचना प्रकट होया उनकी तुलनात्मक गणना और उनके साहित्यिक प्रयोग की समीक्षा से यह प्रकट होता है कि बहुत बड़े अक्षर के पहले के अक्षरिण्ट रूप हैं।

वेद के स्वयं अस्वेद में मनेष्ट रूप में प्रचुर, विस्तार-प्राप्त रचनाओं के प्रभाव मिलते हैं जैसे वयाम् के निकट संवय० बहु० यौनाम् अक्षुप के निकट अयादान० एक० अक्षो अथवा और भी महिना मूर्ता प्रकार का करण० एक । अजीब बात यह है कि नैसर्गिक संस्कृत में जो अक्षरबन्धनों की संख्या कम करने प्रवृत्ति प्रकट करती है कई बार

परंपरागत रूपों के प्रति मोह पाया जाता है। उदाहरणार्थ उसमें केवल मर्यादा सुरक्षित है। वह भी गोलाम की अपेक्षा अधिक नियमित रूप से। तो मध्यकालीन भारतीय भाषा (पाठी मोन पुम) परिष्कृत रूप की दृष्टि प्रमाणित करती है। यह बात कि करण० बहु० विकरणयुक्त में कर्म-से सुपरिचित रहता है। तो उस समय समस्त सर्वत्र टप-यमि की विषय निर्धारित करते प्रतीत होते हैं (जिहकी पुष्टि मध्यकालीन भारतीय भाषा द्वारा होती है) जिससे संभवतः यह प्रबोधित होता है कि जो नवीनता की और जो वास्तव में भारतीय की पुरानी पररणी के प्रयोग की दृष्टि से समानांतर की न कि एक-ही।

वास्तव में कर्म-सीकक संस्कृत की विशेषता कम-से-कम जिसमें व्याकरण सुपरिचित है—क्योंकि उच्चारणकी ही नवी-नयी और प्रचुर भाषा म होती जाती है—अवमृद्धता है। सांस्कृतिक भाषा संस्कृत में स्नेहतापूर्वक या अनिच्छापूर्वक धार्मिक भाषाओं का अनुसरण किया है। अथवा उन्होंने भाषा में अन्य भारतीय भाषाओं की भाँति समृद्ध धार्मिक सिद्धान्तिक रूप का आदर्शिकरण और सरलीकरण किया। यही कारण है कि संस्कृत में वीसा बेला का चुका है—एम् -मी -आमि से सामान्य -आ मुक्त संविभक्त प्रत्ययों का परिवर्तन कर दिया है—इ और -उ मुक्त विकरणा में उसने अर्थ -अथक प्रकारों का परिवर्तन किया—अन् मुक्त विकरणा का प्रत्यय-विहीन विकरण सुष्ठु ही जाता है। आनन्दन कर रही गयी पुनरावृत्तता को छोड़ कर, और विकरण स्वयं अन्य विद्वत् रूपों की स्वयंमिति ग्रहण करता है (मूर्धनि यति नाति) -अथक वाले दिशयनों के -अ मुक्त सवोपन का स्थान अथर्ववेद का -अन् ग्रहण कर लेता है। -उ और -इ से मुक्त रूप में -म् का विकरण केवल धनी आवि स्वर वाले प्रत्ययों से पूर्व रहता है और -यन्ति -मासि की अनुनासिकता -उम्भि आदि तक व्याप्त हो जाती है। इदन्तो का भाषा-काष्ठ पुस्तिक में पुनर्निकल जाता है। अन्ति संस्थ की तरह। किन्तु ये ही अकेले स्फुट रूप नहीं है जो अपने को स्थिति के अनुकूल बना लेते हैं, ये ही अन्-अथक समुदाय नहीं है जो अपनी रचना करते या परस्पर निकट आ जाते हैं। स्वर-संयुक्त मूल विकरण व्युत्पत्ति वाले उच्चों में अन्तर्निकल जाते हैं। जैसे अन्वेद से पुस्तिका गोप्य व निकट गोप्य (कर्म० बहु० गोपन्) है और स्त्री० प्रजा जो पु० स्त्री० विभिन्ना के निकट है। नवीन रूप तो केवल कर्म-सीकक संस्कृत में मिलता है। कुर्णों और बेर्णों के तिर केवल एक तिर में मिल जाते हैं जिसमें वे -आ वाले स्त्री० के सजा-रूप के साथ धातुत्व को प्रमुख बना लेते हैं।

दूसरी ओर वे उच्चार्थ विनया मूल बीर्ण स्वभावतः बाला होता है उनके साथ सम्बन्ध हो जाने की प्रवृत्ति प्रकट करते हैं। विनय में स्वर ह्रस्व है। धातु-वि-मूक्य परिस्थितिवा से इस कार्य में सहायता मिलती है। वास्तव में दीर्घान्त रूपों की रचना में संक्षिप्तीकरण

हा जाता है जैसा कि एक ओर सेर्नाज् और पूषिविष्ठा में मिलता है और दूसरी ओर योष में। निस्तान्देह अन्त्यों की दुर्बलता न जो साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा में देखी जाती है उसे बराबर सहायता पहुँचाई है। अंत में -र युक्त संज्ञाओं का -रन् बाह्य संज्ञाओं में मिस्र जात की प्रवृत्ति मिलती है जिससे प्रथम में कर्म० बहु० -ईन्, द्वितीय में संबध० बहु० -ईनाम्।

परिवर्तन-रूप बम होते जाते हैं जिससे हैं राजान जैसे कर्म० -अत वासे वर्तमान कालिक इदन्त के कर्ता० बहु० उसी से वीयाकरणों द्वारा संपादित नियमों के रहते हुए भी अन्ती और -अती वाले इदन्तों के स्त्री० के बीच वास्तविक अनिश्चितता है।

सामान्य परिणाम सुब्यवस्था और अत्यधिक स्पष्टता के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

विकरणयुक्त और अविकरणयुक्त का पारस्परिक विरोध पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्ट हो जाता है करण० एक -एन -आ संबंध० बहु० -आमाम् -आम् करण० बहु -ए- -मि। ऐसी प्रकार का सामान्यीकरण और -इ -उ और -ई, -ऊ युक्त रूप रचना के स्वयं मध्यम एक विभिन्न स्त्री विकरण की रचना की प्रवृत्ति से निकलते हैं, बिसेम जिह्वा के घाय जो दूसरी ओर चन्द्रमा (-स् युक्त प्राचीन विकरण) और स्वयं बुद्धिवा (-र् युक्त विकरण) को वात्मसाद् करने की समावना है सबद्ध होने की समावना है। इस स्त्री० समुदाय के विपरीत पु नपुंसक० समुदाय अपना संकोच कर लेता है ष्ट० -यान्ति (सन्ति प्तवान्ति) -अन्ति हो जाते हैं जिससे पु० -अन्त (पदपाठ सन्ति जवर्षं बृहन्ति है ही किन्तु महन्ति महन्ति वने रहते हैं) साथ ही आम उसका अधिकारिक स्पष्ट विरोध स्त्री० समुदाय से मिलता है जो विकरणयुक्त रचना के प्रयोग के प्रसार के अनुपात में है।

अपवा इस रचना को मूल रूपों से वास्तव में छान पहुँचता है। इस प्रसार के पुराण की एक बात रूप रचना की कुछ अनिश्चितताओं में मिलती है उदाहरणार्थ पाँच पाँचो पाँच और पाँच से मनी मति सम्बद्ध रहता है तथा पदा पद् मा पद से दूसरी ओर, व्युत्पत्ति वाले विकरणों के अस्तित्व में जैसे -बुध -बुध अपने अविकरण युक्त को बृहत् रूप प्रदान करते हैं अत में उन समुदायों में जो भारोपीय है ही जैसे दम और दम्।

निस्सर्विह प्रथम प्रयाग जो विकरणयुक्त व्युत्पत्ति की वैदिक भाषा का निर्माण करता है मुख्य कार्यों के एकाकारों को अलग करने में है बारि जो बाः का स्थान ग्रहण कर लेता है, पु मान् जिससे पुंस् कर्ता० का काम निकलता है, एक ही समस्या के अ

साधारण समाधान है। इसके विपरीत भारतीय-ईरानी में मनु० इ इयम् अ० चर० ६ ययम्, वैयिक माया का उचुकम् (जिसका विकरण अन्य कालों तक प्रसारित हो जाना चाहिए), आस्येम् और स्त्री० पू तना (और फलतः पू तनासु जो पूत्सु के मिश्रण है) है ही नासिका, कर्ता० हि० नधि मधि पु० पधि को संभवतः पन् पन् (पन् का चार द्वारा विभाजन मात्र में अब भी प्रयुक्त है) से निकला मान लिया जाय तो मात्र तुल्य है मन् के जिसका अर्थ वास्तव में 'महीना' चाय ही 'चन्द्रमा' हो सकता है (कर्म० चहु० में यह मेव बना रहा प्रतीत होता है) और हर हालत में दन्त वन् का बुद्धि रूप है करण० बहु० दर्भिम अन्त में नर (रचना म० ब० प्रथम प्रमाणित) बीर सहित अन्ति० तौर आदि के मुख्य काल प्रदान करता है।

बार को यह व्याप्ति सभी दिकों तक में पायी जाने लगती है अ० उचरान्, आर्ता के निकट आस्येन विभिन्न अधि आस्ये अचर्ब० माताय माथानाम् उत्पन्नात् मनीम दाष्ट सामने आते हैं वा० हारम् उपनि० मन्तम्। साथ ही विकरणीकरण एकाकारों तक ही किसी प्रकार भी सीमित नहीं है।

अनेकाकारणों में अनुनासिकों का परिवर्तन क्रम वर्मन् के निकट वर्म की उत्पत्ति के कारण है अहा(नि) से निकम्ता है अहताम् के निकट संबन्ध० बहु० अहानाम्, शीर्षा(नि) अपा० एक० शीर्षत के हि० शीर्से और बार को अपर्ष शीर्षम् तै० सं० में भी कर्ता० यू पाया जाता है किन्तु करण० क मिये उसमें पूर्ण है ही (वा० सं० मूल्या)। अस् और अ मुक्त विकरणों का सह अतिरिक्त जैसे वनस् और वन में वर्म-आयस् के निकट अन्-आय-आदि को प्रोत्साहित करता है। किन्तु व्याप्तियाँ बिना किसी विशेष कारण के अधिक होती जाती हैं देवर बहुत ही प्र ही अपने को-तर बाकी संबन्ध सूचक संज्ञाओं से पूषक कर केता है अ० चिष्टप मनु० जिससे चिष्टम् स्त्री मुख्य काल उपलब्ध होता है विद्वत् रूपों तक प्रसारित हो जाता है (साम० चिष्टये अ० चिष्टये) उत्पन्नात् उत्पन्न होते हैं अपर्ष० कृष्ण महाकाम्य वा आनिय सुद्धर तुच्छात्मक भेष आदि।

इसी प्रकार-मा स्त्री की विधेयता प्रकट करने का कार्य करता है अ० सपामिन्, अचर्ब० अप्यरा कासे संबोध० 'जाती' जो अपा० कासे के निकट है अ० उपम् और वा सं सर्पा मनु० विशा पाणिनि निम्ना। इसके विपरीत-वा पु मुक्त विकरणों का प्रचलन बन्द हो जाता है पचेष्टा रचेष्टा क सधुा है किन्तु अ० के विपक्-के बार अचर्ब० का विधेय जाता है तथा बार को पक् प्रकट होता है। अहान्त्वम् के निकट कर्म० महान् भी पाया जाता है, किन्तु कर्ता एक० में केवल महान् और महः (स्त्री० महो) है विकरमयुक्त स्वर समाधी में स्थाव प्राप्त कर जाता है रत्नमिन्, रचेष्टेन

कर्म० योपम् वो योपाम् के निकट है एक विद् की रचना इसी प्रकार होती है जो प्रजा आदि का विरोधी है।

तो सम्बन्ध की गवीनताएँ एक ऐसी प्रणाली के मध्यवर्ती समुदायीकरण तक जाती हैं जिसका आर्य रूप और दुर्बलता और भी अधिक प्रबल हो जाती है क्योंकि बोसचाम की माया का विकास तीव्रता के साथ हो गया था। वास्तव में इन आसिक सुधारों के कारण एक ऐसा अधिक सामान्य परिवर्तन उपस्थित होता है जिसका वास्तविक रूप मध्यकालीन भारतीय भाषा में दृष्टिगोचर होता है।

सर्वनाम

सर्वनाम दो प्रकार के हैं पुरुषवाचक जिनकी एक विशेष रूप रचना होती है, और वे सर्वनाम जिनके विशेषण कहा जाता सकता है जिनके प्रकार हो सकते हैं, और जिनकी रूप-रचना में कुछ बातें नाम-संबन्धी संज्ञा-रूप से मिलती-जुलती हैं। इन दोनों वर्गों में संस्कृत में महत्त्वपूर्ण गवीनताएँ स्पष्ट होती हैं।

पुरुषवाचक सर्वनाम

एकवचन

मुख्यकारक कर्ता० अहम् (अ० अहम्, पु० अ० अहम्) त्(उ)वम् (नाभा० त्(उ)वम् पु० अ० तुवम् गाभा० तु, वाक्यार्थ के आदि में प्रमाथित संस्कृत में नहीं मिलता)। —कर्म० माम् (अ० माम् पु० अ० माम्) प्रत्ययार्थ मा (अ० मा) त्(उ)वाम् (अ० त्(उ)वाम्, पु० अ० त्(उ)वाम् एकाक्षरपर्यन्त), प्रत्ययार्थ त्वा (अ० त्वा)।

करण त्(उ)वा जिसका असाधारण रूप में अ० में प्रमाण मिलता है (अ० त्वा) भारतीय रचना त्(उ)वया के प्रति आरम-सम्बंध कर देता है उक्तम पुरुष में मया कमी नहीं मिलता।

संप्रदान ध्रुव से ही मह्यम् तु म्यम् भारतवर्ष के किये उचित अनुनासिक सहित। पहले के र्मा में अ० तु म्य कुछ स्थिति में पढ़ा जाता है, मह्य अक्षर के कारण प्राक् रिखाई पड़ जाता है। प्रथम तो मूक के भारतीयकरण के कारण है, तुल० याया० त्व्या इसके विपरीत दूसरा अ० त्व्या की अपेक्षा अधिक पुराना है, तुल० त्वी० मिही जो टिबी से निच है।

अपादान परंपरा से प्राप्त कर्मों के निकट मत्, त्वत् (अ० मत्, त्वत्) से जो संबंध और समान हैं उत्पन्न होते हैं अ० ममत् (संबंध० मम के आधार पर) और अपर्ब० मत् जो महाकाव्य से लप्त हो जाता है।

संबंध० तव (अ० तव) भारतीय-ईरानी है मत् वास्तव में भारतीय है (अ० मन पु० अ० मना) और संभवतः संस्कृत में होने योग्य साक्ष्य द्वारा उत्पन्न होता है।

प्रत्ययाद्य रूप में ते (गाथा मोक्ष शीघ्र, पु० अ० मीय् तीम्) संबंध० और संप्रदान क क्रिये समान हैं यह प्रीक प्रयोग है मे कर्म० के कुछ प्रयोग वेद में और फिर मध्यकासीन भारतीय भाषा में मिलते हैं जो उस प्रकृति का अनुसरण करते हैं जो इवर की बनेस्ता में और बाद की लिबुबानियन में दिखायी देती है।

अधिकरण ईरानी में एक भी बिनाप रूप नहीं है। अ० मयि लिबु द(उ)के अपर्ब० के त्वयि के पल में सृष्ट हो जाता है।

द्विबचन

स्वय संस्कृत में विद्व है। कर्ता क क्रिये भारतीय में एक ओर तो वा *ने अ० प्री० हापावत् वा प्रत्ययाद्य अ० कर्म० प्री० हापावत् वा और अनुनासिक संहित अ० कर्ता० प्री० हापावत् वाम् कर्म० अत्र० संबंध प्रत्ययाद्य वाम् इधरी ओर वा *यु, तुल छाहि० पु-यु, जिसके स्थान युवम में होते हैं, कर्म० युवाम् संबंध अ० युवाकृ (एन् स्तुयुविया इंडो-ईरानिका' पृ० १६५ क अनुसार *युव-जो का निरूपण हुआ) तुल० अ० यवावर्बम्। कर्म गा अर्जवावा सं वाह्यकों का यह प्रकार लप्त हो जाता है कर्ता कर्म० वानाम्। भाव और युव् के आधार पर ये विद्व बनी कटिनाई से बनते हैं जावाभ्याम् युवभ्याम् और युवाभ्याम् वा उठे हुए देता है युवों के स्थान पर धीम्र ही वी० सं युवयो (तुल० अ० एतो) अपर्ब एनयो भावयो अया० युवत् वी सं० यावत् हो जाते हैं।

प्रत्ययाद्य भी वे भारतीय भाषा के अनुकूल पुत्ररा प्रत्यय पहचान किया है (गा संबंध प्री० मूर्जों कर्ता० कर्म) वा संभवतः एक बार संबंध० की नाति प्रमाचित में संस्कृत अनुनासिक का सामान्यीकरण कर दिया है वाम्।

अनुबचन

संबंध० भारतीय-ईरानी है अस्माकम् युष्माकम् व अहमाकम् युसेमाकम् और इसी प्रकार प्रत्ययाद्य न व अ० मो बी भारतीय-ईरानी में ही पताकर है अपादान अस्मत् युप्नत् अ० अहमत् युसेमत् तथा एगम्य अनुनासिक में संप्रदान (अस्मम्यम्

अ० अहमैष्या)। किन्तु कर्ता० में मूषम् (तुल० याषा० मूषे का विस्तृत रूप मूषैष्याम्) वयम् (अ० वयैम् पु० आ० वयम्) के साबर्ष्य का फल है। अन्य रूपों में सामान्य प्रत्यय मिलते हैं अस्मान् तुल० गाषा० आहमा अ० अहम युष्मान् स्त्री० प्र० हा त्वम् युष्मा करण और अधिकरण (अस्माभिः अस्मान्) में रचनाएँ नितान्त नवीन हैं (तुल० अ० त्वैमा करण०)। इसके अतिरिक्त मग्न विद्युत रूपों अस्मै मूष्मै को अलग करते हैं जो 'ये त' के आधार पर स्फुट रचनाएँ हैं बाह्यार्थों में निर्दिष्ट रूप से नहीं रहते।

सर्वनामजात विशेषण

संस्कृत में कुछ ऐसे सर्वनाम हैं जिनका सिम परिवर्तनशील होता है किन्तु रूप रचना की दृष्टि से विशेष्यों और विशेषणों से अलग आधिक साम्य रखते हैं। वे अधिकतर भारोपीय से आये हैं अथवा भारोपीय अर्थों से निर्मित हैं।

(१) सर्वव्यापक य अ० य। ईरानी में यह सुरक्षित नहीं रहा और पुरानी फारसी में तो उसका स्थान निश्चयवाचक ह्य त्य (स० त्य त्य) ग्रहण कर लेते हैं भारतीय-आर्य ही भारोपीय भाषाओं में एक ऐसी भाषा है जिसमें यह अब तक सुरक्षित है और उसे अपने दुर्बल वाक्यांश का आधार बना रखा है (साथ ही उससे निकले विशेषणों और क्रिया-विशेषणों को)।

(२) प्रयत्नवाचक क- कि- (और क्रिया-विशेषणों में कु-) संस्कृत में कठप (भारोपीय का कट्योप्य) का ध्वनि-संबंधी परिवर्तन कम नहीं मिलता क- कत् (अ० कत् कत्) के निकट उसमें अ० अह्या होमरिक ग्री- रोमो के अनुरूप अथवा पितै, किम् ग्री जिस के अनुरूप नहीं बरन् कस्य कि- (ग्री० हाप क् माकि गकि वाले समुदायों को छोड़ कर) किम् अ० कीम् है चित् (अ० चित्) के अठ निपात के रूप में आता है।

निश्चयवाचक ईरानी की भाँति द्वित्वयुक्त प्रयत्नवाचक के रूप में अथवा प्रयत्नवाचक (अकेले या सर्वव्यापक के बाद) के रूप में आता है जिसके बाद म य और विशेषण चित् बाद को आये रहता है।

विभिन्न भावुतिमूक अथवा निश्चयवाचक जिनकी भारोपीय सं प्राप्त विशेषणों की विवरणों का योग है जिनमें एक केतन कर्ता० एक की दृष्टि से प्रधान होता है।

भावुतिमूक स() सर्वात् भारोपीय है ग्री द् लैम् दीर्घ ए सर्वात्। उसका प्रयोग प्रायः होता है। उसमें जोर देने का भाव ही सञ्ज्ञा है और साथ ही अपने को शक्य दुर्बल बना सञ्ज्ञा है कि वेद में स निपात की तरह आता है और गद्य में उसे साधारण उपपद के रूप में माना जा सकता है, यद्यपि यह स्वयं भारतीय-आर्य में उपपद के रूप में था। एक व्युत्पत्ति वाला रूप है स्य त्य जो अ० में मुख्य काळ के सिद्धे सगभय

सुरक्षित है और जो जीवित नहीं रहा (उसके कुछ अवशिष्ट बिह्व पात्नी में दृष्टिगोचर होते हैं) पुरानी प्ररसी में अनुस्य सर्वनाम संबन्धवाचक का काम देता है और एक ही रूप जो साथ ही भारतीय-ईरानी है ही एष एत अ० अएँ, अएत, अत्यन्त सामान्य है।

त्रिपठ वस्तु के लिये निष्पद्यवाचक भारतीय ईरानी से लिये गये हैं और व इन को विकरणों से बना है एक० पु० तपु० अयम्, कर्म० इमम् संप्र० अस्मै करण० अना जिससे नवीन रूप अर्धेन आदि, तुम् अ० अएम् इर्मम्, अहमाह करण० एक गाया० बना बहु० गाया आइमे, अ० अनाइरै आदि। भारतीय-ईरानी त्रिपठ-अम् वेचन को मिलेगा जो पुष्पवाचक सर्वनामों और साथ ही अय्यय स्वर्गम् (अ अय्य) में मिलता ही है। कर्ता० कर्म० सपुं० इहम् स्फुट रूप में मिलता है अ० ईत् सर्वत्र संसृष्ट ईत् की भाँति निपाठ है किन्तु इयम् संभवतः भारतीय है तुम् अ० अ० आइमेम जो एमेम् कर्म० के निकट है। संसृष्ट में भी एक विकरण एन है जिसका अ बीता कार्य इस बात का अनुमान करने की स्वर्तन्त्रता देता है कि यह एक निपाठ संभवतः भारतीय-ईरानी के बाव अ हो जाता है यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि पहलवी पं०, प्ररसी ईन् ने जिसका प्रयोग कर्तृकारक में होता है यह महत्त्व गौण रूप से बारन किया है।

दूरस्य वस्तु के लिये निष्पद्यवाचक में केवल मुख्य काल ही भारतीय-ईरानी है या कम-से-कम भारतीय-ईरानी अर्थों से निर्मित है अर्थात् तुम् अ० हात पुरानी प्ररसी हीन् किन्तु अब बिगठे ईरानी विद् को पूर्ण करती है केवल विशिष्ट भाषा० अविचरण छि अर्थों में दृष्टिगोचर होता है और यदि अम् और अमि (सदे मि कर्ता० एक० और बहु० कोपीन् माम्) के दूरवर्ती सङ्घ रूपों की शोच की जाय तो उनका रूप उनका सम्बन्ध अन्वकारपूर्व मिलेगा कर्मकारक संबन्धी संज्ञों में एक समीपवर्ती विकरण मिलता है (अयर्ष अयोर्हम् जो सार्वम् के विरोध में है) किन्तु उसका आशय मिस है।

प्राचीनतम संसृष्ट में ही कुछ पुटाने सम्भाव्योप मिलते हैं, जिनका आगे जाने वाले इतिहास के लिये कोई महत्त्व नहीं है।

भारतीय की भाँति संसृष्ट के इन सर्वनामों की रूप-रचना की विशेषता कुछ लाल प्रत्ययों के (एष० तपुं० तद् अ० तत् सै इत्-दुह प्री० त्जो कर्ता० बहु पु० तँ अ० तोइ ते सै० इस्-टि जी० एमोइ) और विह्व कर्मों के मध्यवर्ती रूपमात्र के कारण है एक० पुल्लिङ्ग तपुं० में-स्म (संप्र० अस्मै अ० अहमाह, ओम्बी एस्मेइ जो भारतीय ईरानी में अन्य विह्व रूप तक प्रसारित हो जाता है अदि० अस्मिन् अ० अहमि

मया० अस्मान् अ० महमात् जो निपात आत् गाया आत् के निकट है) स्त्री० -स्य्
 (एक० अस्मै अ० ऐह्यहात्, तुल० पु० प्रचुन स्टेसिमाह आदि) सवध० बहु० म -स्य्
 पु० ऐर्षाम्, अ० अर्षैमम् पु० प्रचुन स्टाहसन् स्त्री० आसाम् गाया आह्मम्
 तुल० मै० एजासम् ।

भारतीय में व्यक्त एक परंपरा के अनुसार, कुछ विशेषण सर्वनामजात प्रत्ययों के साथ बौद्ध-बहुवचन रूप से कम प्रयुक्त हो जाते हैं अथवा उन्हें पूर्णतः अ० अथवा की भाँति बना देता है इसी प्रकार बिद्वन् और अ० बीस्व- व संबंध में है सिवाय इसके कि नपु० एक का मुख्य कारक बिद्वन् अ० बीस्वम् है, और यह कि ऋ० (और साथ ही गाथाओं) से कुछ नामवाची प्रत्यय उत्पन्न होते हैं पर्यायवाची सब (तुल० अ० हीर्ब) संस्कृत में केवल सर्वनामजात रूप-रचना ग्रहण करता है इसके विपरीत जब कि अ० स्व में यह रूप-रचना होती है तो संस्कृत स्व में उसका केवल मन्त्रावरोध है। फलतः कुछ असमानताएँ मिलती हैं किन्तु संस्कृत में सर्वनामजात रूप-रचना के प्रचलित होने की प्रवृत्ति मिसरी है कथमत् अथर्व० कथरत् जा अ० कथारुमम् श्री० पौतरेण से मिलता है कर्त्ता० बहु० पु० उत्तरे, उत्तमे परे पूर्वे आदि वैदिक भाषा में उसका और भी विस्तार मिलता है, कुछ बन्धनों के साथ और उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा में यह काफ़ी अच्छी मात्रा में मिलती है (अथर्व० उभयेसं आदि) और साथ ही अधिकरण और अपादान एकवचन के प्रत्ययों का संज्ञाओं की रूप-रचना में विस्तार मिलता है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में सना

प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा

संस्कृत में दृष्टिबोध होने वाले सामान्यीकरण की गति वास्तविक भाषा में ध्वनि-संबंधी परिस्थितियों के कारण और भी तीव्र हो जाती है।

ध्वनि-संबंधी समुदायों के योग या योग-व्युत्पत्ति होने के कारण उनकी परिवर्तन क्रम बाकी अपनी स्पष्टता का बिना छूट हो जाता है। यद्यपि एक एक स्वर को स्वयं प्राप्त होता है जो अक्षर (वर्ण) अक्षर (आत्मन्) नामा नहीं है - य् युक्त विकरणों में पितृ का कारण गिरानार में पितृ (वृ) का है जिसमें र् नहीं है (जिससे परिवर्तन-क्रम-विहीन पा० पितृता के पुनर्निर्माण की क्रिया है) जब कि अन्य स्थानों में ष से निकले हुए, किन्तु मिस स्वरों सहित पितृता पितृता उपलब्ध होता है।

समुक्त-स्वरों के व्युत्पत्ति के कारण द्वि० का ध्वनि वीर्यता से होता है क्योंकि औ वाली विशेषता की पड़बड़ संबंध० -ओ के साथ और, जो अधिक संकीर्ण बात हुई, कर्ता० एक -ओ के साथ हो जाती है। कारण बहु० -एहि के अस्तित्व या पुनर्जन्म का भी कुछ कारण होना चाहिए, क्योंकि -ये -ए (उसके कुछ सविद्य उदाहरण बताये गये हैं) एक सीमित रहता है जो न केवल अधिकरण एक० या कर्त्तृ जिसने बहुवचन के रूप में कर्म० का भी काम दिया। अन्त में इ और -उ -ओ जिनसे -ओ हो जाता है से युक्त समासों के अर्थ एक० की गणना संबंध० एक० -ओ से हो जाती है उची से वीर्य ही कारण (-उनी इसी प्रकार -य् के लिये -इतो) और, केवल क्रिया-विशेषण [संबंधी (पा० रतो आहो) में मुद्रित अधिकरण के आधार पर बनाने योग्य रूप का विकास और इस रूप का बहिर्गम्य होना पाया जाता है समासों के अधिकरण में सर्वनाम बात प्रत्यय का आशय दिया गया है।

अन्त में और विशेषतः ध्वनियों के परिवर्तन से अनेक बाधाएँ उत्पन्न होती हैं धीरे धीरे स्वरों का ह्रस्वीकरण और पहले अनुनासिकों का जिससे कर्म० एक -अं पुं ननुं और स्त्री (नम् -आम्) और एक का तत्पुंस्य बहुवचन (-आम्) के साथ उससे ही -आम् युक्त कर्ता० पु० और -अम् (इत्थों में)

युक्त नपुं० में साम्य लिखाई देता है और मन्वत् का लोप बाण्डव में आत्रस्वत् का ओत्रबं का रूप धारण करने के लिये बाण्य करता है। मन्वत्-त् न इसी लोप से अपा० एक०-यात् की गड़बड़ मुख्य कारकों नपुं० बहु० अबबा स्त्री० एक० क साथ और -आ युक्त पुरान करण के साथ उपस्थित होती है। तावि (तावुह्)-क का लोप इस धातु को इ युक्त फिर अनुनासिक विकरणों में स्थान प्रदान करता है पा० तान्ति इसी प्रकार मन्वत्, परिपत् स्वर-संबन्धी विकरणों में जैसे जाते हैं पा० मरु परिता। अन्य व्यजन संज्ञों में सबसे अधिक दुबल अणु ओ सम्बन्धित म अपाय फूमफुसाहट वाली ध्वनि है ही -इ -उ युक्त चठन सशामों क कर्ता० एक० जो अपनी विशेषता से युक्त करता पाया जाता है उसी से चठन और मपु० के बीच का भेद पूर्णतः दृष्ट हो जाता है पहल कर्ता का (अणिग अन्ति जिससे कर्म० अन्तिम् उत्पन्न होता है) उत्पन्नात् अंततः अन्य कारकों का (अमी अक्षी जो अमापो अक्षीनि न निकट है) इसमें से जिसका संबन्ध -अ से उत्पन्न -ओ से है (मनो आपि में) उसके पुस्तिक रूप क धारण तिष्ठ के कुछ व्यञ्जितम बराबर निश्चित है।

तो यह स्पष्ट है कि कश्मीरक संस्कृत में कर्तों क विकास से मध्यकालीन भारतीय भाषा में मिलने वाली व्यञ्जितम्या का कबल निकटस्थ या कहना चाहिए, दूरस्थ आनास प्राप्त होता है।

-अ युक्त विकरण

इसमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अनुदाय हैं, एक तो क्योंकि उन्होंने व्यञ्जितम्यात विकरणों की एक बहुत बड़ी संख्या का आत्मसात् कर लिया है दूसरे क्योंकि वे ह्रस्व और दीर्घ -इ और -उ युक्त विकरणों पर निर्भर रहते हैं।

एकदपन

कर्ता० और कर्म०

पुस्तिक में जोय संस्कृत -ओ से पूर्व का रूप अपोय से पूर्व क रूप क साथ मिल गया है, जो स्वभावतः संस्कृत -अ में निहित रहता है जो निस्सन्देह उस समय बीच हो जाता है जब का सुना जाना बन्द हो जाता है। उसी से पा में प्रत्येक स्थिति में धम्मा है, और गौरव रूप में पूर्वी बोधियों में अपोक विस्ती धमे।—कर्म० इ धम्म।

कर्ता० कर्म० नपु० पा० रूप। अपोक ने विस्ती में कर्ता० मगले कर्म० संयम रखा है यह सावृत्त्यमूलक सर्वांगता नपुं० जो बहु० में मिलनी है, क सुप्त हान का चिह्न नहीं है। उसकी यही स्थिति सर्वनामों में है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में सज्ञा

प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा

संस्कृत में दृष्टिबोधर होने वाले सामान्यीकरण की गति वास्तविक भाषा में ध्वनि-सम्यगी परिवर्तियों के कारण और भी तीव्र हो जाती है।

व्यंजन-संबंधी समुदाया के योग या योग-व्युत्पत्त हो जाने के कारण उनकी परिवर्तन क्रम वाली अपनी स्पष्टता का विनाश हो जाता है। अशोक० राजा काजा क शब्दों के अनुसार संबंध० में एम्(म्)ओ अथवा काजिने हैं, जिसमें एक ऐसे स्वर को स्वान प्राप्त होता है जो अत्(त्)अन् (मात्मन्) वासानहीं है -इ पुस्त विकरणों में पितृ का करण बिरजार में पितृ(त्)मा है जिसमें इ नहीं है (जिससे परिवर्तन-क्रम-बिहीन पा० पितरा के पुनर्निर्माण की क्रिया है) जब कि अन्य रूपान्तरों में अ के निकले हुए, किन्तु विन्न स्वरों सहित पितुला पितिना उपलब्ध होता है।

संयुक्त-स्वरों के न्यूनत्व के कारण द्वि० का लोप सीधता से होता है, क्योंकि जी वाली विशेषता की गड़बड़ संबंध -ओ क साथ और ओ अधिक संभार बतल हुई, कर्ता० एक० -ओ के साथ हो जाती है। करण बहु० -एहि के अस्तित्व या पुनर्जन्म का भी कुछ कारण होना चाहिए, क्योंकि -ये -ए (उसके कुछ संविभ्र उदाहरण बताये गये हैं) तक सीमित रहता है जो न केवल अधिकरण एक० या बरन् जिसने बहुवचन के रूप में कर्म का भी काम किया। अतः में -इ और -उ -ओ जिससे -ओ हो जाता है, से युक्त संज्ञाओं के अति० एक० की गड़बड़ संबंध० एक -ओ से हा जाती है उसी से सीध ही कारण (-उओ इसी प्रकार -ए के मिये -ओ) और, केवल क्रिया-विशेषण-संबंधी (पा० एतो माओ) में सुरक्षित अधिकरण के आकार पर बसाये गये रूप का विकास और इस रूप का सहिर्गत होना पाया जाता है। संज्ञाओं के अधिकरण में सर्वनाम जात प्रत्यय का आशय दिया गया है।

अन्त में और विशेषतः अन्तर्गतों के परिवर्तन से अनेक बाधाएँ उत्पन्न होती हैं। बीजे स्वरों का ह्रस्वीकरण और पहल अनुनासिकों का जिससे कर्म० एक० -अं पु० (नपुं० और स्त्री०) (-अम्, -आम्) और एक० का तदनुक्य बहुवचन (-आम्) के साथ सादृश्य दृष्टिबोधर होता है। उल्लेख ही -आम् युक्त कर्ता० पु० और -अम् (इयत्तों में)

युक्त मनु० में धाम्य रिताई देता है, और अन्त्य त् का भोप वास्तव में बोधस्वत् को बोधन का रूप बारण करने के लिये बाध्य करता है। अन्त्य-त् के इसी भोप से अपा० एक० -वत् की यह बड़ मुस्य कारकों मनु० बहु० अपवा स्त्री० एक० क साय और -आ युक्त पुणने करण के साथ उपस्थित होती है। तादि (तादृक्) -क का भोप इस शब्द को इ युक्त फिर अनुनासिक विकरणों में स्थान प्रदान करता है पा० तादिन् इसी प्रकार मरत् परिपत् स्वर-संबन्धी विकरणों में लगे जाते हैं पा० मर, परिस्ता। अन्त्य व्यञ्जन अंशों में सबसे अधिक दुर्बल अंश म् जो संस्कृत में अधोप फुसफुसाहट वाली ध्वनि है ही -इ -उ युक्त पेटन संज्ञाओं के कर्ता० एक० को अपनी विशेषता से युक्त करता पाया जाता है उसी संज्ञातन और मनु० के बीच का भेद पूर्वतः स्पष्ट हो जाता है पहले कर्ता का (अग्नि अक्सि त्रिससे कर्म० अक्सिम् उत्पन्न होता है) उत्पन्नान् अंततः अन्त्य कारकों का (अग्नी अक्षती वा अम्पयो अक्षतीनि क निकट है) इसमें से विद्यका संवय -अ से उत्पन्न -ओ से है (मनो जादि में), उसका पुस्तक रूप से कारण त्रिक क कुछ व्यतिरिक्त बचकर मिळते हैं।

ता महं स्पष्ट है कि कसैसीकृत संस्कृत में कर्तों के विकास से माध्यकासीन भारतीय भाषा में मिलने वाली अक्षयबन्धा का केवल निकटस्थ या कहना चाहिए, दूरस्थ आभास प्राप्त होता है।

अ युक्त विकरण

इसमें अरपन्त महत्त्वपूर्ण समुदाय हैं, एक तो क्योंकि उन्हेमि व्यञ्जनवात विकरणों की एक बहुत बड़ी सफा की आरम्भसात् कर लिया है दूसरे क्योंकि वे ह्रस्व और तीर्थ इ- और -उ युक्त विकरणों पर निर्भर रहते हैं।

एकपचन

कर्ता० और कर्म०

पुस्तिकमं भोप संस्कृत -ओ से पूर्व का रूप, अधोप से पूर्व के रूप के साथ मिल गया है, जो स्वभावतः संकृत -अ से निहित रहता है जो निस्सम्बद्ध उस समय बीच हो जाता है जब - का सुना जाना बन्द हो जाता है। उसी से पा० में प्रत्येक रिपाति में भम्मी है, और गीन रूप में पूर्वी बोलियों में अघोक० दिल्ली में।—कर्म० है धम्म।

कर्ता० कर्म० मनु० पा० कर्म। अघोक ने दिल्ली में कर्ता० संगठन कर्म० संसर्ग रखा है यह सावुत्समूच्छक मनीमता मनु० जो बहु० में मिलती है, के स्पष्ट होने का चिह्न नहीं है। उसकी यही स्थिति सर्वनामों में है।

करण

पाली के प्राचीन पाठों में वैदिक-आ के बिह्वल अवशिष्ट मिलते हैं, जो अपादान- में मद्दे रूप में वृष्टिगोचर होते हैं यह तो-एन रूप है जो बहुत सामान्य है, जिससे टीकाओं में उन पर प्रकाश पड़ता है अशोक के समय में केवल बनेन बचनेन प्रकार आत ये। संप्रदान और संबन्ध।

मध्यकाशीन भारतीय भाषा से संप्रदान- मूठ हो जाता है (दे० पीछे)। वह केवल विकरणयुक्त संज्ञा-रूप के स्पष्ट रूप में बना रहता है और यह भी उत्पन्न बताने के लिये (साम्य प्रकार) और विद्येय-इत्थनाय वीसी क्रियामूलक संज्ञाओं में।

अशोक- का मिरलार की पाली से साम्य है पूर्व में-आये युक्त रूप मिलते हैं, जो स्त्री- के संबन्ध- सप्र- एक- से मिलते-जुलते हैं, और जो वास्तव में स्त्री- भाषाओं के साथ मेक जाने के फलस्वरूप निकलने चाहिए संस्कृत में-नम् और-ना-रबम्-तन् और-ता-क रूप में उसके समानांतर रूप विद्यमान है फलतः पाली के-तये वाणी प्राचीन क्रियार्थक सहाओं में-तये-ताये-तुये वाके रूप और जुड़ जाते हैं, साथ ही-तु-ति और-ता विकरणों को भी मिला लेते हैं फलतः उसमें-इत्थ-स्त्री- के आचार पर एक रूप की उत्पत्ति होती है जो उत्प्रेय बताने के लिये अपने को संज्ञा-रूप से पुनर्क कर लेता है अशोक- भीविताये हितिकाये उरसे ब(इ)ठय[ब(इ)ठ(ए)स मिलता है किन्तु संबन्ध- के रूप में] मो(क)जाये जो उन संबन्ध- मित्र है जिनका वास्तविक मूल्य संप्रदान पन(स)स आदि के रूप में है।

अपादान

इस कारक का केवल विकरणयुक्तों में विद्येय रूप था। जबवा अल्प व्यंजन के साथ के फलस्वरूप बहु करण के साथ मेक जा जाता है पा० शोका-सं शोकाए और *शोका। दोनों कारक अपनी कुछ मिलती-जुलती बातों के कारण संस्कृत में वे ही इसीलिए छिमा पर जुड़ी हुई छठी भाषा में मिर० 'नास्ति हि कंमातरं सर्वशोक-हितया' काकली 'न(ए)पि हि कंमताका स(इ)बधोकहितेन' में साम्य मिलता है।

किन्तु करण-अपादान की उत्पत्ति सैटिन के अपादान-करण का विपर्यस्त रूप अपादान की अर्ध-विचार-संबन्धी संभावनाएँ स्पष्टी है। यही कारण है कि मध्यकाशीन भारतीय भाषा में एक प्राचीन क्रिया-विशेषणवात पर-प्रत्यय मिलता है जो संस्कृत में (किन्ती से व्युत्पत्ति नहीं) निर्वच प्रकट करता है सं० उत्तरहि(पात्रिनिके माप्यकार्ये के अनुसार बसति के साथ निर्मित) जिससे पा० नामाहि, प्रा० छेताहि। विशेषतः बहु-स के प्रयोग को विस्तार प्रदान करता है जिससे मूल प्रकट होता है, जिससे ही मुकरो, और फलतः अमितो आदि प्राचीन प्रत्यय के साथ मिक कर, यह पर-प्रत्यय एक

भाषातो प्रकार प्रदान करता है जो पाणी में बहुत कम मिलता है किन्तु जो प्राकृत में प्रचुर मात्रा में है। अन्त में अधिकरण की भाँति और निस्सन्धेह उसके परचात् उससे पाणी में एक सर्वनामजात प्रकार का प्रथम उत्पन्न होता है *sa*. बरम्हा जो वय के निकट है।

अधिकरण

प्राचीन रूप ही अच्छा रहता है पा० धम्म, अघोक्० गिर० विहिते। किन्तु सर्वनामों में पूर्णतः प्रत्यय भी मिलता है पा० धम्मसमिन् जो ठसिं की भाँति है पा० और अघोक्० गिर० धम्मसिन्, काससी विहित(स्)सि, साहदाइ० विजयसि। यह प्रत्यय नवीन प्रत्यय के साथ-साथ अच्छा है संभवतः बहु-इ और -उ युक्त विकरणों का बंध है। बौद्ध संस्कृत (दे० महाकस्तु, 1 पृ० १७) में सम्मिलित प्रत्यय *एस्मिन् के प्रमाण मिलते हैं।

बहुवचन

कर्ता

वैदिक संज्ञाओं में संभावित रूप मिलता है पा० अघोक्० देवा। अचेतन में क्मानि प्रकार के निकट प्रायः रपा मिल ही जाता है (जो पूर्वी अघोक्० में एक वृद्धे प्रकार के विशेष्य से सम्बद्ध विशेष्यारम्भ कृदन्तों द्वारा प्रमापित प्रतीत होता है, दे० टिका II, भाष्यांश B और C, किन्तु D नहीं)। पाणी में काम्य-रूप बन्मासे वैदिक-आद्य की याद दिलाता है, हर हाकृत में अल्प स्वर का कोई कारण नहीं दिया जा सकता। पुंसिगत कर्म०

प्राचीन रूप देवान्, जो *देवां एक सीमित रहता है, स्त्री० एक० में प्रतीत होता है (बौद्ध संस्कृत में उसके उदाहरण मिलते हैं) तत्पश्चात् *देवं एक एक० का बहु० वृद्धिबोध नहीं होता फलतः अपरिवर्तनशील। क्या -आन् + निपाठ की भाँति कर्ता० -आन्-ए की भाँति विचार किया गया -आनि क पुंसक होने के संबंध में यही बात है? यह -आनि अघोक्० पाणी और जैन प्राकृत में मिलने लगता है (स्यूडर्स *Sitzb.* बर्लिन १९१३ पृ० ९९४)।

पाणी और चिर० में सामान्य प्रत्यय -ए है, जो सर्वनामों से निकला कठिनाई से माना जा सकता है, क्योंकि ये ठे का मुख्य कर्ता० के लिये बही है जो कर्म० के लिये और साथ ही उसमें कर्म० का प्रयोग मौन है स्त्री० ता तपुं० तानि मूळतः कर्ता० और कर्म० होने के कारण ठे जो संस्कृत में केवल कर्ता० है की तरह काम भाठे हैं, विशेषतः देहि के विशेष ताहि से मित्र ठेनु, तासु ने ता की भाँति काम जाने भाठे ठे

की रूप-रचना को सहामता पहुँचाई है। सर्वनामों के संबंध में जा कुछ भी कहा जा सकता है वह यह है कि ते के प्रयोग से अन्य संज्ञाओं के आधिक सावृत्त्य का खण्डन नहीं हुआ कञ्जाहि जातीहि जग्रीहि ये कर्म० बहु० कञ्जा जाती (कर्ता० जातियो) जग्गी (कर्ता० जग्गीयो) के अनुबन्ध है पुरिखेहि कम्प कर्म० पुरिसे (कर्ता० पुरिसा) की याद दिलाता है।

कारण०

प्रथम -ऐ से अनिवायत * -ए प्राप्त होने के कारण संसृष्ट -एनि निरन्तर बना रहता है अथवा -ए, -हि मुक्त अपा० -जा की भाँति ध्यापितकृत हो जाता है ऐसा ऊपर कहा जा चुका है इसीलिए पा० अघोक्० देवेहि है कौकिक अर्थ-सहित 'बहुहि वस्(स्)मघवेहि'।

संप्रदान और अपादान

सं० -एम् से रूप-रचना में विचित्र बृहते ध्वनि सहित * -एम्नो होना चाहिए * -एहिपो नियम की संभावित कठोरता के कारण वा। किन्तु यह देखा जा चुका है कि सामान्यतः संबंध के सामने संप्रदान विहीन हो जाता है और एक अपादान और कारण में गड़बड़ हो जाती है। यही कारण है कि संप्रदान का प्रचलित रूप सर्वथ० बाधा है साथ ही यही कारण है कि अघोक्० में आधीधिकेहि मिलता है गिर० ठेहि व(व) तर्म्ज जो सहबाज सैप बठ(व)को के विपरीत है।

अपाराग के लिये उदाहरण बहुत कम मिलते हैं अघोक्० गिर० वाब पदिनेसि येहि पा० बीठपयेहि पक्कामु।

संबन्ध० और अधिकरण

ये समीची रूप मिलते हैं देवाना देवेमु।

-इ (-इन्) और -उ मुक्त विकरण

एकरचन

कर्ता और कर्म०

चेतन में तो कीर्त बाध ही नहीं है अग्नि अग्नि निक्कु, निक्कु। मूकम् के सावृत्त्य से अचेतन का नेह करने का काम निकलता है अग्नि (अग्नि) अस्तु (अम्)।

गौण कारक

● अम्नः, मूदो के प्रत्ययों के कारण कुछ समस्वार्य उत्पन्न होती हैं जो अग्निना अधीभि प्रकार का विस्तार करते समय छोड़ दी गयी हैं। विस्तार सरल होने पर, क्योंकि

इसी कारण से -न् मुक्त प्रत्यय संस्कृत म -न् (विद्यते परिवर्तन-कर्म -न्) पर आधारित वा बहु -न् मुक्त संज्ञा-रूप के साथ जुड़ जाता है और वास्तव में महाकाव्य कालीन संस्कृत इस प्रकार के मिश्रण के प्रमाण प्रस्तुत करती है। इस प्रकार संबंध० एक० अग्निमो भिक्षुमो की उत्पत्ति के लिये दूसरी ओर कर्म० एक० हृषि कर्ता० कर्म० बहु० हृषी (सं० हृष्टिनम्, हृष्टिन) की उत्पत्ति के लिये पीठिका प्रस्तुत हो पनी थी।

हूमरी ओर मिर० प्रियवम्(स्)हो (अग्निन्) से मिश्र अघोष० कावनी पियम्(स्)हम्(स्)भा शहवाह० प्रिय-अम्(स्)हम्(स्)ह की गति संबंध० इस बात का प्रमाण है कि विकरणयुक्त की ओर गति प्राचीन है। उसी से अग्निम्स बौद्ध और उत्कीर्ण सत्० सं० भिक्षुस्य।

अधिकरण अग्नौ मूर्धो मुख्य या साक्षात् रूप में जारी रहने योग्य नहीं रहा। जिस प्रकार पा० अग्निम्स अग्निम्स के आधार पर बना है और अनिर्वाय रूप में भी उसी प्रकार पा० अग्निम्स अग्निम्स अपना निर्माण करते हैं अग्निम्स के आधार पर -न्मा मुक्त अपादान भी मिलता है किन्तु वह प्राचीन कर्म की प्रतिद्वन्द्विता में कमजोर पड़ता है। अन्मा हेतुना, अग्नि-विशेषणवाचक रूप की योजना किये बिना पा० अग्निम्सो [अग्नि(स्)] अघोष० सम्बन्धितगिरीते दीर्घ ई संहित विकरणयुक्तों के अन्तो का समानवर्ती है।

अधिकरण पूर्वी अघोष० पुत्राबमुने बहुने अम्(स्)ह ने विकरणयुक्तों का प्रत्यय ग्रहण कर लिया है। सर्वनामवाचक प्रत्यय का प्रयोग करते हुए पानी कुछ प्राचीन रूप भी सुस्पष्ट रहती है। किन्तु कर्ता० कर्म० पञ्चम्यने अधिकरण पञ्चम्यने जो पञ्चम्य से है, विकरणयुक्त के प्रमाण हैं ('सङ्गीति' पृ० २३५, २)

अनुवचन

विकरणयुक्त रूप अति प्राचीन समय से चले जा रहे हैं संबंध० (ईनाम् अ० अन्म) आत्मीय-ईरानी से चेतन कर्म० में (मात् की तरह, अ० ईसे के विपरीत अ०) और अन्म० मुख्य अकारक-अग्नि अ० ई) संस्कृत मूल से। तनीन कर्ता० पा० अग्नी भिक्षु इसी प्रकृति से निकलता है। अन्म० अन्मि क्या वैदिक का ही दीर्घ रूप है अन्मा मूला(नि) की तरह अन्मिनि के निकट की रचना है? यह निश्चित करना कठिन है। यह कहा जा सकता है कि अघोष० पुत्राबनि की गति चेतन कर्म० हृ(त्) पीठि निकलता है।

वहाँ तक बेतन कर्म० अग्नी से संबंध है, पु० तपु० और स्त्री० तिनको का साधारण विरोध उसमें 'बाटी का सावृष्य हैजने की दृष्टि से एक बाबा है क्योंकि यदि बाटी कर्ज्या (कन्या) की भाँति कर्ता० और कर्म० के क्रिये उपयुक्त है तापुं० विकरजयुक्त के दो दृष्ट रूप हैं देवा और देवे। तो क्या अग्नी में भारतीय ईरानी का वीचें रूप देवना आबक्ष्यक है, तुल० अ० इसे? यह आकर्षक कल्पना आबक्ष्यक नहीं है प्रत्येक रीति से -आन् की भाँति ईन् मध्यकालीन भारतीय भाषा में बना रहने की क्षमता नहीं रखता या और बहुवचन के दोनों मुख्य कारकों क निकट आने की प्रवृत्ति संस्कृत में निश्चित रूप से है जिसके अंतर्गत -जय युक्त कर्म० प्रायः मिल जाते हैं।

विद्वत् जनों में पाली में कुछ प्राचीन रूप सुरक्षित मिलते हैं या आदिभि मिलसु, किन्तु सामान्यतः बहु विकरण के स्वर को (कुछ वैदिक उदाहरण तो हैं ही) इस रीति से दीर्घ बनाता है कि उससे -एहि, -एसु की रूप उत्पन्न होती है उची से है आदीहि, मिलसुहि पूर्वी अशोक० मालीसु, बहुहि बहुसु।

स्त्री० स्वर-संबंधी विकरण

जिस प्रकार पुंस्वर संज्ञाएँ विकरणयुक्त संज्ञा-रूप के प्रभावान्वयत आ जाती हैं, उसी प्रकार स्त्री० का संयोजन इस रीति से मिलता है कि प्रथम से उसका विरोध हो जाता है किन्तु इस समय -आ युक्त विकरण प्रयुक्त नहीं हो जाते उनका परस्पर एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। इस बात का साम्य उस व्युत्पत्ति से स्थापित होता है जिसका संस्कृत से लेकर आधुनिक भाषाओं तक विरोध मिलता है पु०-तपु० -अक- स्त्री०-इका। वहाँ तक -उ युक्त विकरणों से संबंध है उनकी रचना -इ युक्त विकरण की तरह मिलती है।

एकवचन में कर्म० ह्रस्व और दीर्घ स्वर वाले विकरणों में समान रहता है पा० कर्जन् आदि यदि पाली की संज्ञा-महात्मी कर्ता० में ही जाति का नहीं से भेद उपस्थित करती है किन्तु स्वयं गिरलार म अशोक ने अपभ्रंशित रीति के निकट सभी निशा (इ)ती प्रतिपु (ए)ती अनुसंस्ती लिपी रूप दिए हैं इसके अतिरिक्त जो ह्रस्व रूप मिलते हैं वे ध्वनि-संबंधी या लेखन प्रणाली-संबंधी हैं न कि आकृति-मूलक क्योंकि बहु कटिनाई पहले से ही दृष्टिगोचर हो जाती है जिसका प्रमाण पु० अणि प्रकार में मिलता है और क्योंकि उन अन्य -आ युक्त स्त्री० के साथ विभक्त कोई समीची ह्रस्व नहीं होता समानता आ जाती है इसलिये दीर्घ प्रकार वाला रूप ही सामान्य हो जाता है।

तो कर्म० बहु० में है रचितो, जातियो और कञ्जत पा० वेनुयो (बिचका-य् उसकी व्युत्पत्ति भली भाँति बताता है)। कञ्जा प्रकार के प्रमाणात्पर्यंत कर्त्ता० से निकला कुछता कर्म० भी मिलता है पा० रती अघोक० घौसि० में संभवत इ(त्)धी यह० अटवि को अटवियो के निकट है। एष० स्मिम् ('सहनीति' पृ० ४४८, नोट 'सी') के अनुसार, पाली के कुछ पदों में ईयो (पदिए — ७७ aut—) प्रकार क प्रमाण मिलते हैं।

किन्तु स्वयं कञ्जा, एकवचन की भाँति प्रतीत होने वाला बहुवचन भेद प्रस्तुत करने की पवृत्ति प्रदत्त करता है जिससे उपलब्ध होता है कञ्जाया प्रकार (जो एक बार गिरतार की अघोक० रचना में चेतन संज्ञा महिबामो के रूप में प्रमाणित होता है)।

बिहृत रूपों की रूप-रचना समूह नहीं है। प्रारंभ से ही ध्वनि-संबंधी कारणों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

पामी में संबंध० अपादान जातिया करण जातिया से सम्बद्ध हो जाता है। इस आदर्श के आधार पर एक विशिष्ट प्रकार अघोक० पूजायाँ (पामी में अल्प स्वर सर्वत्र ह्रस्व) बनाया गया है जिसमें करण कञ्जाया को पुष्क करने का काम है उसकी लय टाय संज्ञा-रूप के सभी सौपास का लक्ष्य कर देना तो यह केवल व्याकरण-संबंधी बिहृत रूप अधिक है। यहाँ तक स्नानवाकियों से संबंध है, अघोक ने त(क)सिक्ताते, उजनिडे मूळ के अपादान का सूत्रनाय [बीर व(इ)किया] से भली भाँति अन्तर किया है, अधिकरण में कञ्जाया जातिया अधिकरण के बीर करण के अस्थायी प्रयोग पर निर्भर रह कर प्राचीन रूप को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति प्रकट करते हैं (अघोक न तोसलिव समापायं मुच्छित रखे हैं)। शेष के लिये महत्त्व होगा आश्चर्य है कि यदि पामी का अधिकरण केवल भारतीय-ईरानी के अधिकरण का प्रसारितरण नहीं है, तो संस्कृत में अक्षर का अनुनासिक कहीं नहीं था, पा० पनावटिया तथा और पु० प्र० मूमिया बेवृकाया की तुलना कीजिए।

उममें ऐस रूप नहीं है या बच रह हों। उनके साव-साप अघोक के अ-परिधमी अभिलेखों में प्रमाणित, संप्रदान के प्राचीन रूप से निकले -ए संयुक्त बिहृत रूपों की एक शृंखला निकली है कञ्पापै, वेविये मूर्पै (यह ह्रस्व -इ- संयुक्त विकरण से)। आद्यप प्रयों और प्राचीन उपनिषदों के पद्य में इन रूपों का संबन्ध० महत्त्व-सहित प्रयोग हुआ है कर्त्तव्य संस्कृत में यह प्रयोग नहीं मिलता किन्तु मध्यकालीन भारतीय भाषा में इसका प्रयोग है अथवा -एभि- संयुक्त करण० बहु० पु० की भाँति उसकी पुनः स्थापना की गई निकली है। उसी से अघोक० वृत्तियामे देवीये है जो विहिंसाये की भाँति है (यह देखा जा चुका है कि संप्रदान के एक विधाय अर्थ में यह रूप पुस्तिकम तक विस्तृत हो जाता

है) किन्तु अशोक ने फिर भी करण० अपादान व(इ)डिया का भेद संबंध० संज्ञ० व(इ)डिये से किया है जिसके साथ अधिकरण चातुमासिये परिक्रमये जुड़ जाते हैं, तुकना के लिये पीछे देखिए।

व्यंजन-युक्त विकरण

यह देखा जा चुका है कि किन व्यंजन-संबंधी परिवर्तितियों में उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से व्यंजन-संबंधी संज्ञा-रूप लगभग पूर्णतः लुप्त हो गया। आहूति-सूक्तक परिवर्तितियों में भी वैसे ही प्रभाव प्रदर्शित किया है, वह भी इस भुविबा के साथ कि सामान्य प्रकृति व्याकरण-संबंधी समकक्षता की ओर हो गई थी। इसका एक स्पष्ट उदाहरण -सु-युक्त विकरणों का है। पुंस्त्व में पाली में केवल अदिमा है जो उसके स्त्री० संज्ञा के उत्पन्न हो जाने के कारण है और जो बाद की स्त्री० में ही सम्मिलित हो जायगा। तपु० में अशोक ने कुछ कर्ता० दिये हैं यद्यपि तुकनात्मक मुये दबीये संभवतः संबंध० बिबाहुसे पाली में भी कोई अधिक विशेषता धारण ही हो करण० एक० में विकरणयुक्त रूपों पर प्रभाव डालने की काफ़ी शक्ति थी बल्कि बमसा जो बमेन (कर्ता० बलं बयो) के समीप है। सामान्य नियम की दृष्टि से -सु-युक्त विकरण संक्षेप या व्याप्ति द्वारा विकरणयुक्त संज्ञा-रूप की ओर झुक गये हैं दुम्नतो अम्पापन्न वेततो बहु० मपु० सोत्तानि (सोत्तानि) तुकनात्मक सेम्यो स्त्री सेम्या तपु० सेम्यं और सेम्यघो (किन्तु साधारण तुकनात्मक वैकल्पिक -र पर-प्रत्यय सहित निर्मित होता है)।

-इ -इ -इ युक्त विकरण

अकेले प्राचीन व्यंजनगत विकरणों में ये विकरण परिवर्तन-रूप वाले संज्ञा-रूप को अंशतः बनाये रखते हैं किन्तु अशोक और पाली में स्वर-संबंधी विकरणों का शाब्दिक जमी काफ़ी दूर है।

एक० में करण पा सत्त्वात् पितृत्वं उत युग के हैं जब कि समुदायगत व्यंजनों में संस्कृत में सास्य आ गया था अथवा वे पूर्वक हो गये थे अशोक० गिर पित्(ए)वा भाद्(ए)वा वा मात्रा क लिप्ता है द्वारा प्रभावित सास्य एक ऐसे रूप को जन्म देता है जो लिङ्ग म अक्षरी तरह रूप नहीं सदा स्वर-संबंधी समावेश द्वारा पा० सत्त्वात् पितृत्वं अधिकरण सत्त्वदि, भाददि, मभोज० पितरि से मली मीत मेत वा जाते हैं अन्त में मुख्य कारकों के बाद स्वर का दीर्घीकरण जो बर्न सत्त्वात् और करण अया सत्त्वात् को उमी रूप म निश्चित करता है जिसमें कम्पार और बंमात् है और जो बहु० तक प्रसारित एक महीन लिङ्ग की रचना करता है।

दिन्नु नबीन प्रणामी पूर्व नहीं है वह न तो कर्ता० कर्म० बहु० सत्कारो को दिखन एक० तप धारण कर लिया था और न संबन्ध० एक० सत्त्व, पितृ को एक भूमदे क समीप का लकी ।

तो भी इसमें रचना द्वारा पापित बहु० करण० और अधिकरण० हैं जो प्रथमित हो जाने वाले साधुओं क अंत बन जाते हैं । उनमें ऋ अपने मूल रूप में प्रत्ययों से पूर्व इ-अवशा -उ द्वारा सीमित हो जाती है प्रत्युत पूर्व की ओर -इ बीसी प्रतीत होने लपत्री है -उ परिवचम में और पानी में । उमी से -उ और -इ संबन्ध विकरणा के साथ साकार्य स्थापित जाता है *सत्त्वमि याति रूप तो लुप्त हो जाते हैं, किन्तु पा० सत्पुहि सम्बुन सत्त्वसु, पितृनं (जो अस्याष्ट पितृनं के निकट है) पूर्वी अष्टोक० भातिग नाटीनं बहु० स्यमनं मे कर्म० एक० पा० पितृना पूर्वी अष्टोक० पिठिना यह० पितृता को अपनी बार आकर्षित कर लिया है, और संबन्ध० सत्त्व पितृ, असोक० मातृ की व्याप्ति सीमे संस्कृत से पा० सत्त्वतो पितृतो में फिर सत्त्वस्य स्तुस्य मातृया में आई है । अष्टोक के पूर्वी तप महत्त्वपूर्वक हैं, क्योंकि उनसे यह प्रमाणित हो सकता है कि नबीनताएँ संबन्ध० एक० के अंत के रूप में नहीं हैं । दोष पानी में कुछ अपादान विविधा मातृयो हैं और मातृक-के निकट भाठिका- जैसे व्युत्पत्ति वाले रूप हैं ।

पितृ संबंधियों के नामों के समुदाय में एक विशेष प्रतियोग्य धर्मित है जिस प्रकार कि वैदिक माया में पत्न्य और जस्य उत्पन्न हो गये के पाठो में सक्ति के बिने कर्म० एक० सत्कार, कर्ता० बहु० सत्कारो (दोष सामान्य रूप है सहायक-) है इती प्रकार महाबल्य में पार्याम् के सिधे भावार्थम् है और बीन प्राकृत मन्मतारो (मयन्तारो) को जन्म देते हैं (Aupap १४२) स्त्री० में कर्ता० सं० दुहिता जो अन्वैर में एक बार इपलरात्मक के रूप में आता है, कवति के प्रमाणात्कर्तव्य बीठा जिसका संज्ञा-रूप पा० कम्प्रा की तरह होता है, रूप धारण कर लेता है संस्कृत महाकाम्य उतका प्रमाय कर्म० एक० दुहिताम् द्वारा होता है, पानी में है कर्म० एक बीतर, बहु० बीतरों के निकट संबन्ध० बीताय जो बीतु और बीतुया के निकट है, बीतानं वा बीतूनं के निकट है । स्त्री प्रकार संबन्ध० एक० माताय असो० पा० मातृ और पा० मातृया (बेनुया की भाँति) है । यहाँ तक स्वसु से निकले सत्ता से संबन्ध है उसका स्थान पा० सं० भक्ति से ले लिया है ।

इस प्रकार -इ युक्त संज्ञाओं के विविध रूप विकरणयुक्त और सामान्य स्त्री को संबन्ध करन के साधन हैं । कुछ संस्कृत शब्द भी इन प्रकार लप्य हो जाते हैं य० वा० गाँठ (*स्नापितु से) मट्ट (मर्तु) ।

-इ युक्त विकरणों की रूप-रचना समान रहती है कम-से-कम एक० के आत्मा पा० अता की तरह दिन्नु बहुो कही जो विद्वत् रूपों की दृश्य श्रेणी संस्कृत संबन्धों

के निकट पहुँचती है परिवर्तन कम बीसा ही नहीं रहता। पाठी गिरानार के अक्षोक० और बेसमर में संबंध० रखो करण० रञ्या है किन्तु पाठी में राजिनो राजिना अक्षोक० काभिते राजिना का भी प्रयोग हुआ है बहु में वरण० रावृभि राजूहि अधिकरण रावृमु है। वृत्ते अक्षों में -न् युक्त विकरण -न् युक्त विकरण के साथ सम्बन्ध हो जाते हैं। पूर्वी अक्षोक० करण० साजीहि की तुम्हा पितुसु के साथ पाठी राजूहि से निम्न पितूहि के साथ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। साथ ही उन संज्ञाओं में जिनमें संस्कृत में -अ है यह स्वर उपयुक्त परिस्थिति में महीन तिब्ब के अनुकूल हो जाता है पा० ब्रह्ममो पूर्वी अक्षोक० अत्(त्)उना और इसी प्रकार पा० कम्मुना।

अंत में -अन् की साम्य धेनी का प्रतिनिधित्व करने वाला स्वर्ण अ साक्षात् अनुकूलत्व और विकरणयुक्त संज्ञा-रूप के पृथक्त्व के कारण रहा है सर्वव० राजस्व कम ब्रह्म नपुं० कम्म करण० कम्मेन बहु० संबंध० अतान् अभि० कम्मेसु अक्षोक० में कर्ता० कर्म कर्म० कर्म संबंध० कर्मस्व कर्मने व निष्कट है।

संस्कृत में भी कर्ता० नपुं० रचनाओं (तुल्य उपर्युक्त इहिया) के पृथक्त्व का कारण बना है अपर्ब० मे मञ्जा पु० श० वा० के मञ्जा स्त्री० के और अपत्यत रूप से पा० मिञ्जा के साथ जाता है महाभाष्य में सीमा स्त्री० है जो अपर्ब० सीमन् से है कोषों में पौहा स्त्री० पौहान् पु० से दिया हुआ है और यदि वर्म नपुं का प्रतिनिधित्व पा० बट्टा स्त्री० (जिस पर आप पु० वर्तमन् स्त्री० आचारित होना चाहिए) द्वारा होता है, तो यह निस्सन्देह ही अन्तर्बर्ती पु० 'वर्तमा' ('स्त्वुदिवा इणो-ईरानिका' पु० १७) के कारण है।

विकरणीकरण की ओर प्रवृत्ति के कम-से-कम विरोध का एक कारण विधेयण होना चाहिए एक रूप अक्षोक० भंसूर बहु० सहान्वा दृष्टिपोचर होता है कल्प० एक० महात्वेन जो अद्(द्)अकेम के विपरीत है।

-न् संयुक्त विकरणों में अक्षोक० में तो वर्तमानकालिक इन्द्रत है ही नपुं० बहु० पिर० तिस्तन्तो करण० एक० हेतुवता ययवता। कर्ता० एक० पु० कट्टिआई से मिम्ता है पूर्वी अक्षोक० मगबं किन्तु कालसी० राह० पजाव जो नुषवा (किम् अक्षोक० स्तम इ का किम्पत् के साथ कोई संबंध नहीं है यह 'कि इम' के समान है बौलि में पुषक हो गया प्रथम आज्ञा का महा अपाये घमास होता चाहिए, बीता कि जीगड का समानवर्मी रूप उद्ये प्रकृ कट्टा है) १४ वीं आज्ञा में बौलि और जीगड में एक विकरणयुक्त पु० एक० महत्वे रूप है विधे ही अग्य रूप महल (स्)अके के पक्ष में बना जाते हैं सारताव में अक्ष (—) से (सं० पावाम्) है और इह रूप से पुषक होता है व्युत्पत्ति वाले बहुलाबन्धके। इसी प्रकार इन्द्रतों में पिर० करौती है (जिसका रूप कट्टो मगन

प्रणाली की दृष्टि से अपूर्ण होना चाहिए) मन्वज्र व्याप्ति प्राचीन रूप की याद दिलाती है। पूर्ण रूप में कसट करतं किन्तु संबंध एक मद्य(म्)उ(स्)म-स० मपम् । अष्टोक में वर्तमान-कालिक कृदन्त मध्य में अधिक पसन्द किये गये हैं, फिर नियमित रूप से विकरणयुक्त रूपों में पाली विधमें समानो है पस्स बुम्भ मभं (संबध० कगत्तो भोत्तो) का बहुत प्रयोग करती है, किन्तु साथ ही बहुत पहले कर्ता एक० पु० पस्सन्तो संबध० पस्सन्तस्स जागी पस्सो काम्म स्मरु वी० होंपावस्से हैं। -वन्त् युक्त विकरण में कर्ता-वा है गुणवा सतिमा भगवा किन्तु सर्वगोत्वो और साथ ही अर्थ पुराने मंत्रों (? सूत्रों) में अर्था जो स्वतंत्र शब्दों में माना गया है 'सद्नीति' प० १७३। मय रूप-न् (जिसके संस्कृत में चिह्न मिलते हैं) युक्त विकरण के साथ मेस जाते प्रतीत होते हैं और एक रूप सतिमं जो कर्म० एक० के रूप में प्रयुक्त हुए पाये जाते हैं की अनिदिषता की ओर झुके प्रतीत होते हैं ओजबं नपु ओजबन्त् का स्थान ग्रहण कर देता है किन्तु स्वयं अपने में सतिमा प्रयुक्त होना चाहिए या और हुआ है कर्ता० बहु० के रूप में मयवा स्त्री० क रूप में (कर्ता० बहु० पु० मतीमा नपु० एक० स्त्री० कितिमा)। किन्तु -वन्त् युक्त विकरणों में, जिस प्रकार वर्तमानकालिक कृदन्त में सामान्य रूप सीस्यन्तो प्रकार की व्याप्ति रही है।

प्रकृत

वैदिककाल प्राकृत के रूप प्रधानतः अत्यधिक ध्वनि-संबंधी शय के कारण उष्ण मध्यकालीन भारतीय भाषा भाषों से मिले हैं। व्याकरण की प्रणाली समान है केवल मन्व रूपों की प्रयुक्तता ही जाती है और सरलीकरण की भावृत्ति होती है। विभिन्न प्राकृतों में बहुत अधिक अंतर दृष्टिमोचर नहीं होता साथ ही म स्वतंत्र बोधिया भी नहीं हैं उनका एक ही व्याकरण-संबंधी आवर्ण है और, बहुत कम अपवाहों के रूप में विविधताएँ रूपों के केवल ध्वनि या आहृति-भूतक पुरातनत्व की श्रेणी ग्रहण करती हैं इन रूपों के ग्रहण करने में यह आवश्यक नहीं कि नियमों का पालन किया ही जाय इस प्रकार एक ही प्रत्यकार की रचना में कर्ता० एक० बुवा और बुवापो (स० युवा) दास और दासन्तो (स० दासन) मिलते हैं इतने पर नी-अन्तो कृदन्त की स्पष्टता प्रयुक्तता मिलती है।

यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि प्रायः जा रूप इधर क प्रतीत होते हैं वे इतिम रंग से बनाये मय संस्कृत के हैं स्वा रीमा एक स्फुट शब्द हम बात की गमना करन के लिये मयेष्ट है पाषी में कर्ता एक सा बहु० सानो के निकट है मुवाध मुव जिसमें मूर्धन्य प् है और जो प्रामाणिकता का चिह्न है, और साथ ही मुनक है जो निस्सन्देह

एक शब्द-शब्द तु-मन्त्र से बना है प्राकृत राजा भी पाणी में भी प्रचलित रहता है, एक पुनर्निमित्त रूप में प्रतीत होता है यह कोई संयोग नहीं है कि 'कुट्टे' की भाषुनिक संज्ञाएँ सब भिन्न हों। इसी प्रकार पन्धो और बहुत कुछ पहा (पहा) -बहो विधेयक रचना में मिलते हैं। संविहात्मक है जब कि यह शब्द जिसका स्थाय बहो एवम्। पहल कर कटा है केवल कुछ बिलक्षण शोभियों में मिलता है उससे भी अधिक बड़ा (अध्वन्) है जिसका कोई भाषुनिक रूप नहीं है।

एक० पु०-नपु० में -आ मुक्त अपादान दुर्लभ नहीं है -आहि मुक्त तो महापट्टी में प्राय मिल जाता है -वन्हा मुक्त सर्वनामवाची रूप का अभाव है सामान्य क्तिप-रूप विशेषण से उत्पन्न है, किन्तु जैत प्राकृत को छोड़ कर, निरन्तर -आ सहित सौर० पुताची महा० पुताची।

कारण अधिकरण है अर्द्ध मा० शोर्गसि महा० शोर्गसि कमी-कमी शोर्गसि मागवी कुमाहि --- ङि जो सिम (—) से निकलता है, -सिम जो -सिह से निकलता है, और दोनों पाणी में मिलते हैं। मागवी -आहि, जाहे सं० प्रकार बहिवाहि वा शोर्गकरण हो (वे० पाँचे) बाहू -अस्मिन् से निकले * -असि में अिन्-स्वति की विहित के कारण हो कुछ पूर्वी असोक -अ(स्)सि संबंध० मागवी कामाह की शक्ति -अस्त से निकल सकता है।

स्वनि-संभवी लय से यह स्पष्ट हो जाता है कि संबंध० बहु० का अल्प अनुनासिक उच्चारण हो सकता है। पुताच विपर्यस्त रूप में प्रायः अल्प अनुनासिक सहित सिद्धा जाता है महापट्टी करण० एव पुतेलं बधि० बहु० पुतेलं, वरत्त बहु० पुतेहि।

इसी प्रकार स्पष्ट हो जाता है कर्णसि के निकट बहु० नपु० फलार्ह का मुख्य कारण।

पुते क निकट, जो सामान्य है कर्म बहु० पु० में प्रायः पुता पाया जाता है जो संनृत्य से नहीं निकलता न पाणी से किन्तु जो कभी टिक (पुल० बं० रिपुन्) कट्टे वे० माका प्रकारों के उच्चारण के कारण होना चाहिए।

-आ(स्)ओ में अपादान एक० से भिन्न वाली की शक्ति प्राकृत में बहु० में करण के प्रयोग की शक्ति प्रचलित है। किन्तु एक विशेष रूप बनाने के लिये कुछ प्राचीनिक रूप उत्पन्न कर लिये गये हैं अर्थात् एक ओ प्रकाश में अस्ता है, और बहु० भी जैत जर्मे-नियम में बहु० एक विविध रूप में है बहु० करण में चिया-विधेयकजाल अल्प-ओ के बोझों से बनता है पुतेहिवा शीवाकरणों से ही (कुछ पाठों के आधार पर?) पुताहिवा पुतेलुवा और संकर रूप में पुताकुवा पर भी जो एक ही विधान के आधार पर बने हैं, वृत्तिपाठ किया है वे एक० के रूप भी स्वीकार करते हैं। वे प्राचीनिक रूप प्राचीन

काल में बिनबी अपनेका निकटी ही है (ऋ० पत्सुव) भाषा के इतिहास की दृष्टि से महत्वहीन रहे हैं।

स्त्री० में अपादान क समान प्रत्ययों का ही प्रयोग होता है स्त्री० मात्ताओ बहुओ, महाराष्ट्री मात्ताओ बहुओ, और बहु० में मात्ताहितो आदि।

स्त्री० एक० के अन्य विकृत स्त्रियों में प्रत्यय -मात्ता बना रहता है पाठों में बहु बहुत कम मिलता है और बरखि ने उसकी अनुमति नहीं दी प्रचलित रूप -आए है यहाँ प्राकृत पूर्वतः पात्ता का लक्षण करती है (किन्तु -आये गापायं 'सहमीति पु० ६७५) और अछोक द्वारा प्रयुक्त पूर्वी बोधियों से साम्य रखती है फलतः मात्ताए और इसी प्रकार बेबीए, बहुए बीर्भ स्वर सहित है।

इसी प्रकार कर्ता० कर्म० बहु० में मात्ताओ जो पात्ता मात्ताओ का समानवर्धी है बेबीओ बहुओ रूप में स्वर का बीर्भीकरण स्वीकार करता है।

जो अधिक महत्वपूर्ण बात है वह यह है कि स्त्री० की प्रतिक्रिया पु० पर होती है और वैन बर्भ-नियम के पाठों में कर्ता० बहु० में बेबा प्रकार के निकट मानबाओ जैसे कुछ रूप हैं वे कितने ही दुर्भ्रम हों वे एक वास्तविक तथ्य प्रतिबिम्बित करते हैं यह मन्व प्रत्यय गमाई (गवान्) प्रकार के कर्म० रूप का संतुलन करता है जो कि फिर अछोक-युग से लेकर प्राकृत तक चला आता है।—इसीसकल साहित्य में भी इसीओ (अपय) गिरिओ के कुछ उदाहरण मिलते हैं।

जो प्रमुख रूप-रचनाओं में अन्य रूप-रचनाओं को आरम्भात् किया है मयवा उनके लिये आदर्श का काम दिया है। पु० मनो और ननु० मनं प्रथम महाराष्ट्री और वैन द्वितीय विशेषतः घोरसेनी और मागधी में प्रकारों की रचना ज्ञात है ही इसी प्रकार कम्मो और कम्मं है -अन् युक्त पु० में -आ युक्त कर्ता में स्त्री० वाले कुछ बंधों के कारण हुआ है चन्विमा जो पात्ता में पु० है, अद्वा (और बद्वा) उम्हा मुद् पाते हैं।

-न् युक्त विकरण -इ युक्त संज्ञाओं में बराबर मिलते रहते हैं एभाजा (राजा) का बहु० करण० में एभाईई, संबंध० एभाईणं है, जिसका परिणाम यह होता है कि सभी समानान्तर प्रत्ययों में एक-सी ही लय रहती है।

अपभ्रंश

प्राकृत रूपों में अपभ्रंश, पाठों के अनुसार परिवर्तनीय अनुपात में कुछ ऐसे रूप जोड़ लेती है जो ध्वनि की दृष्टि से उनके और साथ ही नवीन प्रत्ययों के काफ़ी परिवर्तित हुए रूप हैं।

अपभ्रंश रूप में ह्रस्वीकरण हो जाता है और अन्त्य स्वरों की ध्वनि मन्व पड़ जाती है कर्त्ता० बहु० प्रा० पुता पुत हो जाता है कर्त्ता० एक० पुतो भी पुतु हो जाता है दूसरी ओर कर्म० एक० पुत् का अनुनासिक स्वर संभूत हो जाता है जिससे पुतु हुआ और समान कर्त्ता० कर्म० के इस पुतु का अन्त्य यहाँ तक मन्व पड़ने की प्रकृति प्रदर्शित करता है कि बाद के कुछ पाठों में कर्त्ता० बहु० पुता में निकले पुत से उसकी गड़बड़ हो जाती है।

इस प्रजाती की अन्य विशेषताएँ हैं प्रत्ययों में -ह की प्रचुरता और बहु० के विह्वल कारका में अनुनासिक स्वरों की प्रचुरता। विशेष-विशेष प्रत्यय निम्नलिखित हैं

बिकारणपुस्त, पु०-मपु०

एकवचन

कर्त्ता० कर्म० पुतु (जो पुत हो सकता है) फन्, के संबंध में बताया जा चुका है। करण० में पुल्लेय (+) पुत पुलि के संपूर्ण प्रत्यय का ह्रस्वीकरण हो सकता है जो प्राकृत के नियमों के विरुद्ध है इसके अतिरिक्त अनुनासिक अपनी स्पर्शा को बैठता है, जिस प्रकार प्राकृत में बहु मपुं आरं में है। अधिकरण के दो रूप होते हैं पुलि प्रा० पुले का दूसरा रूप और पुलिह जो मापवी पुताहि और साथ ही पा प्रा० ताहि आदि सर्वनामजात क्रिया-विशेषणों की याद दिलाता है। रूपों की इस दूसरी मात्रा में अपादान पुलहें जुड़ जाता है तुक० पा० मयाहि, प्रा मूलाहि। अपादान का एक और रूप पुतहो है जो निस्मनेह उपलब्ध रूपों के अनुकूल हुआ प्रा पुताओ है (अथवा क्या यह स्वीकार करना आवश्यक है कि ह्रस्व रूप का स्वाभाविक रूप हुआ है या पुताओ?)। संबंध० के अनेक रूप हैं पुतह का मूल सर्वनामजात है (प्रा मह जिससे तुह) संभवतः पुतहा भी क्योंकि मह के निकट अपभ्रंश में मह है जो मह + मन्मु (महम्म) है और ती (*तप्रो तव से?)। यह देखने की बात है कि पुतहो साथ ही अपादान भी है इससे तथा इस बात से कि दो कारकों में म्बी० एक० और बहु० में एक-मी ही अभिध्वंजना है संभवतः 'नीसरीदी सरिदी मन्दितामु' का अपादान० प्रयोग स्पष्ट हो जाता है मब ३४२, * तथा पु० ३४*। जहाँ तक पुतमु पुतामु से संबंध है उनका अन्त्य स्वर पुतह, पुताह के सामान्य पर

है संभवतः यह भी केवल कर्ता० बहु० पुत्र के दीर्घ से निकल आ की अपेक्षा अधिक संवृत अन्त्य अ का संकेत-चिह्न है।

बहुवचन

कर्ता० कर्म० पुत्र फल का संबंध प्राकृत के पुत्रा फलाई से है। यह एकवचन और बहुवचन दोनों में होता है—एक विचित्र मुख्य कारक है।

करण० पुत्रोहि, पुत्राहि अधिकरण पुत्रोहि।

करण० का परंपरागत प्रत्यय सामान्यतः *पुत्रोहि *पुत्रिसु तक सीमित रहता है और उसकी मङ्गल-व्युत्पत्ति सत्राभो से हो जाती है जैसा अग्निहि उसी से विकरणयुक्त स्वर उत्पन्न होता है, जो बाद को समस्त विद् की प्रभावित करता है। किन्तु अधिकरण में इस प्रकार उपलब्ध *पुत्रिसु अपरिवर्तनशील होता है संबंध० एक० होने के कारण और फलतः यह एक महत्त्वपूर्ण कारक है अधिकरण और करण को संबन्ध होते भी देखा गया है, जैसे ही एकवचन और बहुवचन के लिये एक ही रूप प्राप्त हो। यह उन छोटी-सी बातों में से एक बात है जो इस भाषा के कृत्रिम रूप का आनास देती है वास्तविक बोलचाल में इन अनेक अनिश्चितताओं का भेद बनाय रखना निस्सन्देह कठिन ही था किन्तु इस बात का अनुमान करने का अधिकार तो होना ही चाहिए कि जिस युग में अपभ्रंश में लिखा जाता था संयुक्त “मध्य में बाद में” के अर्थ में शब्दों के समुदाय या समासों द्वारा कारक की अभिव्यक्ति विशेषतः अधिकरण की पहले ही से प्रचलित थी।

यह कहा जा सकता है कि करण और अधिकरण एकवचन के निकट रहे हैं चाहे बहुवचन रहा हो जब कि पुत्रो और पुत्रो रहे हों चाहे बाद का अर्थ कि अधिकरण पुत्रोहि पुत्रो हो जाता है।

संबन्ध० पुत्रोहि।

यह देखने पर कि पुत्रोय पुत्रो हो जाता है (और फलाणि फलाई हो जाता है प्राकृत के समय से) तो यहाँ फिर चाहे *पुत्रोम् की चाह *पुत्राम् की आधा की जा सकती है। इन कष्टप्रद रूपों का स्थान पुत्रोय संबन्ध० प्रहृण कर लेता है पुत्रोह् + अं जो -आय से निकलता है। परिष्कारस्वरूप बुद्धिमोचर होता है एक द्वयभारतमक प्रत्यय जैसा कि एकवचन और बहुवचन में विद्वत् कारकों के सभी प्रत्यय होते हैं।

किन्तु साथ ही अनुनासिक स्वरों के केवल अस्तित्व के कारण बहु० का एक० से

विरोध स्थापित हो जाता है। पुतह पुतह। इससे संभवतः अपादान का नवीन रूप पुतह का स्पष्टीकरण हो जाता है जिसका एक० पुतहो से विरोध है।

प्राकृत में पहले से ही पुतान का अनुमासिक बरण० पुतेहि और अधिकरण पुतेसुं तक पहुँच चुका था।

स्त्री०

एकवचन में कर्ता० और कर्म० (बिना अनुमासिकता के) मास पु० की भाँति एक विचित्र रूप है। विद्वत् कारकों में मासर्षे की आशा की जाती है, और वास्तव में यह करम का रूप है। किन्तु अधिकरण अपादान की विशेषता है द्वारा मासह, -ह संकेत विद्वत् निर्धारित होता है। अधिकरण मासर्षे को मिस भी जाता है (मब० पु० ३५*) इस बात का धोखा है कि वास्तव में पुल्लिङ्ग आदर्श-स्वरूप रहा है।

बहुवचन में कर्ता० कर्म० मास करण अर्थात् मासर्षे संबंध० में मासर्षे के निकट मासह मिला है। मधीर्भाति प्रमाणित न होने पर इस रूप का एक अपादान-संबंधी पक्ष होता है। उससे स्वयं मासह के एक वचन में उत्पत्ति के आधार पर, प्राकृत भाषाओं प्रकार के बीबित रहने का प्रमाण मिलता है।

अस्य विकरण

-इ और -उ मुक्त संज्ञा-रूप न हो मधी भाँति स्थापित तिङ्ग प्रदान करते हैं, न महत्त्वपूर्व समस्पर्षे। संबंध एक० अस्मिन् प्रकार का शेष ध्यान देने योग्य है। पुतह के विपरीत अस्मिह् अस्मिहि और मुच्छे मिलते हैं। देखिए (मब० पु० १९*) वुच्छु बहु० में अस्मिह् अपवा अस्मिह् अपवा स्त्री में देखिए वा स्त्रीनिह् (शकुन्तीनाम्) के निकट है। किन्तु सनतुमारणित में मुच्छि सर्हिहि।

सर्वनाम

आदर्शिकरण की प्रवृत्ति ने जिसके फलस्वरूप नामवाच संज्ञा-रूप की स्वर-संज्ञि उत्पन्न हुई, सर्वनामों में कुछ परस्पर विरोधी बातें उत्पन्न हो गयी थीं। जिनमें वृषक करने वाली बातें अनेक और बार-बार दृष्टिगोचर होने वाली हैं। कोई एक सामान्य विधाय नहीं मिलता। उसी से होती है रूपों के मूल की वृद्धि और विकास कमी-कमी उत्पन्न, किन्तु जिसकी प्रामाणिकता के संबंध में शायद ही कभी संदेह हुआ हो। वे विविध प्राचीन-निक रूपों का एक युग प्रभावित करते हैं और प्रायः आधुनिक बोलियों में प्राप्त रूपों के अधिक स्थायी विभाजन की ओर संकेत करते हैं।

पुरुषवाचक सर्वनाम

एकवचन

मुख्य कारक—कर्त्ता। वृषजरी वैदिक व्(च)वम् और कर्म० एकाक्षररत्मक त्वाम् का विरोध पा० प्रा० त से भिन्न पा० प्रा० तुवं (पा० त्वं के निकट) तक पहुँचता है किन्तु प्राकृत तुवं दो कारकों की प्रवृत्ति प्रकट करता है। उत्तम पुरुष में भी पा० अघो० गिर० अह, कर्म० पा० नं एक व्युत्पत्तिवाला बीज प्रा० स्व अहकं प्रा० मागधी अहकं बीज अह्यं है जिसमें आविस्वर के लोप के कारण वृषजरीरत्मक पदा मिश्रित रहता है। पूर्वी अघोक० हकं प्रा० मागधी० हुमे हुगे जिससे अप० हउं जो तुहं की उत्पत्ति का कारण बना और जो उसी की तरह केवल कर्त्ता० है (अ)हं कुछ क्रियामूलक स्मों में अपने को संयुक्त कर बना रहता है वे० और जागे।

गीग कारक के सभी स्मों का यहाँ संग्रह करना निरर्थक होगा कुछ उदाहरण ही वास्तविकता को प्रकट करने के लिये यथेष्ट होंगे।

उत्तम पुरुष के संबंध० के लिये प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा में 'मम' बना रहता है। किन्तु संबंध० और संप्र० वाक्य-विचार-संबंधी तुभ्यता से यह ज्ञात होता है कि महा अपनी अनुनासिकता जो अस्थायी भी है इस प्रकार 'मम' को प्रधान करता है।

दूसरी ओर अघोक० सह० मव है जो पाली में सवृष रूप के अभाव के कारण प्रा० मह जो जो भारोपीय में मिश्रता है प्राचीनत्व प्रधान करता है *मेधे तुल० *तेमे व् ह। तेवे और संभवतः प्राकृत सह० व् हां सेवे और अर्थ के लिये सं० स्वयम् से साम्य रखता है। प्राकृत मह ने सं० मह्यम् जिससे महं से अनुनासिकता ग्रहण की है यह समानता मध्यम पुरुष तुहं तुहं में भी मिलती है।

अपादान में भत् ने जो अत्यन्त संक्षिप्त और असुविधाजनक है प्राकृत में सामान्य पर-प्रत्यय ग्रहण किया है, जिससे मत्तो बना जो वैयाकरणों को ज्ञात कुछ स्मों के लिये आदर्श का काम देता है और सबध० को प्रमाणित करता है ममत्तो मज्जत्तो।

करण भी संबंध० को आधार रूप में ग्रहण करता है पूर्वी अघोक ममया जो कभी ममिया वा जिसके लिये पुषट्-पुषक व्याज्जाओं में ममियाये की गणना नहीं की गयी। इन व्याज्जाओं में वाद को महावस्तु में ज्ञात करण० मये का चिह्न मिलता है। इसके विपरीत भद्र कर्त्ता० हमा हमियाये के आधार पर शेष उन सबका काम निवारण हैं जिनकी ठीक-ठीक परिभाषा निर्धारित नहीं हो सकी। क्या महावस्तु मये रूप के साथ करण० मया और प्राचीन प्रत्याक्ष मे के संबंध का भी क्या बही महत्त्व हो सकता है? अथवा वह नाम-भत्यय से संबंधित है? जो कुछ भी हो यह रूप कर्त्तव्यता प्राकृत तक में

बना रहता है। मय, मी और इसी प्रकार मध्यम पुरुष तए, टी (जो पा० करण० बपा० तथा का स्थान ग्रहण कर बैठा है)।

मं के निकट मुख्य कर्म कारण मर्म में संबंध० स्वयं विकरण की सहायता करता है, क्या यह मात्सेवीय में भी है? मध्यमा प्रत्ययांश मे ते में जो मूर्त्त्यों का अस्तित्व विपर्यस्त रूप के किये सहायक सिद्ध हो सकता है।

ये सभी रचनाएँ इसलिए और भी अधिक रोचक हैं क्योंकि वे बहुत या कम सीधता के साथ सुप्त होने वाली थीं (उदाहरणार्थ अशोक के करण० केवल उन्हीं में मिलते हैं) और इससे उस प्राचीन संप्रदान को नाम पहुँचा जिसे सचनाम उस समय तक सुपक्षित रहता है जब कि वह संज्ञाओं में से सुप्त हा जाता है। पा० मम्ह [जिससे प्रा० मग्ग (—) अप० मग्गु] से तुम्ह [प्रा० तुग्ग तुग्गु के निकट अप० में तुग्ग है मब० (तुग्गु) जिनकी विवृति अस्पष्ट है] की उत्पत्ति को सहायता मिलती है जो मित्र रूप तुग्ग (—) (सं० तुग्गु) को जिसका केवल कर्त्तव्यक प्राकृत में प्रमाण मिलता है और जो फलतः संविहारमक है, बना जाता है।

मध्यम पुरुष एक० के तु विकरण का प्रभाव मध्य कर्मों तक प्रसारित होता है। संबंध तुम्हो बैसा ही जा चुका है। निय संबंध तुम्ह (कर्त्ता० तुम्हो) प्रदान करता है। करण० में तए, ऊपर सद्यत तै से प्राकृत तए, तुम्ह बनते हैं जो इतर तुम्ह से सम्बन्ध हो जाने पर, तुम्ह तुम्हए प्रदान करते हैं। स्वयं तुम्ह तुम्हए फिर अपादान में वीर्य रूप तुम्हाहो तुम्हाहि, जिससे तुम्हाए, पारण कर लेते हैं। ये सब रूप एक ही पाठ में पास-पास मिल जाते हैं। गीठ लक्ष्यो तए, तै तुम्हाए, तुम्हाइ हाक तुम्हए, तुम्ह तुम्हए, तुम्हाइ बैन तए, तुम्ह तुम्हए। प्राभाषिक कर्मों का अनुपाठ बताना कठिन है। अपभ्रंश में संज्ञाओं के करण० की अनुनासिकता के कारण अत्यधिक प्राचीन रूप वीर्य हो जाता है। तई (पई संस्कृत के आचार पर बना उसका एकमूर्त्तीय-भिन्नाधी शब्द प्रतीय होता है। हर हासत में उसमें संस्कृत का चिह्न नहीं मिलता। संज्ञाओं के प् ने कात्मन् बर्ग प्रा० अप्पा की याद दिलाई)।

बहुवचन

उत्तम पुरुष के कर्त्ता० में वयम् का बाहि जो मध्यम पुरुष के प्रत्ययांशों सं० वः, पा० जो की याद दिला सकते हैं, अपने को एक० के अनुकूल बना लेता है। जिससे है पा० मयं पूर्वी अशोक० मयं उसी से बाद जो ह् कुन्० महावस्तु मोमोके निय सं० न। यह पूर्ण नहीं है। अशोक में मये का कर्म० है अ(प्)के अ(प्)जेनि (पीछे भी बैसिए) जो सीधे वैदिक अस्मिं विहित रूप की याद दिलाता है जिसे केवल यास्क ने मुख्य

कारक के रूप में स्वीकार किया है। अर्थात् *अर्थात् पर आधारित है जो सीधे संस्कृत अन्त्यान्तु संज्ञिका है। *अर्थात्, पा० सर्वथ० अर्थात्, सं० अन्त्यान्तु की भाँति नहीं स्वतंत्र रूप में बना है और *अन्त्यान्तु के प्रतिनिधि से बना है। अन्त्यान्तु (पी०) अन्त्यान्तु के कर्म० सर्वथ० अन्त्यान्तु में सुरक्षित पीछे भी देखिए। इस कर्म कारक का केवल एक अर्थ है। प्रा० अन्त्यान्तु कर्ता० कर्म० है और अन्त्यान्तु० मये का प्रभाव उसमें आ गया प्रतीत होता है। पा० अन्त्यान्तु, पूर्वी अन्त्यान्तु० तु(ए)के दो कारकों के लिये आवश्यक है। यह अन्त्यान्तु विकरण एक० अन्त्यान्तु जिसने अन्त्यान्तु, जो संस्कृत की अपनी रचना और मध्यकालीन भारतीय भाषा के प्रतिरूप है, का स्वभाव ग्रहण कर लिया है, के आधार पर पुनर्निमित्त हुआ है। और *अन्त्यान्तु को एक० अन्त्यान्तु अन्त्यान्तु के अन्त्यान्तु निकट होना चाहिए, पीछे देखिए।

अन्त्यान्तु में मुख्य और विरल कारकों के प्रत्येक सर्वनाम में केवल एक विकरण रहता है। दूसरे प्रकार के कारकों की टीका-टिप्पणी की कोई आवश्यकता नहीं है।

सर्वनामजात विशेषण

संस्कृत में सर्वनामजात विकरणों की संख्या कम हो गई थी और जिन्हें उसने सुरक्षित रखा उन्हें अनुदासयत किया। मध्यकालीन भारतीय भाषा में विकरणों और तिङ्गों का सरलीकरण जारी रहा।

विकरण अन्त्यान्तु- जिससे निरन्तर वैदिक अन्त्यान्तु अन्त्यान्तु से ही, उस अनुदासयत की वास्तविक विशेषण है जिसमें अन्त्यान्तु कर्ता० एक० पु० है। यही कारण है कि पाली में अन्त्यान्तु जो पहले स्त्री० बहु० या पु० में अन्त्यान्तु का स्वभाव ग्रहण कर लेता है, एक० में कर्ता० पु० अन्त्यान्तु पु० स्त्री० अन्त्यान्तु के समीप आ जाता है। अन्त्यान्तु में विशेष स्वर उतना ही ग्रहण किया गया है जितना ध्वनि की दृष्टि से अन्त्यान्तु जैसे रूपों में से छोड़ देने के बाद आवश्यक था क्योंकि अन्त्यान्तु > *अन्त्यान्तु स्वभावतः सो एषो (त एष) के साथ आता है। वही स्वर अन्त्यान्तु में दृष्टिभोजन होता है। अन्त्यान्तु *अन्त्यान्तु सं० अन्त्यान्तु के लिये। अन्त्यान्तु में एकीकरण जारी रहता है। पु० स्त्री० एक० अन्त्यान्तु, अन्त्यान्तु, अन्त्यान्तु, जिससे -उ युक्त संज्ञाओं के संज्ञा-रूप के आधार पर सर्वथ० अन्त्यान्तु, साथ ही अन्त्यान्तु (अन्त्यान्तु) है। वास्तव में इस सर्वनाम के रूप अन्त्यान्तु में विरल हैं और अन्त्यान्तु० में तो एक ही नहीं है। तो भी यह देखा जायगा कि संभवतः उसके कुछ विशिष्ट अन्त्यान्तु रहते हैं कम-से-कम अन्त्यान्तु में।

निकट अन्त्यान्तु-सूचक सर्वनामों में, अन्त्यान्तु विकरणों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं होता और यह कुछ प्रत्ययोधों में, प्रा० सर्वथ० एक० अन्त्यान्तु अन्त्यान्तु बहु० सं० कर्ता० पु० एक० अन्त्यान्तु का रूप अन्त्यान्तु० विरलार में पामी और अन्त्यान्तु-भाग्य में स्त्री० का काम लेता है। इसके विपरीत अन्त्यान्तु के पूर्वी अन्त्यान्तुओं में बहु (पुष्पानी अन्त्यान्तु की भाँति) अन्त्यान्तु है और यह

भी पुस्त्रिय में। जहाँ तक कर्त्ता • कर्म • नपुं • इत् से संबंध है उसकी प्रतिव्युत्थिता इत् (तुल • अ० इमत्) से है जिसके सामान्य विशेषण के रूप में जान पर उसके साथ साम्य उपस्थित हो जाता है और कर्म • पुं • स्त्री • (इत् इमम् इमाम्) के साथ भी यहीं पर विकरणयुक्त प्रकार के सामान्यीकरण से बलगाव हो जाता है संबंध • एक • पुं • नपुं • इमस्त् स्त्री • इमाय पूर्वी अघोष्ठ • इमाये पुं • बहु • इमेत् करण • इमेहि आदि जिससे अन्ततः प्राकृत में कर्त्ता • एक • पुं • इमो स्त्री • इमा इमिवा ।

प्रदत्तवाचक में मुख्य काल नपुं • सं • जिम् का स्पष्ट विरोध क- के साथ है उसका एक प्रमाण है कश्चित् > *कश्चि पर आवापिठि पूर्वी अघोष्ठ • किञ्चि तुल • अघोष्ठ • कालसी पुं • केष्ठ (करण) । विकरण का प्रमाण विद्वत् काष्ठों तक पर वृष्टियोपर होता है पा संबंध • क्तिस्त् ओ क्त्स् के निकट है अथि क्त्स्मि ओ क्त्स्व्या-विशेषण क्त्स्मा के रूप में अपादान से मिल है अरो • क्तिन्स् (स्) च ओ पा • के तस्त् के तुल्य है, प्रा • क्त्स्व्या वि (केमापि) इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है न कि भारतीय-ईरानी वा आर्यय क्षेत्र से तुल • गावा • बिना । स्पष्टतः माया की प्रवृत्ति वास्तविक लिंग के संज्ञा-रूप से पुषक एक विशेष्यमुक्त सर्वनाम की ओर है इसीलिए वाच की हिं • क्या सु • क्त्स् ओ क्ति की व्याप्ति द्वारा बना है, जो हिन्दी कौन् जोन् ओ क- की व्याप्ति द्वारा है से मिल है, अप • कवण (वे • माये) ।

वास्तव में प्राकृत में विशेषण कीच का प्रयोग 'जो' ? और साथ ही 'जो' के अर्थ में होता है, जो पा क्तिस्त् हेतु, प्रा • मागपी कीच कालवाचो बीसी अभिव्यंजनाओं से निकसता है ।

मपनी विशेषता किये हुए स्वर मति-सूषक सर्वनामों में प्रकट होने की प्रवृत्ति प्रकट करता है अघोष्ठ • ऐति (स्) च ओ एत् (स्) च के निकट है एतिन् ओ एतेन के निकट है और कलत् एतिम् अ (ट्) अय इमिना ओ इमेन के निकट है । उससे मैसूर में है इमिना काकेन और पा पुं • में इमिना मिते अनुमा द्वारा बल प्राप्त होता है तुल • महाबस्तु एकिना पुं • और स्त्री • । जिस अघोष्ठ पुं • (कलत् पड़िए इमिस्त्) के साथ न कबल उद्भावा इमिस्त् मिलता है वरन् प्रमनुष्यविये स्त्री • मी (कलत् महा पड़िए इमिस्त्) पाठों में भी स्त्री • में -इस्त् का प्रयोग हुआ है संबंध • (ए) तिस्त्वा इमिस्त्वा और साथ ही एकिस्त्वा अन्वित्त्वा अथि • तिस्त् इमिस्त् आदि (*मि की जसुविधा के कारण केवल मस्त् शेष रहा है) । प्राकृत की जी- ती से स्त्री • विद्वत् रूप क मधीन विकरणों का अलपाव देला जा सकता है ।

शेष म विकरण क- इम की मति संबंधवाचक य की मति प्रा • व और निदचय वाचक अपवा मावृत्तिमुक्त ए एत् प्रा • एत् एत् (जो बहुत कम विकृत है) अंत में

न (संबंध ठ क बाद आम वाले एन से निकला प्रत्ययास एत दिनकी सजाओं के आकार पर रूप-रचना निर्धारित होती है, किन्तु मुख्य कारकों के रूपों की एकता बनाये रखने के साथ-साथ वे इसे अमूर्त बाँधे)। इस का कारण तो बेधा ही जा चुका है। इसी प्रकार है कर्ता० कर्म० मर्तु० य एत (यद् एतद्) अशोक० संप्र० पु० एताव स्त्री० एताये पा० अचि० स्त्री० तामं ओ तस्सं (तस्वाम्) क निकट है, अशोक० पा० यस् किन्तु पूर्वी अशोक० एतानां ओ घह० एतेप के निकट है पाली में समशीला उपस्थित क्रिया गया है जिसमें कम सफलता मिली है एतेसामं येसाम। स्त्री० में प्राकृत रूप होमा ताए, तीए आ मारुए, देवीए के आकार पर एक सामान्य विकृत रूप है। तीन प्राकृत ये संबन्ध० बहु० पु० तेषि स्त्री० ताति न एव अमृत रूप है जो अभी तक स्पष्ट नहीं हो सका।

यह देखा जाता है कि रूपों की स्वयं बृद्धि सामान्यीकरण के प्राथमिक रूप से हुई है और उत्पत्ति की स्वतंत्रता होने पर भी जो सर्वनामों में स्वामाधिक है उसकी संख्या बड़ी नहीं है केवल अपभ्रंश में ही कुछ नवीन रूप मिलते हैं योप अस्पष्ट है आज एतु कर्ता० बहु० ओइ (अहु अमु में अथवा भारतीय ईरानी अब में प्रचलित अथवा पञ्चद-आर्यी ओइ से लिया गया ?)

मध्य भारतीय भाषाओं में सज्ञा

वर्ग

वह प्राचीन संज्ञा-रूप जिसका रूपों से संबंध है अपने को बटाटा हुआ और निवर्तित करता हुआ बतला है किन्तु इन रूपों का प्रयोग लगभग नहीं रहता है, और प्राचीनतम संस्कृत के समय से मध्यकालीन भारतीय भाषा तक संज्ञा-रूप की मूलतः एक ही प्रणाली रहती है, जो भारतीय-ईरानी के उत्तपत्तिकार के रूप में है। जब ध्वनि-संबंधी विकास के कारण राष्ट्रीय प्रणाली के मध्य हो जाने से सब कुछ अपरिवर्तनीय हो जाता है तभी आधुनिक भाषाओं की विद्योपत्ता नवीन प्रणाली का आरम्भ हुआ।

लिंग

संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में संज्ञाओं के और उन सर्वनामों के जो पुरुषवाचक नहीं हैं (पुरुषवाचक सबनाम स्त्री० का एक स्पष्ट उदाहरण वा०सं० पुण्या है मध्य भारतीय भाषाओं में सिन्धुली में केवल ही स्त्री पु० वा है) तीन लिंगों का भेद मिलता है। आधुनिक भाषाओं में से अधिकतर भाषाओं में केवल दो लिंग हैं तपु० केवल मरठो और गुजराती और दूसरी ओर हिमाचल की मद्रबहि (bharxah) में मिलता है (एस बनी इंडियन लिक्विस्टिकस 1)। संज्ञा में लिंग और लिंग के भेद पर आधारित एक नवीन संज्ञान मिलता है। अन्त में पूर्वी समुदाय है बंगाली-असामी-उड़िया में प्राचीनतम पाठा के समय से ही कोई लिंग-भेद नहीं है।

भारतीय संज्ञा और लिंग के प्राचीन भेद का संस्कृत में कोई महत्त्व नहीं है इसका विपरीत रूप-विचार की दृष्टि से मुख्य कारणों को छोड़ कर, संबंध पुस्तिकाओं और स्त्री० के तपु० का विरोध मिलता है। ऐसा विरोध स्वर-संबंधी विकारों से युक्त संज्ञा का दृष्टिगोचर हुआ है अर्थात् स्वयं उनमें जो मध्यकालीन भारतीय भाषा में जीवित रह जाते हैं। कुछ प्राचीन पर श्रवणों उदाहरणार्थ -अ ब के विरोध के लक्षण अथवा लक्षण अर्थ का अनुसरण करते हुए दो लिंग संभावित थे। वास्तव में संस्कृत में विकारपुस्तकों की एक बहुत बड़ी संख्या के लिये पुस्तिका और तपुस्तक० के बीच

अनिश्चितता का विद्वान्त दृष्टिगोचर होता है अस्तु, नीबू और मीठम् आकाश-, आकाशम् पुस्तकः, पुस्तकम् मस्तकः, मस्तकम् सामान्य प्रवृत्ति नपु० की ओर पायी जाती है वै० गृहः, कैंसीकस मूहम् विख्यातमान में मार्ग इव कोष नपु० हैं (यह ठीक है कि उसमें प्राण पु० है) तमिळ और तेलुगू के उच्चारण किये गये शब्दों (यह कहना आवश्यक है कि उनकी स्थिति अनिश्चित है) में नपु० की प्रचुरता देखते हुए, यह कहना पड़ता है कि कैंसीकस पाठ जितना अश्वेतनों के सिंग के रूप में उसे प्रकट नहीं करते उससे अधिक उस पर विचार होना चाहिए अस्तु, तमिळ में है स्वयमरम् (स्वयमरः), सुवेसम् (स्ववेसः), सुदमम् (सुव और सुवा) सत्यनम् (स्यत्यन) और साथ ही मरुचम् मरुचम् (मरुच) तथा प्राकृत से लिये गये हैं पुयम् (भुज) वे० कयम् (गज) (उत्पाहरण अनवरतविनायकम् पिन्ने इत 'संस्कृतिक ऐसीनेट ड्रीवीडिक स्टडीज' III, भद्रास १९१९ से लिये गये हैं)।

जिनका मुख्य कारकों से संबंध है उनक बहुत० क रूपों में धीरे धी एक अनिश्चितता प्राप्त हो जायगी। एक ओर तो -आयुक्त नपु प्राचीन प्रत्यय को पु० के सदृश है, पाली में बना रहा है जिसमें कभी-कभी पु० का विरोध मिल जाता है (सर्वनाम य कश्चि वपा सम्ब वपा)। किन्तु दूसरी ओर मध्यकालीन भारतीय भाषा म नपु० मिलता है।

अधोक के पूर्वी अभिप्रेक्षां म पु और नपु० के लिये कर्त्ता० एव० -युक्त है किन्तु उसमें एव० नपु० है क्योंकि कथाने का कर्त्ता० बहु० कथानानि (सं० कस्याणम्) है। यह ठीक है कि कर्म पु० क लिय अधोक ने प्रायः -आनि -ईनि से युक्त प्रत्ययों का प्रयोग किया है वैसे कि भी स्यूडर्स का कहना है (Sitzb. बर्लिन १९११ पु० १९२ एक डब्ल्यू० टॉमस जे० बार् ए० एस० १९२५, पृ० १०४ तुस० अप्फेनि पु० १४६)। यह अनिश्चितता बहुत दिनों तक बनी रही अबका उचित अस्त तो यह है कि प्रत्यय -आनि अबका उससे निकले हुए रूप बहुत दिनों तक बने रहे ताकि कुछ भाषाभा में वे स्त्री० बहु० के रूप में काम आकर रह जाते।

मुख्य कारण के एक० से जहाँ तक संबंध है वह वैसे कि बेना जा चुका है, मध्य कालीन भारतीय भाषा की अनि-अनामी द्वारा संतुलित हो जाता है।

अब प्राचीन नपु रूपों में कुछ संख्यावाची संज्ञाएँ रह जाती हैं। पाली में तो बुज का सामान्यीकरण हो ही गया था जो अनेक स्वरों पर दृष्टिगोचर होता है प्राकृत में बाल्मि सिन्धि (प्रथम दूसरे के आधार पर याता है और जो अप्रत्ययत "वार" से निकलता है, दे बार्बोमोमी Sitzb., हाइडेलबर्ग १९१६ पु० ९) बत्तादि, मप० बार्दि, जिसस लगभग सब बार् बनता है, तीन् सिमी कहुंदा और बयं को छोड़ कर, दोन् केवक मपठी में।

'क्या कुछ' अर्थ वाले सर्वनामों की आधुनिक उत्पत्ति के संबंध में आगे देखिए।
 दो नपुं० व्याकरण के उचित निय के रूप में सपमग सर्वत्र स्मृत हो गया है इसके
 विपरीत चेतन और अचेतन सज्ञाओं में अन्तर करने की प्रवृत्ति के बिह्व मिलते हैं।
 पहले वाक्य-विचार में सज्ञा के चेतन पुर्यवाचक बबबा अचेतन के अनुस्य
 कश्मीरी में परसर्ग का नुमाब गुजरती में स्त्री० के संबंध में बहु नपुं० वा स्तेनिय
 व से पुस्तनीय चेतन सज्ञाओं के कारका में मुख्य कर्मकारक का स्वान ग्रहण करने के
 निम्ने परसर्ग का सामान्य प्रयोग।

स्वयं रूप-विचार में पहले सिहली की ओर संकेत करना उचित है, जिसमें एक
 नबीन सज्ञा-रूप की प्रमाणी का निर्माण मिळता है एक ओर तो पूर्वमग और स्त्री
 स्त्रिय है जिनका निर्माण मुख्य कारक और पीव कारक जिसमें परसर्ग भी जुड़े रहते हैं
 के दो बचनों में होता है दूसरी ओर अचेतन है जिनमें करव और अधिकरण भी है
 इन बिह्व कारकों की रचना केवल एक० में होती है। यहाँ कुछ निश्चित न कर सकने
 योग्य बनार्य व्यापार का प्रमाब देखा जा सकता है।

नेपाळ में भी उसी प्रकार व्याकरण-संबंधी निय स्मृत हो गया है उसमें केवल
 ऐसे कुछ स्त्री० रूप रह पाये हैं जिन्हें स्त्री रूप में कहा जा सकता है उदा० तारि यह
 एक ऐसी बात है जो व्युत्पत्ति और व्याख्या से निःसृत होती है न कि व्याकरण से।
 साथ ही इसमें एक ऐसी भाषा के बिह्व भी मिलते हैं जो इतर भाषा ही में मुझा बी मयी
 है। यह भी निस्सन्देह एक आमाद, तिब्बती और मुग्धा का प्रमाब है जो पूर्वी समुदाय
 में तियों के पूर्व कोप के मूल में है केवल कुछ बिह्वतापूर्ण रचनाओं में ही उसके अधिक
 बिह्व पाये जाते हैं और पुराने बँगला पाठों के कुछ उदाहरण जो उसके संबंध में दिये
 जाते हैं इतने कम हैं कि उनका कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

सर्वनामों में स्त्री के स्मृतत्व के संबंध में और आगे देखिए।
 इस प्रकार प्रमाणी तो निश्चित ही सब केवल इस बात की ओर संकेत करना शेष
 रह जाता है कि अक्षय-अक्षय सज्ञाओं का किंग बिना परिवर्तित हुए सर्वत्र प्रेषित नहीं होता।
 पामी के समय से ही यह दृष्टिवाचक होता है कि कुछि साकि और पातु मुक्त पु के
 किन्तु जिनमें स्त्री० प्रत्यय ग्रहण करने की प्रवृत्ति रहती थी और वास्तव में स्त्री और
 हस्व-इ और-उ मुक्त विवरण एक दूसरे के निकट हैं। उससे है
 बनि नु० म गु० हि भायु, सि० भागि जिप्पी-भाया मग, पं कर्हा०
 नम् स्त्री है
 कुसि० पु कर० कोठ पं कुम्प कुम्प सि कुलि पु कुल, म० कू
 स्त्री० है

बायु पु० हि० बाओ सि० बाउ पं० हि० बा स्त्री हैं म० बाय् पु० बा पु० बाउ से निकल सकते हैं

इसु पु० हि० ऊम् ईम् मु० ऊम् स्त्री० हैं किन्तु म० ऊम् पं० इस्त् पु०,

बाहु पु० हि० प० सहदा बाहू सि० बाहू स्त्री लिंग हैं व्युत्पत्ति वाले स्त्री० म० बाही गु० बाही

भक्ति नपुं० गु० हि० भाक्, पं० भक्त् सि० भक्ति स्त्री० हैं

व्याप्ति सहित

बधि नपुं० गु० म० बहिं नपुं० हि० बही पु० किन्तु पं० बहिं सहदा बही सि० ब्रही स्त्री० ।

बस्तु नपुं० सि० बम् और बाव ही तत्सम हि० गु० बस्तु, स्त्री० हैं ।

इसी प्रकार बरम नपुं० जो प्राङ्गत में बटा हो जाता है सर्वत्र स्त्री० द्वारा प्रतिगित्त्व प्राप्त करता है तुळ० बे० पीछे ।

और भी विविधताएँ मिलती हैं विशेषतः विद्वत्तापूर्ण शब्दों में इस संबंध में कोई सामान्य नियम नहीं है उदा० हि० प० गु० बेहू स्त्री० (मराठी में पु०) की स्त्री० में व्याप्ति मिलती है सि० बेहू^१ । हिन्दी में सोंहू (दापप) स्त्री० है (बाय् स० बाती का प्रभाव ?) किन्तु ठार बेजोटा पुल्लिंग हो सकते हैं व्यक्त में यह नियमित रूप से है ।

यहाँ स्त्री० व्युत्पत्ति वाले रूपों के संबंध में विचार करना व्यर्थ होना क्योंकि संस्कृत-द्वी और विशेषतः-इका जो सामान्यतः-अको स्त्री वाले का काम देते हैं वे निकले पर-अत्यमों के कार्य की ओर संकेत कर देना योग्य है ।

व्युत्पत्ति-मुक्त शब्दों में लिंग के एक महत्वपूर्ण प्रयोग की ओर संकेत करना आवश्यक है । हिन्दी में स० भाण्डम् स० मित्र कमी-कमी हृष्या पु० और हृषी स्त्री० मिलते हैं पहलू का बर्ष है बड़ा बर्तन दूसरे का छोटा बर्तन स० रस्मि पु० से मित्र हि० में रस्सा रस्सी है । वैज्ञानिक दृष्टि से यह बैपरीत्य बैसा ही है जैसा छोड़ा छोड़ी का किन्तु व्युत्पत्ति-मुक्त पु० अधिक बड़ी चीज का आशय प्रकट करता है, स्त्री० छोटी या कोमल वस्तु का । अथवा भी यह अन्तर मिलता है गु० टेकरो पु० टेकरी स्त्री० गई नपुं० गडी स्त्री० सि० कानु पु० 'बड़ा पाकू' काति स्त्री० 'छोटा पाकू' माटी पु० माटी स्त्री० । निश्चित विस्तार की ओर ध्यान नहीं जाता और विशेषतः इस तथ्य का किन्तु इतिहास सामान्य भाषा-विज्ञान की दृष्टि से रोचक हो सकता है ।

बचन

भारतीय-ईरानी और भारोपीय की भाँति संस्कृत की बचन-रचना में तीन बचन होते हैं — एकबचन द्विबचन बहुबचन। अन्य भारोपीय भाषाओं की भाँति द्विबचन विस्तृत सुप्त हो गया है यह अलग्ग अलग्ग भारतीय भाषा से पाया जाता है। वैदिक संस्कृत में द्विबचन सामान्य बात है साथ ही भारोपीय से अधिक बचनसे युग्म की भाँति विचार होता है युग्म प्राकृतिक या निरंतर मिलने वाला (जल्दी प्री जो 'से और साथ ही प्रवी तुम० प्री० ओफ्ट्उपस् दुहरी चीजें इारी जो इारि के निबट है प्री० सु रइ) जबवा संदर्भ द्वारा ज्ञात जबवा परंपरागत जोड़े (दुहरी 'इन्द्र के दो घोड़े) जोड़े की भावना ही बचन की भावना में है जिसका प्रमाण एक और प्राचीन मन्त्रों का अस्तित्व है जिनमें किसी व्यक्ति को बताने वाले द्वि० में सर्वत्र साथ रहने वाला व्यक्ति निहित रहता है (मित्रा मित्र और धरणा जहनी दिन और रात कहींसी सं पितरी माता-पिता भ्रातरौ -आई और बहन) साथ ही द्वी की उपयुक्तता प्रमाण-स्वरूप है जब कि वह अग्य प्रकट या अप्रकट, की सहायता से बचन चोपित करता है (उर्मा 'वे दोनों' में 'साथ साथ' की भावना निहित है)।

आगे के कुछ कम प्राचीन अंशों से कुछ अनिश्चितता मिलती है (मेडप, बी एस० एल० २००५ पृ० ५९) यदि उदाहरण ठीक हैं, तो यह इसके हास के शुरू होने का प्रतीक होना चाहिए, और इस संभव में प्राचीनतम कभी-काल संस्कृत में वास्तविक विकास पूर्णतः छिपा रहा क्योंकि उसमें दो चीजों का उल्लेख आहे दो उपयुक्त हो या न हो जब कभी होता है तो द्वि० का प्रयोग होता है 'अ' (१ का अटक) बर्मा महा० मज्जुस्सी। वास्तव में बौद्ध संस्कृत में कभी-कभी विशेषतः सर्वनामों में द्वि० के लिये बहु मिलता है उसमें यह चिह्न स्पष्ट है और एक बात तो यह है कि अधिकतम उच्चतम मध्यकालीन भारतीय भाषा में द्वि० के कबच कठिनाई से मिलने वाले चिह्न मिलते हैं (बी एस० स्मिथ के अनुसार जातन V ३७५ बं व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के कुछ इन्द्र रे० सङ्गीति पृ० ६३४ n. १९ गार्ब 'क्रेन्टिपट बाकोनी' पृ० १२८ के आभार पर मात्र में एक प्राकृत उदाहरण)। 'दो 'सब दो' की संज्ञाओं के लिये पा० पुन उमा में प्राचीन रूप सुरक्षित है, किन्तु उनसे भी रूपों की भाँति द्वि० का प्रतिनिधित्व नहीं होता दो जो संभवतः अनुकरण-मूलक प्राचीन रूप है (प्राकृत के अनुकरण पर 'दुबो से बा' प्रा० शीष्म का स्पष्टतः एक बहुबचन रूप है अन्य व्याख्या बाइकोलीनी Sitzb Heidelberg, १९१६ पृ १७n.) और जो पाली में मिलता ही है के समीप 'चार' और 'तीन' के रूपों का अनुकरण पर बने विस्तृत रूप द्विप्रा बहु० है।

भाषणिक भाषाओं में केवल एक० और बहु० हैं। तो भी मध्यकालीन भारतीय भाषा की ध्वनि प्रणाली के कारण प्रायः बहु के मुख्य कारक और एक० के मुख्य कारक में भेद वृद्धिगोचर नहीं होता। ऐसा मूल संज्ञाओं (प्रातिपदिक) में होता है। विपरीत-भाषा की भाँति कुछ भाषाओं में इस अभाव की पूर्ति मूल संज्ञाओं (प्रातिपदिक) के बहु० में व्याप्ति-युक्त संज्ञाओं के प्रत्यय के प्रयोग द्वारा की गयी है। इसके अतिरिक्त एक शब्द में द्रुतपठ सम्बन्ध जुड़ जाता है उसकी रचना चाहे उपयुक्त रूप में हो चाहे सम लोग समुदाय आदि की भाँति समूह की भावना निर्धारित और प्रयत्न करने वाले रूप में। ऐसा विशेषतः वेतन संज्ञाओं में होता है, जब कि समस्त एक ऐसी 'प्राचीन' भारतीय अनुगमन पाया जाता है जिसके अर्थात् अचेतन को सामूहिक रूप में न कि अरुण अरुण व्यक्ति के रूप में देखा जाता है। 'वाल्डवेल' पृ० २३२ ने कहा है कि द्रविड़ भाषाओं में बहु० के पर-प्रत्यय केवल बुद्धि-सम्पन्न जीवों के लिये प्रयुक्त होते हैं। बोर्डिंग 'मैट्री रियस' II, प० ४० के आधार पर समाली में बचन दो विधियों का एक निर्णयात्मक महत्त्व है। इसके विपरीत तिब्बती में बहु० का रूपमात्र नहीं है किन्तु उसमें 'घटत' और ऐसे ही शब्दों का प्रयोग होता है।

एक वाक्य-मूलक कारण भी पाया जाता है जब तक मपु० बना रहता है उसका एक स्पष्ट बहु० वाला रूप मिलता है जब कि उसमें एक० का अभाव रहता है उदा० मराठी में ऐसा अब भी मिलता है। पु० एक० और बहु० जोड़ किन्तु मपु० सूष, सूते (सूत्राणि)। किन्तु यह केवल सूत्र है, क्योंकि यह होता तो बहुत पहले से बचा जा रहा था परन्तु कि कुम्भकार-कुम्भ "कुम्भार" न कि "कुम्भारों का संघ" महा० बन्धु-जन 'माता पिता' पा० मातु-गाम "स्त्रियाँ"।

हिन्दी में कहा जाता है 'हम् लोग' ('हम्' का बहु० मोल का अर्थ देता है) साहिब लोग' लोग (सं लोग) बहु० है। अबकी में कहार लोग' में हमे पने। बयाली में अधिक विविधता का आभय ग्रहण किया गया। पुरानी ब० लोग जन सएल (सकल-) मध्यकालीन ब० सन् और कुछ संस्कृत सम्बन्ध पण कुल गुला हो जाता है। आदि आदिक दि हो जाते हैं। १५वीं शताब्दी में दिम् साहिब्य-प्राप्त कुछ आदि सम्बन्ध सकल जत जा पहले आश्चर्यबोधक थे अतः -कर बयबा-केर स युक्त पर प्रत्यय संघना व्युत्पत्ति-युक्त विशेषण और प्रथमतः सद् के साथ जुड़ने वाला साम्प्रत सद् बामुनेरा सद् बाद को 'सद्' शब्द का प्रयोग बन् हो गया और पर-प्रत्यय से बहु० प्रकट करने के लिये काम निहाला जाने समा १४ वीं शताब्दी से ऐसा सर्वनामों में हो रहा है और एक शताब्दी बाद संज्ञाओं में छेपेण कामारेण जब तो यह अत्यधिक सामान्य रूप है। कुछ शोधियों में दया युक्त विशेषण मिल जाते हैं। पूर्वी बंगाली में मीन मान्

छत्तीसपड़ी बना उड़िया मान (१५ वीं शताब्दी में मान) के सङ्ग है। ये सं० मानक के कुछ रूप हैं। अरामी में बोर (बहुतर ?) होता है। पूर्वी कोशियों के और भी रूप उद्यत किये जा सकते हैं जिनकी व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।

उत्तर-पश्चिम में कर्ती किले (विहृत किला फलतः यह बहु० है) बेनेसि केसे प्रधुन किलि पराई कुलि गबर्बती मिल ये ईरानी से उचार किये गये हैं। अरुगानी बर्बर्बे "गौर"। गबर्बती में नमू 'गाम' भी है तुल० लै० मोमिन।

इसके विपरीत सिन्धी में अश्वेतन संज्ञाओं के लिये एक प्रत्यय होता है। मुबर-बल् का संज्ञा-रूप एक० की भाँति होता है। इस शब्द 'बल्' की व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं है। साथ ही उसमें संबन्धियों या उपाधियों के कुछ नामों के साथ सम्बन्ध -ब (सं० -बर मान्तरमूबक) और -ना (अव्य-सा अव्य-बल) हैं। समासों के द्वितीय अंग से यह प्रभावित होता है एक सामूहिक अर्थ में दूसरे आदरसूचक अर्थ में।

बहु० की दृष्टि से भारत में आदरसूचक बहु का महत्त्व ध्यान देने योग्य है। यह बात तो यह है कि क्रिया-रूप में बहु विशेषतः देखा जाता है हि राजा (माप) कहते हैं लेकिन इस प्रकार भी कहा जा सकता है 'राजा के बेटे यहाँ हैं जिससे शास्त्रार्थ है 'राजा का बेटा'। इस एक० और बहु० के मिस्रण का प्रभाव संज्ञा-रूप पर पड़ता है विशेषतः सर्वनाम-बात संज्ञा-रूप पर।

कारक

जिन लिंग-संबन्धी कुछ अर्थव्यवस्थाओं को देखा जा चुका है उनसे और साथ ही द्वि० क शेष से जिन और वचन-संबन्धी व्याकरण के रूपों के प्रयोग में कोई समीर परिवर्तन नहीं हुआ। जो परिवर्तन रूप-रचना में उत्पन्न हुए उनका बहुत बड़ा महत्त्व रहा क्योंकि जिन रूपों का उल्लेख हो चुका है उनके परिवर्तन और उनकी पुष्टता के साथ साथ उन रूपों के स्वयं प्रयोग में कुछ परिवर्तन हुए हैं जिनके फलस्वरूप अंत में एक ऐसा संज्ञा-रूप प्राप्त होता है जो उत्तरोत्तर पुष्टने संज्ञा-रूप से निकलता है, किन्तु जो अत्यन्त भिन्न रूप धारण कर लेता है।

भारतीय-ईरानी और भारोपीय से प्राप्त बात कारकों का भेद संस्कृत में बना रहता है। क्या का पुनर्विभाजन एव-सा नहीं था जैसे बहु० और विशेषतः द्वि० की संज्ञाओं में और सर्वनामों में कई कारकों में समान रूप विद्यमान थे किन्तु यह अव्यवस्था जो ध्वनि-संबन्धी परिवर्तनों के फलस्वरूप मध्यकालीन भारतीय भाषा में उत्पन्न अव्यवस्था से अधिक नहीं थी स्वयं इस प्रणाली के लिये पाठक थी। वास्तव में प्रणाली का प्रभाव स्वरूप कुछ समान रचनाओं के संबन्ध रूपों के पूर्ण समुदाय द्वारा सुदृशित रहता है।

और भाषा केवल रूप से संबंधित लक्ष-विलक्ष अर्थों की फिर से रचना करने की स्थिति में बनी रहती है। जैसे संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में अपादान का उत्तरोत्तर विभिन्न होने वाला रूप प्राप्त करने के लिये क्रिया-विशेषणवाच पर-प्रत्यय -त् के प्रयोग का प्रसार मिश्रता है। इसी प्रकार अश्वेस्ती में उस युग में जब कि विकरणयुक्त पु०-नपु० का अन्त्य -त् बना हुआ था -या युक्त विकरण और अविकरण युक्त का विस्तार सबभ० स अपादान का इदंतापूर्वक नेश प्रकट करने के लिये होता है।

संस्कृत प्रणाली की मुख्य दुरुहता वाक्य-रचना-संबंधी तुल्यता को बहुतायत के कारण है। अस्तु, पुरुष जिसे कुछ दिया जाता है संप्रदान सबभ० और अविकरण द्वारा प्रकट किया जा सकता है जिससे कुछ कहा जाता है बहु कर्म संप्रदान अविकरण सबभ० द्वारा उद्देश्य कर्म० संप्रदान अविकरण द्वारा स्थान करण या अविकरण द्वारा और इसी प्रकार परिस्थिति के लिये काल उन्ही कारणों द्वारा और कर्म० द्वारा भी करण और अपादान स इसी प्रकार कारण पुनस्तत् तुल्यता का बोध होता है। क्रियामुक्त विशेष्यों के निकट सादृश्य प्रकट करने वाले शब्दों के निकट 'पूरा करना' अर्थ का जोतन करने वाली क्रियाओं याचि के निकट संबंध और करण समान हो जाते हैं। कम परिष्कृत भाषा के पाठों में यह अस्यवस्था और बढ़ जाती है जो प्रणाली के लक्ष होने का चिह्न और कारण दोनों हैं। इसी प्रकार क्रिया के संबंध में है, जब कि कुछ महत्त्वपूर्ण रूप जो मुक्त अलग-अलग व समान प्रयोगों का काम देते हैं, उदाहरणार्थ अतीत की अनिश्चित के लिये बहु एकदम सप्त हो जाती है।

कारक की प्राचीन प्रणाली प्रत्यजन तो संस्कृत में बनी रहती है। किन्तु उसमें सामान्यीकरण के चिह्न मिश्रित हैं जैसे कर्म० में क्रिया के पुरकों के रूप में सामान्यीकरण करने की प्रवृत्ति मिश्रती है। कर्मवाच्य के पुरकों क्रिया-विशेषणवाच वाक्यों और विभय प्रयोगों में करण स्थित होना हुआ दृष्टिगोचर होता है।

एक बात जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं है वह है संप्रदान का लोप। सक्य और संबंध अथवा युक्तारोपक वास्तव में समीपवर्ती भाव हैं और प्रापतिहासिक काल से प्रत्याय अर्थनामों में समान रीति से स्वयं हुए हैं। सं० म त पु० प्रा० मीप् तैप् की गांति। ऋ० क ममय से संबंध० अज कारका के समान हो सकता है विशेषतः संप्रदान के। वाङ्मय शब्दों में दोनों कारकों का प्रयाग मजात्रा के पुरकों के अथवा क्रिया 'देना' के माय-साय पाया जाता है (एत वा० 'तस्य ह पात दत्त्वा) बाद को यह अन्तिम प्रयाग स्वामी रूप में पाया जाता है। विषयन्त रूप में इन्हीं पाठों में -आ और -ई युक्त स्त्री० का संप्रदान एक० संबंध का स्थान ग्रहण कर लता है (यही बात अश्वेस्ता में दृष्टिगोचर होती है) यह

एक ऐसा प्रयोग है जो संस्कृत से लुप्त हो जाता और मध्यकालीन भारतीय भाषा में निरन्तर बना रहता है किन्तु जिसमें रूप अन्य संबंध० के समानान्तर रहता है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा के आदि में ही संप्रदान वा अगमग हास हो चुका था। संप्रदान बहु के लिये अशोक के अभिलेखों में एक प्रत्यय -रहि मिलता है जो 'दिना' क्रियाओं के साथ संबद्ध हो जाता है वह मुख्यतः स्तेप-मद-युक्त वा (वे० ए० मजूमदार, 'आसुतोप मेमोरियल' पृ० ३१) जब कि उसमें कारण अथवा अपादान का भाव भी निहित रहता था वास्तव में पाली में केवल एक० विकरचयुक्त रूपों में संप्रदान के उदाहरण मिलते हैं और वह भी कर्म्य (सगाय पञ्चति) और विशेषतः भावना के अर्थ-सहित जिसमें एक महत्त्व भी रहता है जो क्रियार्थक-संज्ञा संप्रदान अथो० वा० -रुके के प्रायः निकट होता है अपुनम्मवाय वस्तनाम (-सए युक्त प्राकृत क्रियार्थक-संज्ञा संभवतः इस संप्रदान को -रुके युक्त प्राचीन क्रियार्थक-संज्ञा सहित जारी रखता है)।

एक और कारक ने बहुत बड़े अंश में संप्रदान का कार्य स्वीकार किया है, और वह है अधिकरण। वास्तव में इस कारक का नामकरण ठीक नहीं हुआ और वह विविध और प्रायः अस्पष्ट संबंध प्रकट करता है जिन्हे 'माग कैमा' दीर्घक के अन्तर्गत रखा जा सकता है, यदि इस शब्द को हम बहु मुख्य प्रदान करें जो उसे समाजहासमी प्रदान करते हैं। पाणिनि ने 'अधिकरण' शब्द का प्रयोग किया है। अधिकरण का विरोध संस्कृत में वैसा नहीं है वैसा लैटिन में उदाहरणार्थ संज्ञा-रूप की मुख्यतः साम्राज्य विशेषता द्वारा। अधिकरण द्वारा अधिकृत इस संबंध की अनिश्चितता के कारण बहु पूर्ण प्रयोग के लिये विशेषतः योग्य हो जाता है जो बात संस्कृत में संबंध तथा अगमग अन्य कारकों के संबंध में अज्ञात है। स्थिति या गुणारोपण विद्या (क्योंकि संस्कृत में अधिकरण द्वारा प्रत्यय-वाचक वृत्त और साथ ही प्रत्यय च्चि प्रकट होता है) और कर्म्य समीपवर्ती भाव है साथ ही कर्त्वीक संस्कृत अधिकरण द्वारा कर्म्य और गुणारोपण प्रकट करने योग्य है बौद्ध संस्कृत में अधिकरण में 'बहुना' क्रिया के पुरक स्वयंभू मिल जाते हैं। पाली में अधिकरण करण अपादान और यहाँ तक कि कर्म० का भी स्थान ग्रहण कर सकता है बी० हेनरी ने उसे पाली संज्ञा-रूप को बनाने वाला कारक कहा है।

स्वयं कारक से बनने पर, मध्यकालीन भारतीय भाषा की रूप-रचना प्रचाली में वा तुल्यताएँ बहुत बड़ी मात्रा में पायी जाती हैं। जिन सूत्रों में भी रूप नहीं निश्चित कर पाता उन्हें निश्चित करने के लिये धाया अनेक परमों का प्रयोग करती है।

सबसे पहले वाले प्राचीन पूर्व-क्रिया से निकले हैं वे लघु क्रिया-विशेषण हैं जैसे जनु अमि आ जो प्राचीन भारतीय भाषा में भारतीय ईरानी और भारतीय की मूर्ति स्वयंभू वाक्य वे। पूर्व-क्रिया क्रियाओं से तुरंत पहले और संज्ञाओं के पहले या बाद

में मान लगी ऋ० पय्यां अनु अनु च्नु। क्रम ही ही स्थापित नहीं हो जाता महाभाष्य में भ्रातृनि सह और सह भ्रातृनि मिलता है किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों में एक ही उपसर्गात्मक अन्वय क लिये दो ही परसर्ग मिलते हैं और यह उपसर्गात्मक अन्वय वाली प्रकृति कर्त्तव्य संस्कृत में सामान्य हो जाती है और यह इस रूप में कि समुदाय का नाम निर्धारण क सामान्य क्रम के साथ संबद्ध हो जाता है यह चाह अनिश्चित संज्ञाओं के समुदाय में और रचना में हो चाहे पुरुष-समुदाय में और क्रिया के समुदाय में हा।

तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि संस्कृत या स्वयं मध्यकालीन भारतीय भाषा में वाक्यगत एक शब्द का दूसरे शब्द पर कारक बंधन बाध से संबंधित निरंतर प्रभाव की दृष्टि से परसर्गों की प्रचाली थी। संज्ञा का कारक केवल अपना संबंध क्रिया क साथ और निपातों के साथ बिना समुदाय का भाँति हुए समुदाय क साथ सादृश्य प्राप्त करते हुए, अत्यधिक निम्न कारकों के साथ-साथ चकते हुए, स्थापित करता है ऋग्वेद में अनु प्राय कर्म० क साथ सम्बद्ध रहता है, किन्तु यह संबंध० अपादान कारण क साथ भी जा सकता है कर्त्तव्य संस्कृत क वैयाकरण तो इन रचनाओं में से प्रथम हीन की अनुसंधान प्रदान करते हैं साथ ही पाली में जिसमें अन्य दृष्टियों से यह बहुत कम है अनु अधिकरण के साथ स्वनेव जा जाता है सं० बिना* "पुनरु" जिसमें बिना रहित जो कर्म० के साथ केवल शतपथ ब्राह्मण में आता है पाणिनि क ग्रंथ में अपादान क साथ आता है जो उन्हीं के संबंध में कहा जा सकता है, किन्तु साथ रहने की निहित भावना के कारण यह कारण के साथ भी पाया जाता है। इसी प्रकार पाषो में माता-पितृहि बिना बिना मानेते हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि एक स्पष्ट विभिन्न अर्थ का मधीन उपसर्गात्मक अन्वय एक विभिन्न कारक के साथ निरंतर सम्बद्ध हुए बिना रह जाता है।

अब वा यह है कि पूरी प्रभाषी कमजोर है, और परवर्ती इतिहास यह प्रदर्शित करता है कि प्राचीन पूर्व-क्रिया का केवल कुछ ही तर्क ही क्रियाओं के साथ संबंध बना रहता है शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र प्रकट करता है कि ओ अथवा उ (अथ अथ उद्) अथवाप् (प्र प्रति) ष्/ष् (वि) सं द्वारा पुरु हुई अनेक व्यापुनिक क्रियाओं क भाँति में कुछ पूर्व-क्रियाएँ जाती हैं बाकी क यदि समीपवर्ती अर्थ बाल कुछ शब्दों का समुदायी-करण पूर्व-क्रियाओं से निकला हो या न निकला हो उस संबंध को और भी अधिक स्पष्ट कर दता है, तो पूर्व-क्रिया की रचना फिर उसी रूप में मान्य नहीं जाती। संज्ञाओं में दोषांश और भी कम रह जाता है क्लिप्त भाषाओं में प्राचीन पूर्व-क्रियाओं के प्रयोगों में सामान्यीकरण का अभाव एक एही परंपरा प्रकट करता है जो अब भाषा के वास्तविक प्रयोग में पोषित हुई नहीं मिलती।

वास्तव में वाक्यांश में संज्ञाओं के रूप में आने वाले वाक्य कारकों के प्रयोग का आवश्यक निर्धारण विशेष्यों के स्वयं अनिश्चित रूपों के साथ समुदायीकरण द्वारा अपेक्ष्य तीव्रता के साथ प्राप्त होता है।

श्रुत्वेर के समय से अन्त (अ० अन्तरात्) ली० इष्टर) के निश्चय अन्तरा मिला है जो अन्तर (अ० अन्तरो) का करण रूप है और जो फलतः प्राचीन काल में 'भीतर' होना चाहिए किन्तु अन्तरा कर्म० के साथ अन्तरु के रूप में आता है (जिसका एक अधिकरण रूप भी होता है) और फलतः विशेष्य के साथ संबंध नहीं रखता किन्तु अ० III, ८२ के उर्मिष्ठस्य अर्थमात्र पुरस्ताद् से पुरस्ताद् पुर की भाँति अपादान या कर्म० के साथ नहीं चलाता (बाह्य-अर्थों में उपरिष्टाद् उपरि की भाँति कर्म० के साथ चलाता है) यह एक ऐसी संज्ञा है जो संज्ञा ही के साथ संबंध रखती है। मध्ये समुच्चै के निश्चय तुल० पा० मग्ने समुच्चै उवाहरणार्थ मध्ये अर्जस मिला है। वाप को वा वा० आरमण उपरि उपरि की ईशनी और वैदिक रचना कर्म० और करण० में है तबील रचना सामान्य अधिकरण में है। यह रीति संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में भरपुर प्रचलित होती है उवा० इस प्रकार निर्मित होते हैं अन्तिके समीपे पृष्ठे, अर्धे अर्धायि (पा० अत्याय अत्थ) हेतो (पा० हेतु) निमित्तम् निमित्तेन यथाद् बरोम आदि। इन्हीं नामवाच समुदायों के इस प्रकार से उपसर्गात्मक अन्वय-संबंधी प्रयोजनी का अभाव स्पष्ट हो जाता है।

रचना में कुछ कृदन्त और कुछ आते हैं, जैसे -सहित जो सह का स्वान ग्रहण करता है आश्रित जो कमी-कमी 'मध्ये' की भाँति ही विशेष्य हो जाने की और रचना में अथवा कर्म सहित निर्मित होने की प्रवृत्ति प्रकट करता है। इसी प्रकार हम गवाक्षगता तिष्ठति शुष्मताम् विद्याम् से गतम् गते की ओर चले हैं।

अर्थ लपट हो नये विशेषणों में सबसे अधिक रोचक 'कृत' है। महावस्तु में उचानहता आसना मिच्छता है पाशों में विज्जापठ पाया जाता है, किन्तु कायपठ भी और साथ ही अट्टीन गगनं कर्ण अमिम्बजना भी है जिसमें जो करण मिला है उसमें भावपूर्व प्रयोजनी का अभाव पाया जाता है। इसी प्रकार की रचना में कृत का प्रयोग प्रतिबिम्बित होता है जिससे मानास्य निर्मिता प्रकट होती है और जिसका पूर्वस्व सं० महा मम कृते मत्कृत पा० मकृत संसम्भ कृते में पाया जाता है सं० अर्थकृते अमीयाम् प्राजाती कृत। स्वयं क्रिया के बन्धन-मूचक विशेषण से प्राप्त में *केर(क) अ मिला है यागवी पाठुं० तव केलक मय यीचिदे मूच्छ० वासुदत्ताह केरके शीर० अजस्रस्य केरवी जो वारव केरिवाए के निश्चय है साहित्य में ग्राम्य भाषा का चोत्कृष्ट है।

जिन्ना 'होना' के अर्थमात्रात्मिक कृदन्त से एक सद्भ्य प्रयोग वासा विशेषण प्राप्त

होता है। नासिक के अभिलेखों के अन्तर्गत (न) तक पितुस (न) तक में अब भी विकरणों से काम पड़ता है न कि संज्ञा-रूपों से। किन्तु दिव्यावदान में बिहारस्वामिमन्त्रक मदादेयम् (पृ० ४६४) के निकट (पृ० ५२९) केवस्य सन्तकं भक्तम् और (पृ० १७४) भगिन्या सन्निवा प्रेष्यवारिका भी मिलते हैं।

अन्त में कुछ अत्यन्त सामान्य क्रियामूलक विशेष्य कर्म० क परवर्ती रूप में परसर्गों क तुल्य हो जाते हैं यह प्रयोग संस्कृत में देर से पाठी में प्रायः मिलता है कर्म० क साध आशय सिद्धान्तव 'सिन्धा हुमा' का अर्थ प्रकट करता है किन्तु वास्तव में वह केवल 'सहित' का अर्थ प्रकट करता है इसी प्रकार गह्वेत्वा है सं० उद्विस्व और पा० निम्नाय प्रति के लोप की पूर्ति करते हैं पा० उपादाय का वास्तव में अर्थ 'अनुसार' है आशय का 'सापेक्षिक दृष्टि से कृपा से' अर्थात् 'छोड़कर या सिवाम'। यही रीति चकठी रहती है, वे० आग उसकी रचना सामयिक सद्गुण समुदायों से होती है किन्तु उसमें वर्गरेखी के ढंग की चीजों की संभाषना की जा सकती है ये संबंधित संसृष्ट आदि क आधार पर अनुकरणमूलक हैं, न कि व्याकरण-संबंधी व्यवस्था के अंतर्गत।

यह जो केवल नामवाचक रीति है पाठी में सबसे अधिक विकसित हुई है। संबंध० के प्रभाव के निकट, रचना प्रायः रहती ता है किन्तु प्रमुख रूप में लड़ी उदाहरणार्थ ('एदुवाहकुनेन इन् महा०') १४ में निकल्-भट्टा पामा जाता है और १२१ बह' अट्ट्याए जो ३४४ अस्म'अत्वाए के निकट है ६३ १२ मम्-अत्वाए जिसमें रचना असमब हो गयी थी १० ३७ अस्मदत्-अन्तिय किन्तु ३३ ३ महावीरस्स अन्तिए, ८.२५ नियमगिणीणम् अन्तिए कए(इत्ते)अवषा कज्जे(कार्ये)सैसे अर्थ-विहीन शब्दों में रचना समब नहीं है २९.३५, भोगाज कज्जे ५० ३४ तस्स य कज्जे ७८.८ तुन्हाण कज्जेअ ६ ३४ मुक्कबइयस्स कए। भविसत्तकह(११ वीं घताप्पी)में केवल एक बार पीर-मग्गि मिलता है, सामान्य सूत्र संबंध है बुज्जणहं मग्गि सग्गनह मग्गि नायरहं मग्गि। ऐसे ही स्थलों पर वह रीति मिलती है जो आधुनिक प्रयागों पर प्रकाश डालती है।

संज्ञाओं की रचना

विद्वत्तापूर्व शब्दों से बनी भाववाचकता विशेषतः संस्कृत और मुसलमानी भाषाओं में मिलती है (अर्थों के व्यतिक्रमों सहित त्रिकला अध्ययन किया जाना आवश्यक है) आधुनिक शब्दों का बहुत बड़ा समूह जिसमें अर्थ-व्युत्पत्ति-विचार से प्रभावित होने की प्रवृत्ति रहती है संस्कृत शब्दों का प्रयोग जारी रहता है किन्तु अब से मध्यवर्ती अर्थजन अथवा अन्वयव्यं चोकर स्पर्स में परिणत होने या पकीकरण करने सगते हैं इन

शब्दों की रचना बहुत सार्थक नहीं रह जाती। प्राकृत क बाद पर-प्रत्यय व की हल्की पात् में आवश्यकता नहीं रह जाती और न पर-प्रत्यय -स्वा की से० जुन् (ज्योत्सना) में हि० वृन् (वृत्) या चौक (चतुष्क-) में अन्त्य व्यंजनों के पर प्रत्यय-संबंधी मूल्य का कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं रह गया बंधाभी में जिसमें क्रिय कुप्त हो गया है, कोई ऐसा व्यंज स्मरण नहीं हो जाता कि जिससे वेद कभी बिस्व कभी बस्ती प्रकट हो सके।

ता जिस अनुपात में आधुनिक भाषाओं ने रचना की उसी रीति का आशय सिद्धा जो संस्कृत में भी मध्यकालीन सामग्री उससे उतने ही बड़े अंश में मिल है और जहाँ उनमें साम्य है वहाँ उनका मूल्य बही नहीं रह गया।

इसी कारण अनेक प्राचीन समास दृष्टिपथ होते हैं हि० माउसी मही प्रा० माउस्तिवा केवळ० मातुष्मका अर्ध-भ्युत्पत्ति-पास्ती के चिय हैं स्वयं हाक की रचनाएँ वैसे से० चौत्तानि म-आनि अथवा वृत्तेषु में-एम् केवळ पानी ठेल् से मेळ साते हुए बने हैं और जो रचना में अपना आर्य स्थापित कर देते हैं।

तो भी बोलो परा या शब्दों की रचना सामान्य बनी रहती है और इस प्रकार रहती है कि बड़ी कठिनाई से यह जाना जा सकता है कि उदाहरणार्थ क्या हि० चौकोना चौमास, पञ्चामो आधुनिक रचनाएँ हैं अथवा सं० चतुष्कोष चतुर्मास(५)म परचात्ताप से निकले हैं। असाहित्यिक भाषाओं में शब्दों या पदों का सर्वत्र विद्वेषण नहीं किया जा सकता किन्तु उसके संबंध में कम-से-कम बोझ-सा ज्ञान प्राप्त कर लेना सरल होता है कृती इन्द्रोन् (इन्द्र-चतुप्) अस्तुन इमा एक देवता का नाम (यम पात्र) बहुत प्राचीन होने चाहिए किन्तु अस्तुन में ही अपर-मौन 'दुर्गा' अइक-अद् 'मान का पत्नर' यद्यपि अद् 'यिनने वाली उंगली' आदि मिलते हैं पिमा संदेशार 'लङ्का' दुष्ममुपा 'बुहा' में बहु० वारि 'लङ्का' और सं० मूप के मिल-जुल जाने से रचना उपलब्ध होती है। मण्डी बीसी भाषा में बीयाकरकों को प्रचल संस्कृत रचनाएँ प्राप्त करने में कोई झगट नहीं हुई (यह महत्त्वपूर्ण बात है कि संस्कृत समासों का आधुनिक शब्दों के समासा के साथ विभक्त से ऐसा होता है) उत्पुरय चक् बाहा पाल्-माद् ताप्-माद् ताम्बाह-मादी चौराद् बहुब्रीहि प्रत्ययत्व संख्या में कम (व्याप्ति सहित तुल० सं०-क) ति-मङ्कला वाकदनाक्या चिन्गी संयोजन किये हुए रूप में आईयाप् तुल० हि० माबाप्।

एक प्रकार की रचना जिसके संस्कृत में केवल चिह्न मिलते हैं शब्दों का दुहूपण (द्वित्व) है, किन्तु दुहुरे रूप में अनियमित ढंग से परिवर्तित होने की प्रवृत्ति रहती है। पुनरुक्ति से संस्कृत में नवीनता या विमात्रन प्रकट किया जाता है विधेय्य दिबेदिये

(विचित्र स्वरवाच की ओर ध्यान दीजिए) मरु सप्तः, तुल्य० पा० पर्व्वं पर्व्वं प्रा० केसाकेसि । इस सबब में कुछ अन्य बातें भी हैं, अर्थात् बिना किसी ऐतिहासिक बन्धन व भारोपीय संस्कृत अतिशयवाचकों सहित एक अभिव्यञ्जक रचना है । उमस संज्ञाओं और जियाओं के मिलन की संभावना रहती है । यह बात कर्मसाहसक संस्कृत और मध्यकापीन भारतीय भाषा में ध्वनि प्रकट करन बास कुछ शब्दों द्वारा व्यक्त हाती है । सं० (पत्रव्यञ्जि) अलम्बना पा० पुरुषु, बुभुयवति । भाषुनिक भाषाओं में ऐसे अनेक साथ ही अत्यन्त व्यवहृत उदाहरण हैं । सं० कट्कटा ठकठका म० कडकनी जियाविरोधन उठाउठी ।

हि पानिवादि जैसे प्रकार स पत्रापी पानिन् अणि पानि सेजि । किन्तु यह अधिक दूर का चीज हुई । पर्यायवाची शब्दा क प्रयोग द्वारा एक भिन्न रूप मिलता है । डोग्री (पत्रापी बोधी) एक-मुक्क सप्त-मुक्क अन्ता-बन्ता कछो-काप (वीरीसकर क अनुसार, 'इदियन सिन्धिस्टिकम्' १ पृ ८१) । किन्तु इसी कारण में एक अंश विद्वत् भी हो सकता है । ग्रीक बिष्पी-भाषा में मल्ल-वस्ता है, फ्रेंच *saie et saiff* (निरापर) क विपरीत जिसक यह तुल्य है । दूसरा पद (या पर) मुम्प्य मही है । क्याकि उमक मूळ में सय है और इन समुदायों में से मुख्य के मूल में है, इसक कजस एक ही अम स्पष्ट हो पाता है । म उमहमाबद्ध, आदलोहा म प्रथम म० आरुपा, जडोसा पडोसी इडादिश में दूसरा । यद्यपि हि० उपास्-आनाम् समबत सं० उपवास को अनास के साथ जाड़ कर वना है, और हि० आम्पाम् सं० अम का पादन क साथ जाड़ कर किन्तु इनम यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि य समुदाय पूर्वोक्तलिखित समुदायों क लिये आदर्श का काम देते हैं, अथवा यदि व उन्हीं म निकसते हैं ता अच-व्युत्पत्ति शास्त्र का साम्य प्रयोगबम है ।

इसी प्रकार की रचनाएँ आरनीनियन तुर्की छारसी में भी मिलती हैं । नास्तबप में वे संभवतः स्थानीय परिस्थितियों क कारण हैं । शास्त्र में वे दनी भाषाओं में प्रचलित हैं भी ।

इनमें स जहाँ तक उनका संबंध व्युत्पत्ति से है, यह उन शोधियों में जिनमें कोई साहित्य नहीं है, और उनमें जिनका बनी ऐतिहासिक अध्ययन नहीं हुआ कठिनार्थ स वृत्तगोचर होती है, जिसकी बत्रह म एक भाषा के उच्चार लिय धय शब्दों को दूसरी भाषा क एम शब्दों से अस्म न करन का सतप रहता है । यह बात ज्ञान तीर स समब है कि हिन्दी स उमकी समीपवर्ती भाषाओं म अनेक शब्द ग्रहण किय हों ।

संस्कृत स भाव पर प्रत्ययों का समुदाय बुबल है । निम्नलिखित की ओर संकेत किया जा सकता है ।

अत्यधिक प्रचलित क्रियार्थक संज्ञा संस्कृत की -अनम् मुक्त कार्यवाची संज्ञाओं से निकलती है सिह० -अ, क० -उम्, सिधी -अ, सहुं० -अन् बुरेकी -अन् तथा व्याप्ति सहित हि० -ना राज० -ना ब्रज० -नीं पं० -या -ना म० -ये प्रेरणार्थक धातु प्रकार क -आपत् से बंगाली की प्रेरणार्थक धातुमूलक संज्ञाएँ चाणान सोलान निकलती हैं और कर्तृ० के कर्म में कुछ हृदन्त रक्षान। पु० -ई, राज० -ओ जो बंगाली -वे की भाँति है -अभ्यम् पर आचारित है शब्दनसूचक हृदन्त उसी रूप में म० -आवा में सुरक्षित है और वर्तमानकालिक कर्मवाच्य हृदन्त के रूप में सिधी और मुजराती में उससे बंगाली भविष्य प्राप्त होता है।

वर्तमानकालिक और भूतकालिक हृदन्त निमगित रूप से प्राकृत -अस्त और -इ(त्)अ से निकलते हैं बहु भी सर्वत्र व्याप्ति चारण कर।

धामान्य म हि पाँचवाँ (पञ्चम) भागि इसी प्रकार सिधी -ओ छोरवाली कोमोम् 'अया जो पैनूबधम् भागि के सदृश है। मुजराती और बंगाली में -अ संस्कृत जैसा ही रहता है। सिहली धिमा बिप्सी-भाषा में नहीं रचनाएँ मिलती हैं।

एही० की रचना। -इका से निकला अत्यन्त प्रचलित पर-मत्थय भागे दे० इति प्राण मिल जाता है हि० बोबिन्, पं० बोबन्, म० बबौन् पु० बं० बुरजी यूरोपीय बिप्सी-भाषा कबिनी (गमिनी) मनुसेती।

मातृवाचक सं० लम्, -स्वणम् हि पं० बुडापा हि० बुडापन् सि० बुडपम्^० गु० बुडापो पं० कडकपुना म चांगुलेपन् चांगुलपन् क० ईन्नुडुपौन्^० अथवा -तौन्^० बिप्सी भाषा मनुसिं चोरिपेन् बेस्व बिप्सी-भाषा बिनिपेम् जो अंग० bozing से है गीब रूप से म० चोरुबन् चोरुने बंगाली में कुछ व्युत्पत्ति-मुक्त विशेषण हैं चाँपाना कान्पागा।

कुछ पर प्रत्यय तो वास्तव में उन विशेष्यों से बने हैं जो पहले समासों के द्वितीय अंश के रूप में प्रयुक्त होते थे -अप (-इ)हर -कर -कार -नास- और जो मुसक-मानी कोस में -गर् भागि रूप ग्रहण कर लठ हैं।

सर्वाधिक राक्षक अंश तो विशेष मूस्य से रहित पर प्रत्ययों के हैं, जिन्होंने आपुनिक संज्ञाओं की रचना में एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है।

आपुनिक व्युत्पत्तियों में निस्संदेह सबसे अधिक प्रमुख उनमें से सबसे कम महत्त्व पूर्व है, सं० -क प्रा० (म्)अ जिनके पूर्व -ई है -ई-वाते हैं और ठीक उसी क मातृ का कारण है जिससे उसका व्यापक प्रयोग व्याप्ति की भाँति होता है। उसका कारण शब्दों की एक बहुत बड़ी संख्या का विशेषण-सूचक स्वर सुरक्षित बना रहता है, जो

उसके बिना अपना रूपान्तर छोड़कर स्वयं में परिणत हुआ या उदाहरणार्थ सं० अणु, प्रा० अणु, पदार्थ में ओजोसूत्र यह जाता है, किन्तु सर्वत्र नी उमी व्युत्पत्ति वाले रूप के अंतगत इष्टिगोचर होता है हि० अणु सं० अणु म० अणु (सिंह० अंत अणु मिश्रण के आधार पर बना है) अत्रि नपु० स्त्री० हा जाता है अपने अन्वय क कारण हि० में अणु यह जाता है, किन्तु विना में अन्वय बीच हा जाता है अछी सं० मासिक-मासिका क अणुपर्यंत हि० मासिक म बहु पर-अन्वय बना रहता है जो उसे मासिक हि० मास (बीर जिनके साथ उपादेयता के साथ 'बीनी बाका मुससमापी मूस का पर अन्वय जुड़ जाता है) से पुष्प करता है। इस व्याप्ति की वास बात यह है कि उसक कारण उन त्रियों के रूपों का निर्माण होता है जो विशेषणों और संज्ञाओं में परस्पर विरोधी होने हैं यहाँ पर स्त्री० -अका अयवा -अकी नहीं है, किन्तु -अका है उकी सं है, उदाहरणार्थ मैथिली बहु अछी। किन्तु सामान्यतः पु० की नी व्याप्ति हा जाती है यु अछा अछी अछा अछी विना संत संत (स्वत) मासिक-ए, मासिक-ए (महत्सक-), अणुपर गणुपर -की कौड़ कौड़ नूरी अंत अंति कुँतोठ ति 'छोटा छोटी'।

ऐप में व्याप्ति स्वयं अपने में ही जुड़ जाती है सं० कासिका (*वाक्यको) मैथिली० अरैमा हि० अरैमा किन्तु यह हास का है सं० मासिका से उकी प्रकार माटी का अनुमान किया जा सकता है जिस प्रकार छतीस मछरिया से मछी का। मैथिली में तो ऐसे रूपों की एक पुटी गूँझका है जोड़ जोड़ा तुल्य है जोड़^म का के निश्चित रूप से साम्य रूप जोड़ीबा। इससे यह प्रकट होता है कि प्रयागी जीवित है और संभवतः व्याप्ति-मुक्त रूपों का प्रभाव इतर हास का है।

एक इष्टि से विशेषणों की योजना भिन्न है छोटे, छोटा छात्रका छोटाका। वास्तव में प्राइड में पुनरावृत्त क बाका एक पर-अन्वय है उदकक- (= उदकीय) वाचिकक- महितिकक- (किन्तु मध्यकाजीन भारतीय भाषा क अधिकतमों म पूर्वी अणुक० -अणु अणु अणु अणु एक प्रकार स ठरक अंत्य के प्रतीक हैं) प्रारंभ में यह योजना एक अविभक्त रूप में पायी जाती है म० पाइका वा पाइा के निकट है, पुंमारकी वा पुंमारकी क निकट है। पंजाबी संज्ञाओं को देखिए कका पर-अणु पटिपट्। अणुकी में बहु एक प्रकटित पर-अन्वय हो जाता है अणु-अक (प्रा० अणु) -अणु-अक अणु। उसमें स्वभावतः अणुपर पर-अन्वयों का निमग्न है हि० अणु (आणु-)। प्रमुख कलाय जोषार और गिता क -अ अणु अणु और कियार्थक-अंजा संभवतः ईरानी प्रयोग है, तुल० मीयैम्टिएन इंडो-अणु। अटियर मैथिलीक' पू० ३५८।

प्राचीन काल में संस्कृत में -स- (र) प्रत्यय का प्रयोग कम पाया जाता है स्वर अनिक्- बहुक्-। यह पर-प्रत्यय अल्पार्थक की ही रचना के रूप में नहीं हो जाता बल्कि एक सामान्य व्याप्ति के रूप में भी (कुछ दीर्घ स्वर वाले रूप हैं जैसे -क- के मिये कर मार बाबाल धीठाल)। मध्यकालीन भारतीय भाषा में यह प्रयोग व्यापक होता है और पुनरावृत्ति ग्रहण करता है वा० दुदुक्क- (दुष्ट और दुष्टु-) अट्टिक्क- (अस्ति) महत्क (क) (तुक्० अक्षोक० महाकक-)। प्राकृत में विशेष मूल्य-रहित चतुर्थरथक उदाहरण मिलते हैं। आधुनिक भाषाओं में विशेषणों के निर्माण में उसका प्रयोग होता है हि० आम्मा म० अगूक (जिसमें मूर्खता सामान्य -स- की कल्पना करता है) ने अमित्तो- (अप) -हि० पहिमा (प्रथम प्रा० पहिली बं० पाकिक (पथ) -मराठी गुजरती (हाल ही में) बंगाली बिहारी और हिन्दूकुस की कुछ बोलियों में भूतकामिक कृष्ण की भी व्याप्ति हो जाती है म० वेका (पठ) पात्मा (प्राप्त) बं० मान्मिक सुठिक उठी से त्रिआमूकक विरोप्य जो बिकृत कारक में है मिले।

आधुनिक भाषाओं में एक और प्रायः मिलने वाली व्याप्ति मूर्खता इ अचबा ट है। पाणिनि को ही बाबाट आठ या किन्तु अपत्रंश और देही तक उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। बं० सापडा (अद्य) पात्डा (पात्) सापुडी जो सात् (स्वप्) के तुल्य है चामडा (चर्म) भावि में उसका कुछ व्युत्पत्ति का मुख्य है वह सिधौ पन्डो भासिडो पु० गामुई, चाँदडी हि० अमूकडी अम्पडा में यह अल्पार्थक है।

अचाप-रथ जो संस्कृत *ट्ट की कल्पना करता है का प्रतिनिधित्व सिधौ और मराठी में किआमूकक पातुओ से निकले कुछ विशेषणों में होता है सिधौ चट्ट म० पेपट्ट ही प्रकार बोलना में निरन्तर पस्टा है, नामवात विकरणों के अनुकरण पर पाँमुटा रोसाटे। प्रत्यक्ष यह बही पर प्रत्यय है जो मन्वृवती सौंदर्न (सिर) क अन्त में आता है। बंगाली में उसका एक विशेष प्रयोग है संज्ञाओं के साथ प्रत्यय होने पर इससे उन्हें एक निश्चित मुख्य प्राप्त होता है वह एक उपपद की स्थान-पूर्ति करता है गाष्टा "यह, बड़ा पेड़ गाष्टी "यह, छोटा सुन्दर पेड़"।

-अट्ट (हि० बनावट्ट) और -हट्ट (हि० बुलाहट्ट) रूप अस्पष्ट है अट्ट भातु, तुम सं० अन्वपाट दोनों रूपों में से केवल एक की स्मृति बिल्लाता है और कार्यवाही संज्ञा को स्पष्ट नहीं करता।

संस्कृत पुट्-प्रत्ययों के कुछ चिह्न मिल पाये हैं उदाहरणार्थ अलक अल्व प (प्र) दाट ओ और उ दाट धुक होते हैं जिनसे उदासीन रूप में अप अल उप उत् का प्रतिनिधित्व होता है और फलतः कोई स्पष्ट महत्व दृष्टिगोचर नहीं होना। कुछ संस्कृत पुट्-प्रत्ययों का काश्मी उच्चारण रूप में प्रयोग हुआ है किन्तु उन्हीं शब्दों के साथ जो स्वयं

संस्कृत के हैं वे हैं स सु जिनमें स्व (सुमाब्-स्वभाव) के समाहित हा जाने की संभावना रहती है स्वयं स्वर से पूर्व अन् रूप के अर्थात् नकारात्मक अ प्रायः मिल जाता है जैसे मध्यकालीन भारतीय भाषा में। स्वभावतः कुछ मुसलमानी पुरप्रत्यय हैं हि वे बिप्सी-भाषा कि जो फ़ारसी के वे बी के समूह है न कि सं० बि के बट ना जो बंगाली में देशज शब्दों के साथ सम्बद्ध हो सकता है स० 'न' में सुरमित मिश्रता है। किन्तु प्रचलित शब्दावली के शब्दों के निर्माण की दृष्टि से सचमुच इन सबसे कोई साम नहीं है।

रूप रचना

मध्यकालीन भारतीय भाषा के विकास-काल में ध्वनि-सबधी परिस्थिति और भावति-मूलक सादृश्य के कारण कर्ता० और कर्म० का सामञ्जस्य उपस्थित हो जाता है जो पुनरुक्त की दृष्टि से केवल नपु० के लिये सामान्य वा -इ और -उ मुक्त स्त्री० और नपु० संज्ञाओं में यह बात शीघ्र ही प्रस्तुत हो जाती है विकरणयुक्त पु में प्रतिरोध-सक्ति अधिक खंबी रही है, किन्तु बहु० में प्राकृत में तो पुते के निकट कर्म० पुता मिलता ही है अतः उस दिन से जब से जैसे अपभ्रंस में पुतो और पुत पुतु के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं, एक नामवाचक रूप रचना मिलने लगती है जिसमें गीज कारकों के विरोध में एक मुख्य कारक मिलता है।

उनके दो समुदायों में भेद उपस्थित किया जा सकता है

एक ओर तो प्राचीन संबंध -संज्ञा का स्थानापन्न जिसका सामान्य कार्य परसर्गों को जारी करना है (उपसर्गात्मक अम्मम पूर्णतः अपवाद-स्वरूप है अस्कृत प प्रधुन नु 'में') और जो विशेष्य का वाक्यांश के साथ संबंध स्थापित करता है इसका तात्पर्य यह है कि इस विद्वत् रूप में संज्ञाओं का पूर्ण अभाव होता है वे सब सर्वनामों में सुरमित रहते हैं (उदा मैबिषी ब० से ता पसाई असे टैतिस् अकली छत्तीसगढ़ी एक बचन में कुछ पुष्पवाचक सर्वनाम और प्रस्तावाचक सर्वनाम) यहाँ परसर्गों को संज्ञा में अपने को बृद्ध बनाने की सुविधा प्राप्त होती है और उससे एक नवीन रूप रचना का निर्माण होता है।

दूसरी ओर परिस्थिति-मूलक कारक है कारण अधिकरण अपादान जो वास्तव में बच रहते हैं, किन्तु उच्चरोच्चर वास्तविक संज्ञा-रूप से अलग होते जाते हैं वे वहाँ भी मिल सकते हैं वहाँ कोई अन्य रूप रचना नहीं है, वहाँ लुप्त हो सकते हैं वहाँ एक नियमित रूप रचना है अंत में वे एक श्रिया-विशेषणमूलक मूल्य ग्रहण करते हैं।

मुख्य कारक

दो रूप हैं एक जिसके अंत में न्यून स्वर या व्यंजन आता है, दूसरा जिसके अंत में दीर्घ स्वर। प्रथम मूल रूप है व्यंजन प्रकार में लिंग और बचन वृद्धिगोचर नहीं होते। इसके विपरीत द्वितीय बर्ग में वे वृद्धिगोचर होते हैं और निस्संदेह विरोधनों यथा मूल द्वारा लिंग न प्रकट करने वाली संज्ञाओं में उनके सामान्य प्रयोग का यही कारण है।

मूल संज्ञाएँ

एकवचन

कुछ उदाहरण

	पु०	स्त्री०
पु० राज०	पाठ (पाठ)	माठ (मा० मठा) जागि (जगि)
सिंधी	देह ^व (देह)	सध ^म (सधा)
	पि ^व (पिता)	रात् ^ए (रात्री)
शिना	केहर ^ए (केहरी)	बिज्ज ^व (बिज्जव)
	मोस् (मसिम्)	बिप् (बिह्णा) येम् (गृहिणी) सेप् (स्वप्नु)
कर०	बुद् (बोरे)	बेप् (बिह्णा) एन् (एत्री)
यूरोपीय जिव्ही-भाषा	बाद्	बिन्द्, र्त्
हि०	बोद्	बीम् रात् घास्
छत्तीस०	कद् (कसम्)	पोद् (गोष्ठी)

इसी प्रकार नपुं क न्मि म० भूत् (भूत्रम्)।

न्यून स्वर स्वर-संबंधी प्रत्ययों से निकलते हैं या निकल के प्रा० बोरो बोरे, बिह्मा बिह्म रत्ती रत्ति अग्नी अग्निं घस्नुं घस्नुं।

भाषुनिक समामना इन विविध बिह्माओं को छिपा सकती है। प्राचीन बंगाली में मिलता है बुम्भीरे, काह्लि (संभावित "कृष्ण") बंगाली बोली में पुठि जो पुन्^म के सहीप है नद् (स्नह) दस बात की बार भी प्रायः ध्यान आता है कि उनमें दोष भाग्यी

प्राकृत की विशेषता -ए बासे हैं व्याप्ति बासा रूप -ए है लोके बोसे पठ सबे । साम्य के कारण कटिनाई उत्पन्न होती है और यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि प्राचीन सिन्धी में कर्ता पु मयुं० है जो -ए युक्त है (पुने लने) और जो उसी प्रकार पु० बहु० -अहु के विपरीत है जिस प्रकार अर्द्ध-मागधी -ए -आसो के । किन्तु -ए का स्वयं विरोध -आसो जो इस अंतिम वाकी में पाया जाता है यह सूचित करता है कि हर हासत न यह सध्य रूप-विचार-संबंधी है न कि ध्वनि (उच्चारण)-संबंधी स्वयं दगाधी में सिन्धी की भाँति सामान्य व्याप्ति -आ युक्त है जो -अए से नहीं आ सकती बँसा कि लोके-ए के अनुमान से होना चाहिए यदि यह अंतिम रूप ध्वनि-संबंधी था तो हिंदी का -आ युक्त पूरा समुदाय आधुनिक उच्चारण किया हुआ समझा जाना चाहिए । तब कारण का आशय केना पड़ता है इससे बाक्य-रचना का प्रश्न उत्पन्न होता है और -ए तथा -अहि अपबा -ए की प्राचीन लेखन प्रणाली में साम्य का अनुमान होता है । समस्या अस्पष्ट बनी रहती है ।

इसी प्रकार वहाँ वे हैं (आधुनिक सिन्धी में व्याप्ति सामान्यतः मिलती है) वहाँ ह्रस्व विकरण एक साथ ही सब मापामों में दृष्टिगोचर नहीं होते । -उ युक्त विकरण की सामान्यतः व्याप्ति हो जाती है और इसी प्रकार किन्तु कुछ कम -ई युक्त स्त्री० विकरण की जैसे मयदूबती में पुम्स् * "पुत्र" किन्तु उसे 'वहन' भी साथ ही विशेषण में मैबिठी में स्त्री० बहु० का पु० बहु से विरोध है ।

बहुवचन

पुस्किग

प्राचीन काल में विकरमयुक्त पुस्किगों के बहुवचन प्रा० -आ ध्वनितयुक्त सज्ञाओं में दृष्टिगोचर नहीं होते हि० बिप्यी-भापा बौर, कद० बूर। जहाँ न्यून स्वर बना रहता है, वहाँ उसका विरोध एक० के न्यून स्वर से पाया जाता है (अपभ्रंश -उ जो प्राकृत -ओ और अं से निकला है) ।

सिन्धी	एव० डेह ^उ	बहु० डेह ^अ
रञ्जीमपुरी	पर ^उ	भर ^अ

इस विरोध के बिह्व जो समीपवर्ती मापामों में बनेकालरात्मक स्वर-संबंधी परिवर्तन क्रम में पाये जाते हैं

कद० एक	बाँदुर	बहु० बाँदर (किन्तु बूर)
कईया	कुनकुन	कुनकड (किन्तु पर)

स्पष्टता की आवश्यकता निस्संदेह मूल संज्ञाओं के बहुवचन में व्याप्ति के विस्तार के मूल के संबंध में रही है।

यूरोप की लिप्सी-भाषा में एक० मनुस्, फल् का विरोध बहु० मनुसा फला से पामा जाता है, वैसे कि स्त्री० एक० बिन् बहु० बिबा मूरी में माम्बेस् से मित्र मानुम्-ए निममित रूप से मिलता है, तुम् एक० चोर्न का बहु० चोने। इसी प्रकार सामान्य गुजराती में है बाल्लो किन्तु खैर (khaira) में बाप् का बहु० बाप है (और मनु० में धर् बर्ग) पलन् (palaan) में लोकर का है लोकरा परा की तरह।

यह प्रत्यय कसाय एक० सा 'राजा' वासा कारक है बहु० सोबी (मौंभे एक० बहु० के निकट) समकाल मास के निकट तोरही मरम्-अ की भी (तुळ० स्त्री० में एक० अलि बहु० अल जो इ-अ से है) मस्य-ए संहित कती तोत्-किस-ए, बीनेलि गुइ-ए कसाय दई (स्त्री० कू-ई?) शिना जह्द-इ (स्त्री० वाम्-ए) बहु की बोरुपा अपसे-आ और अपसे इ 'चोरे'।

-इ मुक्त संज्ञाओं में शिपी बँहरे बहु० और एक० म समान रूप से है।

मनुसक

प्रा -आई का स्वर-संधि स्वामी के अनुसार विविध रूपों में होती है म० मूठ (मुबाणि) मुज-ओसी परा [सामान्य भाषा बटो -आई व्याप्ति वाली संज्ञाओं में काम आता है लोकरा या लोकराई का बहु० है कौकनि बोर्सा (बर्पाणि)]।

स्त्रीलिख

प्राचीन -आ मुक्त विकरणों में प्रा० -आओ सामान्यतः -आ एक सीमित रह जाता है कब० एक खेव बहु० खेव यूरोपीय लिप्सी भाषा बिन् बिबा मन्डेमालि (mandemali) वेव 'बहन' देवा (किन्तु चर एक० और बहु०) म० ईद् ईटा कौबनि वाद् बाटो।

किन्तु गुजरी और, उन भाषाओं में जिनमें केवल दो लिंग हैं मनु० में कुछ प्रत्यय मिलने हैं अत्र बरतै हि बरतै लदीम किताबी बरतै जो तुल्सीदास की रचनाओं में -ऐ मुक्त अव्यय की शीघ्र कर बैठा है गुजराती जिसमें बहु० मनु० -आई मुक्त है, के निकट शिपी में सर्वा और मनु० है लूबा म उबाना अठ म मारुबाई में बरता है इन पिछरी वा भाषाओं में सादात् रूप बिहृत रूप के समाग ही है। इस स्थान-पूर्ति वा इतिहास अज्ञान है। यह एक रोचक बात है कि भीली में क्रियाओं के लिख्य व्ययमित रूप म कभी स्त्री० और कभी मनु० का प्रयोग होता है बीरी और बीक इससे द्रविड़ नियम की मार

आती है। गुजरगती में स्त्री से संबंधित विशेषण (किन्तु न तो सजा न क्रिया) आदर भाव के कारण मपु० बहु० में आता है मारतं मा सारतं छे जो मारतं प्यारतं बेहेनो।

मध्यकालीन भारतीय भाषा की -ई युक्त संज्ञाओं में प्रा० -ईओकेसवृत्ता ईकी आसा की जाती है। बहु बान्त्व में मिलती है कोंकनि कूड वहु० कूडी मत्र० बहण् वहु० बहणी कइ० राध्, बहु० र्ओं^उ। किन्तु यह अपवाद-स्वरूप है। चाहे ई, -आ की भाँति बाधा के रूप में प्रतीत होती हो क्योंकि उससे पु० एक० अथवा संसृष्ट से किये गये (नदी आना) स्त्री० एक० का स्मरण हुआ जाता है अथवा अन्य कोई कारण हो बहु सामान्यतः सर्वत्र स्याप्तियुक्त प्रत्ययों के रूप में प्राप्त होती है युरोपीय जिय्ती-भाषा फ्रेन् "बहन" वहु० फ्रेनीआ चुरी चुरीआ गवर्बती य् 'छड़की" बहु० बूत्र तोरबाठी य् 'सडकी" बहु० धी(तुल० असी स्त्री० एक और बहु० सामान्य पु० एक० असु)। स्याप्तियुक्त प्रत्यय सिंधी में तपु रूप में है रातिठें। छहवाँ में केवल उसका मपु० के साथ अनुकूल्य हो जाता है जक्की (सं० असीणि तपु० जो -ई युक्त अथ विकरणों के साथ स्त्री० में हो गया है क्या उसमें स्त्री० वहु० के मपु० रूप-रचना के मूल ठो निहित नहीं हैं?) छाहरीं बहु० छोहिर् रत्ता जो रम् (रब्डी) से है। साथ ही हि० बहने आदि में -आ युक्त संज्ञा-रूप वाले अर्थ।

-ऊ युक्त संज्ञाएँ अन्य संज्ञा-रूपों और विशेषतः -आ युक्त वाचों के आभार पर अपना रूप निर्धारित करती हैं चाहे साव्य के माध्यम द्वारा हो कहांवा हम्ऊ, मर्णा की भाँति जबाना चाहे पूर्ण समीकरण द्वारा हो म० बिना सिंधी बिजू।

संबंध-सूचक संज्ञाओं का बहुवचन

-यू युक्त संबंध-सूचक संज्ञाएँ बहुत समय तक एक जलग समुदाय का ही निर्माण करतीं रहीं और उसके बिना जब भी अवशिष्ट मिलते हैं। इसके अतिरिक्त उनमें समीपवर्ती अर्थ की संज्ञाएँ भी जुड़ गया हैं।

वेदों के समय से पितु के अनुकरण पर पत्यु ('पति' के अर्थ में किन्तु 'स्वामी' के अर्थ में पते) जन्मु (होपावत् विकरण भाँति से निकले संबंध का यह जकेसा उदाहरण भी है) और साथ ही सव्यु। यदि पाली कर्ता बहु० सखारो कर्म० एक० सखारं से पितरं की अपेक्षा सत्पार का रूप अधिक सामान आता है, तो करण० सखिमा संबंध० सखितो जो -इ युक्त विकरणों के रूप में माना जाता है और पिति जैसे प्रकार की स्मृति निष्ठात है जो उत्कीर्ण केवों की मध्यकालीन भारतीय भाषा में प्रायः निकल आता है (किन्तु प्रायःक वृष्टि से ये पुराने रूप हैं पाली गद्य में साधारणतः सहायक-अधिक मिलता है)। महाभक्तु में भार्याम् के वक्के भारियरम् है, बिसकी रचना माठाम् के साथ-साथ मिलने

बासे मातरम् के आर्षा पर हुई है इसी प्रकार प्राकृत में मातरं है और मायं है और 'विभी माता' का अर्थ प्रकट करने के लिये उचित मातरा इस बात का प्रमाण है कि बहु-मातरा निरन्तर बना रहता है।

अथवा विभी में संबंध-सूचक सज्ञाओं में बहु० (किन्तु एक० के विहृत रूप में नहीं) की विशेषता ए सुरक्षित है

एक वि० बहु० वि० एक० मा० उ बहु० मा० उ
मा० मा० उ

इसी प्रकार सादृश्य के आधार पर मा० भे० उ वि० गुह० उ के संबंध में विचार किया जा सकता है।

हिन्दूकी धीरिं नूह्री के समीप तोहुरिं निस्तस्येह इसी संज्ञा-रूप का बना हुआ रूप है, एक० ए० ए० आई० VII, 1 पृ० ३३०।
धिया में सीमे संबंध-सूचक सज्ञाओं के समुदाय अथवा संबंध द्वारा बहु०-वादे में मिलता है वि "कडकी" दिदीये म "मा" मँयादे स "बहन" ययादे, सेभैपु "सास" सेभैपुये, सेम् "पति" येनादे, सेभैपुये सेभैपुये, सेरि "सासा या बहमोई" सेयादे यावि।

व्याप्त-सूक्त सज्ञाएँ

इन संज्ञाओं के मुख्य कारण का इतिहास प्रत्येक भाषा में स्वर-संघि के सूत्रों पर आधारित रहता है। फलतः यह देखा जाता है कि ई सुक्त संज्ञाओं में प्रा० एक०-रुको और बहु-रुका का अर्थ में जाने से समान परिचय होता है वि विभी माती म० माती एक साब एक० और बहु० होता है। अस्तु, मुस्ता त्रिण पर विचार करना होता है कि अजस-अमो सुक्त पु अत में-अ(पु)अ सुक्त तपु० और रुकी है।

पूर्विका

एक० में वज के इन्द्रियों (गयी) में और क्रियासंज्ञा-संज्ञाओं (मारुती) में संसुक्त स्वर बना रहता है किन्तु बोझा (रे अत्यम)। विभी सुजपाती राजस्वामी और नेपाली बुन्देली में मिलता है घोड़ा इसके साथ ही वर० गु० उ धिया माम् उ (महम्मद) वोरवाली मूं यूरोपीय जिन्नी-भाया घोरो (पट)। मराठी हिन्दी वज पंजाबी बंगाली में बोझा पाई, गबरबती घोड़ा बैंगलि

तत् "पिता" मरुद्भुज की संज्ञा सिंहली पुता [सामान्य रूप अंता (हाथी) और इसी प्रकार बहु० -ओ के सामान्य रूप हुए हैं, पु सिंहली -अहु दे० अन्यत्र।]

सिरिया की जिप्सी-भाषा में दो रूप मिलते हैं यद्वा, सीर्ग विधेयणों के प्रकार हैं प्रकार जन्तो (बामातर), जरो अपवाद-नवस्व हैं किन्तु सर्वनामजात प्रत्यय नन्वो-म् र् बाधे अतीत काल में बहु सुरक्षित है। मराठी में भी ऐसे क्रियामूलक रूप हैं जिनकी रचना प्रत्ययत -सो और -सो जो -सा -सा के निकट हैं, से युक्त ह्रस्वन्तो के आभार पर हुई है (तुळ० बोवेरे, बी० एस्० ओ एस्० IV पृ० ५१७)। ब्रज के संबंध में दे अपर। बंगाली छोके के संबंध में अन्यत्र देखिए।

बहुवचन में *अय जयता *अय (स० अका) से आये बढ़ने पर परिणाम भिन्न आता है म गु घोडा किन्तु मुन्देकी हि० पं सि० बोड़े कप० गुरि सिना माहूँ, बैंगलि लते यूरोपीय जिप्सी-भाषा सोरे मूरी यन्ने (मूल सजाओं तक प्रसारित मनुसे भगे)।

नपुंसक लिंग

म० मुरुविं मुम्गे का बहु० पु० छोकराँ छाकरँ का बहु०।

पुस्तक्य और नपुंसक० की स्वर-सभि के नियम स्वतंत्र हैं कोंकनि में जिसमें गुजराती की भाँति पुं० गडो है, नपुंसक० में मराठी नियम का पालन करते हुए बुर्यो है।

स्त्रीलिंग

यह प्रा० बोडीयो है जिसका संबंध पु० बोडी से स्थापित करना आवश्यक है और मिस्रदेह कर गुर्रँ के साथ। किन्तु उसके समीप एक रूप था -इआओ -इअओ जिससे है गु० बोडीयो कोंकनि बोडयो म० बोड्या हि० पं० राज बोडियाँ यूरोपीय जिप्सी भाषा रनीया (हि० राणी सं० राणी) मूरी जोमिए, जूरे, जो जोगि जूरि से हैं में संभवत नपुं का प्रत्यय है तुळ नपु० पानि-ए उसी से मिलता है पु० सहिव बन्ने, ऊपर देखिए यही प्रश्न मुलाह (महम्मदी) के बहु० मुलायो के निकट मुलायँ के संबंध में उठता है, तुळ० जगहिये स्त्री० (प्राचीन नपुं०) सतै (सेतु) का बहु० सेने और पु० माके।

रीया कारक

एक विभिन्न मुख्य कारक के विपरीत सामान्यतः एक विभिन्न प्रकार के मूर्त्तों से युक्त विद्वत् कारक मिलता है जो परमगों से सक्ति ग्रहण करता है और प्राचीन संबंध०

पर आधारित रहता है। इसके अतिरिक्त दोप तीनों प्राचीन कारक—करण अपादान और अधिकरण कुछ-कुछ सर्वत्र उपलब्ध हो जाते हैं।

यह सोचा जा सकता था कि यह कारक अपने काम-से-काम महत्त्वपूर्ण विद्वां तो छोड़ जाता क्योंकि भूतकालिक क्रियामूलक रूप के साथ उसके प्रयोग की आवश्यकता पड़ती रहती थी और जैसा कि उसके कार्यवाच्य रूप में देखा भी जाता है। उसमें ऐसा कुछ नहीं है उसमें बड़ी मुश्किल से केवल विकारणयुक्त एक-विक्रता है जो सामान्यतः क्रियाविधेयमूलक रूप में है।

पुरानी मराठी में उसका प्रचुर रूप में प्रयोग हुआ है गाबरे (गर्भित) सेनबइए में प्रथम का प्रयोग -इ युक्त (सेनापतिता) विकरण में होता है बहु० पु० तपु० पश्चिमी चिह्नी (प्राकृत-एहि में)। स्त्री० एक० में बेबिबा जो विकृत रूप में बेबीए संनिभ है, तुळ० प्रा -आए? अथवा संस्तपन? हर हाकत में बहु० का अमान है मुंबा विकृत रूप है, ऐसी चिह्नी। आज यह केवल एक० विकरणयुक्त के रूप में रह गया है और ऐसे दाम्बा में मिलता है जो मुझे सज्जे अथवा 'अत्या इतु-एँ कर्म' प्रकार के समुदायों में परस्पर का काम करता है।

स्वाण्डियुक्त विधेय में पु० बोई^उ स्त्री० वृई^ई वर० में संप्रदान एक० पु० बडिइ स्त्री० बजे से कर्तुं० पु० बई^ई स्त्री० बजि जो जिसके प्रथम निस्सन्देह प्राचीन कर० -ए, -इ प्राकृत में -(ज)एन-ईए द्वारा प्रकट होते हैं, अलग रखा जाता है।

बहु० में प्रथम की सङ्गठन अपादान के साथ हो जाती है और एक० में मूल संज्ञाओं के साथ। पु० पूरन् अथवा खोर के आधार पर निर्मित हुआ प्रतीत होता है हर हाकत में यह उचित विभ है तुळ० सुतिन् जो मराठी में हैं की भाँति *सहितेन स है?

सिंहली में अनेक संज्ञाओं में जो तपु० मूल संज्ञाओं के समुदाय हैं, करण एक० के अन्तर्गत एक प्रथम इच्छा है अतेन् अतिन् (इस्तन) जो अत (स्वाण्डियुक्त मूल कारक) से है। इन संज्ञाओं के सामुदायिक बहु० का निर्माण एक समास द्वारा हुआ था जिसका द्वितीय अर्थ एक० के रूप में जाता है करण का रूप उसमें समान रहता है अन्बतिन् "हावा से"।

पुरानी राज० ई प्रथमतः संस्त-एन रूप -ई का उपसर्गादि है सुर्वि देहरे और इसी प्रकार पाविई पु यु घोई हनिई। स्त्री० में स्त्रीइ और भाकाई। बहु० में (हाथे नयन पाणीए, स्त्री० बवाणाए, नापीए) -ए अथ० -अहि के समुदाय है जो प्राकृत -एहि का स्थान ग्रहण कर गया है। उसमें केवल ऐसे रूप ही अधिक मिलते हैं गु० हावि राज० घोई गु० बोई (मुख्य० पीड़ो विकृत० पीड़ा)।

पुण्यनी बंगाली में पूर्ण एकीकरण है जैसे (बेगन) -वाले स्त्री० सीसे भान्तिपे (सीलमा भ्रात्या) और बहु० में तिथिर्ण पटे उसमें 'हाये' शेष रह जाता है। इसी प्रकार मैथिली म फये सेने जो भेन्त्रै साँ (मुख्य० नेता) के निकट है और साथ ही पानिर्ण और स्त्री० में कभे बेटिर्ण। प्रत्यय -र्इ सम्बन्ध हो गया है।

उत्तर-पश्चिम में भी यह मिलता है जिसके बिना उसका विस्तार नहीं जाना जा सकता 'बैंगलि बवाले' (अदकृत बाबोर्नु) ओबार छई-एन् बैंगलि सुइ (मुबु) बाबार पबेन् (संभवतः पञ्जीय)।

अपादान

इसके संबंध में अबशिष्ट विज्ञ भी बहुत कम है, और ब एक० के उस प्रत्यय के साथ सम्बन्ध हुए भी मिलते हैं जो मुख्य क्रियाविधेयणमूलक या प्रा० -आओ। सिधी की नियमित रचना म० में -मौ-नि ऊन् में अन्तभूत से पु० राज० का हाथो हाथई सिधो सिधि प्रकार प्राप्त होते हैं, तुल० पा० दिखीदिम। उत्तर-पश्चिम समुदाय में ओबार यन्-भाइ (मबं० अनो) यन्-ई मिलते हैं तुल० अबे तोरबाली सिंर, तुल० करण० मधि० सिंरि बिहृत० सिर् समयत बबरबडी बाबो तुल० बिहृत० बाब पु० कर० भेना बह० धूर पेठ, वन् ^{र्} अर। यूरोप की जिप्सी-भाषा में सर्वत्र प्रत्यय सङ्घित क्रियाविधेयणों से अधिकरण का बर्ण निकलता है तल्क् वङ्गल् (अपगत् *अगाता) और फस्त- मुई-अल्।

एक अनुनासिक स्वन भी मिलता है, जो करण के सावधान पर बना प्रतीत होता है बज० भानी यों तुल० हि से म० सिं पु० राज० कोपा कम विकृता है पं० धरो सिधी बरे और फलत स्त्री० अबानी तोड़िमा बहु करनिछी -अउ -ओ -उं भी मिलते हैं और साथ ही पत्रणों में लाँ लठे लाँ। संभवतः अदकृत बाबोर्नु की तुलना करना भी आवश्यक है। बर्ण के रहने हुए भी मराठी अधिकरणों यन्नी इया पाटीर्ण कोकनि रोना यरं का निम्नदिहू बही मूल है।

अधिकरण, पूर्वो विकृत रूप

इस संबंध में भी प्राचीन प्रत्यय कहेला जो स्पष्टतः सुरंगित रह सका है विकरण मुन्न क एर० का है।

संस्कृत -ए बपी-कपी - की मति विकृता है अय० बारि, गु० हायि (इम्ते) तुल० पु० राज० धरि, कूर। प्रायः यह स्वर स्पष्ट हो जाता है किन्तु उसका विज्ञ पूर्ववर्ती

स्वर में विशेषतः रह जाता है जैसे गु० वेद कौकनि गेद् (*वरि से) सहृदा जन्गीक
(जन्गुम् से विहृत्) में हि० त्रिप्ती-भापा आदि दूर सहृदा षद् बं०
बोद् बोद्। यह रूप कुछ परसगों में सुरक्षित है कौकनि गेद्, कर मन्द् (मन्वे)
हि० पास् (पास्वे)।

व्याप्ति-युक्त सज्ञात्रो मे -अके से एक स्वर, -ए अथवा द, उपसर्ग होता है
त्रिप्ती-भापा वेदे, पु० कर० गटे, गु० पं० सहृदा राज० बज पु० बं० बरे पु० कर०
भाये (हस्ते) इति, अन्ति यानि कसाद्य छुरे, त्रिप्ती-भापा अये अन्ते। मारवाड़ी

मे तो अब भी 'भायी' मिलता है, जिसके अनुसार फिर बने हैं पछे मै।
कमी-कमी इन प्रत्यय का विस्तार अन्य विकरणों तक हो जाता है प० सजे
जो स्त्री० छाँ(द्) (छाया) स है पु० कर० बले वारे (पारा) आधुनिक दारि दारि
पु० बं० सजे। इसमें प्राचीन विहृत रूप -आए को अधिकरण के रूप में मानने का कोई
कारण नहीं है। शेष पु० राज० रात्रे बाहि (बाहु से) में और विशेषतः विद्या, सिवि

काई में इ निश्चित रूप से परमर्त्य है।
एक बड़ी माटी कठिनाई अपभ्रंश में दो प्रत्ययों -ए, -इ और -अहि अथवा -अहि
का साथ-साथ मिलना है। यह पु हि० देहाहि 'सेबकहि मित्रा कागै द्वारा प्रमापित
भी है जिसके निकट हिमाहि कर० द्वारा अन्ति के निकट अन्तिहि बेहेरु के निकट
पु० सिहृती बेहेरुहि और आज भी सदीमपुरी पर, वैसे बजारी जो दुबारे के निकट
है, समझे। स्त्री० में सहृदा अन्ति बजानि (पं० बहु० बरि हुरि निस्सरेह् अमुकत्स
प्राप्त है)। ऐसा नहीं है कि अमानसिक प्रत्यय की व्युत्पत्ति मान्य करना कठिन हो
अधिकरण क्रियाविशेषणमूलक प्रा० तहि से तमूना प्राप्त होता है किन्तु अधिकतर यह
ज्ञात नहीं यदि -ये -ए एक या दूसरे प्रत्यय पर आधारित है। फिर करण के माप मड़बड़
की आधा की जा सकती है और वास्तव में गुजराती और मारवाड़ी में योके के दा
महत्त्व है।

गुजराती में यह प्रत्यय विहृत के साथ सुप्रत्यय के रूप में आता है बोड़ए,
इसी प्रकार स्त्री० बोड़ीए, बहु० बोड़ाए, बोड़ाओए, बोड़ीआए इसी प्रकार सिहृती में
अधिकरण बहु० असाधारण रूप में विहृत० और -हि क योग से बनता है
तम्बउन्हि।

बाहे सामान्य रूप में हो क्योंकि अधिकरण सामान्यतः एक ऐसा कारक है जो कहीं
भी व्यप जाता है तुल्य से० अत्यन्त बाहे व्याप्ति-युक्त विहृत रूप पु० एक० -ये जो
-अहि में निकला है के साथ मड़बड़ के फलस्वरूप हो फिर बाहे इस कारण हो कि
भारतीय में भाषा एक सर्वनामज्ञात विहृत रूप प्रा०-अहि बना रह गया ही जबवा अन्य

सब बातों की दृष्टि से क्या हमें ऐसा एसा तो नहीं होता कि पूर्वी समुदाय में अधिकरण से साम्य रखने वाला एक विद्वत् रूप होता है।

सुसयीवास की पु० अरबी संछपहि गुनहि, अब अधिकरण नहीं रह गये वहु० पापगृह पीडन में अधिक नहीं और बास्तब में म कबल 'बोरहि' राति में भाबा' ही ठीक ठीक विवाशास्त्र है, बरन् मोठिहि खो रामहिं टीका पुगेहितहि देखा राजा' भी।

पु० मैथिली हरदहि घेठहि किन्तु वल्लहि भी (जिसमें प्रा० -आहि का शेषांश हो मश्टा है) और बिरोपत्त सनुही भान् (एक और प्रत्यय -हु अप० -अहु अपाणम म प्रा० -आमो का शेषांश ?)। इसी प्रकार पु० वंगाली कुत्ते कुत्त किन्तु (अर्था) 'सहज कह' भी।

अस्तु इस समुदाय में अधिकरण पर आधारित विद्वत् रूप सधमूच विद्यमान था वह कुप्त हो गया है। मैथिली में ही एक और -आ मुक्त विद्वत् रूप है और वंगाली में विद्वत् रूप का विषय रूप नहीं है -ए ने संनवत मुख्य कारकों से व्याप्ति ग्रहण कर ली है, वे पीछे।

बास्तबिक विद्वत् रूप

रूप-रचना यदि कोई हो तो उसके रूप में संकेतित अवशिष्ट रूपों से बना मात्र बाधक सदैव मुख्य कारक जिसमें वहुत से विद्वत् रूप-संबंधी मूल्य रह सकते हैं, के विरपीत रहता है, और जो सामान्यतः परसर्ग पर आधारित रहता है।

बहुवचन

विद्वत् रूप लगभग सर्वत्र स्पष्टतः बहुवचन में आता है उसकी विशेषता है अल्प वस्तुतासिक व्यंजन या अनुमानिक स्वर।

पु० मिहरी पिण्डिपण (प्रतिमप्लानाम्) बन् (बनानाम्) महनुन् (यमपानाम्) बनुन्। उद्यम आधुनिक बहु विद्वत् रूप केवल शेषतः सजाओं के लिये है।

यूरोपीय लिपि-भाषा नुंनैन् नैन् 'बन्' लङ् 'स्त्री० बिबन् 'मानार्' फतिपन् 'बहनें' नृपि मनुं नैन् 'बौनन्' स्त्री० लुंनैन् 'लङ्गिन्'।

एही मनुं नैन् मनुं नैन् म। अस्तुन पोडी की 'माई' सुमी बहनें नाकरन् 'नौकर'। बैगनि गोडी और (अ० यार्) वहु० न पर प्रत्यय सहित -केप

उत्तरेणिया प्रमुन याकिन्निप्रो 'माता-पिता' नुंनैन् किन्निमा। पत्तई आनुमेन् 'म' वयन् 'लङ्की' वयां वय म।

श्रीवार वगन् 'सङ्का' सप्तन् 'पर्वत' ।

३२. "संग्रहान्" वृत्त्वं वृत्तं स मूर्धन्यं गुर^३ से स्त्री० माळन्, माळ् से रोष^३ वृ
'रत्त' यम् से गर्धन्यं गुर^३ से ।

वीरही वनिन् अद्मन् वृत्त्वं लङ्की^३ वी सं ।

दिना -ओ तोरवापी -अ में अनुनासिकता नहीं है (गुरु० वरण -य) ।

सिमी डेह्ल^३ पिउन्^३ पिउरन्^३ डेहरिन्^३ स्त्री० सपुन्^३ सप्^३ से विज्जन^३

विन्^३ से व्जन्^३ स्त्री० व्जो व्जो व्जिन्^३ व्जिर्, व्जिर्त्वा पु० व्जो से स्त्री० रत्ती ।

व्रज० वल् (इ) वरन्, वरीं स्त्री० वाठन् (इ) वापीं ।

प० लहवा० गु० यज० वरां घोड़ा हिंभी परो घोड़ो बोड़िवा मराठी वरी
वन् घूर्त्वा (मुत्र) स्त्री० इटां (इष्टा) रत्ति (रत्ती) ।

सबधी (सत्रीमयुरी) बोर से बोरन्, दिया से दिवन् अस्मिन् हिन्दुन् स्त्री०
साठिन् ।

पूर्वी समुदाय में जो विकृत रूप से नहीं है कुछ ऐसे रूप सेप हैं जो विशेषतः
बहु० के अन्तर्गत प्रत्ययों या उपसर्गों का काम करते हैं मैपिली० ओकनि मध्यकालीन
बंगाली समान् बगा० -गुक्ति-गुल के निकट-गुक्ति-गुलान् ।

अनुनासिक सम्बन्ध और अनुनासिक का सिंधी और बज में उह-अस्तित्व हिन्दी के
प्राचीन कवियों के दुहरे प्रत्यय से साम्य रखते हैं तुलसीदास वृत्त्वं^३ नाउन्^३ एक ओर
हैं और दूसरी ओर लोणह^३ मुनिह^३ वजुह^३ वासिह^३ नयनह^३ । य अन्तिम
प्रत्यय (बीर फल्लत् -म् मुक्त अन्त्य प्रत्यय) प्राचीन प्रत्यय में वप (व)ह प्रत्यय के
जुड़ जाने से बनते हैं (तुलु विपर्यस्त रूप में बे० पीछे एच० सिमव बी० एस०
एक० XXXXXX पु० १७१ II है कुछ समान प्रयोगों को ओर संकट दिया है और विशेष
वप से ववात्यक सर्वनामवाच्य ववय हि० इन्-ह-ओ की ओर) । निस्सन्देह इन
अतिरिक्त बला की आवश्यकता संस्कृत -आदि से निकले मुख्य वपुं० (वावरवात्
अंततः स्त्री०) और -आनाम् से निकले सर्वव० के बीच ध्वनि-संबंधी समर्थ से उत्पन्न
होती है ।

एकवचन

पुस्तिका में प्रत्यय प्रा० -अस्म उत्तर-अभिचम समुदाय के एक भाग में मिलता है
"कर्म०" यूरोपीय सिंधी भाषा औरैम् (ओ टर्नट, ज० आर० ए० एम० १९२७

पु० २३३, बी० एस्० ओ० एस्० पु० ५० के अनुसार एक मध्यवर्ती रूप *-अस की कल्पना करवा है। स्वरित सर्वनाम कस् में -स् का चिह्न सुरक्षित रह जाता है। नूरी मनुस् (भ्याप्ति-युक्त संज्ञामों तक प्रसारित प्रत्यय यूरो० बबो सं बबेस् नूरी बीन मे बीमस्) "संप्रदान" बब० घूरस् गुरिस् (बोटकस्य) कलाप मोब्-एन् और फलत-छूत्रस् पचाई लोनिस् और वेमस् अथवा बवेस्। भारत के मुख्य भाग में कबल सर्वनामों में उसके कुछ चिह्न अवशिष्ट रह गये हैं। अथवा स्वभावतः दो भिन्नो (अस्य अस्या) के सिधे इन रूपों का महत्त्व है। हि० इस् आपस् में बब० इस् याहि के समीप है। पंजिस् जो संवबवाचक जिह के समीप है। छहवा के नाँ-उस् ? कस्-इस् जाते ओस्— किन्तु इस अन्तिम मापा में जैसे कश्मीरी के अतिरिक्त अधिकरण एकवचन को नियमपूर्वक आ सकते हैं। तुल० ध्वनि-सदबी अस्सि क सिधे।

अन्त्य असाधारण मूल संज्ञाओं से संबंधित बातों में अधिकरण प्रकार मिलता है। बभ्यद्दे० सामान्यतः *-आअप०-अहयचेष्ट रूप से प्रमाणित है। म० वेब् से देवा सुरत और काठियावाड़ की युज० बाप्-आ सिधी वेब्^म जो देब्^उ से है। छहवा कुक्क जो कुक्क से है। लबीमपुरी भर्म्ब कुछ परिस्थितियों में पीधिसी अन्ह^म रा क्रियायक संज्ञा देक^म ब्-आ बं बेखिवा(र) तोरबाली पम्-अ गबर्बती बाब्-अ अस्तुत मर्ब-अ (इन अन्तिम तीन नापाओं में -अ भी लबी० में) लोबार वग्-ओ मग्-ओ बौधिसि गुक् से मुझे और तत से ततो "पिता"।

युजरती हिंदी भाषि में क्षुब्ध प्रत्यय (दे पीछे)।

भ्याप्ति-भ्राप्त संज्ञाओं में प्राचीन कस् का चिह्न प्रायः स्वर के टालव्यीकरण में पाया जाता है, प्रकार * बोड़या राज० बोड़ा घोड़ी से किन्तु म० बोड़या सि० कर्हवा० हि० बोड़े बोड़ा से बब० बोड़े लबीमपुरी में बोबा परिवर्तित नहीं होता किन्तु मूल में ठम्ब का चिह्न रूप है ठम्बे।

लबी० में मरछी में माछे प्राकृत मात्साए का 'राती' प्रा रलीए से मली मौति अन्तर पाया जाता है। इसी प्रकार यूरोपीय जिप्सी-भाषा बिंज जो बिंर से है और फेनी जो फेन् से है (बिह्ला मगिती)। कस् में रजोंब्^उ के अनुकरण पर 'मासि' समान रूप धारण कर लेता है। नूरी पंजाबी सिंधी हिंदी और विशेषतः पूर में और युजरती में विशेष रूप नहीं है।

भ्याप्ति-भ्राप्त संज्ञाओं में प्रा०-इमाए म गु राज० पं० हि० लबीमपुरी बोड़ी तुल० तोरबाली चिह्न रूप हीं भुं "बहन" से किन्तु पु० राज० देवीम रावीब

उपनि षे जिप्सी-भाषा राजीआ नुरी बोनि-अ "सबकी" (बो-इ युक्त पु० में आ गया प्रतीत होता है बेसि-अ) सिधी गोसि-अ निम्नवदेह कर० यूरट्टे, किफिसी से सिह्मी किकिकिय ।

यूरोपीय जिप्सी-भाषा में अब भी विकृत रूप का प्राचीन मूल्य बना हुआ है म देसम् ई जेकस थि ले एर्मन् (na delas I Jakes ci te xol) "जैक को कुछ खाने को मत दा" सस् मे ददेस् सी खेस् लेन् क्रिया-विशेषणों का अति लचीला प्रयोग लक्ष्मीम् सचाई के लिये' लक्ष्मीबेस 'आज'। अत्यन्त स्वयं भाषा में ही अग्य प्राचीन विकृत कारक सूरक्षित रह जाने के कारण विकृत रूप विविध प्रकार के संबंध प्रकट करता है।

कर० एरैतस सरन् फकीरस भीस्^उ गिम्^उ लबर राबूएस् मस्^उ कासनि
अमिस् साम्सेपैनाकस् और नएँनछाह करूत अमिस् काह्सेपैनाकस् दोस्^उ
पननिस् मोंठिस् बूँबूह^उस् पीसितयरस्, जो गरम् बोंतु यर (मुख्य), और यरि (अपा०)
बहुन् के निकट है बेनतस् किन बोबकस् मुब्^उ हस्। मरकुन गोंडां जो मुन्य गोंडू^उ
" (मैं बेटा हूँ) एक बोडा" से मिल है।

पु० म० अन्नि० मठा दिनुह्ला ज्ञानेस्वरी बसया भेरें ठे समास्तां क्रियां ताव^उ
किन्तु मासियां कथे ययया भेरे स्वभावे विख्या जाती (एक अधिकरण विध्या है सामरिं) ।

इसी प्रकार सिधी पानब्^उ-वि^उ पम्बूह^उ ।

विकृत रूप की यह रचना असाधारण है सामान्यतः वह वैसे कि बीयाकरणों का कहना है एक ऐसे समुदाय के काम आती है जिसका द्वितीय अक्ष परसर्ग होता है वास्तव में अज्ञ-अप-मुक्त अणु जो सबब० को प्रभावित करता है तो रचना वैसे ही है जैसी फ्रेंच में "à côté de auprès de, dans la direction de, au moyen de, à l'égard de" आदि। यह प्राचीन है

पु० म० (ज्ञान्) एययां काजां कागी कृष्णा से म्हाभे

पु० अबमी (पु० बास) बरहिं शामि यिमेहिं मास

पु० बगामी (सरह) स्वयने मी

पु० कर० (शाम बेर) पानस मनुब् कथे पेट्य (मुख्य बूँडू^उ) ।

करमीरी म एक दुकहटा मिळी है प्राचीन सबब (जो सप्रदान बहा गया है)

संज्ञा

पूरुष् के समीप उसमें अपादान बुर रह जाता है अथवा जब कि अस्वर् मन्वृ म्पुर् उ
 भारि जैसे परसर्प "संप्रदान" के साथ आते हैं, तो अपादान के अर्थ और रूप वाले परसर्प
 अपादान के अंतर्गत संज्ञा के साथ आते हैं अट पेट, साथ ही अन् म् र, किन् आवि
 घान् का संबंध दो कारकों के साथ हो सकता है संबंधवाची विशेषण-हाम्पु जो आत्रक
 संप्रदान में बल्ला है, एक देव में अपादान है। यह रचना प्राचीन नहीं हो सकती
 संस्कृत में 'समीपे का संबंध' समीपात् की भाँति बनता है। तो भी इस बात की ओर
 संकेत कर देना आवश्यक है कि पुरानी मराठी में 'सहित' के छोटेक राष्ट्र करण० में है
 जो करण० वाली संज्ञाओं के साथ आते हैं जीविते सैं इहिं नानमूत सहिते। अस्तु,
 यहाँ निस्सन्देह एक ऐसे रूप का आकर्षण प्रदर्शित होता है जो आधुनिक भाषाओं के
 प्राचीन काल से संबंधित है और जो सं० मध्ये समुद्रे प्रकार का अक्षरिष्ट रूप नहीं है
 वे० अन्यत्र।

यह देना या चुना है कि गुजराती में और हिन्दी-समुदाय में मूल संज्ञाओं में बिकृत
 रूप एकत्रित नहीं होता। यह प्राचीन स्थिति है तुकसीबास में है
 रचुसिन्ह मह
 तद्वरह मध्य

किन्तु छन मह, जय सैं सचिब संग सम्पु पहुँ बिरिछ ठरे, भयतन (बिकृत० बहु०
 जो संबंध० के अर्थ वाला है) हिय छापी बल्लकुमारी संग।

पुरानी गुजराती में एक ही वाक्यांश में मूल बिकृत रूप न्यून और स्याति-सुस्त
 बिकृत रूप दिखायी देता है बगं तना पहिसा अजर परै (मुख्य तपी पहिसी)। पु०
 राज० में टैसिटटी ने बताया है कि-ह "में बिना कोई बिहू छोड़े सुप्त हो जाने की अति
 प्रबल प्रवृत्ति मिलती है" बरह महि, किन्तु जिन छापी और साथ ही किन्तु बहुव
 नम बहु० 'कुमर सूं' सहित।

यह तथ्य कि अन्य रूपों में भी बिकृत रूप दिखायी देता है इस बात के सोचने पर
 बाध्य करता है कि वह वास्तव में ऐसा प्रत्यय के तीव्र स्पृणत्व के कारण हो जाता है।
 तो भी पु० मराठी में मिलवाम सहिते एक देव वाली पु० कनीरी म बर् पूई जो
 बायेष् बामाबरम् की भाँति है।

तो एना प्रतीत हाता है कि यहाँ निर्मरता और तुलना द्वारा रचनाएँ मिलती हैं,
 जिससे प्राचीन एकमूर्क निमापी राष्ट्र उत्पन्न होते हैं सं० तस्य समीपात्
 और तन्ममीपात्, उपरि बनानाम् और चायक्यापरि, पा० मातमस्य ससिठ और
 निव्याममन्त्रिके, बानरत्स पिदुं और सीहपिटुं। निस्सन्देह कविगण तीव्र ही

उस विह्वल रूप के निकसित रूप की ओर ध्यान देते हैं जो सौमाम्यवरा प्रिय बने रहते बासे परंपरगत रूप के साथ साम्य रखता है। यही कारण है कि चन्द में सर्वनामजात संबंधवाची विशेषण का विह्वल रूप मिमत्ता है।

ता के कुल ^ब से उप्पती।

और बिना परसर्ग के

सम् ^ब जन् ^ब सोच् ^ब उप्पती।

समबत ऐसा शैली के एक ऐसे प्रभाव के कारण हो जाता है जिसमें वास्तव में व्याकरण के संबंध दूर हो जाते हैं ऐसे रूप में जिससे संस्कृत की साहित्यिक शैली के शीर्ष समासों की याद हो जाती है। तो भी इतना कह देना आवश्यक है कि यह प्रभाव कम होता यदि मेकम-यद्धति में (बैसा कि निस्सन्धेह कम-से-कम कवि के उच्चारण में था) पूर्वल रूप में उच्चारित स्वर बने रहते किन्तु जो मात्र भी सिंधी जपवा छबीमपुरी में तो दृष्टियोचर होते ही हैं। समबत प्रथमतः ये के "सम् ^ब जन् ^ब सोच् ^ब।

एक कारण है जिसमें परसर्ग से पूर्व का रूप मुख्य कारण में है। ऐसा उस समय होता है जब मूल बाबा परसर्ग होता है न कि एक सजा बरन् मुख्य बर्न कारण में एक क्रिया (दे० अयत्न)। घिना में भी मरौ 'मि' साति 'सहित' विह्वल रूप-सहित किन्तु मि० (गृहीत्वा) मुख्य रूप-सहित चिह्निम् रीतिगि किन्तु यह विह्वल रूप सावृष्ण के कारण है चिह्निम् रिक्त मि० पु० मराठी में बाबूनि "सिबाय" छिक-ठीक 'छोड़ते हुए' सब भी मुख्य रूप में ही बनता है। बंगाली में कहते हैं मधुरपुरेरे मासे और बन् ^ब मासे किन्तु केवल हान् दिमां बेक ^ब मोर् ^ब ठायि किन्तु मामा छाड़ा।

परसर्ग। संबंधवाची विशेषण

परसर्गों का कार्य भी निश्चित है उनका सम्-स्युत्पत्ति-विचार की दृष्टि से विभाजन करना केवल देय रह गया प्रतीत होता है। यह निश्चित होना चाहिए, ताकि परसर्ग-त्मक सर्वों की स्वतंत्र सत्ता की रक्षा हो सके और फेंच परसर्ग de depuis, parmi, sauf, pendant, hormis आदि की भांति उनमें स्पष्टता जा सक। किन्तु ऐसी बात नहीं मिस्ती एक बहुत बड़ी संख्या में भारतीय शब्द केवल व्याकरण-संबंधी साधन की भांति हैं। इस विशेषता के कारण उनमें एक ध्वनि-संबंधी ह्रास थापा जाता है जो कुछ एकमूलक जिभासी शब्दों में दृष्टियोचर होता है। सिंधी भाषा और मी हि० ऊर्ध्व और पर (यह ध० ऊर्ध्व से ऐसा नहीं होता बरन् अधिकरण से निर्मित

एक सभ्य से है, प्रा० उप्यदि, प० उप्यद्। इस रूप में अधिकारण है जिसी माया ओष्य तुक० आत्माक अया० म० बरिं) सिना गाट्'बे वंवेए में एक ही धब्ब दो मात्र है। इस ह्रास का प्रमाण यह हुआ है कि इन परसर्गों का धब्ब-भ्रुत्पत्ति-विचार की दृष्टि से व्याख्या प्रायः कठिन या असंभव हो जाती है।

स्पष्ट दार्ष्ट्यों और क्षीयता प्राप्त दार्ष्ट्यों जिन्हें व्याकरण-सबषी साधन मात्र बना वाला गया है में भेद के कारण बेयाकारियों ने अनिश्चित प्रत्ययों या उपसर्गों और "परसर्गों" का भेद उपस्थित किया है। इस भेद सैद्धान्तिक भूम्य रहित वा ता भी एक वास्तविक आधार इस दृष्टि से है कि उन्निष्ठित विषयों द्वारा कुछ ऐसे धब्ब जाने जा सकते हैं जिसकी स्वतंत्र धत्ता है जैसे क्य० मन्त् जिसका अर्थ "बीज" होने के साथ 'मि' भी है, जब कि अन्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे ही म० धिमी का हि० को ब्रज धी० से गु० ने हि० ने। एक मात्रा से दूसरी मात्रा में अथवा स्वयं एक ही मात्रा में उन सबके विविध रूप मिलते हैं क्य० वेद्^र कधि० वेद्^र अया (पुच्छ-) म० पाप्ति अधि० हि० पास् की भाँति किन्तु पासूत् अया० (पापब) सिधौ से हि० से ब्रज सो बंगाली के हि० का।

इसके अतिरिक्त यह परिणाम निकलता है कि परसर्ग न तो विशेष्यों से हैं न क्रियामूलक विशेष्यों से किन्तु कुछ-कुछ उन विशेष्यों से जो "संबन्धित" का अर्थ प्रकट करते हैं, और उस संज्ञा के साथ साम्य रखते हैं जिसका विज्ञान क्य जो उनके साथ जाता है, पूरक है। इसी को प्रचलित व्याकरणों में "संबन्ध" कहा गया है।

मध्य युग से संबन्धवाची विशेषण का प्रयोग प्रचलित है

पु० म० (ज्ञान०) जया जया इन्द्रियां जया जटा तयाशिव दिधि जपनेमां चं पाप्ति।

तुलसीदास सन्तनु कर साथ जा करि तई बासि।

नाल बंद गौर सोन्व^च बनून् दपे सखे प्रहे।

भाषुनिक उदाहरण

सिधी भर जो मणि 'घर का मासिक'।

धरम्^र जो मणि 'घरी का मासिक'।

मुरस जी जोए।

मुरसन्^प नू जायू।

प्रियां सन्ने पाद्^म।

हि० कुत्ते का सिर् ।

कुत्ते के सिर् पर (जिसमें विहृत रूप की भाँति सिर् का रूप ठीक परसर्ग द्वारा देना जाता है जो उसके साथ साम्य रखता है) ।

सर्तीय० गोपाल् क्त् सरिका ।

गोपाल् के सरिका ।

गोपाल की लौकिया ।

गोपाल के करिक के ।

इसी प्रकार हि० म० वा (बी ने) गु गो राज रो सिषी जो प० वा यूरोपीय जिप्सी-भाषा 'को' अथवा 'केरो' कर० होनु समस्त स्त्री० बहु और एक सहित उक्त^र और उक्त^र केवल पु० एक० में मिलते हैं अन्त में क्युत् से अधिक विशेष रूप में उक्त^र का घोटन होता है, तुल० स इत्य-। बंगाली में सामान्यतः अन्वय रूप विशेषण "संबंध" -एर् उड़िया -आर् से बने प्रत्यय को स्पष्ट करता है ।

इस विशेषण के प्रयोग के कारण "सामासिक परसर्ग" की रचना संभव होती है जैसे फ्रांसीसी में *au* के निकट *au dessus de* है जैसे ही हिन्दी में 'पर' के निकट 'के ऊपर' का प्रयोग होता है जिसमें द्वितीय अंश विशेष्य है जब कि मराठी में अधिकतर पार्श्व अपवाहण पार्श्व^र सीधे विहृत रूप के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं हिन्दी में 'के पास' का प्रयोग होता है ।

इसी प्रकार सिषी 'जि आगे' बं -एर् बाहिरे, -एर् भीतरे । वाक्य-विस्तार की यह प्रणाली हिन्दी में विकसित नहीं हुई और वह विविध विशेष्यों को अधिकतर अक्षरसी-अरबी को आत्मसात कर लेती है ।

अस्तु, संबंध प्रकट करने वाला परसर्ग विशेषण है । अथवा यह विशेषण उस मूल के कारण हो सकता है जो मामलात पूरक से बनता है और जो प्रायः विहृत रूप में मिलता है ।

तो भी मराठी में (घर् वा बघ वा) और राज० म (देव तने प्रासादि) देवतनी कुमुम तनी बुष्टि, और पूतरी भोर, परिज मुग्या तमु तनी ["उनके (१४) परिज (१) मुने गये हैं (२) "] बानों रचनाएँ अपवाह-रूप में मिलती हैं ।

आधुनिक युग में संबंधवाची विशेषण में न केवल विहृत रूप से बल्कि परसर्ग वाले समुदायों के साथ सम्बद्ध होने की संभावना रहती है, और यह कुछ परसर्गों के अनुकरण पर जैसे मुजराती में कहा जाता है निघन् मां पी कहा जा सकता है परमां-नी छोकरै या देग्नां-न लोको और मराठी में चारिं चां त्या दिवसिं चां ।

निश्चित रचना या संघट आदित-वाक्य-वाचना विषयका भाषे प्रस्तुत उठेया के ब्रह्मण की पूर्ति करती है।

इस प्रकार आधुनिक रूप-रचना को कारकों में स्थित होने की प्रवृत्ति प्रकट करती है किन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं हो पाया तथा दूसरी ओर उनमें विद्वत् रूप निर्धारित करने वाले बाह्य वाक्य सामान्य नियमानुसार परम्परागत क्रिये सभ्य तो नवीन रूप-रचना फिर से प्रत्ययों के संज्ञा-रूप ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्रकट करती है। पद्यत विवाह क्रम के संबंध में खाते समय मूल विकल्प हा गये विद्वत् रूप "भूमों" पर आधुनिक प्राचीन प्रकार की रूप-रचना की संभावना सोची जा सकती है किन्तु जहाँ तब संज्ञा-रूप के योग्य बना रहा संवत्सारी विशेषण उसे पर प्रत्ययों में स्थान देता है उनमें यह एक कठिनाई है। अथवा अन्वय-रूप प्रत्यय या उपसर्ग द्वारा विभिन्न रूप में प्रकट होने वाला नामवाचक प्रभाव बहुत कम दिखता है सिद्धी से (युं) अस्तु व ईशक्ति वृत् (भावात् ?) तोरवासी स वि एक मध्यवर्ती भाषा में मारवाड़ी र, तुल० पु० रा० वन रू पीछाई "प्रताताम् पीडा"।

अन्तु, प्रधाती एक स्थायी संतुलन के निष्पत्त नहीं है।

विशेषण

विशेषण की कोई विशेष रचना प्रणाली नहीं है। संज्ञाओं के मूल या व्याप्ति प्राप्त होने के अनुसार उनका रूप ही संज्ञा है (संस्कृत या मुसलमानी भाषाओं से ग्रहण किये विशेषण प्रथम वर्ग के हैं) स० उन्च हि० ऊन्चा स्त्री० ऊन्ची।

अपवाद रूप में वच में विशेषणों का व्याप्ति-प्राप्त रूप पु० एक० संज्ञाओं से विभक्त है जलीमङ्ग में छात्रे बेटा आगरा में कहुरी छात्रा। यहूत ता उने समुदाय गत रूप के परिष्कार-स्वरूप देखने का लोभ होता है मूय में भी एक ओर तो विज्ञाप्य करण और विद्यामूलक मन्त्र के रूप में एक मात्र वृत्त पाया जाता है, और दूसरी ओर मन्त्री-म् समुदाय में निहित वृत्त। किन्तु यह मूल वच के संबंध में साम्य नहीं होता विशेष में विद्यामूलक रूप जैसे वृत्त के अन्त में उसी रूप का समुदाय आता है जिस रूप का विशेषण छात्रे बेटा चस्पी गयी। इसमें दो प्रकार के विभक्त-रूप मिलते हैं उन संज्ञाओं के जो अन्य शक्तियों से हास ही में ग्रहण किये गये हैं, द्विती-संज्ञा की प्रकार के।

एकस्यता

जिन भाषाओं में व्याकरण-संबंधी विंग स्वीकृत है, उनमें त्रिग-संबंधी एकस्यता व्याप्ति-प्राप्त रूपों में मिलती है और साथ ही मूल रूपों में नहीं नहीं उनमें अन्य स्वर

सुरक्षित रहता है सिंधी उमिर्द् बीसास अ (पु० बीसास^४) इसी प्रकार तुम्ही-
बास में बाहिनि अर्थात् और उपसर्ग^५ वहि जिनमें केवल विशेषण न लिंग भिन्ना है।
छत्तीसपुरी में यह प्रयोग सुरक्षित है पाठन् पाठर्^६ (तुळ० पाठको पत्र से उत्पन्न)
नीक् नीक्^७ (कारसी शब्द) किन्तु व्याप्ति प्राप्त विशेषण में स्वर दीर्घ है बोरा
बोरी। और यही कथा में भी एन् डेगेर्द अर्थात् 'एक बुग सडका' एन् डेगेरि जुक
"एक बुरी सडकी"।

बंगाली वैसे प्रसिद्ध भाषा में अर्थ के अनुसार संस्कृत अन्त्य-रूपों का प्रयोग होता
है सुन्दर्द बालक सुन्दरी बाळिका परम भिन्न परमा शान्ति।

सामान्य रूप में ऐसा प्रतीत होता है जैसे दीर्घ रूपों का विस्तार आधुनिक हो
हिन्दी में पुस्तिका के बजाय मूख रूपों को अधिक पसन्द किया गया प्रतीत होता है बिमकी
रचना में सन्नेह बना रहता है अभ्यन्तर्द संस्कृत समास किन्तु तदुमब में आभा
बाह में बाष् सष् है किन्तु सष्पी बाष् 'सष्' वैसे शब्द विशेषणों के अर्थ से हटकर
संख्यावाची संज्ञाओं में चला जाता है। एक स्पष्टता और अन्तर उपस्थित करने की
विशिष्टता की शक्त मिटती है दूर किन्तु दूर का की कान् कामा (असाधारण
रूप से कामजुमापी)।

विशेषण के विशेष्य की भाँति निर्मित होने के कारण ऐसी वाधा नौ जाती है कि
उसकी रूप-रचना विशेष्य के समान हो (ता) एकस्मता मूख रूपों या व्याप्ति-प्राप्त
रूपों के बीच स्थापित हो सकती है हि० मीठे बचन् से हि० काले बोड़े को म
कामा बोइया-न् म बच पाप्या न। वास्तव में वह पूर्ण एकता जो संस्कृत में आदर्श
की केवल कुछ ही भाषाओं में भिन्नी है कम्पीटी (बडिस् बज्ऐपटिस् मन्स् स्त्री
बज्ऐ यीबिये मन्स् बाही माही) सिमी [छावे दिह^८ केतिर्द^९ उमिर्द्^{१०} जो (पु)?
घोरन्^{११} डीहन्^{१२} क हमां पो] पञ्चाबी और गुजराती (ई नामजात बहु के प्रत्यय
या उपसर्ग -ओ का भाववाचक रूप करते समय)। छत्तीसपुरी में सामान्यतः संज्ञा-रूप
प्राप्त करने वाले विशेषणों के रहने पर नामजात रूप-रचना के बीच ही जाने का
व्यवहार भिन्ना है।

किन्तु स्वयं सिंधी में बहुवचन के स्थान पर एक विद्वत् रूप का प्रयोग होते देखा
जाता है बूड (अथवा बुडन्^{१३}) नबितन्^{१४} ब। हिन्दी का प्रयोग इस प्रकार है
काले बोड़े को काले बोड़ा की काली बिन्नी बिन्सियो को। इस सरसीकरण के मूल

में ध्वनि-संबंधी विपरीकरण की असम्य मिस्रती है जो उस युग से पहले उत्पन्न होता है जब कि विद्वत् रूप बहु० का अन्त्य * -धी मन्द पड जाता है * कामयीं षोडश्यां > * कालय षोडश्यां > काले षोड(यु)रै (अथ षोडशै) । क्योंकि समवाय न होने वाले परिवर्तन के कारण वास्तव में ऐसा होता है इसी से यह तथ्य प्रवर्धित होता है कि बहु केवल 'पीछे फूलों-वाला मन्दा' प्रकार में ही उत्पन्न नहीं होता बल्कि विशेषों में भी हम् वच्चे लोगो को (हम-वच्चे विद्वत् रूप एक० अथवा मुख्य बहु० ? -नेस् विद्वत् रूप बहु०) लड़के और लड़कियों के लिये [लड़कों के लिये (प्रत्ययगत विद्वत् रूप एक० अथवा मस्य बहु०) और लड़कियों के लिये (विद्वत् रूप बहु०)] और विशेषतः एक स्त्री० संज्ञा में 'बाते बातो मे' [प्रत्ययगत मुख्य बहु बाते ने म्मान पर बाते बातो (विद्वत् रूप बहु०)] । इस अन्तिम उदाहरण से मन में यह आता है कि पुस्त्रिय में एक अथवा विद्वत् रूप पर किस प्रकार मुख्य बहु० की नीति बिचार हो सकता था 'बोड़े' में ही मुख्य है ही सर्वनाम वाले समुदायीकरण की गणना करना भी आवश्यक है 'हन् लोगों ने' जो 'हन्हीने' से भिन्न है और हम् जो मुख्य या विद्वत् रूप हो सकता है हम् जोस् हम लोगों ने 'काही विस्त्रियो' तक तो मुख्य में प्रतीत होने वाले विद्वत् रूप एक० 'काही बिस्त्री' से अलग होने में स्पष्ट हो जाता है अथवा मुख्य बहु काही बिस्त्रियां' से अलग होने में किन्तु स्वयं इसका तो निर्माण समुदायगत शब्दों के विपरीकरण के सिद्धान्त का अनुसरण करने के कारण होता है ।

अन्त्य विशेषणवाचक रूप रचना का व्युत्पन्न एक दूसरे रूप में होता है यूरोपीय विपरी-माया में हित्वा की नीति है काले मनुस् काले मनुस् किन्तु पुस्त्रिय रूप ने फिर भी स्त्री० बहु० को प्रभावित किया है । मराठी में भी यही बात है किन्तु फिर भी विद्वत् रूप स्त्री० एक० में पुस्त्रिय प्रत्यय भी मिलता है ।

घिना और गवद्वती में सिम में विशेषण एकस्मता रखते हैं किन्तु विद्वत् रूप के लिये नहीं ।

धस्तु, विशेषण की रूप रचना विभिन्न रूपों में भिन्नती है इस प्रक्रिया का इतिहास तैयार नहीं हुआ ।

सुस्त्रा

पीछे की गमी आधुनिक प्रत्ययों की छोटी-सी सूची में न तो सुस्त्रात्मक न तमबन्ध के पर प्रत्यय का उल्लेख हुआ है ।

भारतीय से प्राप्त संस्कृत में वे से एक और -ईयास् और -इष्- भातु के साथ सीधे संबन्ध है इसी और -तर और -उम विशेषणों से उत्पन्न हैं य अन्तिम या अधिक स्पष्ट

हैं नवीनीकरण संस्कार में अधिक सामान्य हो जाते हैं। प्रत्यय-वर्ग पाणी में बने रहते हैं। किन्तु यह बता देना भी कामनामक होगा कि पाणी और अपोक्त ० में केवल -तर ही रचनात्मक है। (अस्कुन और वीमेकि क-स्त्वम् मुक्त व्याप्ति-प्राप्त विशेषण तो फिर, तमबन्त पर-अप्रत्यय से मुक्त न होकर, किन्तु वीसा कि भी गौरीसुटिर्ण को दृष्टिगोचर हुआ है स्वान्-धातु से सम्बद्ध एक रूप से मुक्त साभिध्य-मुक्त होयि)।

किन्तु स्वयं तुलनात्मक पर-अप्रत्ययों को आधात पहुँचता है। पाणी की अपेक्षाकृत हाल की सीमा में एक नवीन सूत्र मिलता है अर्थात् अधिकरण में तुम्हना के बंध के साथ विशेषण के सामान्य रूप एतेसु कन्तरं नु खो महन्तं अथवा अपाधान में सन्ति से व्यतिथी बहु (महाबंध काशी बाह का पाठ)। यह दूसरा सूत्र वा विशेष अत्यधिक सफरता प्राप्त हुई। बहु इति सूत्र के अनुस्यू है और फिर मुष्ठा में मिलता है, जिसमें बहु संभवतः आर्य प्रमाण के कारण है क्योंकि सोरा में बहु नहीं है और किसी दूसरे रूप में मुष्ठा में उत्कर्ष-भूषक मध्यवर्ती-प्रत्यय है।

'अस्म होता' का अर्थ प्रकट करने वाली अनिर्णयता स्वभावतः अस्म-अस्म भाषाओं में अस्म-अस्म है उदाह० हि० से गु० बी पं को छतीस० 'जे' बंगाली होइते बाकिया घिना बंधो लोर० केवा अस्कुन ठे सिहली सिट। अन्य अनिर्णयभाएँ हैं: कब किसेए, जोत जो खस् के इन्त का अनियत रूप है (खस् का मूस ईरानी है वे० हॉर्न 'खस्' शब्द के अन्तर्गत) बिहारी और पु अरबी बाहि बं० बाहिया में मन्वा।

यूरोपीय जिप्सी-भाषा में केवल एक पर प्रत्यय है जो उसने ईरानी से ग्रहण किया है और जो मकारात्मकता के साथ रहता है 'छन् तु बरुबलेबेरु न मे' और साथ ही भारतीय 'बरेबेरु न तुते' में अपाधान के साथ "बड़ा नहीं तुमसे"।

सबभवाधी तमबन्त भी बराबर सामान्य रूप द्वारा व्यक्त होता है, किन्तु "सबकी अपेक्षा अधिक" अथवा 'सबमें' का अर्थ प्रकट करने वाले शब्दों के साहचर्य में तुल्य पाणी सम्बन्धित अर्थात् 'सब भ छोला' हि० में पर सद् से ऊँचा है, इन् पेड़ों में बड़ा येहि है।

यहाँ तक पूर्व तमबन्त से संबंध है सबसे अधिक प्रचलित सूत्र है 'आपुति' हि गरम् गरम् इद् बं० भास भास कापद्। 'बहुत' का अर्थ प्रकट करने वाले क्रिया-विशेषण का भी प्रयोग किया जा सकता है पु० म० बीर् हि० बहुत् निहायन् कर० छेठा गिहमी इता बड़ा का अर्थ प्रकट करने वाला विशेषण चायद ही कभी स्वान प्राप्त करता हो हि० बड़ा ऊँचा न मोठी काम् काठी तुल मिथ या संयुक्त विशेषण चाङ्गला दाहाया।

विस्तार महत्त्वपूर्ण नहीं है जो बात महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि विशेषण का केवल एक ही रूप है।

बिभेद्य का निर्धारण

संस्कृत में उपपद नहीं है। तो भी सर्वनाम स का आबुसिमूलक मूल्य बहुत ही घट मिटा हुआ दिखाई देता है महाकाव्यों में और विशेषतः बीड़ पाठों में वह वास्तविक उपपद के रूप में आता है।

उपपद और निश्चयवाचक के बीच की मध्य स्थिति आज भी एक से अधिक मापाओं में दृष्टिगोचर होती है। किन्तु समस्त भारतीय-आर्य मापामों में केवल यूरोपीय बिन्धी मापा ही एक ऐसी मापा है जिसमें वास्तविक उपपद मिलता है, स्पष्टतः ग्रीक प्रभाव के अन्तर्गत। अस्तु, सिद्धान्तगत भारतीय आर्य संज्ञा-निर्धारण के प्रति उदासीन रहता है।

दूसरी ओर निर्धारण अपने को स्वेच्छापूर्वक एक-द्वारा प्रकट करता है यह प्रयोग दूर की चीज है अर्थात् से ही यह एक का अर्थ 'कुछ' मिलता है महाकाव्यों और विशेषतः पाठकों में अनिश्चयवाचक के रूप में 'एक' का यथेष्ट बड़ी संख्या में प्रयोग मिलता है। आज 'एक' की अनिश्चयवना अनिश्चय है और वह सिद्ध ही में (मितिहेक गमद् इयं समुदायगत रूप रचना चकती है) और मूली में (कुरि-क 'एक स्त्री' कुरि "स्त्री" को ए-कुरि "यह स्त्री" से अकथ है) परसर्गात्मक रूप में आता है स्वभावतः यहाँ इस प्रत्यय या उपसर्ग के अस्तित्व बिभेद्य का निश्चित मूल्य है। कश्मीरी में जिसमें -आह जो कर्ता एक अनिश्चयवाचक के बाद आता है अनिश्चय नहीं है पुष्पक हुआ बिभेद्य भी उसी के द्वारा निर्धारित नहीं होता।

तो भी निर्धारण की कुछ अनिश्चयवाचक रीतियाँ मिलती हैं। हिन्दी सहजा सिंधी बंमाली तीराही (एक० ए० आई०, I, १ पृ० २७१) में निश्चित उद्देश्य मिलता है मुख्य कारक में नहीं किन्तु & (स पर) का अर्थ बताने वाले परसर्ग के बाद आज वाले बिभेद्य रूप में हि० पानी मेड पर रको पानी को ठण्डा करो कोई नौकर छाया नौकर को साथ साथी सिंधी कनिक के भाण्ड म मेड्डे रको। बंमाली में यह नियम केवल श्वेतन जीवों और फलतः पुष्पों के मामों में लागू होता है गोरु चरपु गोरुटा के बाँवो (टा का जो बैस ही निर्धारक महत्त्व है वे जागे) पु० व० राभा का देखिजा बड़ायि क छाड़ी इसी प्रकार गुजराती में हूँ गोपाल ने कारुहुनु ठेरुँ छुँ, राह-रह ने समान् दृष्टिए जोतो मुण्को ने पार्वा छाव मरठी में भिँ तुका एक राजा दाकविठो किन्तु आपन् राजा का जान् पाहुँ अर्थात् (सत्रीयपुत्री) में मरुतन कर्मत माद्वारत०

कस्मीरी और यूरोप की बिप्सी-भाषा में अकेले बिहठ रूप का संप्रधान वाला मुख्य है। पुस्त्यवाची संज्ञाओं के लिये वह कस्मीरी में मुख्य कर्म कारक का भी काम देता है। बाबस् माराग, बिप्सी-भाषा में पुस्त्यवाची नामों के लिये अनिर्धार्यत पशुओं के लिये कम अन्द् पानी "पानी का" कूर ई वुकसेप् 'कुत्ते को मार' अन्द् हुइ पेन् "दो बोड़ का" चारुवस ई मूरसें अरे। गूरी में नपुं० मुख्य कर्म कारक प्रत्यय-रहित है, बेटन बिहठ कर्म कारक से है। सिहसी में भी ऐसा ही मिलता है।

निश्चित और बेटन भाषों का योग भी बृष्टिगोचर होता है। ऐतिहासिक बिस्तार नहीं मिलता। यह संभव है कि पुस्त्यवाची सर्वनामों में मुख्य कर्म कारक का जमाव बिकास का सूत्रपात होते समय हुआ हो।

मबिली में ब्याप्ति-भाष्य रूप जो उसका निश्चित सिद्धान्त है, उपपद के तुल्य मुख्य पारक कर सकता है। नेन्^म का पणिठ है या बुरी नजर से देखा जाने वाला किन्तु चौह^म का अर्थ केवल प्रस्तुत 'बोड़ा' है।

छत्तीसगढी में हर् (अपर) एक ऐसी संज्ञा के साथ संबद्ध होता है जो "तपा अम बारि" कहलाने योग्य है किन्तु यह महत्त्व बोमके एक हर् में सुष्ठ हो जाता है स्वयं जोहर्, हण्हर मिलते हैं। बेरिया हर्, सूबा हर्, पर हर् में वह उपपद के रूप में आता है (हीराणाक पृ० ३७ ४१)।

जिस सीमा तक वह केवल जोर वेन की रीति का विशेष प्रयोग हो जाता है वहाँ तक बचन-युक्त संज्ञाओं का निर्धारण समीप रखा जा सकता है। हि बोगो तिगो तुक० संकड़ों (बिहठ क रूप) तुक० छत्तीस बुगो तिगो संमो और सबो मैबिली पुन्^३ अबबी शोड चारिड तुक० एकी बर् अथवा बरी से' पु राज० बिहु बिहुं बिहुं और चार बेने वाले -इ सहित अडार-इ बिपि अबबी कुत्ते मरठी बोबे तिने चौपे (संज्ञा-रूप-योग्य) मोत्रगुरी बोगो तिगो अस्पष्ट है, किन्तु उही सिद्धान्त के अनुसार बनते हैं।

बंगाळी में एक बिभिन्न प्रयोग मिलता है। वह है एक संज्ञा के बाद निर्धारण वास बिपात का टा से मोटी या मही वस्तुओं का घोटन होता है। टी से छोटी कोमल अच्ची अपने वाली वस्तुओं का मानुव एक अबवा एकटा मयवा एकटी मानुप् मानुप्टा अबवा मानुप्टी इसी प्रकार चौड़ी और लम्बी वस्तुओं के लिये (घण्ट से) बग् गाना कावड़लागि और एक बण्ड से मिलती-जुलती वस्तु के लिये (पाए) काटी-माए छरी-वाछि इङ्गि-गछि इसी प्रकार पु० बंगाळी में बाब मोटा बाँधी गुटि,

तुल० बचन-मुक्त संज्ञाओं से मैबिली तुलुं योटा यह छन्द को इसी प्रकार उड़िया में माटा है, बंभासी में केवल "पूरा, सब" के अर्थ में प्रयुक्त होता है। पूर्वी समुदाय तक सीमित यह प्रयोग अपने को भाववाचक के अवशिष्ट रूप में शोषित करता है वह कोई संयोग की बात नहीं है कि बर्गीकरण करने वालों व स्वामी भाषा में उते उपपद में परिष्कृत होते पाया है (श्री तुर्न द्वारा सोसिएते व सांख्यिकीक को पत्र बी० एच० एन० XXIX, पृ० XXVI)।

सर्वनाम

पुरुषवाचक सर्वनाम

जब कि संज्ञाओं में कर्ता० और कर्म० इस रूप में कि मुख्य कारक हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है, सर्वनामों में कर्ता० और कर्म० में पुरुषत्व की दृष्टि से विभिन्न विकारण से। नामजात विकारणों के प्रमाणात्सर्वत और अन्य सर्वनामों के भी विद्येयत संयमवाचक के जिनके नियमित रूप से विपरीत रूप से निरवयवाचक में प्रायः नामजात रूप-रचना मिल जाती है। उदात्त और मध्यम पुरुष के पुरुषवाचक सर्वनामों में जिनमें बड़ी प्रमाण इतना कम दृष्टिपोषण होता है कि वे सर्वनाम कस्तुओं के अर्थ में व्यवहृत नहीं हो सकते कर्ता० का अन्य कारकों में विरोध होता चला आ रहा है।

किन्तु फिर मुख्य कर्म कारक में मौल्य कारकों से मिल जान की संभावना भी अस्तुन में प्रायः एक उदाहरण से यही परिणाम दृष्टिपोषण होता है। इना ठी सानुमिसे ऐ ती पस प्रम् अथवा ती-अ व की भाँति। इस विकारण का प्रारंभ निस्सबह प्रययाप न., व का वह प्रयोग प्रदर्शित करता है जो उन्नी समय वैदिक का और इस दृष्टि से संस्कृत में अधिक संयमित किन्तु जो कर्म साम ही संबंध० और संघटन० मूल्य छद्मि मध्यकालीन भारतीय भाषा के 'मे ते' द्वारा भली भाँति प्रमाणित होता है। यह देखा जा चुका है कि प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा में कर्म० मर्म० या संघटन० मर्म के अनुकारण पर म के निरुद्ध है। यह के अनुकारण पर प्राकृत में यह और मिलता है। यत्त में अपभ्रंश म मई (हि० मी) है जो कर्म० है।

अपने में यह कर्म० और विद्वत रूपों की गड़बड़ उन्ही भाषाओं में कठिनाई उपस्थित कर सकती थी जिनमें संज्ञाओं का कर्म० उनके कर्ता० के समान था। परसर्गों के प्रयोग के प्रचलित होते समय यह संभवतः पुरुषवाचक सर्वनाम के मुख्य कर्म कारक तक "को, लिये" (à, pour) का अर्थ प्रकट करने वाले परसर्गों के प्रसार की निषेधकारी स्वतंत्रियों में से एक थी है। हि० 'को' जाति इस प्रयोग में ही फिर सामान्यतः वाच्य-विचार

में चेतन और अचेतन संज्ञाओं का श्रेष्ठ प्रकट करने की प्रवृत्ति को सूझ किया है० ऊपर।

दूसरी ओर प्रमुख-अमुख रूपों में कर्ता० को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। उसी के कारण पायी में है ही अन्धे तुम्हें [अधोक मये जो पायी मय है और तु(प्) फे] बिनमें बहु० में प्राकृत भाषाओं में एक अधिक नियमित विशेषता पायी जाती है। आधुनिक भाषाओं में म० भी हि में आदि मूलजाहिक क्रियाओं के साथ सामान्यतः करण मुख्य कारक में हो जाते हैं।

एकवचन

उत्तम पुरुष

संस्कृत अहं का प्रतिनिधि अपना उचित रूप में मध्यकालीन भारतीय भाषा अहं का प्रतिनिधि अब भी कुछ भाषाओं में मिलता है। पं० और ब्रज हूँत पु० पु० हूँत हूँ हो जाता है। मारुती मारवाड़ी हूँ कोंकणि हाव् प्राचीन पं हूँ (हूँ) जिसका स्थान मई ने ले लिया है। सिंधी आऊ, आँ पछाई, गबर्बती छोरबाणी कलास आ तीराही बजो खोबार बाब।—कती उने ऊँ प्रबुम उन्बू जो कल्पित *वसम् का प्रतिनिधित्व तो नहीं करते? अस्तुन ऐ, वीग के संभवतः निरचयवाचक है कर० योंह वस्पट है।

पं० मई (और कहवा मई) मूलतः करण० ही है (जो अपभ्रंश में ही कर्म० में वृष्टिगोचर होने समता है)। यही रूप फिर ब्रज जयपुरी और मेवाती बजबी में पाया जाता है। पु मीबिबी भोजपुरी में (छोटों के बारे में कहते समय) 'मै' है। निस्सन्देह यही रूप प्रकट होता है म में 'मी ने में 'म' (उच्चारण करते समय अनुनासिक) पूर्वी समुदाय में विद्वत रूप मो- पर आधारित एक सदृश रूप है। पु० बं० मोए, ब मुह, समामी में उड़िया मुं।

यूरोपीय जिव्ही-भाषा में नूटी बम समान बहु० अने से मित्र द्विना म स्पष्ट नहीं है। हर ह्यस्त में वे निकलते बराबर हैं विद्वत रूप से।

पंजाबी में कर्तुं और कर्ता० मई का विद्वत रूप मै मे से मेह है। पु० में भी विद्वत रूप म से मित्र 'मै' कर्तुं है।

अनेक रूपों की उत्पत्ति विद्वत रूपों से हुई है।

नूटी-न् (कर्ता में प्रतीत होने वाले बम के निवृत्त) सहृदा-न् सिंधी-न्^५ कर० मूँ, -न् पमई मे -न् तीराही छोरबाणी में प्रयुक्त-न् सं० प्रा मेका प्रतिनिधित्व कर

सकता है। वीच स्वर-युक्त अथवा परपरगत रूप सर्वनामों में स्पष्ट किम वा सकने वाच्य प्राचीन रूप होने चाहिए। किन्तु तोरबासी में कर्ता० वा ऐ, विहृत रूप में के सर्वाप कर्म० मा है। यह संभवतः प्राचीन संबन्ध० मह है जो विहृत रूप में पु० म० मा गु० मासमी औपुरी म सिपी बोनी महुँ कोंकनि मोञ् के निकट मा- लोभार म तीणही म के निकट म में बने रहते हैं तुल० अरहुन इम संबन्ध० (किन्तु क्या वा विहृत यूँ का प्रतिनिधित्व करता है ?)। इसके अतिरिक्त मह अपभ्रंश में महु वा वा सिपी महुँ औपुरी मेवाती यूँ बज बुन्देसी पूर्वी हिन्दी बिहारी बगामी आदि में पाया जाता है (बज बनेनी मैयिनी भोजपुरी मोहि नामवात विहृत रूप का प्रथम -हि है)।

अन्य संबन्ध० प्रा० मञ्ज भास् म निरुद्धा है, गु० मञ् कोंकनि मोञ् मेवाती मुञ् बज और हिन्दी मुम् (तुम् से प्रभावित स्वर)।

उत्तर-मिथिल में कर्ता० में के विपरीत ई, कर्ता ई और साथ ही यूँ संबन्ध० इम अयम् जो फिर अहम् की ओर स्थान आह्वय करते हैं साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा में कोई पञ्चम अत्र प्रतीत नहीं होती है। प्रत्येक स्थिति में कर्म० कर्ता -ई, -ई -अ सर्वनामों में नहीं हो सकते।

सर्वनामों के प्रत्येक रूप हैं विहृत रूप के तो उदात्त हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त सिपी -सूँ कर्म० -सूँ मिलते हैं जो अस्मि का प्रतिनिधित्व करते पाये जाते हैं।

सिंहरी म कर्ता की भाँति मम है, जो संस्कृत संबन्ध० प्रतीत होता है, और जो विहृत रूप मा के निकट प्रतीत होता है। पर्यई मम् कर्तृ का जो विहृत रूप में के निकट है, वही कर है अथवा उसके उत्पन्न होता है।

मध्यम पुरुष

मराठी कोंकनि सिपी महुँवा पंजाबी तू, गु० तू, अरबी तु, यूँपीच जिप्सी-भाषा तु, कजा कर्ता० तू, विहृत० तू नृपी अनु के संबन्ध में कोई कनिनाई नहीं है। किन्तु यदि यह कहा जाय कि सिंहरी 'तो तब' पर आधारित है सफ़ता है तो साधारण पञ्चमवी कलाता तु, पर्यई तो तोरबासी तु (मा, ऐ के आधार पर निर्मित त तै क निकट) तीणही तु तो, पिना तु, कर्म० तू का मूल निश्चित करन का माहस नहीं हाता।

विहृत रूप में वे रूप जो भारत क्रमुख्य भाग में प्राय मिलते हैं तुम् और तो हैं जो प्राहत तुम् और सं० तब पर आधारित हैं। पर्यई -ए (बन्-ए) नृपी -ए, सिपी -ए, महुँ -ई, सं० प्रा० त के साथ अपने वाले प्रतीत होते हैं। किन्तु प्राहत तए के निकट रूप हैं जो पु० कर० तौयें आहु० एएँ (किन्तु प्रायचीन -ए, -ए) की मान दिखाते हैं।

शीराही	सेन् विहृत म्या	ठा
छोर०	मो	मो तो
गर्बी	संबं० मो	संबं० धा

निस्संभेह् सिद्-धनि और शकार धनि के अन्तर से ही कड़ी एम ऐ (ईरानी विशेषता का रूप किन्तु जो समीपवर्ती ईरानी बोधियों में नहीं पाया जाता) बराबर स्पष्ट हो जाते हैं।

किन्तु उत्तर-पश्चिम में कुछ अस्पष्ट बातें मिलती हैं। लोकार इत्य (अन्त्य ?) पिस प्राचीन विस (य + *स्म्य ?) कलाश भाति 'हम' और 'तुम' विहृत० ? होम + मीमि। इस अन्तिम समुदाय से गर्बी १ अम २ से की और ध्यान जाता है पसई १ हम २ (ह)एमा। निश्चयवाचक के प्रबंध भी अलक दृष्टिगोचर होती है जैसे वैनेति मेम पुम ये का बहु० विहृत० हैं से अं० इमे की ओर ध्यान जाता है जब कि तु का बहु० जो 'बी' है, बीम बही बच्छी वरत्त से मुपम् (अथवा व जिसक कारण वृद्धी और वयम् का प्रचार बन्द हो गया ?) को जारी रख सकता है। विपयंसत वप मे प्रशुन में भी से बिभ विहृत० यम् (पुमम् मुप्यत्) उत्तम पुष्य मे बास्तविक संबंधमों से मिलते हैं एक० उन्नु विहृत० उम् बहु० असे विहृत० मत्।

उम मापामों में जिनमें नामजात-पूरक ब्रह्मा के बाद जाने वाले संबंधवाची विशेषण द्वारा प्रकट होता है, संबं० का संबं० स्वच्छन्दतापूर्वक स्युपन विशेषण द्वारा प्रकट होता है।

एक वचन में मराठी में विहृत० के विकरण माम् तुन् के आभार पर मात्रा तुष्ठा है किन्तु बहुवचन में उसमें संज्ञाओं की भाँति माम् वा तुम वा मिलते हैं।

विशेषण का अत्यधिक प्रचार संबं० से उत्पन्न एक रूप पर आधारित है जो सं० मामक- वाकक-नहीं है किन्तु एक सद्यः सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए *ममकर अथवा *महकर (अप० महार) है जो अंत में विहृत० के साम संकरता स्थापित कर लेता है। जैसे माल्मी मारवाही म्(ह)मारो मु० मारो, ब्रज मेरुवी मेठी मेवाठी कनीबी नैपाबी मेरो, पं० हि० धेरा यूरोपीय बिप्पी-ध्यापा मीरो (नूरी मे वास्तविक संबं० का प्रयोग होता है) पूर्वी हिन्दी पैबिली, बंपाली मीरु।

सिन्धी में सभी संबंधमों का संज्ञाओं की भाँति व्यवहार होता है। इसी प्रकार कश्मीरी में जिनमें भीम ही पुस्मिम व्यक्तिवाची संज्ञाओं के प्रत्ययों म्योन्^३ सौन्^३ म्योन्^३ का रामुन्^३ की भाँति प्रयोग होने लगता है, और चौथ्य ही सामान्य संबंधवाची विशेषण का तुहोन्^३ का धूरहोन्^३ मान्होन्^३ की भाँति।

पुरुषवाचक सर्वनाम उस व्याकरण के अंश हैं जिसमें वह वात मही भाँति दृष्टि योचर होती है जिसे मध्यकालीन भारतीय साहित्यिक भाषाएँ भारतीय भाषाओं के अर्थ के रूप में प्रस्तुत करती हैं जहाँ से वे अलग होती हैं वह पूरे समुदाय के लिये समान हैं किन्तु, अन्य बातों के अतिरिक्त ध्वनि-संबंधी पृथक्त्व ने फ़रक एक ओर सिहली को स्पष्टतः अलग कर दिया है दूसरी ओर हिन्दूकुश की बोलियों को।

आबरसूचक रूप

पुरुषवाचक सर्वनामों का व्यवहार में सर्वत्र सम्बन्ध-व्युत्पत्ति विचार-संबंधी मूल्य नहीं रह गया। भारतवर्ष में परिवार में या परिवार से बाहर, सामाजिक संबंध वह सूक्ष्म भेद या अंतर उपस्थित करते हैं जो साम्बावसी और व्याकरण में एक साथ प्रतिबिंबित होते हैं जैसे एक अकेले आबरणीय व्यक्ति को संबोधित करते हुए, 'तू, तेरा' स्वभावतः बजित है कहीं-कहीं पर "तुम" दृष्टिपोचर होता है और मध्यकालीन भारतीय भाषा में तो मध्यम० बहु० के सर्वनाम द्वारा प्रकट किया गया मिश्रता ही है, अन्यत्र ऐसी संज्ञा द्वारा— महराज् हुनूर, साहेब साहि (तुल सं० मबन्द्) जो प्रथम पुरुष से बने हैं (सामान्यतः बहु में)। अंत में एक अकेला आबरणीय व्यक्ति संस्कृत आत्मन् द्वारा प्रकट हुआ है, जिसका मूलतः अर्थ "आत्मा व्यक्ति" होता है और जो साथ ही तीनों पुरुषों में प्रतिबिंबित अन्य सामान्य प्रयोग में आता है, किन्तु कारकों का अनुसरण करते हुए जिसमें 'हम' 'तुम' 'वह' होने चाहिए और भाषाओं के अनुसार जिनकी विविध रूप में रचना होनी चाहिए।

सिहली में 'तो' उब और अमर है उर्बे अथवा नुब का प्रयोग बराबर बालों में होता है (प्रथम पुरुष में) तथा (आत्मन्) तमुसे आबरसूचक है वे 'बहन से' क साथ आ सकते हैं।

मराठी में माही का मी के संबंध से वही रूप है जो फ्रेंच में nous का je के संबंध से है इसी प्रकार 'तुम्हीं' vous की भाँति है जिसका प्रयोग उन सब के लिये होता है जो परिचित या निम्न नहीं हैं किन्तु बड़े के लिये संबोधित 'तुम' (vous) आपन् द्वारा प्रकट किया जाता है और किया बहु० में मध्यम पुरुष की होती है। इसी प्रकार गुजराती में तू केवल प्रानीयों में बड़ों के लिये प्रयुक्त होता है तमें सामान्य रूप है आदरार्थ आप् और बहु के मध्यम पुरुष का प्रयोग किया जाता है।

हिन्दी में मी ऐसे ही भेद मिलते हैं किन्तु आप् की रचना बहु० के प्रथम पुरुष में होती है। उद्यमें स्वच्छन्दतापूर्वक हम् (उत्तम पुरुष बहु० की किया के साथ) का प्रयोग एक व्यक्ति के लिये होता है और जिसमें वह भी भावना नहीं होती। इसी प्रकार

कञ्जीनपुटी में मैं कहूँ की अपेक्षा हम् कह्म् अधिक प्रचलित है। तुह का प्रयोग छोटे बच्चों और बर के सबयुक्तों के लिये होता है। किन्तु अधिक उम्र वाले लड़क या लड़की के लिये तुम् का प्रयोग होना, आधु बहुत कम मिलता है और एक शब्द-सा रूप खपता है, वह बहु० के मध्यम पुंस्य में ख़ता है।

छत्तीसवर्षी में आरम्भ नहीं मिलता इसके विपरीत यह एक बर्बद बात है कि उसमें तह्, तु(ह) के समीप का प्रयोग विशेषतः नम्रतामूचक है मुख्यतः संबंधित परिचार के लोगों में बहु० में तुम् है। इसमें पड़ीसी विहार का प्रभाव प्रतीत होता है। वहाँ एक और नयी प्रथाकी दृष्टियोग्य होती है। मैथिली में प्राचीन सर्वनाम 'मे तु' लुप्त हो गये हैं और उनके स्थान पर हम्, तोह ख़ पये हैं जिनका एक नया बहु० बनाना और सम् शब्द जोड़ना आवश्यक हो जाता है, जिससे भाषा के समी बहु० बनते हैं, साथ ही निश्चयवाचक भी (ह, एह^र इ सम एह^र सम् एकर, एह^र समर) कलात हम् सम् तोह सम् इनसे आदरमूचक सर्वनामों अहाँ अपने जाति को कोई क्षाया नहीं पहुँचता।

भोजपुरी में प्राचीन सर्वनाम लुप्त नहीं हुए। इससे एक दुबल प्रगाती दृष्टियोग्य होती है

(निम्न) में (उच्च) हम् (निम्न और उच्च) तू तें

(.) हम्नीका (.) हम्रम् (निम्न) तोहनीका (उच्च) तोहरत्

जिनमें जुड़ जाते हैं अपने बहु० अप्तम् और रत्तवाँ अबदा रौरा (रात्रिरात्र) बहु० रवम् अबदा रत्तरत्।

बंगाली में जिसमें मूढ़ घामीय हो गया है और तुह अनजान-मूचक (केवल छोटे या स्थिति में निम्न व्यक्तिओं के लिये प्रयुक्त हो सकता है) अप्रति सामान्य रूप आसि या मुसि है। उसमें एक नवीन बहु० की आवश्यकता पड़ जाती है आम्प तोम्प (अंतः-आम्प-सब् आम्प-सकल जाति द्वारा पुष्ट)। इसके अतिरिक्त एक नम्रतामूचक रूप है आप्ति (जिसमें सर्वनामों का प्रत्यय ग्रहण कर लिया है) जिसका बहु० रूप वतता है आप्ताप। इसी प्रकार प्रथम पुंस्य में बहु० ता(हा)र के समीप का नम्रतामूचक एक रूप है एऊ० तिति बहु० तो(हा)र जब उसका व्यक्तिजों से संबंध होता है तो समीपवर्ती निश्चयवाचक में एक० में ए ख़ता है, आदरमूचक इति (दोनों का बहु० इहाप आदरमूचक एमार) क्रूरत्व निश्चयवाचक में ओ ख़ता है, आदरमूचक उनि (दोनों का बहु० ऊहाप आदरमूचक ओमार)। उदिया में भी सपुन प्रथाकी है।

नेपाली में हम् का प्रयोग आदरमूचक एक० के लिये होता है और साथ ही बहु

के सिमे उससे एक नये बहु० की रचना होती है हाभि हव जो हम् के तुस्य है। मध्यम पुरुष में तौ प्रचलित है विभि (बहु० में क्रिया-सहित) कम एक० में *भाप् जोड़कर आबरसूचक रूप बनाया जाता है जिससे ठपेई बनता है जिसका अर्थ 'तु-स्वयं' मान्य होता है किन्तु होना चाहिए 'तुम श्रीमन्' के समान उसका बहु० ठपारैह्व बनाया गया है।

अन्त में कुछ प्रायौमिक रूपों की ओर संकेत कर देना आवश्यक है जिनका प्रयोग बात करने वाले ने सहित या रहित 'हम्' का अन्तर बताने के लिये होता है। यह भेद 'बहु स्वयं' अर्थ के दोहन शब्द में भी मिलता है गुजराती और राजस्थानी में भाप् शब्दीमपुरी में आप्ना स्वयवाची है इसी प्रकार सिंधी में विशेषण पाहा जो "हमार ('तुम' और 'हम्' दोनों में) " और मराठी में आप्ना जो आम्-वा "हमार (तुम बिना) के विपरीत है।

निश्चयवाचक और आश्चर्यमूर्च्छक

विशेषण-सर्वनामों की रचना और रूप रचना में एकसूत्रता का अभाव मिलता है। संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में प्रयुक्त प्राचीन विकरणों से तौ हम परिचित ही हैं और इन विकरणों में से कुछ कर्ता के विकरण का रूप-रचना के संबंध में विरोध बनाये रखते हैं। किन्तु कुछ ऐसे विकरण भी हैं जो संस्कृत में अज्ञात हैं और अस्पष्ट व्युत्पत्ति के हैं दूसरी ओर प्राचीन रूप-रचना में प्रायः नामवाचक रूप रचना बुलन्दी-मिलन्दी देखा जाती है जो निस्सन्देह प्रत्यवाचकों और विशेषण संबंधवाचकों के जो सामान्यतः विपरीत पड़ते हैं प्रमावाचक है।

प्राकृत विकरण से तस्य (प्रत्ययांश 'ये') आज तक विभिन्न शोधियों ने प्रकाशित है

गवरूबती	से तस (त्सुं तेन्) बहु० धमि तसु (ते+इम तन्स+तेपाम्?)
बैबलि	से तस्यै (सेजो) बहु० से ते स
पगई	ऊन् ^म उ-ती(सु) बहु० ऊन् ^म
कत्तारा	म तामे ताम बहु तेहु ताम सेजामे
खोबार	ह-स ह-ताओ बहु० ह्ये-न् हत-तन्
बहकी डोकप	सी र्थी० सा तम् बहु० ते तन्
कर०	मुह र्थी० छौह स तम् [और तमि(म्)] बहु० तिम र्थी०
	तिम तिमन् अचेतन त्रिह तम् ^र तम् (तत्र?)

वच सो त्नु, तित् वा वचु० तं (और सो) तित्
 नेपाली सो तत् बहु० ती और तिति सो प्रयोगों में
 क्रुमार्पुनी (पुरुष्य)सा और तौ (वस्तु)से तै ते वहु० ते (और सो ती) तन्
 मबमी स (और तौन्) से बहु० ते तेन् (ह)
 (तुलसीदास सो वा तामु, ताहि तेहि वहु ने और तिन्ह तिन्ह वच
 रूपों का निष्पन्न)।

इनमें से कुछ मापामों में एकीकरण के क्रम का सूत्रपात देना ही जाता है इनमें
 कर्ता० बहु एकवचन में मिल जाता है

प०	सो तित्	बहु० स तिन्ह
विधी	सो (स्त्री० सा) ताह	बहु० से तन्
तोरवाली	से तेत्	बहु० से

अन्यत्र विहित विकरण है जो कर्ता० एकवचन को प्रभावित करता है और कर्तव्य
 सत्रामों का समीकरण दृष्टिगोचर होता है तोरवाली में ते से की अपेक्षा क्रम प्रकल्पित
 है बहु तियें मण्ठी वा (जिसमें अल्प स्वर प्राचीन ही बना रहता है) गु० ते
 विहित से बहु० तेत् मारवाड़ी तिन्को जो सो के समीप है अन्त में अंगरेजी विष्पी
 माया क लि बहु० से जो सेम् (तस्य) में निकलता है।

उपर्युक्त उदाहरणों में वचनबन्धी और क्रमहीन विकरण इन का प्रबल प्रदर्शित
 करती हैं। इन मापामों में स सर्वप्रथम में स्वयं एक निश्चयवाचक है जिसमें विकरणों
 का समुदायीकरण सस्वत के लगभग बीजे ही समुदायीकरण का स्मरण दिखाता है
 एक० बोह कम कर्त्त० एन् बहु एमे अमु
 इसी से लगभग पूर्वत उत्पन्न होता है

अयम् अन्य एन बहु० इमे एयाम् (अ एक वचन में)

मध्यकालीन भारतीय मात्रा में जीवित रहता है प्राकृत इनेयाकमे (-रप-) अय०
 इमेरिन् (एरिन् क अनुकरण पर) की मांति व्युत्पत्तियों की रचना की दृष्टि से विकरण
 इम् जो सिद्धसौ में और कम्० यिम् स्त्री० यिम् बहु० भेत्त (अवतन विह) जो विह
 का है और जो एक० विहत्त० यिमिन् अह यिमि (प्रा० इमस्व इमेण) में भी दृष्टिगोचर
 होता है कदमोरी में ही उसका उपर्युक्त बहु० तित् स्त्री० तिम के और संबधवाचक
 यिम् स्त्री० यिम के साथ संबध स्थापित हो जाता है।

प्रगुन में एक ही लिंग क आपस में मिल जाने से परिचित होता आबन्धक है पु
 पु-मित् बहु० मु (अमुका ?) मित्तिन्।
 यहाँ पर संकेतित विकरण अमु कदमोरी दूषित सर्वनाम में भी मिलता है संप्र०

अमिस् बहु० कर्ता० अम् स्त्री० अम विकृत० अमन् तुल० सं० अमुप्य बहु०
अमी केवल प्राकृत में एक ही विकरण के आधार पर निर्मित कर्ता एक० का प्रयास
किया गया है, किन्तु ऐसा बहुत कम मिसता है। तो भी खोबार कर्म० एक० हम्, बहु०
हमिद् (कर्ता० एक हैम) वैगैकि विकृत० बहु अमी जो एक० ई से संबद्ध है
दोरबाली में जो केवल बहु० है अत में सम्बन्ध कटी अम्ना अम्नी जो इना इनी
का बहु० है।

अत्यन्त प्रचलित अपरिवर्तनीय विकरण एक ओर तो है ए और इ दूसरी ओर
ओ-उ पहले से समीपत्व प्रकट होता है दूसरे से दूरी (कस्मीरी में तीन ओधियाँ हैं
यिह हुस् गुह्)।

(१) प्रथम समुदाय सं एत प्रा० एत्र से निकलता है जिसके विकृत० पर
संभक्त विकरण कि- का प्रभाव पड़ा है, तुल० साव ही सबधवाचक (विकरण इ-
संबन्ध० की नहीं थी सं अयम् इवम् अस्य)।

करण का पूर्ण सामान्यीकरण गु० में हो गया है ए, बहु ए-ओ जिसमें ओ संबो०
का एक प्राचीन चिह्न है (श्री इने के अनुसार, श्री टर्नर की व्यक्तिगत सूचना)
नेपाली में एक० और बहु० ए विकृत एक० इहा बहु इहाँ। उचना संज्ञा-रूप
होता है

दोरबाली में	हे एस्- इस्	बहु	इय इये
सह्या में	ए(ह) ई इस् इह ई		ए(ह)ई(ह) इन्ह
पंजाबी में	एह इह् एस्, इस्, इह्		एह इह इन्ह एह
बज में	यह या इस्		ये इन्(ह)
सिन्धी में	ह-ए, ह इ हिन ^म ही ^उ ही ^म		हे ही हिन(अन्) ^ए

यही विकरण धिगा ओ स्त्री एस् विकृत एक० एस् बहु० एर एन् के
साक्षात् एक० के अतिरिक्त निस्सन्वेह अन्य रूपों में भी पाया जाता है। नेपाली में येस्
यस्; बहु (इन्) इन् में एक मुख्य कारक व्याप्तियुक्त रूप भारत कर केता है
तुल० पमई यो (विकृत० मी-)

सिहली ए बहु० एवहु एवुन् संज्ञाओ की भाँति संज्ञा-रूप होता है। वैगैकि ई
अभ्यय है।

(२) सिहली	ऊ उहु	बहु०	ओवहु ओवु
सह्या	ओ ऊ(ह) उम् उहु ऊँ		ओवु ऊ(ह) उन्हु

पंजाबी	मोह उह अस् उस् उं	मोह उह उह्
ब्रज	मो बहु बह वा बाहि विस्	मै व भिन्-उन्(ह)
सिंधी	हो इ हुमा हुन् ^अ	हो इ होए हुम(अन्) ^ए
नेपाली	उ उस्	उन् उन्
बंगाली	मो उह, ओहा	पु०ब० उहें उनि मो

प्रथम उक्त कर० पु० एक० हुह बहु० हुम् विहृत० हुमिस् बहु हुमन् गर्भी मोह (तुम्० बंगाली में खोर भेने के लिये मो-ह?) और विशेषतः यूरोपीय बिन्धी-माया मोह् स्त्री० मोह, बहु० जो-से भी वृष्टिगोचर होते हैं। इसी श्रेणी में अप० कर्ता० कर्म बहु० मोह, और मूरी उह स्त्री० इहि रबे जाने चाहिए, यह ज्ञात नहीं।

दोनों शास्त्रिकाओं की समानता की ओर संकेत किया जा सकता है (उपस्थानी में भी यही बात है, वे एम्० एस्० आई० IX, II पु० ९) विभिन्न प्रमाओं की समानता की शक्यता मिलती है और यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय की कुछी उपस्थान नहीं है। यह स्वीकार करने का प्रसंग होता है कि भारतीय-ईरानी विकरण अब जिसका वैदिक भाषा में केवल एक विभिन्न बिन्दु अक्षरसिद्ध रह गया है बना रहा है (इस बोधी में ऐसा तो नहीं हुआ कि वह आबन् द्वारा निकाल दिया गया हो?) शेष में उसका अम् के साथ मिश्रण हो सकता है अबना स्वर-अध्ययन प्रकट होकर लुप्त हो जाता है (विकरण अम् के बने रहने के कारण वे पीछे)। यह भी बराबर संभव है कि ये सब रूप ईरानी से आये हों पु० फ्रा० और अबेस्ती अब फारसी बो।

विकरण अब जो संभव० अस्त और करण० प्रा एम् एहि अैन अस्ति में तिहित ही वा कर्ता० में स्थित हो जाता है, किन्तु यथायक उसमें परिवर्तन उपस्थित हो जाता है अबना बहुम् जा की और लगभग पंजाबी जाह निस्सन्देह टोरबाकी जा [विभिन्न रूप में कर्ता एक० और बहु० यह देना जा सकता है बीर्मेत्त निस्सन्देह मा(अब) ए(एत-)] के कारण है और अपभ्रंश आज द्वारा प्रमापित है] की भाँति अध्यय है अबना उसकी स्थापित हो जाती है और एक ऐसा सर्वनाम उपलब्ध होता है जो संज्ञाओं की भाँति अप बारण करता है म० हा ही है बिहृत० पु एक० मा हई बहु० या हई संभवतः ग्रीक बिन्धी माया-अब् स्त्री०-ये अबना अस्त में उसकी शक्यता कुछ अनियमित उदाहरणों में मिलती है कसाघ आदि तुम्० ईमि अत बिहृत० तर (तुम्० गद् तरः?) के विपरीत।

रूप को छोड़ कर, इस विकरण का अर्थ सभी भाँति निश्चित नहीं हो पाया

गुजराती में पंजाबी में जिप्सी-भाषा में उससे पास की वस्तु का घोटन होता है इसके विपरीत सिना में जो स्त्री ए अनु की भाँति होता चाहिए।

क्या इस अंतिम में कोई दूसरा प्राचीन विकरण छिपा है? सच तो यह है कि विकरण अतः भारतीय-ईरानी में बहुत कम है, और भारतवर्ष में केवल मुस्लिम से करन० में मिलता है प्रा अथवा विकरण एन जो वास्तव में भारतीय प्रतीत होता है संस्कृत में कर्ता कभी नहीं है प्रत्ययांश होने के कारण मध्यकालीन भारतीय भाषा में यह विशेषतः अन्य स्वर-विहीन है कर्म बहु ने। प्राकृत में कर्ता० के अतिरिक्त अन्य कारकों में विकरण इत्य है क्या वही कर्ता मे इने (गौरवैस्वटिएर्न के अनुसार ग्नि) प्रामाण्य कर में स्त्री० गौह (पु गिह) विकृत गोमि (ष्) बहु गोम् नाम विकृत० नीमन् और सिना मे (अ)नु स्त्री० (अ)मे बहु अनि (ह) के रूप में होना चाहिए? यह एक और पुरानापन होगा।

अन्त में एक -स्- युक्त विकरण है जिसे भारतीय माना जा सकता है यद्यपि समुदायगत है इसके जोस्वस्व आयरलैंडिस अस्स केवल इटैको-नेक्टिक में भीषित रहने चाहिए (ब्रगुमन पुत्रिस III' पृ० ३४०) बैनलि अकि तीराही सा पद्य ई एक्^म प्रशुन एस्के कलास बहु० एसे (मध्यवर्ती -त् का स की भाँति व्यवहार की समावता के अन्तर्गत)। क्या यह वही है जो है जोलिम की वीर्य भेगी सहित संस्कृत में आरान् जारें है जिससे पाकी आरका और सिहली अर है। हर हासत में उसके साथ सिना रो स्त्री० रि, जो बोली क रूप पेटो का ससिप्य रूप होता चाहिए, को संबन्ध करना उचित न होगा तुक० पञ्चोला अङ्को मी।

एक ध्यान देने की बात यह है कि उपर्युक्त सर्वनामों में से बहुतों में और अन्य में भी सम्बन्धुत्वति-विचार-हीन महाप्राण पाया जाता है। जैसे है म० हा बोक्प हाही जोवार ह इय कर्म हम्, बहु हमित् हस कर्म० हते हतो, जो बहु हतेद् मूरी अह पद्म स्वरापाठ विहीन पम्बास अहक अभ्यय ह निपाठ सिहली हे अथवा ऐ।

एक वैयाकरण ने अपभ्रंस मे कर्ता० एक पु० अहो की ओर संकेत किया है जहाँ जितना यह रूप मिलता है उसकी व्युत्पत्ति प्रा अभ्यय अह से होती है जिसम पिपेस स अथ का प्रतिनिधित्व पाते हैं। इस प्रतिपादन से कम-सं-कम आदि में और क्व सुद् की भाँति कर्ता० म ह का कार्य भली भाँति जाना जा सकता है। पं एह आदि अधिक परेयानी की चीजें हैं सबसे अधिक सरल तो उसका सिंधी हे के साथ साम्य स्थापित करना है। अथ० एहा भी है जो प्रा एनी सं एय के तुल्य समझा जाता है एन बार तो इससे स्वर मध्यग न् के अनिदमित व्यवहार की समस्या अधिक उप

स्मित हो जाती है। यह सोचना आसक्यता है कि एक (अ)इ ए जैसी रचना एक साथ ही हो के समीप हो। वास्तव में इन सब रूपों की कुड़ी अभिव्यञ्जक ह में है तुल० छलीस० ह-अर् आदि दे० अम्यन।

सर्वनामों में भी निपाठ सबद्ध हो जाने की संभावना होना सामुची बात है। भारतवर्ष में यह 'ही' का अर्थ प्रकट करने वाला निपाठ है तुल० हि ही ब० -इ, म० -न् मिन्वी-अ। अस्तुन पूर्वक में विचरण इ इ-के साथ अथवा सर्वनाम 'की' के साथ सम्बद्ध है तुल० स्वर्थ अथवा स्वर्थ कर्ष (बेगेरि स्वर्थ)। सिद्धी में व्याप्ति-युक्त -क-ई को उसी प्रकार का हाता आदि (यहाँ 'एक' का मानना ठीक नहीं विशेषतः अब बहु० भी है)।

सर्वनामजात विकरण का इच्छा हा जाना तो प्रायः काफ़ी मिलता है। जोरार में इन का बहु० ह्येत् है जिसमें व दो बार आया प्रतीत होता है और बहु० इमिन्-ह्येत् का में तो तीन विकरण होने चाहिए, क्यथा कम-से-कम निपाठ से पूर्व दो पदाई ऊ-म् कद० विम गर्भी सेमे प्रयुक्त मुमि आदि के साथ कटी अस्का बहु० कम्पि जो साक्षात् एक० 'का' बहु० *के जिसके पूर्व विहृत० के और बहु-साम्यक त्रिपि भाषाओं के रूप आते हैं से बना प्रतीत होता है।

स्पष्ट रूपों की ओर फिर से आने पर, यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि कर्ता का विकरण और विहृत० (प्राचीन सबध०) का विरोध सर्वनामों के समी प्रकारों में आ गया मिलता है मूर्त्वीय त्रिपि-भाषा पु० एक० योन् कम्पु नूटि पन्वि -स् मनुस् प्रमुत् सु मिसे कर० यह विमिन् जोरार हैम हनु पयई या मी वैगलि ई विहृत बहु० अर्थात्।

अन्त में परिवर्त्या मनुराज में प्रत्ययांश-सबधी विहृत० का बना रहना भी ध्यान देने योग्य है कर -न् (अइ न्) बहु० न् (एयान् ? तुल० एह० लाह, बहु० खोक्^म लसो लता)। लहृवा -न् बहु० -ने सिपी-न् (अइ ई) बहु० न्^ए (अइ-ऊ) गर्भी एक० -न् अस्तुन (अ)स् बहु० सोन् नूटि-स् बहु० सन्।

समयवाचक सर्वनाम

भारतीय लोच में भारतवर्ष ही एक एका स्थान है जहाँ प्राचीन संबंधवाचक संस्कृत व आज भी बना है। ईरानी में इबाफन में बेबक उमका बिन्ह ही अधिक मिलता है और इबाफन का कार्य निदान्त मित्र है। भारतवर्ष की आर्य भाषाओं के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में संबंधवाचक के अभाव से यह बात और भी प्रमुख हो जाती है। इस सर्वनाम

की दृढ़ता निस्सन्देह बनी रही है क्योंकि वह उस कठोर प्रवासी में है जिसकी रचना सर्वनामवाचक विशेषणों और संबंधवाचक नित्यसम्बन्धी प्रत्ययवाचक (और अनित्यवाचक) क्रियाविशेषणों द्वारा होती है। उदाहरणार्थ हिंदी में

जो सो * को तुम० कोइ तुलु अब कौन् कौन् ।

जसा विसा कैसा ।

जित्ना इत्ना कित्ना ।

कव् तव् कव् (कभी) ।

केवल बाह्य समुदाय की मापानों में संवयवाचक कृष्ट हो गया है कस्मीरी को छोड़कर, उत्तर-वर्षिम के समुदाय में उसके स्थान पर प्रत्ययवाचक का प्रयोग होता है (ऐसा प्रतीत होता है कि प्रभुन के एक महीन भेद में सहायता प्राप्त होती है कस् तेस् और पवर्बती के केम्बे कर) अबवा छारती के 'कि' का जो निश्चित रूप से समुच्चयबोधक होना चाहिए अबवा अन्तत केवल वाक्यांशों के साक्षिभ्य से संतुष्ट हो जाना चाहिए।

पराई में (एक० ए० आई० VIII, II, पृ० ९४ किन्तु की प्रियर्सन उसे बूसरे प्रकार से रखते हैं) निश्चयवाचक से काम चला किया जाता है स्^अ तुलु अ-स्^अ (किन्तु सिराबी और रन्वानी 'जो' पोमुली यों) ।

यूरोप की सिन्धी-भाषा में ब्रीक व्हीपोर की एक लकड़ का प्रयोग होता है और क्रिस्मिटीन के एक सभ्य और एक सेमेटिक-रचना की लकड़ का ।

सिन्धी में संबंधवाचक पूर्वसर्ग के बरसे में अनुकूल कृत्य है रचना जो बहुत दिनों से भारत से कृत्य हो गया है तो भी एक संबंधवाचक निपात यन् शेष है जो सर्वत्र प्रत्ययवाचक निपात (ए व्युत्पत्ति ?) अबवा संभाव्य (यम् सं० नाम) द्वारा पूर्ण होता है।

संबंधवाचकों की रूप-रचना नित्यसंबन्धी हि० सो राज० यी आदि के साथ-साथ कुछ कठिन समस्याएँ प्रस्तुत करती हैं। केवल मराठी में वह पूर्ण है शेष में वह नामवाचक रूप रचना में मिल जाती है।

उसमें और साथ ही सिन्धी पंजाबी और हिन्धी में कर्त्ता० एक० 'जो' बहु० 'ज' के रूप प्राचीन अप्रचलित प्रतीत होते हैं किन्तु अब कि के केवल पु सं० मो मे से निकलते हैं उनक बिग में मराठी के बाद केवल सिन्धी में राजस्थान की विभिन्न जैपुरी में (पु० जो रजी वा) अन्त में संभवत साक्षिभ्य-प्राप्त कस्मीरी में मुस्^उ रजी० योस्व (तुलु० मुत्, रजी० स) परिवर्तन होता है मारवाड़ी में व्याप्ति प्राप्त बिका रजी०

जिका में परिवर्तित होता है किन्तु 'ओ' 'ज्यो' में परिवर्तित नहीं होता और स्वयं परिवर्तन भी केवल एक० में होता है बहु० में तो केवल मण्ठी में लिंग की दृष्टि से अस्विय रूप है।

अबची (किन्तु तुलसीदास और बापची ने 'जा' का प्रयोग किया है) बंभासी उक्तिमा और विधेयत गुजरती जे (गुजरती और उक्तिमा में उपसर्ग या प्रत्ययों द्वारा बहु० में परिवर्तित) सुस्पष्ट नहीं है। नेपाल और कुमायूँ में 'जे' का प्रयोग निर्विवाद वस्तुओं के लिये होता है 'ओ' केवल पु० और स्त्री० है। क्या यहाँ मनु० के सामान्यीकरण हो जाने के कारण है कि मराठी में केवल एसा मिलता है 'जे' ? अबचा उसमें एक सम्बन्ध निपात है जैसे हि० 'ही' है ?

उपस्थान में संबंधवाचक का निदयवाचक की भाँति प्रयोग देखिए, विधेयत व्युत्पन्न क्रियाविधेयनों में मारवाडी जिको जिम्बू छू जरि तरि की तरह (तुल० म० जरी जैपुटी जिकी जब् जयें तुल० हि० जर्मि)। क्या यह शुद्ध लुप्त-समुच्चय बोधक में दुहरे वाक्यांश का भा जाना है ?

प्रत्ययवाचक

ऐसे रूपों की अत्यधिक विविधता है जो लगभग सभी परंपरागत विकरण क- कि- कन्सा-केंच गुय" और गुयों में प्रकट होते हैं।

"गुय"—सामान्य रूप में बहुत कम मिलता है। सिन्धी 'को' स्त्री० का' पिना नेपाली 'को' कती कू कद० कु-सूँ को-जन ? 'को' के समीप 'की' यह प्रकट करता है कि यह व्याप्ति-प्राप्त रूपों से ऐसा होता है अपेक्षाकृत सं० प्रा० 'को' से तुल० संभवतः सिंहली कब्बु। सं० कीदृश से निकलते हैं। सिन्धी केही गु० कथो तो प्राचीन किञ्चिद और संभवतः युरोपीय जिप्सी-भाषा 'घो' संभवतः प्राकृत केरिछ से साम्य रखते हुए हैं। सिन्धी केइरो केदु, पं० केहटा।

अप० कबमु (पा० कोपन कि पन दे० ऐंडसंम इत पाकी रीडर की अनुक्रमिका) से साम्य रखने वाला एक समुदाय है। उज पं० कौण् हि० अबची कौन् गु० म० कोन् सहुंवा क्वाप् ने० कुन् बंगाली कोन् जो 'के' के समीप है जिप्सी-भाषा कोन् क्वाप कूर ?

पदाई बीगेलि 'के' अस्तुन क्पेह, विहृत० को बूछरी और मैपिकी बगाली 'के' समस्या प्रस्तुत करते हैं। तीसरी 'काम' अज्ञानी है।

"गुयों —सं० किम् प्रत्ययत इन्में प्रतिबिंबित हुआ प्रतीत होता है—मैपिकी

की बंगाली उड़िया कि पं० की यहीं तीराही कि शिना जे-क् सिहसी किम्-र हि० क्या (बिहृत० काहे) प० किन्ना (बिहृत० किम् काहे) सिभी छां कष क्याह (संप० कष) कलास कीज उसके व्याप्ति-प्राप्त रूप प्रतीत होते हैं।

बिचरण क- मी यराबर काम आता है निस्सन्देह बिहृत कारकों पर अभित होकर पु० हि० कहा और बीगेछि कस् तो स्वयं बिहृत है अवधी में काब् है छत्तीसगढ़ी में का नपु० यह अप० काहे जेपुरी काहे, मराठी काय् (बिहृत कसा कासया) समबत कठी कछ, सह्या मेवाठी के नूरी 'कि' में फिर मिलता है। अन्य रूप भी हैं, जो कम स्पष्ट हैं।

हि० क्या बं० कि आदि जो प्रत्ययात्मक वाक्यांशों में काम आते हैं (जैसे 'कि' उर्दू का अनुसरण करता है) मुर को छोड़कर सामान्य वाक्यांशों में कोई विशेषता ग्रहण नहीं करते उनसे फेर खा-ऊ वृष्ठा वासा काम निकलता है। बंगाली प्रकार 'न कि' हि० कि नाहिँ पर—दे अग्यज।

संस्कृत में च चिच् अथवा (म)पि के पाठ आने वासा अनिश्चित प्रत्ययात्मक के रूप में आता है। उससे उदाहरणार्थ है पाठी कोचि मपु किचि अशोक० में इसी प्रकार केचि केच है और इसके अतिरिक्त शास्त्रम्य षोप रूप केछ किछि है जिससे स कश्च का जीवित रहना प्रमाणित होता है। प्राकृत में 'कोचि' का प्रमाण मिलता है।

को(चि) अथवा कोचि से निकलते हैं हि० पं० राज हि० कोई, उड़िया केह और स्वर-सभि के फसस्वरूप मु० सिभी शिना को कठी को (म् कछ) पछई तीराही बीयेछि कि। समाज रचना क्रम से किन्तु आपुनिक म कोन्ही पु हि० कोऊ, बिहारी केऊ, बंगाली केहो कउ मपु म काहिँ मु काँह, मार० की सिभी किँ।

किछि का बंगाली किचु, उड़िया किछि हि० कुछ्(उ) में बीबीकरण हो गया है सिहली किचि सदिरब है।

सर्वनामजात विशेषण

सामान्यतः संस्कृत के सर्वनामजात विशेषण जो भारतीय ईरानी में दृष्टिगोचर होते हैं म्रुप्त हो गये हैं उनके जो अत्यन्त दुर्लभ रूप अबिद्योप्य रह गये हैं वे उनकी एक ही विशेषता प्रकट नहीं करते संज्ञा-रूप विशेषणों का संज्ञा-रूप है। हि० सञ्, वैया।

सर्वनामों से व्युत्पन्न समुदायो में एक साथ संबन्धवाचक निरन्तरवाचक और प्रत्य-वाचक रूप मिलते हैं वैया तैया वैया।

सबसे अच्छा प्रतिनियतक उसका हुआ है जो परिमाण प्रकट करता है जो संस्कृत क्रियन्- पा० कितक-, प्रा० केतिञ् (जिसमें 'के' निश्चयवाचकों के ए के अनुकरण से बने होने चाहिए, तुल० पा० ए-दिस् एतक) स निकला है। कती में कत् का अर्थ होता है "कौन कौन" ? किन्तु वैयक्ति म प्राचीन अर्थ-सहित केति है ठीकही म कतेचि है तुल० के-तिक् कतिचि अदकृत में चीत् है गबद्वती में कत। विभिन्न पर प्रत्ययों सहित तीरवामी कदक प्रघुन केरग् मित्ता कपीक कठक मया कमुक् कड० कू^उ स्वी० की^उ यूरोप की सिन्धी भाषा केति नूरी कित्^उ सिधी कतिरो क^उको म० किं^उका (पु० म केती) प० हि० कित्ता ब० कठ (स० कठि से प्रमावित ? हर हास्य में प्रा० कतक- के बारे में सोचा भी नहीं जायया) उड़िया 'केते' मिलते हैं।

क्या कलाया किमोन् ने छारसी से विद्यापता प्रकट करन बाला पर प्रत्यय -मान् उचार मिया है ?

मराठी केवडा *कीयव्-युद्ध प्रकार पर अथवा कहता चाहिए प्रमाणित हुए क-महासम्भ के समान प्राकृत *के-बड्डम पर आधारित प्रतीत होता है।

सिंहली की जो क्रिय-र में व्याप्ति-युक्त हो जाता है कति पर आधारित प्रतीत होता है कोचर अस्पष्ट है जो पमाथ' साभिष्य प्राप्त विद्वत्तापूर्ण शब्द है।

'किम प्रकार का' प्रकट करने के लिये हि० कंसा म० कसा के समुदाय *कानुस प्रकार प्रदर्शित करते हैं तुल० वैदिक हौपाकस यादुक् ब्राह्मण तादुन् ।

कीदुष के व्युत्पन्न रूपों में दे० पीठ पु० ब० के-मन्त् ब० के-मत् के-मन् हान की रचनाएँ हैं। अन्य भी हैं जो कम स्पष्ट हैं।

मिजबाचक

यद्यपि मूलतः यह केवल व्याख्या की बात है तो भी संस्कृत आत्मन् के जीवित रहने की आर संकेत करना उचित होगा जो शब्द में भारतीय ईरानी तनु के साथ-साथ मिलता है और तुल्य वाद ही उसका म्यान ग्रहण कर लेता है स्व और स्वयम् का उमम कोई संबंध नहीं रहता (गम्भवत् मध्यकालीन भारतीय भाषा में स और सायम् क समीपवर्ती हान के कारण) ।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में आत्मन् के व्युत्पन्न रूप को प्रकार क है (दे० अय्यत्र) अप्या अत्ता। पहले से निकलते हि प भाप् (विहृत० आपम्) उड़िया भाषे पु० व० आपा बंगामी आपगद् मध्ये ने० धाफु, विहृत० सिन्धी भाषा पम् और व्युत्पन्न मु० पोने बीगेमि पेठ गर्बी फूफा जोरुप फा और देरा। विहृत के विकरण

से उपलब्ध होते हैं वं० आप्नि सिधी पानु, कर्० पन प्रचुन पने मूठी पन्नि और विद्योपन हि० आप्ना पं० आप्णा गु आप्णो ('हमार' सहित) ने० आप्णु।

अल्प वाले विकरण से आते हैं एक ओर सिद्धी तमा (अथवा यह पा० तुम है ?) दूसरी ओर तीरबामी तन् पचाई तानिक और विद्योपन सिना तोनु, मर्षी वैयेलि अस्तुन तनु खोबार तन् फ़ारसी से लिया गया होना चाहिए।

आवरणमुक्त सर्वनामों की भाँति इन शब्दों के प्रयोग के संबंध में है अल्पन।

सर्वनाम एक ऐसा व्याकरण-संबंधी समुदाय है जो मुख्यतः अर्थ-विचार और अभिव्यंजना-संबंधी छोड़-छोड़ से फ़रक पुनःसंस्कार से प्रभावित है। इस प्रकार ल्यों का बाहुल्य स्पष्ट हो जाता है। किन्तु व्युत्पत्ति द्वारा वे सब मूल्य संस्कृत प्रबोधित होते हैं और यदि कुछ उपयुक्त बना किये गये रूप हैं तो वे मूल उत्पत्ति के नहीं हैं जैसा कि उदाहरणार्थ रोमन में देखा जाता है। प्रारम्भिक विद्योपठार्थ निरक्षयवाचक ए अथवा ए संबंधवाचक ए प्रस्तवाचक क-बराबर बनी रहती हैं और अर्थ द्वारा समुदाय में रहे गये अन्य रूप द्वारा स्पष्ट बनानी पयी प्रजाही में भी समुदायगत बने रहते हैं जिसके कारण जैसा कि देखा जाता है कुछ वाक्यांशों की स्पष्टता और साथ ही नियमव्यवस्था है।

रूप-रचना का प्राचीन अव्ययस्थ रूप बना रहता है हिंदी-पंजाबी-कश्मीर-नेपाली समुदाय में -सु युक्त विकृत० और विद्योपठ 'जो' प्रकार का कर्त्ता० जो उदाहरणार्थ हिन्दी के विद्योप्य प्रकारों आप् और जोड़ा क विरोध में है। अव्यय महत्वपूर्ण गणीयता है किंग का सामान्य अभाव जो समस्त पुरुषवाचक सर्वनामों के समानान्तर रहे जाने के कारण है।

तृतीय खण्ड
क्रिया

पुरुषवाची रूप

भारोपीय क्रिया में एक ओर तो पुरुष के लिंग के नहीं छोटेक प्रत्ययों से ग्रहण किये गये रूप हैं दूसरी ओर ऐसे नामवाचक रूप हैं जो लिंग और साध ही बचन का पुरुष का नहीं छोड़ते हैं और जिनकी विशेषता है ऐसे विकरणों से संबद्ध होना जो वास्तव में क्रियार्थक हैं और जिनमें उन्नी प्रकार बर्णों और रचनाओं से प्रभावित होने की संभावना रहती है जिस प्रकार पुरुषवाची रूपों में। यहाँ केवल पुरुषवाची रूपों का प्रश्न है।

वैदिक स्थिति

वैदिक क्रिया अवेस्ती क्रिया के अधिक निकट है। उनमें विकरणों की रचना समान रूप में होती है (अकेली प्रेरणार्थक भाग्य में -न् का प्रयोग वास्तव में भारतीय है) बुद्धे रूपों का निर्माण भी समान है और उनमें रीतियाँ हैं (वर्तमान में स्वर उ अ० सुभूर्यो- स० सुभूर्यु- पूर्ण में उ और इ अ० उकरणाऽअ स० इतोप अ० चिदो- इत्तमंरुर्मर्मे स० चिदित्तु आयम भी वैसा ही है किन्तु वह अवेस्ता की भाँति न तो पुर्णम है न पु० प्ररवी की भाँति निर्दल बना रहने वाला)। अस्य प्रत्यया में समान विशेषताएँ हैं (आकार्य १ एक० कर्त्तु० -न्तु मध्य -आम् और -ताम् १ एक० मध्य० -न्व १ एक० सामान्य अतीत मध्य विकरणमुक्त -न्, प्रारम्भिक मध्य रूपों के बहु० के अन्तर्गत मध्यम पुरुष के -न्व का प्रयोग चाप्ये अ० चरठे इसी प्रकार १ बहु० गौम मध्य० -महिक निकट अ० मैऽह आदि रूप सं० -महे अ० -मैवे) जहाँ तक मित्य ताओं से संबंध है वे कोई गंभीर नहीं हैं और परिवर्तन-विरोधी प्रकृति पर आधारित हैं १ द्वि० -व जो अ० -वही से मित्य है एक साधारण पुनर्विवाचन का परिणाम है इसी पुनर्विवाचन का परिणाम है १ एक० -आ का संघयार्थसूचक क्रिया-रूप तक सीमित रहना (जब अ० अद्वा की भाँति किन्तु अ पूर्वरूपता से विपरीत केवल निरचयार्थ क्रिया-रूप पृच्छामि अधिक मिलता है) उसके पूर्ण लुप्त हो जाने का पूर्ण मान (उसके केवल लक्षणय वम जबाहरथ मिलते ही हैं)। २ एक० आकार्य पृथग्व्य वपान और वैदिक प्रत्यया -न-न -व-न का वास्तव में भारतीय निपात संभवतः भारोपीय में दृष्टिगोचर होता है (द्विती बहु० १ -ने-नि २ -ने-नि ?) प्रत्येक स्थिति में तन्वीं

पुरुषवाची रूप

भारोपीय क्रिया में एक ओर तो पुरुष के लिये के नहीं दोटक प्रत्ययों से ग्रहण किया गया रूप है दूसरी ओर ऐसे नामवाचक रूप हैं जो लिये और साथ ही बचन का पुरुष का नहीं धोतन करते हैं और बिलकी विशेषता हैं ऐसे विकरणों से संबद्ध होगा जो वास्तव में क्रियार्थक हैं और जिनमें उची प्रकार वर्गों और रचनाओं से प्रभावित होने की संभावना रहती है जिस प्रकार पुरुषवाची रूपों में। यहाँ केवल पुरुषवाची रूपों का प्रस्त है।

वैदिक स्थिति

वैदिक क्रिया अव्येस्ती क्रिया के अधिक निकट है। उनमें विकरणों की रचना समान रूप से होती है (अकेली प्रेरणार्थक धातु में -न् का प्रयोग वास्तव में भारतीय है) दुहरे रूपों का निर्माण भी समान है और उनमें रीतियाँ हैं (वर्तमान में स्वर उ अ० मुसुस्ने- सं० शुसुस्न् पूर्ण में उ और इ अ० -उरुओ० अ सं० इरोष अ० विंको-इज्ज्इज्ज् सं० चिकित्नु आगम भी वैसा ही है किन्तु वह अव्येस्ती की भाँति न तो दुर्लभ है न पु फ़ारसी की भाँति निरंतर बना रहने वाला)। अस्य प्रत्ययों में समान विशेषताएँ हैं (आज्ञार्थ १ एक कर्तु० -तु, मध्य० -वाम् और -ताम्, २ एक० मध्य० -स्व १ एक० सामान्य अतीत मध्य० विकरणमुस्त -इ, प्रारंभिक मध्य० रूपों के बहु० के अन्तर्गत मध्यम पुरुष के -स्त् का प्रयोग सामान्ये अ० वैर०वे इसी प्रकार १ बहु० शीघ्र मध्य० माँह के विकट, अ० यै०इ, आदि रूप सं० -माहे अ० -यैदे) यहाँ तक मिश्रताओं से संबंध है, वे कोई यमीर नहीं हैं और परिवर्तन-विरोधी प्रकृति पर आधारित हैं १ द्वि० -व जो अ० -वही से मिल है एक साधारण पुनर्निर्माण का परिवर्तन है इसी पुनर्निर्माण का परिवर्तन है १ एक० -आ का संव्यापसूचक क्रिया-रूप तक सीमित रहना (बना अ० आइहा की भाँति किन्तु अ० पूर्वदुर्बसा से विपरीत केवल निरवधार्य क्रिया-रूप पृच्छामि अधिक मिलता है) उसके पूर्ण लुप्त हो जाने का पूर्वधारण (उसके केवल रूपमय बंध उपाहरण मिलते ही हैं)। २ एक० आज्ञार्थ गृहण बचान और वैदिक प्रत्ययों -तन -व-न का वास्तव में भारतीय निपाठ संभवतः भारतीय में दृष्टिगोचर होता है (हिंती बहु० १ -व-नि २ -वे-नि?) प्रत्येक स्थिति में तस्वों

प्राचीं वीर्यं स्वर-समुक्त धातुओं के पूर्ण० के एकवचन १ ३ भारतीय से आये हैं (मैइए, रिष्पू व एत० आर्मोनिएत' १९३० पृ० १८३) और ईरानी की विधेयता उसे अक्षम करने में है -अ (विद्य चक) युक्त पूर्ण० के मध्यम बहु का प्रत्यय त्रिसंका स्थान ईरानी में आदि प्रत्यय ग्रहण कर लेता है निश्चित रूप से एक प्राचीन अप्रचलित प्रयोग है इसी प्रकार आञ्जार्थ बिलाल् सैटिम और वीक द्वारा प्रमाणित है २ एक० मध्य बदियाः, संभावक प्रकार जानीया के केस्टिक में प्रतिरूप मिलते हैं। उसके धनीपी आशीर्वादात्मक का जन्म द्वि० रूपो अथवा २ युक्त प्रत्ययों (अचर्ब० बर्त० घेरे जो ब० सोहरे सरेरे) की भांति है पूर्ण० चकिरे जो चाखरे की भांति है, किन्तु अपूर्णरिरे अघसृपम् जो बजोर्(अ)इर्जम् की भांति है, किन्तु अचकिरन् सामान्य अतीत अर्द्धमन् अपूर्ण० अघेरठ बहु० जैसा पूर्ण० अचनृचत् आञ्जार्थं पुष्ट्यम् पूर्ण० तक आदरार्थ का विस्तार ऐसी तबीन बर्तें हैं जिनका आये के लिये कोई महत्त्व नहीं है।

अन्त में जोड़िए, उन्हें जिनका संबंध प्रत्ययों के प्रयोग से है, जो बनेस्ता की भाषा की भांति बेह म लनु० बहु० के अंतर्गत कर्ता एक० क्रिया-उद्धृत के रूप में मिलता है। किन्तु यह प्रयोग जो पाषा में नियमित रूप से मिलता है, अश्वेह में अपवाद-स्वरूप ही है।

विकरण

विकरण में बहुत विविधता है व्युत्पत्ति से बने भाषवाचक की दृष्टि से देशी वैयाकरण वर्तमान० के दस भेद स्वीकार करते हैं इसके अतिरिक्त सामान्य अतीत मूळ और स भविष्यत् हैं और हर एक प्रकार के कई-कई भेद हैं भविष्य० और पूर्ण०। कुछ विशेष भाषों का प्रकार-विषयक पर प्रत्ययों द्वारा प्रकटीकरण हुआ है सामान्यार्थ और आञ्जार्थ (शून्य) संघयार्थसूचक (गुण मूळ तथा रूपमात्र -अ) आदरार्थ पर प्रत्यय -या -ई -ए विकरणयुक्त में। अन्त में दो वाक्य हैं कर्तुं और मध्य।

वर्तमानकालिक विकरण

इनकी संख्या बहुत है कुछ (तीन) सामान्य अतीत के समान हैं अधिकतर वर्तमान० में विशेष व्युत्पन्न रूपों से हैं। इन्हीं स एसा है कि क्रिया का समस्त संभव विकरण प्राप्त होने पर भी उनका प्रयोग नहीं होता बड़ी कठिनाई स अश्वेह की धातुओं के पाँचवें भाग से अधिक में वर्तमान मिलना है।

वर्तमानकालिक विकरण और शून्य पर-प्रत्यय-युक्त सामान्य अतीत अधिकरणयुक्त रूप

इस रूप की रचना में न केवल पर प्रत्यय का समाव मिलता है बल्कि उसमें शत्रु का स्वर-संबंधी परिवर्तन क्रम और स्वराभास का स्थानान्तरण क्रम सम-स-कम वर्तमान में मिलता है ए-ति यू-अन्ति अ० अएइति येइति ध्वनि-संबंधी अपवा अन्य परिस्थितियों के फलस्वरूप सामान्य अतीत परिवर्तन क्रम कम स्पष्ट है उदाहरणार्थ एक० १ अगम् २ अगन् वहु० १ अगन्म् २ अगम्न् एक० १ अमूबन् २ अमूव् वहु० २ अमूवन्।

मारोपीय में अय्य स्वर्णों की अपेक्षा बेह में यह वर्ग अधिक अच्छे रूप में मिलता है उसमें सगमग ११० वर्तमान० १०० सामान्य अतीत है (जिनमें से ८० श्रुत्येव में है) जब कि दोनों समुदायों में मिला कर अबेस्ता में मुक्तिरु से ८० शत्रुओं से अधिक है।

भारतवर्ष में कुछ विकरण द्वन्द्वस्वरूपक हैं उदाहरणार्थ वर्तमान० में श्रुती-ति श्रुत्-अन्ति ये रूप बहुत कम मिलते हैं अनिति लीति स्थिति अबमित् आश्रापे स्तनिहि। किन्तु यह प्रकार बना रहता है स्वयं अपर्ष० में मिलता है रोदिति ओ ली० रूपों लीभर के मुकाबले आश्चर्यजनक है जहाँ तक स्वपिति से संभव है तुल० अपर्ष० भविष्य० स्वपिष्यति ओ स्वप्न के विपरित है भू० आश्रापे २ एक० स्वप मेइए, बी एस० एए XXXIX पृ० १९८ के अनुसार अं० कैपिओ कैपिट प्रचार का अब सिष्ट रूप होना चाहिए।

सामान्य अतीत में अप्रमम् अप्रभीत् बनाया गया है लब्रबम् लब्रवीत् की भांति किन्तु रूप अलना-अलग हो गये हैं अप्रभीत्-इप् युक्त सामान्य अतीत क समय बना जाता है दे० मेइए, बी० एस० एए XXXIV पृ० १२८।

स्वराभास के संतुलन रहित, सामान्य विकरणयुक्त रूप

वर्तमान० यह बहुत मिलता है प्रकृति रूप में युक्त है श्रु-ति। अनन्त्य अतीत में शत्रु गुण्य श्रेणी में है बुभुस्त। एक ही शत्रु में वा विकरणों का मूल-अन्ति और विरास दोनों ओ प्रीक में बहुत हैं अवेस्ती की भांति संस्कृत में न शत्रु वन दिव्य है उदाहरणार्थ रोहनि भरहुत् शोशतु अगुपन् बर्दन्ति अगुव् अन्ति = एक फल किन्तु अतन्त् का तनोति से विरोध है, अबित् का अन्ति ए अन्ति मूल ही अनुबन् का मुञ्चति से उस समय तक अब तक वर्तमान० रूप है अन्ति अन्ति० बहु है मुञ्चति। इस समय अपूर्ण० और सामान्य अतीत दिव्य-इ अन्ति अन्ति० में अनेक रचनाएँ मिलती हैं।

उपम्य मारोपीय भाषाओं में विकरणयुक्त क्रिया-रूप अन्ति अन्ति०

में ही प्रचुर मात्रा में थे अधिकरणयुक्त रूपों को संवद्ध कर लेते हैं, जिनमें परिवर्तन-क्रम के कारण एक गंभीर वृद्धता उत्पन्न हो जाती है—न केवल स्वर-संबंधी अमत्कार द्वारा किन्तु व्यंजनो के संपर्क में आने के कारण उत्पन्न ध्वनि-संबंधी परिणामों द्वारा भी तुल्य० ताटि अतः प्रथम एक० अम० आदि।

ईस्कृत में अत्यन्त महत्वपूर्ण नवीन वर्ग वृद्धि प्रकार है, जो संज्ञासंज्ञक और सामान्य अतीत के आधारार्थ पर आधारित है। इस मूल के कारण उनके निश्चित रूप की गणना की जाती है। चाहे स्वयं क्षणिक कार्य द्वारा क्रिया चोदित हो (वृद्धि वृद्धि व० ह० वृद्धि) चाहे वह कुछ समय तक रहने वाले भाव के चोदक रूप के विरोध में हो (परति विरति)। प्राचीन काल में यह वर्ग प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। अमलग ८५ क्रियाएँ वैद में पचास अनेका में।

इ और उ के द्वित्व वाले रूप से सामान्य कुछ सामान्य अतीत उपसर्ग होते हैं (अनु-वृद्धि चिस्वपत्) जो फिर प्रेरणार्थक धातु से संवद्ध हो जाते हैं (बोधयति स्वापयति तुल्य अ० चोचन् और प्री० ऐप्तिन् प्रकार) एक भिन्न रूप में यह विरोध अधिकरणयुक्त में मिलता है अजीग करते। वर्तमान० के मुकाबले टिब्बो की समृद्ध प्रीक मात्रा और निम्नो समुदाय वापि से भिन्न ईरानी में मुक्तिसे केवल भावने वर्तन वृद्धि विकरणयुक्त रूप हैं, और कुछ अपवाद-स्वरूप रूपों को भी विद्वत्ते तुल्य० व० नै० नृ० नृ० अथवा अस्पष्ट रूपों को छोड़कर, स्वयं संस्कृत में यदि वे प्राचीन हैं पिबति तुल्य० पु० आपर्षिषि इति वि० तिष्ठति व० हि० वृद्धि और नै० सिस्टो से भिन्न रूप में निर्मित वे० पीछे।

अन्य सब रूप मूल्य हैं चाहे वे वर्तमान में हों अथवा सामान्य अतीत में।

द्वित्व-युक्त वर्तमान

अधिकरणयुक्त :

यह क्रम जिससे पहला क्रम निकला प्रतीत होता है भारतीय-ईरानी में मभी भाँति स्थापित हुआ मिलता है। यद्यपि भले ही उसकी संख्या बहुत न हो। वेद में ५ धातुओं से कुछ कम अनेका में २०। उनका एक काफी निश्चित अर्थ है। इ को द्वित्व-युक्त करने वाले रूप विरोधता निश्चल हैं (इति विरति) अथवा समर्थक हैं (विपत्ति कर्ये० सहित को सचते करण० सहित से भिन्न है जो वं को द्वित्व-युक्त करने वाले रूप हैं वे विरोधता अतिप्रार्थक प्रतीत होते हैं (अमस्ति अर्थात्) किन्तु वृद्धि वृद्धि सक्र्मक है और विरति का विरोध भवति से है, जो साथ ही स्वच्छर रूप में पूर्ण-क्रिया के साथ आता है। विद्वत्ते व० नै० नृ० नृ० अथवा तुल्य प्री० ऐप्तिन्

और इस बात के संकेत प्राप्त होते हैं कि *विपति ददाति के समीप रहा है। अस्तु वेद में इन रूपों का मुख्य बहुत निम्नित नहीं है। उनका प्रमाण प्रयोग सामान्य अतीत संबंधी धातुओं को वर्तमान रूप प्रदान करना है। तुल्य अर्थात् अर्थात्।

कुछ की उत्पत्ति पूर्व के बाद हुई किमेति (ऋ० मपते विमाय जागति जागरि)।

अतिशयार्थक

यह भी द्वित्व-युक्त वाली भाषा में रहता है, किन्तु द्वित्व-युक्त धातु के स्वतंत्र को इस रूप में बुद्धिमान है मानों वह एक हो और यदि धातु में स्वतंत्र नहीं रहता तो वह बीर्ब रहता है बर्बति बहु बर्बतति अङ्गन्ति बर्बमि तर्बरीति बर्बन्तीति पापतीति।

यह वर्ग भारतीय है किन्तु केवल भारतीय ईरानी में उसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं तथा अनेके वेद में उसका विकसित प्रयोग पाया जाता है (अथेस्ता में १३ के मुकाबले १० धातुएँ)। नये रूपों की उत्पत्ति नर्मनीति जो मध्य मन्ते के विपरीत है, वरीवति जो बर्बति के निकट है, जैसे द्व्यक्षरप्रत्यय प्रकार के लकारप्रत्यय मूल के विस्तार में मिलती है। इसके अतिरिक्त वेद के समय से उसमें कुछ विकरन्तयुक्त कर्मवाच्य मिलते हैं जैसे मर्मन्मते पैरिहते।

अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय-युक्त विकरण

स्पष्ट रूप में केवल भारतीय-ईरानी में और प्रचुर मात्रा में केवल बर्बिक में सुरक्षित मध्य महत्त्वपूर्ण वर्ग। उसके विविध प्रकार हैं

एक धातु रिष् का ३ एक रिषन्ति (अ० इरितवति) बहु रिष्न्-अन्ति एक द्व्यक्षरप्रत्यय धातु अर्थात् *अन्म्' का पुनर्जाति (अ० गुम्' अर्थात् अर्थात्) बहु गुम्न्-अन्ति

एक व्याप्ति-युक्त उ युक्त धातु का अर्थात् *वेल्- (तुल्य अ० उमोलुमो वी० 'हसन्मो) वृन्तीति तुल्य अ० आत्तार्थ वृन्' अर्थात् अर्थात्।

किन्तु धीम ही इस प्रकार की स्पष्टता छुप्त हो जाती है। पहला प्रकार स्पष्ट रूप में दुर्लभ है (वेद म ३० से कम अथेस्ता में ८)। अन्तिम वा अन्तिमें -ना- / -नी -नो- / -न्- का पर प्रत्यय बाधा रूप का संस्कृत में विकसित होते हुए पाये जाते हैं। उससे जानाति (जो भारतीय ईरानी ही था) बर्बन्तीति बिनका ऋ० में बहुत कम प्रमाण मिलता है बाद में विकसित होते हैं, मिनाति जो मिनाति के समीप है, अस्तोति अर्थात् अर्थात् अनुनासिकप्रत्यययुक्त धातुओं में पर-प्रत्यय -ना- / -उ- जैसे प्रतीत होता है अर्थात् जो सामान्य अतीत से निम्न है अर्थात् जो अन्ति के समीप है, अन्ते जो मध्य

के समीप है स्वयं जिससे कर्णोति से निकले करोति सामान्य अतीत सप्तमार्थसूचक के साथ सम्बन्ध रहता है। इन विस्तारों के कारण ही दोनों वर्गों के प्रमाण वेद की क्रमशः तीस और चाबीस क्रियाओं में मिलते हैं (अवेस्ता में प्रत्येक की २५)। इन क्रियाओं का प्रयोग अहाँ तक उन्हें निर्धारित किया जा सकता है निर्दिष्ट है और वह अस्य भाषाओं के प्रयोग से काफी साम्य रखता है यही कारण है कि भारतीय के समय से उनका प्रयोग एक ही अर्थ में सामान्य अतीत के रूप में वर्तमान की तरह होता है और उस समय वे अस्वायी मूल्य ग्रहण कर लेते हैं क्तिन्ति छेद्म् । बहु० पुनति यत्रात् जानाति तुल० ज्ञेय० कर्णोभि० अकर् स्तुभोति अस्तद् वर्तमान के लिये यह मनोनीत प्रकार ही है जिसमें विकरणयुक्त रूप नहीं होते।

अनुनासिकता-युक्त क्रियाओं में भारतीय-ईरानी के समय से कुछ मध्यवर्ती प्रत्यय वाले विकरण रूप प्रदान किये हैं जैसे सिञ्चति (अ० हिल्चति) चित्ति अ० अपूर्ण० चित्त् जो वर्तमान नीतरित के समीप है अच् में कुछ मिला कर बच हैं, अवेस्ता में छ अचर्व० में वस्तुतः चित्म् और क्त् है। इसके अतिरिक्त -ना से निकला पर प्रत्यय -न-सहित अच् पूर्वति जो पूर्वति के समीप है, मुनसि जो मृषीहि से भिन्न है अचर्व० गृणत अच्० मृषीत के लिये और अचर्व० मृष अच्० मृषीहि के लिये। यह अब भी केवल एक प्रयोग ही है।

किन्तु यह ही सकता है कि विकरणीकरण अधिकामिक जैसा कि शुरू में ही सोचा जाता है बोधति प्रकार के पूर्ण क्रम के विकास के लिये जो व्युत्पन्न वर्तमान के साथ सम्बन्ध हो जाता है और जिसका अर्थ उल्लेख करना आवश्यक है।

व्युत्पन्न विकरण

पर-प्रत्यय -य-

सम्पूर्ण भारतीय की भाँति इस पर प्रत्यय का संस्कृत में बहुत अधिक विस्तार पाया जाता है। उससे मूळ क्रियाएँ, कर्मशाब्द संज्ञाओं और क्रियाओं के व्युत्पन्न रूप प्राप्त होते हैं।

संस्कृत (और भारतीय-ईरानी) की दृष्टि से जो मूल क्रियाएँ हैं उनके विभिन्न मूल हैं ऐसे हैं परत्ये पर्यति (गाया स्वस्था) नस्यति (न नस्यति) जो संज्ञाओं से निकलते हैं तुल० ई० पौद् (स्त्री० पदनी) -स्यक् (स्यट) नैम् मण्ठे ह्यति कुप्ति पु एक० तिजित्तु आग्नी हेरिएम्, ई क्विजो अकेसा जिसमें पर प्रत्यय का मूल की दृष्टि से एक विशेष अर्थ का कर्मशाब्द इसी क्रम के भाग सम्बन्ध हो जाता है वे एर घाटीरिक् या मानसिक् परिस्मिति का अर्थान करते हैं।

किन्तु संस्कृत में जिस प्रकार अकर्मक क्रियाएँ हैं (पुष्यति द्युष्यति) उसी प्रकार कर्तृवाच्य क्रियाएँ भी (इष्यति)। साथ ही उनमें अन्य कारणों से कुछ वर्तमान० है जो सामान्य अतीत की भाँति आती है द्रुह्यति द्रुह्यत् गूष्यति अगूष्यत् आवि और उनमें केवल स्वराभास द्वारा अन्तर उपस्थित होता है जो संस्कृत के लिये उचित है तो भी सामान्य रूप मुष्यते के निकट मुष्यते मिलाता है।

धातु सामान्यतः शून्य श्रेणी में है इस दृष्टि से संस्कृत अवेस्ती की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है अवेस्ती में स्वरओस्थिति स्वीकृत है (तुल्य० सं० श्लेषति)। जब मूल स्वर अ है तो यह अ सुरक्षित रखा गया है ताकि धातु को अभिव्यक्ति प्राप्त हो सके (पश्यति अत्यति दह्यति ह्यति किन्तु त्रियते)। वायति जैसी दीर्घ स्वर वाली क्रियाओं की गणना करना भी आवश्यक है और सामान्य अतीत के एक दृष्ट रूप पर आधारित गुमायति प्रकार की भी (कुल मिला कर २०)।

तो एक ऐसे वर्ग से काम पड़ता है जिसका अर्थ स्पष्ट निश्चित नहीं है जिसमें पर-प्रत्यय अपने आप मात्रिक रूप से आ जाता है और जो सजीवता का चिन्ह है मूल से ही उसमें कुछ क्रियाएँ हैं बिना गणना के ८० कर्मवाच्य (अवेस्ता में कुल १००)।

उसमें कुछ नामधातु क्रियाएँ जोड़ लेना भी आवश्यक है जो स्वयं संस्कृत के मध्य निर्मित हुई प्रतीत होती हैं पर प्रत्यय-य सहित स्वराभास कमी-कमी प्रेरणार्थक की भाँति मूल पर रहता है मिपञ्-यति (अ बर्णयति) कुछ अधिकरणयुक्त मिपक्षि अ सप्तमार्थयुक्त बिष्टे-जानि और ऋ० अमिष्यद् अपस्यति वृष्यति और वृषामति कधीयति जनीयति पूतनायति। जब संज्ञा अधिकरणयुक्त होती है तो स्वर का प्रायः दीर्घीकरण हो जाता है अमिष्यति देवयति मृगयते ऋतयति किन्तु ऋतायति अर्थात् अमिष्यायति यज्ञायति। क्या पृषत्त्व की दृष्टि से इस दीर्घीकरण (ऋत्वेव में पूर्ववर्ती स्वर लगभग सर्वत्र ह्रस्व होता है) का कोई स्म्यारमक कारण है? हर हास्य में विभिन्न अनुवाय यह प्रदर्शित करते हैं कि अपनी सजीवता के कारण इत कम से सादृश्यमूल्क विस्तार स्वीकार किये हैं अम्भरीयति पुषीयति ओ अम्भर पुत्र से हैं मत्स्यति मध से मानवस्यति मानव से रथयति रथ से। वास्तव में इन नामधातुओं का विकास संस्कृत की अपनी विशेषता है (अवेस्ता के २० के मुकाबले १०) वेच में उनका बहुत बार प्रयोग हुआ है केवल एक बार आने वाली की संज्ञा सर्वत्र उदाहरणपूर्वक की गयी रथनाभो की प्रतीक है।

पर-प्रत्यय-जय :

रूप द्वारा पिछले पर-प्रत्ययों के लगभग समीप पर-प्रत्यय-अहित निर्मित प्रेरणाधर

और पुनरावृत्तिमूलक हैं अर्थात् *एय (घी घोर्बो क्रोरेंबो सै० मोनेबो सोपिबो), सिद्धांततः पहले वाचों में दीर्घ खेपी होती है वृत्तों में ध्वन्य खेपी घोषयत रोचयत् वृत्तयत् रचयत् और समान परिवर्तन क्रम द्वारा पाठयति पतयति। (स्नापयति षं सोपिलो का साम्य भी देखने योग्य है)। ऋग्वेद में तो १०० प्रेरणार्थक ५० पुनरावृत्तिमूलक है ही (अवेस्ता में सब ८ के लगभग)। दीर्घ -आ मुक्त वातुओं के व्याप्ति-मुक्त -म् जो विशुद्ध संस्कृत का है का उल्लेख करना आवश्यक है स्नापयति स्नापयति (स्नाति) इस रचना की बिसका मूल ब्रह्माव है (तुल० वाइयेस 'इंडियन लिगिबिलिक्स' II पृ० २४ बी० बोप 'सै क्रॉमैसिया बी प् दु संस्कृत' पृ० ६७) काफ़ी सफ़लता प्राप्त हुई।

इच्छार्थक (सन्तप्त) और मन्विष्य०

ये दो रचनाएँ विकरणयुक्त ही हैं जो भारोपीय मूल द्वारा बर्य हैं किन्तु संस्कृत के इतिहास में विभिन्न और अक्षमाल रूप में आती हैं।

भारोपीय *ये-/सो का इच्छार्थक मूल्य कुछ ध्वनों में प्रतिविभित होता ही है अप्सन्त जो आप्रोति से भिन्न है, तुल्य ईप्सति शोपमाञ्, तुल्य० मूर्धोति हासते का मय० प्रयाम भी देखा जाता है, तुल्य जहाति वा मोसते तुल्य० मुर्धोति और मुष्धोति। पर प्रत्यय ने उसका वास्तविक मूल्य को केवल द्वित्व वाले रूपों में मुरक्षित रखा है जो वेद में भारतीय ईरानी से आये हैं जिपीयति (और जिग्यासति) ज० संघवार्थ सूचक जिगिस्थाति इत्यन्त धुमूपमाञ् ज० मुकुर्धमन्तो धिष्यति शक से तुल्य म अक्षिर्ध्वो। वेद में वे लगभग ६० हैं (अवेस्ता में लगभग एक दर्जन हैं) इसके अति रिक्त सादृश्यमूलक रचनाएँ जैसे ऋ० दिबियामि जो बिसते के निकट है पिपीयन्त जो पिपासति के समीप है अयर्ब० पिपतिपति (*पिस्त् पत् से बहुत दूर नहीं था जैसे पिप्त् व० दिक्जे बन् से) की रचना इस रूप की समीपता की परिचायक है।

भारतीय ईरानी में इच्छार्थक पर प्रत्यय के जिस रूप ने अधिक विस्तार बरख किया है वह -स्य है जिससे मन्विष्य० बनाने का काम किया गया है। यह ग्रीक और इटैलो-केल्टिक में *से किमुमानियन में -सै वाला रूप है। किन्तु भारतीय-ईरानी रचना स्वतंत्र है इटैलो-केल्टिक में संघवार्थसूचक का बिन्धु मुरक्षित है जो अन्तर्बर्ती है, और केल्टिक में द्वित्व वाले रूप का प्रयोग होता है जो संस्कृत इच्छार्थक वर्तमान के पूर्णतः समान है अन्त में किबुजानियन के विस्तार में भेद मिलते हैं।

एक बात जो अत्यन्त स्पष्ट रूप से सामने आती है वह यह है कि ऋग्वेद में इस रूप की महत्ता की दृष्टि से वैदिक भाषा भारतीय ईरानी के कितने निकट है ऋग्वेद में

अभिव्यक्त के केवल १५ विकरण मिलते हैं। अथर्ववेद में बीस से अधिक नये मिलते हैं, काशी है। सात ही नये इस बात को भी ध्यान में रखा जाय कि ऋचा के विषय का संबंध अभिव्यक्त से बहुत कम होता है। इनमें से जिनका संबंध प्राचीन ईरामी से है, गाथा में वे दो हैं, इधर के अवेस्ता में सात। पुण्योगमन केवल लौह हो जाता है। ऋ० में संशयार्थ सूचक करिष्या () मिलता ही है और एक उदाहरण अतीत काल का जिससे कभीसी कल सम्भाव्य की रचना होती है अनरिष्यत्।

स-अभिव्यक्त-मुक्त सामान्य अतीत

अनर संकेतित रचनाओं में सामान्य अतीत वर्तमान के बल पर अपने प्रत्ययों द्वारा न कि अपने विकरण द्वारा अपने को निश्चित कर लेता है। वो भी भारतीय में सामान्य अतीत में व्याप्ति-मुक्त-स् और-इप् का प्रयोग हुआ है। किन्तु ऐसे रूपों की संख्या बहुत कम है जिनके कई भाषाओं में साम्य है। स् मुक्त सामान्य अतीत के क्रिये सं० अविभि का साम्य अ० दाइसे से प्री० ऐदेइस्त सै० बीससी से है। सं० २ एक० अवाद् संशयार्थसूचक बलत् (इ) का साम्य अ०-अर्त्तु- सै० उएसी से है। बस्तु, यदि संस्कृत अस्तिपि और अ० संशयार्थ० स्तैक्युत् एक ही सिद्धान्त का अनुसरण कर बने हैं, तो केवल इतना निश्चित हो जाता है कि रूप भारतीय ईरानी है। इसी प्रकार संशयार्थ० में और कुछ प्रत्ययों से पूर्व-इप् का प्रयोग संस्कृत कंडिन और हिन्दी में साधुस्मृतक है (मिष्ट, बी० ए० ए० XXXIV पृ० १२०) किन्तु ये प्रकार फिर नहीं मिलते।

विभिन्न भाषाओं में प्रयोग-साम्य ध्यान आकृष्ट करने बाबा है। किन्तु उनमें से प्रत्येक की रचनाओं की इधर की विशेषता को विभिन्न प्रकार से प्रमाणित किया जा चुका है। ऋग्वेद के समय से ही संस्कृत में सजका जाना केवल अत्यन्त अभिर्भ्रंशकतापूर्ण है। उसमें वे कम-से-कम उठते ही हैं जितने मूल सामान्य अतीत (-स् सामान्य अतीत १० इप् युक्त ७० वातुओं के क्रिये अविकरणमुक्त मूल सामान्य अतीत ८८ विकरण युक्त ३८ वातुओं के क्रिये) अवेस्ता में-स् युक्त सामान्य अतीत केवल सजमग ४० हैं, -इप् युक्त तीन। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में-सिप् युक्त दो रूप मिलते हैं आयासिपम् गासिपति और -स युक्त सामान्य अतीत आठ।

पूर्व

पूर्व की एक मसम ही केवल प्राचीन प्रभासी है, जिसमें विशेष और बंसा कि देता जा चुका है "कर्तृवाच्य" रूप वाले प्राचीन अप्रचलित प्रत्ययों की सात बात हैं १ और ३ एक०-स (अथवा भारतीय-स और-ए प्री० बीइसा तथा बीइदे), २ बहु०

-अ सम्यक् अज्ञात स्वरों के इस साम्य से परिवर्तन कम को पूरा महत्त्व प्राप्त होता है एक० १ चक्र, १ चक्र (भारतीय मूस का परिवर्तन-कम कुटीकोविच 'सिन्डोबी प्रैम' रोडाबदीस्की' पू० १०१ किन्तु यहाँ व्यजन से पूर्व स्वतः १ और १ बिबेद्य उपमिपत्तों तथा उनसे आये प्रथम पुरुष के अनुकरण पर उत्तम पुरुष का वैकल्पिक सामान्यीकरण) बहु० २ चक्र।

एकवचन के प्रथम पुरुष में पर्रा (और संभवतः जहाँ) के निकट कुछ-आ मुक्त वातुएँ जिसमें अल्प स्वर स्वर-सभि के कारण है पर्रा प्रकार में जो भारतीय के संबंध में कहे गये के अनुसार है रूप को विद्येपता-उपपन्न बनाने का लाभ वा (इन वातुओं में उत्तम पुरुष के वैदिक उदाहरण नहीं मिलते)।

पूर्ण० की एक मरिभ विद्येपता है प्रथम० बहु० -उ जो प्राचीन० अ से निकसता है वासु अ० बँदहूमा का प्रत्यय।

मध्य० रचनाओं और क्रियार्थ श्रेयां द्वारा यह प्रमाणी पूर्ण हो जाती है नवीनताएँ पुपनी ईपनी में ही बहुत कम हैं (भाजार्थ में विद्येपता नहीं हैं) जिसमें सामान्यतः वैदिक की अपेक्षा पूर्ण० कम प्रचलित प्रतीत होता है अन्वेद के २४० के मुताबत लयप्रय ५० मने ही वातुओं की दो-तिहाई संख्या का प्रयोग हुआ हो। यों का यह विकास धर्म की दुर्बलता से साम्य रक्षता है मरिभ रूप में यह एक मनीम अतीत काल के रूप में आता है जो क्रिया-रूप का निर्माण करते समय एक साव अनुकूलन की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है।

क्रियार्थ-श्रेय

उपर उल्लिखित विकारों के सभी धर्म विरचयार्थ कहे जाने वाले जो उच्चारणकता प्रकट करते हैं क्या की मति मिलते हैं। उनमें भाजार्थ और जोड़े आ सकते हैं जो एक निश्चित रूप प्रकट करने हैं और जिसके विकरण की कोई सास विद्येपता नहीं होती। इसके निपटीत एक संभावना (बच के विस्तार के लिये जाने हैलिए) उन विद्येप पर प्रत्ययों को यों द्वारा अभिव्यक्त की मया है जो भारतीय-ईरानी में आये हैं

सद्यार्थमूचक में -अ (१ एक० मरिभ जो 'मर' की अपेक्षा अधिक आता है में एक भारतीय ईरानी निपात रहता है ताका प्रसथा उच्चारणी किन्तु उसका प्रयोग संस्कृत में बहुत अधिक है)

भाजार्थ (संभावक) में -या अ विकरणपुस्त क्रियार्थों में अल्प में -ए अकार विकरणपुस्त स्वर का स्थान ग्रहण कर लेता है

अपद्(इ) इपान् पठाति पठेद् (१ एक० अरेयम् जो अ० परपुत्रम् में निभ

है, एक प्राचीन रूप हो सकता है तुल्य० मोरए मुक्त शीक आदरार्थ जिसमें 'इ' पुनरावृत्ति प्रकट करती है)।

वेद में सप्तयार्थ० आदरार्थ (संभावक) की अपेक्षा त्रिगुण या त्रिगुण बार आता है। किन्तु धात्विक दुर्बलता के रूप में यह देखा जा सकता है कि गौण रूप क्रियार्थ भेद से संबंधित मूल्य वाले आवेयार्थ की प्रायः द्वित्व-युक्त कर देते हैं, तथा गौण रूपों का आदरार्थ की अपेक्षा निदशयार्थ से भेद अधिक स्पष्ट है। दूसरी ओर मध्य० स भविष्यत् संबंधी सामान्य अतीत (२ ३ एक०) फिर क्त० मूळ सामान्य अतीत (३ एक०) में विभेदारमक क कहे जाने वाले रूपों का संक्रमित कर आदरार्थ अपनी समीपता का परिचय देता ही है (दे० एम्० एस्० एस्० XXXIII, पृ० १२०)।

रूपों का प्रयोग

वाच्य

मध्य प्रत्यय कर्त्ता द्वारा क्रिया यमा कर्म प्रकट करते हैं। येम मारोपीय में। उनसे एसी क्रियाओं का अस्तित्व प्राप्त होता है जिनमें केवल मध्य वाच्य होता है जैसे अस्त पी० एस्ताह, २ एक० रथिं तुल्य० शी० केष्टाह मरत लं० मोरिखर। और जिन क्रियाओं में कर्तृवाच्य होता है मध्य का विरोध मूल्य साम्य रखता है यिधीते बज्जम् उपो तपस्व बुपमा। उसके विविध भेद उत्पन्न होते हैं वीथि का धर्म होता है 'बहु गाय का ब्रूव निकालता है' (मां मांम् वि वीथिम्) ब्रूव का है "स्त्री अपना ब्रूव देती है"। दूसरी ओर मध्य कर्तृवाच्य से विरोध अन्य स्वर्त्ती पर निकता है जहाँ कर्तृवाच्य मध्य द्विक्रमक पानु-सबधी की भाँति प्रतीत होता है वर्धति भयवा बर्धयति वर्धते। उससे मूल क्रियाओं के मध्य का प्राचीन काल में कर्मवाच्य की भाँति अधिक प्रयोग निकला है। स्वयमे। किन्तु ऋग्वेद में तो जैसे ही कर्मवाच्य को प्रकट करने के लिये -य युक्त व्युत्पन्न विकरणों के मध्य का काशी प्रयोग होता है इन्वते का उदाहरणार्थ स्पष्ट विरोध हन्ति मे है, सूर्यते का वृत्ति स दुश्चते का दुर्हे से।

इन विरोधों से यह निकलकर निकालना व्यापक नहीं है कि वेद में एक मध्य क्रिया रूप हो जिसमें एक उपसर्ग विकरण के लिये प्रत्ययों के समुदाय कर्तृवाच्य के समुदायों से विरोध करें उदाहरणार्थ विप्रत है जो हन्ति में मध्य का काम देता है। दोनों प्रकार के विकरण अपने को पूर्ण बनाए हैं, न कि साम्य रखते हैं। मध्य कर्तृवाच्य से सामान्य अतीत भविष्य और क्त० पूर्ण० का साम्य हो सकता है अजित मभाद् भ्रियने परिष्यति ममार। इसी प्रकार प्रत्ययों के लिये है यात्रार्थ में तपस्व तपनु

के विपरीत है कर्तृवाच्य तपति की भाँति मजस्व का अर्थ मजति की भाँति होना चाहिए, न कि मजते की भाँति। सामान्यतः यौग्य वर्ण में मध्य प्रत्यय अधिक पसन्द किये गये हैं। शौचति शौचन्त सुबुधीत शोबुधन्त ज्ञोषि मर्जयति मर्जयन्त, जायते के विपरीत जनिष्ट का मित्र अर्थ है। पूर्व० में प्रथम० बहु० वाक्यु की रचना वाक्यु के भाँति होती है विपर्यस्त रूप में यौग्य असम्यक् होते जो प्राचीन है के निकट है।

यहाँ सुरत इस बात की ओर संकेत कर देना चाहिए कि कृष्ण स्वच्छन्द रूप में मध्य है दर्शन- अ० दशम- ब्रह्मि का कृष्ण है र्यजमान का अर्थ यज्ञ करने वाला साव ही जिस्वादी भी है।

इन समस्त प्रयोगों की दृष्टि से वैदिक भाषा भारतीय और भारतीय-ईरानी से साम्य रखती है। यह कम सच नहीं है कि मध्य की प्रवृत्ति कर्तृवाच्य के विरोध के क्रिये अपना विस्तार करने की ओर है उसका सबसे अधिक स्पष्ट प्रमाण पूर्व० और असम्यक् मूठ के विविध प्रत्ययों की उत्पत्ति में है।

मूल और यौग्य प्रत्यय

बिना क्रियाओं में पूर्ण से बाहर के दो विकरण हैं जिनमें वर्तमान और सामान्य अतीत का विरोध सिद्धान्ततः प्रत्ययों के प्रयोग द्वारा व्यक्त होता है। निश्चयार्थ में अनेके वर्तमान में प्राथमिक के साव-ही-साव यौग्य प्रत्यय मिलते हैं। रूपों का यह विभाजन अर्थ के विभाजन से साम्य रखता है वर्तमान प्रस्तुत अर्थ में होते वाले कार्य का वर्णन करता है अपना सन्वादीत कार्य का उसका अतीत काल अपूर्ण अतीत से संबंध रखता है सामान्य अतीत वर्णन करने का समय नहीं है किन्तु प्रमाण प्रस्तुत करने के समय का है और अतीत की बात को केवल उल्लिखित विषय से संबंधित हुआ न अतीत की ओर संकेत करता है।

किसी यौग्य प्रत्यय वाला रूप अपूर्ण या सामान्य अतीत से मुक्त हो जाता है जिसके बाद वह प्राथमिक रूप का विरोध करता भी है नहीं भी करता अथवा जो मजति के समीप है अपूर्ण है अग्रमम् और अनुमम् जो गुम्नामि अगुम्नात् के अतिरिक्त अन्य विकरणों के आचार पर निर्मित सामान्य अतीत के हैं गमन्ति संघयार्थसूचक सामान्य अतीत है जिसका मण्डान् वर्तमान है। क्योंकि यही संभव रूप कभी नहीं मिल पाते वे स्वभावानुकूल समुदायों में मिलते हैं व्युत्पन्न वर्तमान रूपों से मित्र मूल सामान्य अतीत अर्थे चिनोति अमन् मण्डति असत्त् सिंसरति गुण वाले वर्तमान से मित्र विकरणयुक्त सामान्य अतीत अमृमत् अमृते अमृहत् (और अमृण्) रोहति।

किन्तु इस सिद्धान्त का आदर्श रूप केवल सांख्यिक प्रमाणों में ही मिलता है प्रयोग से प्रकट होता है कि इमन्ति वन्तुषन्ति क वाचबूद (तुल्य० अ० द्वाब्द्वर्तमानता) वमति तुल्य० अ० वम का संबंध वर्तमान से अधिक है। वमति और वमति के समीप वर्तमान भाँति प्रागैतिहासिक काल से चला आ रहा एक प्रयोग है। तुल्य० फ़ेरो फ़र्द वे० मेइए, बी० एच० एच० XXXXX, पृ० १९७। इसी प्रकार वार्त्तु वा २७ १ बर्त्तीति (अ० द्वारा द्वाब्द्वर्त्तात् रूप में) सामान्य अतीत की व्यपत्ता अपूर्ण अधिक है।

इसके अतिरिक्त स्वयं वर्तमान में यौग प्रत्ययों वाले रूप में जब कि बहु भागम द्वारा उपसम्भ नहीं होता सदैव अतीत काल का अर्थ नहीं निकलता अ० ७ इ२ २१ में उदाहरणार्थ एक ही प्रयोग में वर्तमान और यौग रूप पाठ-यास मिलते हैं।

न वुष्टुतीं मर्यो विल्यते वसु
न संवत्सम् रमिद् मघात्

इन गौण वर्तमान रूपों को जयवा मूल सामान्य अतीत को आदेशार्थ नाम दिया जाता है। जिनमें अतीत काल के भाव के निकट वर्तमान निदेशार्थ का भाव निहित है (ऐसे १/१ ८०० के सम्भव उदाहरण आग्नेय में हैं) के निपात हि नकारात्मक न को ग्रहण कर सकते हैं। वुष्टी और उनमें अनिश्चित क्रियार्थ भेद का भाव और हो सकता है आदेशार्थ का भाव भी रह सकता है (निषेधात्मक नकारात्मक माँ इस रूप का अंकना एक यही प्रयोग है जो संस्कृत में सुरक्षित रहा है) सामान्यतः अर्थ संदर्भ पर निर्भर रहता है। य बातें जो अवेस्ता द्वारा प्रमाणित हैं, एक प्राचीन स्थिति की अवशिष्ट मान हैं जब कि अर्थ और रूप का भेद अभी निश्चित नहीं हुआ था।

वुष्टी और संज्ञार्थसूचक आशयसूचक और विवेचनसूचक क्रियार्थ भेद में प्राथमिक और यौग प्रत्यय स्वीकृत होते हैं, यह आदेशार्थ के विपरीत है, जिसमें केवल यौग प्रत्यय रहते हैं। यही बात अवेस्ता में है। ऐसा प्रतीत होता है कि अवेस्ता में मूल प्रत्ययों का कर्तृवाच्य भाव साधारण मन्विष्यत् के भाव से साम्य है (अथवा वर्तमान के अंतर्गत वाक्यांशों पर निर्भर संबंध० में वर्तमान के भाव से) गौणां वा अनिश्चितता या इच्छा के भाव से। संस्कृत में इसी प्रकृति की सफल मिलती है किन्तु अर्थ कम प्रदान रहता है। वर्तमान और विकल्पयुक्त सामान्य अतीत में ति बहुत अधिक मिलता है (—न के बल पर वर्तमान—अधि की भाँति और—आ के बल पर—आनि संज्ञार्थसूचक की भाँति) तथा इसके अतिरिक्त उसकी सामान्य गति बुद्धिगोचर होती है। फलतः यहाँ इस प्रकार सामने आती हैं मार्गों संज्ञार्थसूचक आदेशार्थ वा—अस्तु, दुर्बल प्रत्ययीकरण वाला एक अनिश्चित भाव वाला वर्तमान—जिसमें निर्णीत मूल

स्वर-मंडति वाले तथा पर प्रत्यय -ञ की विभिन्न विशेषता-युक्त कर्तृवाच्य और मध्य दो प्रकार के प्रत्ययों की संभावना रहती है। उसी के फलस्वरूप उसकी विकरणयुक्त वर्तमान के साथ गड़बड़ हो जाती है, और वास्तव में यदि पूर्ण वर्ग के नहीं तो उनमें से अनेक (करति अगमत् प्रकार) के मूल में यही बात रही है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि हिन्दी में संघयार्थसूचक और विकरणयुक्त वर्तमान बराबर नहीं है, और स्माञ तथा अर्धनिक में वर्तमान (स्माञ में पूर्ण पूर्णकारी) भविष्य का बोध कराता है और कोई संघयार्थसूचक तुलनीय नहीं है। सै० एरिट्ट, फरेट से अथवा प्री० ऐथोमाइ बोध कराने के लिये नहीं है (मेइए, 'वार ऐ स्माञ्' XXII पृ० १५७)।

अस्तु, दो रीतियों में अति प्राचीन पाठों में मूलतः अतिरिक्त भाव के प्रति वर्तमान की शक्ति मिलती है। यह भाव कर्त्तृवाच्य भाषा में बता रहता है और आधुनिक वर्तमान तक चला आता है।

पूर्ण

सिद्धान्ततः पूर्ण का वर्तमान (अपने 'अपूर्ण' कहे जाने वाले अतीत काल सहित और भविष्यत् सहित जहाँ वह जितने भाषा में हो) और सामान्य अतीत से विरोध है। यह विरोध विकरण की स्वतंत्र रचना द्वारा (अस्ति वासि अस्यति अस्ति ह्यर्चोति चकार, भिर्नाति विभेद गच्छति अयाम् अद्वा चांशु अस्म्य है) उनके विशेष प्रत्ययों द्वारा (जिनमें सिद्धान्ततः वाच्य संभावित नहीं है। मयसे जुपञ्चम् विभाय जुर्चोप) तथा उसके प्रयोग द्वारा होता है। क्योंकि पूर्ण प्रथमतः प्राप्त स्थिति अथवा वास्तविक फल का बोध कराता है। किन्तु विकरण या प्रमाण नहीं।

वास्तव में यह परिभाषा अपवाद-स्वरूप हो गये प्राचीन अप्रचलित प्रयोगों पर आधारित है और जिसकी प्राचीनता अन्य भाषाओं के साथ तुलना में उमर आती है। फल को प्रकट करते हुए, पूर्ण में उसी से पूर्य की घटनाओं की याद दिलायी। वास्तव में आरभेय में पूर्ण का सामान्य प्रयोग अतीत काल का प्रयोग है जो उत्तम पुराण में बैसे ही बहुत कम मिलता या तत्पश्चात् व्यक्तिगत अनुभव का बोध विशेषतः सामान्य अतीत द्वारा हुआ और जो दूसरी ओर अपूर्ण से भेद केवल एक अधिक गंभीर सूक्ष्म भेद द्वारा स्थापित करता है।

तब से पूर्ण अनेक रूपों में वर्तमान से भिन्न रूप में विभक्त होने की प्रवृत्ति प्रसंगित करता है। वह अपने वर्तमान के वास्तविक अर्थ से पूर्यक हीन समझ एसा करता है। कुछ अनूर्ण और हिन्-युक्त सामान्य अतीत पूर्य से कुछ अतीत काल की भाँति प्रकट होते हैं। किन्तु भेद-रूप जो संख्या में कम है और युक्त वर्तमान के या अनिर्णयार्थ

(युववत्) क क्रियार्थ भेद-रूप का माप बढ़ जाते हैं। (वयस्य रूप में विमाय क आकार पर अबिभेत् (और वृद्धन्त विम्यत्) बनता है जिससे वर्तमान बिभेत् निकलता है वें से अबेदम् चाकन स २ ३ एक० चाकन् गगारि से २ एक० अभागर (और वृद्धन्त वीप्रत्) जिससे फिर बहुत बाद को जागति जाग्रति।

किन्तु ये नहीं रचनाएँ, किसी अन्य रूप में अतीत कालों की रचना और साथ ही मध्य प्रत्ययों क जो दुरू से ही बहुत मिलते हैं ग्रहण करने की भाँति पूरा की मौलिकता मिट जाती है। बाल्य में यह दखा जाता है कि वह वैदिक मापा में भी अपने मूल्य क एक अर्थ की रक्षा करते हुए, कबल क्लैसीकल संस्कृत में एक उदात्त रूप की भाँति व्यवहृत होता है। प्राचीनतम मध्यकालीन नारतीय भाषाओं के समय से यह प्रमाणी निष्प्राण हो जाती है जिसके केवल एक या दो चिन्ह दोष रह जाते हैं।

अन्तु वैदिक क्रिया में विभिन्न युगा क अंग विद्यमान मिलते हैं। इसक अतिरिक्त उसमें रूप एक क्रम में नहीं हैं। केवल धातु है न कि उसकी रूप रचना जिससे उपलब्ध क्रिया की एकता स्थापित होती है। और धातु के अर्थ पर एक महत्त्वपूर्ण वृष्टि से रूप मात्रों का चुनाव जाना निर्भर रहता है, तत्परचाद् धातु द्वारा स्वयं अपने से वाचित एक निर्द्वन्द्व या निर्विष्ट कार्य का। एक वृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वैदिक क्रिया जिसकी व्याकरण के लिये सामग्री प्रस्तुत करती है उतनी ही कौशल के लिये।

क्रिया का परवर्ती इतिहास उसकी दृष्टि का अर्थवा एक प्रकार से भार-भुक्ति का और रूपों क समानान्तर हान की प्रवृत्ति का फलतः क्रिया-रूप की स्थापना का इतिहास है।

संस्कृत में परवर्ती विकास

परिस्मिदि ता अन्वयेत् में ही बयस जाती है। १ एक० संघयार्थ -आ का प्रत्यय निश्चित रूप से नहीं रह जाता और उसके स्थान पर -आनि का प्रयोग होने लगता है निश्चयार्थ १ बहु० -मसि -म के सामने जिस पर बहु ऋष्येव में बहुत दिनों तक हावी रहा पिछड़ा जाता है। विनयस्त रूप में मध्य संघयार्थसूचक पूर्ण हो जाता है -ई जिसका ऋ में केवल एक उदाहरण मिलता है और -सै जो उसमें है ही नहीं सामान्य हो जाते हैं। दूसरी ओर मविष्यत् का विस्तार हो जाता है।

आदेशार्थ रूपों में दस में से गौ का क्रियार्थ भेद-संबंधी मात्र है, जो ऋष्येव में आये भी नहीं है और मकारमक मां रूपों के एक-विहाई के साथ पसने व स्थान पर, ४।५ के साथ पसता है यहाँ तक कहना पड़ता है, यदि कोई यह सोचे कि अपवर्धेद में बहुत-से अंश ऋष्येव के हैं तो क्रियार्थ-भेद-हीन आदेशार्थ कृपा हुआ मिलता है।

पूर्ण बहुत कम मिलता है और गद्यारमक मर्थों में तो विस्तृत नहीं है सामान्य अतीत विरल ही जाता है स-मविष्यत्-संबंधी सामान्य अतीत में अपूर्ण के प्रत्यय आ जाते हैं (एक० २ अरात्सी राब् से अरात्सी बब् स भैपी भी से ३ अनैखीत् निन् से)। यह वास्तव में बहु अपूर्ण है जो भूतकाल की भाँति विकसित होता है साथ ही रहस्यवादी ऋष्याओं में विकसित होता है तथा दूसरी ओर अपना विस्तार करते समय नामवाच पीसी -ठ- युक्त क्रियामुखक के अगुस पड़ती है।

अन्त में कुछ मधीन रूप प्रकट हो जाते हैं, जैसे करोति' जिसमें प्राचीन आदेशार्थ कर्त्तृ और कृषोति निहित है और एक वर्ग प्रकट हो जाता है प्रेरणार्थक का यौगिक पूर्ण गमयाम् बर्त्ता।

बाह्य प्रत्या में रूप-रचना को सरल बनाने की भार गति और भी तीव्र हो जाती है। ऐन्द्रेय में पुरुषवाचक रूपों में आर्षे स अधिर् वर्तमान निश्चयार्थ स प्राप्त होते हैं मविष्यत् का विस्तार होता ही जाता है और बहु अस्वायी निर्धारण के समीप प्रयुक्त एक यौगिक रूप स बस प्राप्त करता है रातपत्र आ स्त्रों हर् भविता।

वर्तमानकालिक बिबरणा में स -युक्त ही एक उत्पादन-शक्ति-संगम है अपवर्धेद के समय से इच्छावाचक भी बराबर गति को प्राप्त होते हैं इसके विपरीत अतिप्रयार्थक बन होते जाते हैं और मध्य तक सीमित रह जाते हैं अनिष्यत् रूप में और उस रूप

में जिसका मुख्य अपने का इतिम व्याकरणीय कार्य में परिणत कर देता है अन्तर देखा जा सकता है।

मृतकाल में से अपुण निश्चित रूप से प्रमुखता धारण कर लेता है सामान्य अतीत साक्षात् उक्ति तक सीमित रह जाता है वहीं तक पूर्ण से संबंध है, जिसका प्राचीनतम ब्राह्मण-ग्रन्थों में कम प्रयोग हुआ था एतरेय के दो भागों में और शतपथ में उसका फिर से प्रचुर मात्रा में प्रयोग होना रुपता है और वह परवर्ती साहित्य में बना रहता है किन्तु अधिक प्राचीन पाठों से संबंधित प्रमाण और उसका अर्थ-विचार-संबंधी अभाव (वह अपूर्ण के अर्थ से अपनी विशेषता प्रकट नहीं करता) यही प्रकट करता है कि वह केवल साहित्यिक प्रमाण के रूप में ही अधिक रह गया था।

इसके अतिरिक्त वर्तमान में स्वयं अतीत को प्रकट करने का संभावना पायी जाती है इस शर्त पर कि उसके साथ कुछ ऐसे निपात सम्बन्ध हों जिनमें अपने में कोई अस्थायी अर्थ न हो अर्थात् ह, स्म इसके अतिरिक्त वेद में अतीत के अर्थ में म् पुरा का प्रयोग हुआ है।

क्रियार्थ भ-संबंधी अभिव्यंजना सामान्य अतीत में समग्र और पूरा में विष्कृत नहीं है वर्तमान में असयार्थभूषण बहुत कम मिलता है किन्तु समावहक की स्पष्ट प्रगति होती है उदाहरणार्थ यदि यत्र यदा और यदि (जिसका वेद में अभाव मिलता है) द्वारा मूक हुए वाक्यांशों में ऐसा मिलता है। अतीत के अर्थ में समास का विकास होता है।

मध्य का सामान्य प्रयोग होने लगता है। इससे अभाव उससे केवल कर्ता से संबंधित कार्य प्रकट होता है। उसका कारण अर्थ-संबंधी विभाजन फिर सामन आता है यत्रति यत्रते मुनक्ति भुङ्कते मृञ्चति मृञ्चते हुआ जो वद म सामान्यतः मध्य में प्रयुक्त हुआ है इस वाक्य में केवल यह निश्चित करते के सिधे अधिक आता है नि ध्वनि कर्ता के सिध और उसकी तरफ है। पापिति ने यत्रति या वसि का काय प्रकट करता है में और यत्रते जिसका प्रयोग उसके सिध होता है जो वसि करता है में भ-क्रिया है। मध्य स्वयं (संबन्धम उदाहरण अमवने में मिलता है) स्वच्छा म प्रति-बिंदु भाव धारण करता है।

अभावपूर्व और सामान्य होने के साथ ही क्रियानूक वग संज्ञाओं से बराबर अधिक स्वतंत्र हो गया प्रतीत होता है नामानु संज्ञा में कम हो जाते हैं। बाद में उनका अस्थायिक विस्तार हो जाता है, किन्तु उस समय जब कि संस्कृत मृत भाषा हो चुकती है और जब कि भाषाओं पर आधारित क्रियामूल रूपों की रचना अनन्तर हो पायी है।

महाकाव्यों के बाह क्रिया और भी क्षीण हो जाती है, इस वार कर्मों के वास्तविक ह्रास द्वारा और उनके प्रयोग की अस्पष्टता द्वारा।

मध्य में विकरणयुक्त रूप अधिक प्रमुख हो जाते हैं। भविष्यत् के मध्य प्रत्यय कर्तृवाच्यों में अधिक प्रसृत नहीं किये जाते। इसके अतिरिक्त कभी कियार्थे अधिक सामान्य रूप में कर्तृवाच्य में हैं।

सामान्य रीति से मध्य विशेषतः पद्य में मिलता है। यह एक प्रमुख रूप है - स्व युक्त आभार्य अतिरिक्त और परिष्कृत बहि का है। इसके अतिरिक्त कुछ छंद-संबंधी बातें बीच में आ जाती हैं। महा० १७६-१४

रक्षते धामर्वात् तत्र, न स रक्षत् अक्षतधाम

किन्तु यह स्वयंसिद्ध है कि छंद-संबंधी विचार की प्रमुखता से व्याकरण-संबंधी दुर्बलता संकेतित होती है।

संभार्यसूचक जो सूत्र-प्रत्ययों में बहुत कम मिलता है। महाकाव्यों में मुक्त हो जाता है। उसमें केवल -आनि युक्त १ एक० का रूप बच रहता है जो आभार्य में मिल जाता है और आभार्य के कुछ स्पृष्ट रूप बच रहते हैं जैसे ३ एक० नुदातु और महावस्तु में मच्छासि मध्यकाशीन भारतीय माया में सारनाथ में बसोक्त० वृषाति यदि यह संभार्यसूचक है तो निस्तम्बेह अन्तिम है जो उद्यत किया जा सकता है। अथवा यह 'होना' क्रिया है।

आभार्य से अथग जो एक क्रियार्थ भेद बच रहता है वह आभार्य (समाचर) है। आधीर्वाहात्मक जो उद्यत निश्चयता है अधिकरणयुक्त आभार्य (समाचर) सामान्य अतीत के रूप के अन्तर्गत सामान्य रूप चारण कर लेता है (मूयात्, मूयासम् जो मनेत् से भिन्न है। भ्रियात् जो बिभूयात् से भिन्न है। पक्षीष्ट जो पथेत् से भिन्न है) उसका प्रार्थना वाक्ता विशेष अर्थ स्रुप्त हो जाता है और वह किसी भी समाचर के तुल्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त भाषे वह सर्वोत्तम साहित्य में सुरक्षित रहेगा। इसके विपरीत समाचर बना रहता है और केवल बाह में प्रचलित गद्य (वेत्तास) में स्रुप्त हो जाता है। उसके विविध अर्थ हो जाते हैं और अनुमान इच्छा कम समाचरता भी व्यक्त होती है। शिगछे स्वयं उसका निरवधार्य के साथ परिवर्तन होने की समाचरता हो जाती है। किन्तु महत्त्व की रक्षा करने में उसकी विविधता मित जाती है। यह केवल वर्तमान में मिलता है। जहाँ तक सामान्य से संबंध है वह महाभारत के बाद बहुत कम मिलता है।

इसी प्रकार काळ भी परिणत हो जाते हैं, यद्यपि कर्मवीरकर्म संस्कृत में अब भी

वर्तमान (अपूर्व और भविष्यत् सहित) के निकट सामान्य अतीत और पूर्ण की प्रणाली ज्ञात थी।

पूर्ण का समस्त विक्षेप मूल्य क्षुप्त हो जाता है और वैसा ही हो जाता है वैसा कोई अतीत काल हो केवल एक बात यह है कि व्याकरण के नियम के ब्यवहार द्वारा जिसके अन्तर्गत सामान्य अतीत तक सीमित व्यक्तिगत अनुभव-सर्वथी बातों से वह पुनः हो जाता है, शैलीकार उसका कथोपकथन में प्रयोग नहीं करते। वह एक ऐसा उदात्त रूप है जो केवल परंपरा द्वारा सुरक्षित रहता है। वह केवल कन्वाक्ष्य में अधिक जीवित रहता है और बितने रूप में वह उसमें विद्यमान रहता है, उतना ही—आ बकार मुस्त यौगिक रूपों बाहको (पाणिनि ने उसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया) बास अन्तत् (महाकाव्यों से पूर्वक) वमूष की प्रवृत्ति में क्षीयता उसका अनुमान करती है मूल्य सहित सभ्य तो बरा कम महत्त्वपूर्ण है।

इसी प्रकार सामान्य अतीत का प्राचीन मूल्य केवल कुछ ध्वन्यकारों में मिलता है ब्राह्मणों के पद्य में उसको निकट अतीत के स्वयं एक सूक्ष्म भेद की तरह बड़ा दिया जाता है काव्य में वह कथोपकथन में प्रयुक्त होता है। किन्तु उनमें कुछ ऋमिक रूप हैं और साधारण सामान्य अतीत निर्बन्ध रहित अतीत व्यक्त करता है। इस धीरे-धीरे का एक काफ़ी सम्पन्न वर्ग है कम-से-कम वह जिसका संबंध स-भविष्यत् रूपों से है (-इप् से अधिक-स् इसके विपरीत -सिप् चकितहीन है)। सूत्र-ग्रन्थों और महाकाव्यों में इन्हें ही विकासप्राप्त होता है अटिस अथवा जिनमें भ्रम की संभावना भी उन मूल सामान्य अतीत के रूपों के स्वातंत्र्य पर वर्तमान रूपों का प्रयोग करते हुए, उसकी बढ़ती हुई संख्या सामान्य अतीत और वर्तमान के निरन्तर विरोध का प्रतीक है ब्याकरणों में-स् मुक्त सामान्य अतीत को सामान्य अतीत का साधारण रूप माना है।

दूसरी ओर अपूर्व व्याकरण के नियमों के रहते हुए भी महाकाव्यों तक में प्रचलित अतीत काल का काम देता है उत्पत्त्यात् उसका परिष्करण होता है, निस्सर्विह ध्वनि संबंधों दृष्टि से सामान्य अतीत की अपेक्षा और शैलीगत मूल्य की दृष्टि से पूर्ण की अपेक्षा कम विशेषता सिद्ध हुए।

भविष्यत् रूप जिसका विकास होता है क सिद्ध वर्तमान है और इसके अतिरिक्त वर्तमान की उसके साथ प्रतिबन्धिता रहती है पहले उस समय जब कि निकट भविष्य की तरह व्यवहृत होता है, उत्पत्त्यात् अन्य प्रयोगों में।

यह वर्तमानकाविक प्रणाली है जिसका प्रमुख क्रिया पर छाया रहता है और वह भी एक साथ रूपों और प्रयोगों द्वारा। अनेके वर्तमान में क्रियार्थ श्रेय मिलते हैं आत्तार्थ और धातुार्थ (संभावक)। इसके अतिरिक्त व्युत्पन्न रूप भी वर्तमान से

संबंधित है उसमें जैसा कि बेसा बाबुका है, भविष्यत् और नियेपत् कर्मवाच्य जो एक व्युत्पन्न रूप का विशेषीकरण है और जो बहुत व्यापकत्व ग्रहण कर लेता है जो उसके साथ बाँड़ देता आवश्यक है वह कर्तृवाच्य के सभी सकर्मक रूपों और साथ ही उनसे बाहर के रूपों (आस्यते प्रकार के अकर्तृक गम्यते और आज्ञार्थ गम्यताम्) के मुकाबले में उत्पन्न होता है। सामान्यतः क्रिया वर्तमान क अस्तर्गत रही जाती है व्याकरण संबंधी अध्ययन के इतिहास के प्रारंभ में धातु द्वारा निष्पेयन के युग से पूर्व क्रिया वर्तमान के प्रथम पुरुष एक द्वारा घोषित होती है यास्क ने लिखा है कृष्मति-कर्मणा सवतिर् गतिवर्मा भाष्यते ह्रस्वो ह्रसते।

महाकाव्यों से अलग वर्तमान का एक नवीन प्रयोग होने लगता है और एक ओर वह हास की बातों की अभिव्यक्ति अबदा (बर्नन करते समय) स्वयं बर्तीत की अभिव्यक्ति करता है, दूसरी ओर भविष्यत् की केवल उसी समय नहीं जब कि उसका संबन्ध निकट की घटनाओं से होता है किन्तु सामान्यतः संबन्धवाचक वाक्यांशों में बहु प्रश्न में उत्साहार्थ में संशयार्थ में अनिश्चितता और नियेधार्थ प्रकट करने के लिये आदरण (समाचक) में आ सकता है अथ में वे क्रियाार्थ मेव हैं जिनका 'यथा' और 'येन' के साथ अत्यधिक प्रचार होता है।

रूप की दृष्टि से भी वर्तमान क्रिया पर छाया हुआ मिलता है सभी क्रियाएँ वर्तमान में आने की प्रवृत्ति प्रकट करती हैं, और ऐसा करने के लिये वे अन्य विकरणों से संबन्ध स्थापित करती हैं प्राचीन काल में ही सामान्य बर्तीत के आचार पर अगमत् करति और तुवति प्रकार की रचना हो गयी थी वेद में ही पूर्ण से बराबर विभक्ति जागति प्राप्त होते हैं महा० उपनिषद् अपना द्वित्व पूर्ण रूप से ग्रहण करता है उपनिषदों में वेदों और विदिति का प्रयास किया गया मिलता है जिसे सफलता प्राप्त होती है। विपर्यस्त रूप में वर्तमान अग्य रूपों पर आधारित रहता है जिससे महाकाव्यों में -सीवतु संमु है वह आज्ञार्थ पर छा जाता है जब कि -य और कभी-कभी -म-महे गौण प्रत्ययों का स्थान ग्रहण कर लेता है। संयोग से इनका कम प्रचार हुआ किन्तु जो निस्तन्वेह व्याकरण-संबन्धी परंपरा से बिहीन रहने के कारण अधिक छाया में रहे होंगे।

किन्तु अब वह प्राथमिक स्थान ग्रहण करता है तो नियमबद्धता की दृष्टि से वर्तमान लीज हा जाता है।

वैदिक भाषा में वह विभिन्न विकरणों के आचार पर निर्मित होता है। इतने से अविकरणयुक्त का लुप्त होना प्रारंभ हो जाता है मूल विकरण कबल परंपरा के कारण बने रहते हैं अनिति के अनुकरण पर अनिम-अपवा कुम के अनुकरण पर कुमि इसी प्रकार कुमि की भाँति कुछ आधिक रूप में समानता रखने वाले सब रूप अस्थायी हैं

नये रूपों में से अधिकतर जिनकी उनके साथ प्रतिउद्भिद्धता है विकरलयुक्त है इस प्रकार महाभारत में है वास्ति से अपूर्ण पुं० अघासठ आशार्च घासन्तु अपूर्ण अहमम् और अघन के आघार पर बनते हैं अहमत् और अघनम् उपनिषदों में स्तुते के क्रिये स्तुवत मिलता है, और प्राचीन रोचिदि और ब्राह्मण-ग्रन्थों के रूचि से भिन्न सूत्रों में रोचदि है। अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय वाली क्रियाओं में रुचति तो वैदिक ही है उपनिषदों में भुञ्जति मुञ्जति जानति महाकाव्यों में पृहति अचयन्त और मिच्छते हैं किन्तु इस अन्तिम क्रिया का अत्यन्त सामान्य रूप है ब्राह्मण० प्रेरणार्थक अचयति भविष्यत् भस्त्वति महाकाव्य भविष्यत् भविष्यति क्रियार्थक संज्ञा भविष्यन्तु और वन्द्युम् बीड भाषा में भिञ्चति प्रीञ्चति आदि और मिच्छते हैं। इसी प्रकार अतिघ यार्थक में ब्राह्मण० लेकायति सूत्र० घासुजति, महाकाव्य० चाग्बभति चक्रमति तथा कुछ अन्य किन्तु अतिघयार्थक का पूरा वर्ग शीघ्रावस्था में मिलता है।

विकरलयुक्त में -अ- -इ- -उ- युक्त रचनाएँ निर्माण-शक्ति रखती हैं किन्तु प्रयोग की दृष्टि से उनमें गड़बड़ विद्यायी वैठी है जैसे कारयति करोति के तुल्य है। जहाँ तक इच्छार्थक के वर्ग से संबंध है सूत्रों के बाद उनमें शीघ्रता आ जाती है, जहाँ में उसके अनियमित रूप द्वारा के बिन्दु प्रकट करते हैं जैसे इयन्-येत् तुल्य० इसलिये वैदिक (छां०उ० का विभत्-स्वामि सतपथ ब्राह्मण विवत्स्वामि के स्वान पर है ही) वास्तव में यह अनुभव में अज्ञात इच्छति + क्रियार्थक संज्ञा समुदाय है जो प्राचीन इच्छार्थक का स्वान ग्रहण कर केता है (इसी प्रकार पाठी में अस्मि संज्ञा इच्छामि आदि)।

इस प्रकार किष्का सामान्यतः वर्तमान को मजबूती से अचढ़े हुए है जो स्वयं रूपों की विविधता को वैठता है, वह चाहे विकरलों से संबंधित हो, चाहे क्रियार्थक में से। इसी प्रकार भविष्यत् का क्रिया-रूप वर्तमान काल की भाँति होता है इससे प्राचीन व्यक्ति वाचक रूपों के निकट एक भिन्न योग प्रकट हो जाता है हस्तास्मि प्रकार का किन्तु न तो रूप की दृष्टि से और न प्रयोग की दृष्टि से ही यह प्रकार सामान्य प्रयोग बन जाने के लिये काफ़ी दृढ़तापूर्वक अपने को बख़्श कर पाता है। जहाँ तक अतीत काल जिसकी प्रतिउद्भिद्धता उसके प्रचुर प्रयोग के रहने पर भी उसकी दुर्बलता को गिचानी है से संबंध है, वह अतिक्रान्तिक बृद्धि को प्राप्त होता जाता है चाहे एसा स्वयं स्व सहित वर्तमान द्वारा हो जो इसी बीच में इस निपात से अक्षय हो जाता है, चाहे-त युक्त क्रिया मूलक विशेषणों द्वारा हो जिनके साथ कमी-कमी किष्का 'होना' अथवा उत्तम और मध्यम पुरुषों में पुस्त्यवाचक सर्वनाम रहता है कर्त्तव्य कर्ता से साम्य रखता है जब उससे व्यक्त होता है तो कामदे से कर्ता करण द्वारा प्रकट किष्का जाता है क्योंकि कर्त्तव्य ठा नपुं० होता है। -उच्यन् युक्त कर्त्तव्य का किष्कामूलक प्रयोग अचिद्व संयमित है। उसमें

एक नवीन सिद्ध के अंश मिलते हैं जो वाक में मविप्यत् की भाँति -य- और -उभ्य- युक्त बन्धनसूचक विधेयण के प्रयोग की दृष्टि से आपस का काम देता है।

निष्कर्ष स्वरूप ऐसा प्रतीत होता है कि हमें एक ऐसी प्रणामी मिलती है जिसमें वर्तमान अतीत कास का विरोध करता दिखायी पड़ता है इससे परवर्ती स्थिति की पीठिका ठीकार होती है जिसमें अतीत कास का स्थान ग्रहण करने वाले कृत्यों का विरोध वर्तमान द्वारा होता है।

अन्य समुदाय भी है प्रेरणार्थकों का वर्ग व्युत्पन्न वर्तमान में से ये ही अकेले हैं जो बच रहते हैं प्राचीन काल से द्वित्व-युक्त सामान्य अतीत अतीत काल में परिगणित किया जाता है। अन्त में -इ युक्त मध्य सामान्य अतीत की -यते युक्त वर्तमान के साथ निकटता से कर्मवाच्य के निर्माण का पुनस्तव प्राप्त होता है, कर्मवाच्य जो वास्तव में -त युक्त क्रियामूकक द्वारा तथा -उभ्य -य- युक्त क्रियामूकक विधेय्य द्वारा पूर्ण होता है किन्तु क्योंकि यह प्रभाषी स्पष्ट नहीं होती उसका ध्वनि-संबन्धी विकास कमजोर पूर्वतः अपरिवर्तनीय रह जाता है इसी प्रकार कर्त्तृकाल प्रत्यकारों का व्याकरण प्राचीन संप्रदायों से अधिक कामान्वित होता है अपेक्षाकृत भाषा के संबंध में उनकी अपनी व्यक्तिगत भावनाओं से। ऐसा संस्कृत में नहीं है, यह मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में और आधुनिक भारतीय भाषाओं में ही है कि एक नवीन प्रणामी का निर्माण देखा जाता है, अपना उचित रूप में भारतीय-आर्य भाषा में बनी प्रथम प्रणामी के निर्माण का।

उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा

पामी में क्रियामूर्च्छक रचनाएँ बहुत बनी रहती हैं और कुछ नवाम विकरण उत्पन्न हो जाते हैं किन्तु यह वास्तव में पुनःसंयोजन की प्रवृत्ति के कारण है। जहाँ तक उस समय की प्रपाठी से संबंध है वह सरल हो जाती है उसमें वर्तमान भविष्यत् (अथवा संश्राव्य) और अपूर्ण तथा अनिश्चित भूतकाल से संबंध अतीत काल है। क्रियाएं भेदों में संश्राव्यमूर्च्छक नहीं मिलती उसके कुछ चिन्ह आज्ञार्थ और आधरार्थ के रूपों में मिलते हैं।

वर्तमान

पाष्यों की प्रपाठी में केवल दोष कृतवाच्य और कर्मवाच्य का विरोध प्रत्ययों में दृष्टिगोचर नहीं होता बरन विकरणों में होता है। फलतः कर्मवाच्यों में भीर-यति युक्त क्रियाओं में जो स्वयं संस्कृत में स्वेच्छापूर्वक वास्तविक या भावना-संबंधी स्थिति भी प्रकट करती हैं कोई अंतर नहीं है। फलतः पामी में हैं मच्छति (मै० नृत्पति) पत्सति (पृ० पत्सति और अप्त् ९ में पत्सते) कृप्सति (महाकाव्य कृप्सति और कृप्सते) और साच ही मञ्जति (मन्सते) बुञ्जति बूसरी और बुञ्जति (उञ्जते) दीयति पञ्चति (पञ्चते) लभ्यति (लभ्यते), हुञ्जति (हृन्सते) कथिरति (क्रियते के लिये *कार्यते)।

भूत्पत्य क्रियाओं में पर प्रत्यय का बीर्य रूप प्रचलित मिछटा है निस्सति (दुञ्जते) के निकट प्रेरणार्थक दम्बेति (दर्सयति) का कर्मवाच्य में है वसिसयति इसी प्रकार मात्रिमति (मात्र्यते) मारियति पुत्रियति उसमें एक मातोपीय और वैदिक छपात्मक निमम मिछटा है निमक प्रमाण बिरोधतः नामजाल पर प्रत्यय के आधार पर मिलते हैं (देहप, 'इन्डोइयन' पृ० २४४ आनल्ड, 'वैदिक मीटर' पृ० ८५)।

किन्तु पर प्रत्यय का यह रूप जिसका छाम मूल की स्पष्टता की रक्षा करने में है प्युत्पत्य क्रियाओं में कोई बिरोध बात नहीं है। यह साधारण क्रियाओं में पाया जाता है, और उसी नियम के अनुसार उसका विभाजन हो जाता है एक ओर पुच्छियति (पुच्छयते) पुच्छियति बूसरी और बिञ्जति (बिञ्जते) युञ्जति (युञ्जत)। छपात्मक परिवर्तक-रूप के कारण भी हीरति (हिर्यते) के निकट हरीयति के बीध स्वर की वपना

की जाती है अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तो सादृश्यमूलक पतीयति है जो पतति से सम्बद्ध पातेति का कर्मवाच्य है तुम् • अघोक बु(ञ्)चति ह(ञ्)यति के निकट, एक ओर आरिचति नील(ञ्)चिचति और घुसरी ओर गनीयति। वैयाकरणों के आभार पर परीक्षा करने से दीर्घ स्वर बासा रूप सर्वत्र वैच हो जाता है।

विकरचयुक्त रूप के सामान्यीकरण से उत्पन्न एक प्रधान काम यह भी हुआ कि मूल निश्चित हो गया। विकरचयुक्त रूप का संस्कृत में सूनपाठ हो ही चुका था। मुत्तनिपाठ में प्रयोग हुआ है इण्डि का किन्तु उसका आदरार्थ (संभावक) है हनेम्य जो हन्ति के अनुकूल है। संहिताओं के पश्चात् प्राचीन संक्षयार्थसूचक वर्तमान हो जाता है इसी प्रकार संस्कृत महाकाव्यों की भाँति पामी में पाया जाता है रोचति रचति आचति आहाच-ग्रन्थों के आसते (वास्ते) के अनुकूल है, सेहति महाकाव्य के लिहति (लेडि) के पामी में सामान्य असीत के आभार पर निर्मित बसति और मिस्ता है और अन्य की अपेक्षा अच्छे रूप में मिस्ता है। द्वित्व-युक्त बासी क्रियाओं में बचामि में बचाम निहित रहता है, जिससे आहार्य दद आदरार्थ (ददे) जो दग्जा के निकट है भा से च्चस्ते में अचभते नि-सूत होता ही है जिससे फिर महाकाव्य • दधति और पा • दहति जो दहाति से अधिक प्रचलित है आदरार्थ बिबहे सद्देम्यु अघोक • १ षु उपदहेषु निकलते हैं वहाँ तक अगति से संबंध है वह सूत्रों के आपत्ति से साम्य रखता है। -नाति युक्त क्रियाओं में प्रायः -न युक्त आहार्य रहता है पापुष जिन धुण गम्हातु के निकट गम्हातु, अघोक • गहिनेषु मिस्ता है स्वयं निदधयार्थ में जानाति से निदध जानति बहु • जानरे मिस्ता है।

प्रदधार्थक के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बर्ग (धातु के आभार पर निर्मित छेवेति आचयति अचवा वर्तमान पर आचारित नश्चेति अगति बुग्भापेति) और साय ही सामन्तातु के महत्त्वपूर्ण बर्ग में एक ही पर प्रत्यय के वा ध्वनि-संबंधी रूप निकलते हैं आदयति और आदेति और मूल स्वर की कयात्मक बिबिधता सहित नमयन्ति किन्तु पचामेति और विपर्यस्त रूप में दापेति किन्तु समादपेति। वे अघोक में भी बरकरार मिस्ता हैं विररार में हैं पूचयति ब(ञ्)चयति आ(ञ्)चययामि अन्य अमिस्ता में हैं पूचेति ब(ञ्)चेति अनपेति। यह अन्तिम रूप ध्यान देने योग्य है क्योंकि यह उत्तम पुरुष का अन्त्य (-अयति -अयति की भाँति अयवहृत -अयामि) के साथ सादृश्य स्थापित होने का प्रमाण है बिगका प्रभाव होता है -य युक्त मूल का निर्धारित होना।

उमके द्वारा व्युत्पन्न रूप ई युक्त क्रियाओं के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं, जिनमें अन्य दृष्टिकोणों में परिवर्तन कर्मों की दबाकर प्राचीन विकरचयुक्त उत्तम अर्धमूल जोड़ देते हैं एति एण्डि एहि सेति (देते) सन्ति उतका मेति मेमि (नयति) का

एक छोटा-सा बर्य बन जाता है जो एमि एहि म बस प्राप्त करते हुए बेहि के अनुकरण पर बन वेमि को अपनी ओर आकृष्ट करता है वेमि (या जिनाति के निकट है) आदरार्थ वेय्यं (अदेय्यं) ।

इस -ए युक्त क्रियाओं के सदृश कुछ ओ- युक्त क्रियाएँ हैं और प्रथमतः होती होती होमि जो भव भवेय्य और नदि० हेस्सति हेहिति जिससे सामान्य अतीत अहेमू है के निकट है तत्परत्वात् कर्णमि करोन्ति तथा -नु युक्त प्राचीन क्रियाएँ सुप्पोमि सुप्पोम आत्तात् सुणोहि सक्कोमि सक्कोति सक्कोम सक्कोमि (उसका सक्रति कर्मवाच्य है सं० शक्यते) पप्पोमि पप्पोमि अल्लोक० आदरार्थ पापोवा (पा० पप्पुय्य) क्रियार्थक संज्ञा पापोतमे ।

यह सामान्यीकरण मध्यवर्ती प्रत्यय-युक्त शब्दांश का समर्पण करता है -ना- युक्त बर्य इस प्रकार स्थापित करता है जानामि जानाम जानाहि यह कुछ -तो युक्त प्राचीन क्रियाओं को आत्मसात् कर लेता है सुजामि जुनाम पापुषामि जिसका प्रयोग अशोक ने किया है पहिपति और उसमें नवीन रूप मिसा लेता है मा से मिनाति मन् से मूनाति आयति के समीप विनाति क्रियार्थक संज्ञा वेत्तु, जेति के निकट जिनाति संभोति से मिस संमुपाति ।

क्रिया 'होना' सब रूपों में मूल स्वर को बनाये रखती है अल्प अद्वा आदरार्थ एक० १ वस्त् जो सिय के निकट है २ वीज् ३ अस्त् जो ३ सिय आदि के निकट है ।

अन्ततः ध्यात् वीजिण इम्मि कुम्मि की ओर जो सं० महाकाव्य दधि कुमि द्वारा प्रभावित होते हैं जिनमें एकत्रयम सामान्य प्रजाती के विपरीत बहु० के अनुकरण पर पुनर्निमित्त होता है ।

इन सब सुधारों का परिणाम एक निश्चित प्राचीन विकरूपयुक्त की अपेक्षा अधिक निश्चित वाली क्रियाओं का अत्यधिक मात्रा में हो जाता है ।

मविष्यत्

कुछ ऐसी क्रियाएँ रह जाती हैं जिनमें पर प्रत्यय धातु से संघट होता है और जिसका अन्त वामस्य में होता है मोक्षति (माक्षति) बक्षति (बक्षति) भोक्षं (भोक्षामि) कष्टय मे ह्यता है सक्षति (शक्षति) अमवा इत्य मे होता है छेच्छति (छेत्स्यति) बभ्रति (बत्स्यति) । इन रूपों में उन क्रियाओं के सिम आवर्ण का नाम दिया प्रतीत होता है जिनमें धातु के कारण कठिनाई उत्पन्न होती है अगोफ० कर् से कर्षति पा० इह्वामि हन् सं हन्ति । किन्तु वे स्पष्ट नहीं थे बक्षति और वक्षति जो सं० व्रक्षति का प्रतिनिधित्व करते हैं, कुछ वर्तमान रूपों की अपन अतीत

काल के प्रति विपरीतता की भाँति सामान्य अतीत अवस्था (अश्लीत्) के मुहाबसे में आते हैं और वास्तव में वे वर्तमान का भाव ग्रहण कर लेते हैं स्पष्ट पर प्रत्यय सहित भविष्यत् के कारण बताये जाते हैं, यन्तिस्वति और इसी प्रकार सन्तिस्वति, पश्यत संवत्स यन्ति गच्छन्ति के तुल्य है।

स्वर ऊँ बाद पर प्रत्यय स्पष्ट रहता है वा से वस्वति वा से वास्वति और पिस्वति (पिबिस्वति व साच मियम डाप) भू सं सोस्वति इ से एस्वति जि से जेस्वति हेस्वति सीषा भविष्यति से आया हुआ है किन्तु वर्तमान के आचार पर पुन निर्मित होता है अनुभोस्वति अर्थात् होस्वति। इसी प्रकार -ए युक्त क्रियाओं में सं० -अय- कयेस्वति जो संस्कृत कभविष्यति से निकलता है पामी की दृष्टि से कयेति और विशेषतः अतीत काल कयेति का सामान्य भविष्यत् है (इस अन्तिम काल के साथ अधिक विक्षेप सम्बन्ध इनमें नहीं भाँति दृष्टियोचर होता है गहेस्वति अमाहेसि जो वर्तमान गण्हाति सं० मुह्नाति के विपरीत है)।

व्यंजनों के बाद अत्यधिक प्रचलित रचना-भातु (यमिस्वति) और विशेषतः वर्तमानकालिक विकरण से सम्बन्ध -इस्वति है पस्विस्वति पुष्पिस्वति गन्धिस्वति चक्षुमिस्वति प्ररुचार्थक वन्धयिस्वति यह सामान्य भविष्यत् है जो भाष्यों में खोरों का प्रतिपादित करने का काम करता है जैसे जितिस्वति मुञ्चिस्वामि प्रतिपादित करते हैं जेस्वति मोक्ष।

यहाँ गण्यकालीन भारतीय भाषा में उनके बने रहने और आधुनिक भाषाओं में उनके साम्य मिलने के अल्प कारणों में किन्तु जिनकी व्याख्या नहीं की जा सकती शीर्ष मूल की क्रियाओं में पर प्रत्यय द्वारा विक्षेप रूप ग्रहण किये जाने की ओर संकेत किया जा सकता है (पीछे देखें) अणोक्त होइन्ति जो होयन्ति के निकट है, बाहन्ति पौंसि एह्व ओJ (?) एष्य के निकट है, पामी काहसि (जिसमें शीर्ष क्या सामान्य अतीत से आया है?) हाहसि इसके अतिरिक्त स्वयं इन क्रियाओं में विकरणयुक्त स्वर प्रायः -इ हो जाता है पा० पदाहिमि विद्वाहिसि हाहिति एहिसि एहिति हाहित काहिसि काहिति उषी सं स्वयं वरिहिति इसी प्रकार दक्षिसि -ति -न्ति अणोक्त ने रूपगाप और मैमूर में व(इ)दिसिति का प्रयोग किया है और कालसी में वयिपिसति का; यहाँ सामान्य अतीत के प्रभाव की शक्यता मिलती है।

संस्कृत की भाँति भविष्यत् के आचार पर बना है अयवार्थ अमविस्त ३ बहु० अमविस्मानु।

अतीत काल

सामान्य अतीत धीर अपूर्ण पर एक साथ आधारित केवल एक अतीत है। उसमें वैदिक की अपेक्षा सामान्य अधिक आवश्यक नहीं है। कतुवाच्य में बहु बना रहता है १ अयम २ इ अयमा बहु० अयमाम्-अम्ह अयमम्-एव, अयमं एक० १ अयं, २ अया अया इ अया यहु० १ अयम्ह २ अयम् २ अयू अयु (दि० अय्यत्र)। मय्य रूप एक प्रकार से अपूर्ण के हैं बहु० १ अकरम्हसे २ अमज्जत्स ३ एव० ३ आपेय बना सम अमज्जम्हं, अयोचं धीर अयव। अग्रयन्ति प्राचीन रूप अहं (अत्राक) जिससे अहं जो आत्क ३ ३८^१ में उसी छन्द में मिलता है जिसमें अहं अका जो अकर के निकट है, धीर अजासि।

अधिक सामान्य विशेषता सामान्य अतीत की है उसके पहले चित्-स्वनि हो या न हो एक० ३ अस्तोसि अचोक० नि(क)सिमि जिसम अगमि १ अस्तोसि अस्मि (वैसा च्- मं वधीम् है ही तै० सं० अग्रमीम्) बहु० ३ अस्तोस्तु, अयमिस्तु, अयमिस्तु। स्पर्श में अन्त हुई मूल बाकी कुछ क्रियाओं में सामान्य अतीत मन्वियत् क निकट पहुँच जाता है अछिञ्चि (अस्तीत्) अहन्ति (अत्रास्तीत्) जिसस अयस्मिन् (अह्- अककोचि (अय्) पावेचि (चिम्) अचियञ्चिस्स और अयञ्चिस्स क वीच उत्तम० एक० में अन्धन संकोचमय वृत्तियोचर हाता है। चिन्तु अतीत काल का अधिकारस माय वर्तमान के आचार पर निर्मित हुआ है

एक० १ अयञ्चिस्सं अपूर्णत्वं परिच्छेदित् अमन्त्रिस्स मुञ्चि अमुनि ३ आममि धीर आनेसि इच्छि अपिचि हति बहु० ३ अचिन्तु, अचवा अचन्तु, अचोक० इच्छिन्तु, अलोचयितु, हुस्तु।

मध्य में एक० २ पुञ्चिन्तो ३ पुञ्चिन्त्य अचोक० नि(क्)सिमि(त्)पा, बहु० १ अकरम्हस में सामान्य अतीत के विकरव हैं एक० २ अमज्जत्स ३ आपप मयाक० हुपा (पा० अहोसि) बहु० ३ आमज्जत्स, अयज्जरे का संबंध अपूर्ण छ है।

अहाँ तक पूर्ण से संबंध है उसमें केवल कुछ मानावयंय रह जाते हैं ३ एक० आह बहु० आहु तथा इस अतिथ के समीप आहुनु बना भी दिया है (साय ही महावस्तु) दूसरी ओर चिहु (—) है जो वैचि (अवेदीत्) में बहुवचन का काम देता है।

निष्कर्षार्थ के प्रत्यय : मध्य, मन्वियत्

वैसा कि देखा जा चुका है पानी में कुछ मध्य प्रत्यय बन रहते हैं। ये उन प्रत्ययों के बने हुए रूप हैं जो प्रवातन पद्य बय पाठों में आते हैं यद् अधिकमात्र एक ऐसी फेज्जन्-गर्बधी प्रयापी द्वारा होना है जो आगे दीर्घ स्वर का व्यवहार करने वाली थी

अथवा इस मुर का कोई भाषा-विज्ञान-संबंधी महत्त्व नहीं है, क्योंकि साहित्यिक मध्य-कालीन भारतीय भाषा में सभी अन्त्य स्वरों में दो मात्रा-कास हो सकते हैं, जो कहना चाहिए वास्तव में सब ह्रस्व थे। तो इससे आश्चर्य नहीं होता चाहिए कि मध्य प्रत्ययों का कोई विशेष महत्त्व न हो। कुछ उदाहरणों में जैसे एक० २ पुच्छिन्त्यो (जो कहना चाहिए ठीक-ठीक रूप में वाचा कर्तृवाच्य है -वा + -ञ > - *ष) ३ पुच्छिन्त्यो उनमें सवृद्ध स्वरों में अन्तर मिलता है इसके विपरीत २-१ (अ)पुच्छि (अ)पुच्छसि अस्पष्ट है।

किन्तु एसा प्रतीत होता है जैसे मध्य के महत्त्व का पूर्ण सोप हास की चीज हो गिरनार में अशोक ने लिखा है चुकरं करोति किन्तु मंगळं करोते (स्पष्टतः अपनी वास्तविक इति के अनुकूल) क्या यह वैपरीत्य केवल किसी संयोग के कारण है? इसी प्रकार गिरनार में वहाँ म(य्)ञे है वहाँ अन्त्य संस्करणों में म(य्)मिति है किन्तु उसमें मूल निरुचयार्थ के कुछ ही रूप हैं म(य्)ञे का संशयार्थसूचक है म(म्)मा तथा कर्मवाच्य में आर(ञ्)मरे, भविष्यत् आर(ञ्)मिसरे, से भिन्न सामान्य अतीत आर(ञ्)मिसु है।

इससे उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा के -र युक्त प्रत्ययों के समुदाय के विषय में एक प्रश्न उठता है। यह मध्य स्वरों का है क्योंकि सं० -उ में भारतीय दृष्टिकोण से *ञ नहीं रहता अथवा रे संस्कृत में बहुत कम और पामी में बहुत प्रचलित है वर्तमान में समरे, साधरे (सादन्ति द्वारा स्पष्ट किया गया) बीयरे जो बीयन्ति और पीरन्ति के निकट है, हुय्यरे जो हुय्यन्ते के निकट है, मिय्यरे जो मरन्ति के निकट है अशोक में अर(ञ्)मिसरे है जो भविष्यत् भविक है। कपवाच रूप में यह रूप वही कास अक्षरसरे में मिलता है और दूसरी ओर है अमञ्जर् वहाँ एक प्रकार से जो वैदिक -रन् का अवशिष्ट रूप है जैसी कि गाइगर की इच्छा है, क्या रे अन्त्य १ बहु० सामान्य गीण के अनुकूल नहीं हो जाता ?

१ एक० और २ बहु के मध्य प्रत्ययों सं० -त पा० -ञ (अमास्य अमञ्जर्) एक अन्तिम समस्या प्रस्तुत करते हैं और महत्त्वपूर्ण भी क्योंकि उनका सम्बन्ध अत्यधिक स्पष्टतः प्रत्ययों से है।

जिनका संबंध मध्यम० बहु० से है उनमें सिद्धे यह अनुमान करना आवश्यक है कि प्राथमिक प्रत्ययों का प्राचीन -ञ कर्तृवाच्य के गीण प्रत्ययों की आर शुरु गया है, संभवतः आत्रार्थ लभय को मध्यस्थता के कारण और फिर आदरात् लभेय (अशोक० वर्तमान पापुनाय आदरात् पटिबदेय) के कारण और उसके द्वारा मध्य में प्रत्यय -ञ के कठिन होने के कारण (कभी-कभी उसका प्रतिनिधित्व -ञ्चो द्वारा होता है जिससे

*-बृ-ज का अनुमान होता है)। अस्तु, संज्ञेय में बहु मध्य पर कतुबाध्य की प्रमुक्तता का एक विशिष्ट उदाहरण हो जाता है।

प्रथम पुरुष एक० तो और भी मही मति स्पष्ट नहीं होता अमास्य असोक० आदरार्थ पटिपञ्चय = पटिपञ्चय निश्चयार्थ असोक० हुआ किन्तु मगपाठ में हुआ। २ बहुवचन के प्रत्यय का विद्युद्ध यांत्रिक सादृश्य अपने में अपर्याप्त कारण प्रतीत होता है। संस्कृत में -वा मध्यम पुरुष है जिसका ठीक-ठीक पाली में -वो हो जाता है (मध्यवर्ती *-व का पुर -अ के साथ मिलता है तुल० अबो वासवो)। २-३ एक० के मीम प्रत्ययों की प्रायः मिलने वाली निकटता को स्मरण करते हुए (पुनरुक्त है अस्तोसि ई और ईत्) क्या यह सोचना आवश्यक है कि *-याँ -वो द्वारा (आदरार्थ लभयो सुत० जो समिस्ससि द्वारा स्पष्ट होता है अतीत काल अमञ्जित्त्वो) स्वान-व्युत् होने से पूर्व प्रथम पुरुष की ओर झुक गया है ?

इसके अतिरिक्त अतीत काल में मध्यम० बहु० अस्तुत्व अगमित्य है, जो सं० अद्योष्ट, अबोधित् से मिला है। तथा मध्य के प्रथम० में पुञ्छित्य सुमित्य प्रकार प्रचुर रूप में प्रतिनिधित्व प्राप्त करता है। वन्त्य अपत्यासित है।

जिनका संबंध बहु० के मध्यम पुरुष से है उनमें फिर भी एक मुक्ति-सयत सादृश्य मिलता है -म्ह मही मति -स्म और -न्म का बराबर प्रतिनिधित्व करता है उसके कुछ प्राथमिक रूपों का अस्तित्व प्राप्त हुआ है, विशेषतः क्रिया 'होना' का भूतकालिक वृद्धतों के साथ संबन्ध होना पाया जाता है उदाहरणार्थ आगद्'अत्य आगद्'अम्ह।

प्रथम एक० में मूर्द्धन्य जिसकी आशा की जाती है एक बार असोक घोषण में प्रमाणित होता है (निष्मिठ पढ़ने में निष्मिठ्?) अम्यत्र बहिषा आवि। पुतनुका के अमिल्ल में कमयिय है, फलतः यह अनुमान किया जा सकता है कि यहाँ स्वान परिवर्तन इषर हास का है। बहु-ज प्रथम एक० की रचना पर निर्भर रहता है।

यदि -म्ह वर्तमान द्वारा स्पष्ट हो जाता है तो यह और भी अधिक प्रमुक्त रूप में देना जाता है कि किस प्रकार स्वयं वर्तमान में १ बहु० लमम्हे (दूसरी ओर मध्यम बहु० लमम्हे पर आधारित) निमित्त होता है दोनों दुर्लभ प्रत्ययों को कहना ठीक होया लमामसे और लमाम्हेसे तुल० अस्मसे अम्हसे की मति ही।

अस्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि मध्य पर कतुबाध्य-रूपों का प्रभाव रहा हो और साथ ही गौण रूपों पर प्राथमिक रूपों का।

इस दूसरी बात के कारण भविष्यत की कुछ विशेषताओं की यचना की जा सकती है सोस्सामि और मुम्ह (भु) कच्छामि और कच्छ' (कम्-) असोक विरलार चित्ता पयिसं अन्यत्र सेत्तापेसामि एह० कर्प (पा कासं) काससी कच्छामि। वावरुत्तायेक

ने यह बताया है कि अथोक० मा पमि(ङ्)म(स्)समि(स्)सं जो भ्रंस् से है मविप्यत् और आदेशार्थ है। यह देखा जा चुका है कि सामान्य अतीत इस्स और -इसम् में कितनी अनिश्चितता है।

विपर्यस्त रूप में उत्तम० बहु० का कर्तृवाच्य के साथ योग से बना प्रत्यय गीष् रूप के विस्तार द्वारा अपने को स्पष्ट करता है -मो -म के सूत्रम रूप में सामान्य परिणाम आदेशार्थ के लिये गवीन रचना -मु प्राप्त करने के लिये इसके विपरीत -म का मध्यम पुरुष के -व के साथ मुर मिल गया था इसके अतिरिक्त उँसमें प्रथम बहु० के प्रत्ययों को छोड़कर अन्य सभी प्रत्ययों के साथ संक्षिप्ति द्वारा रखे जाने का काम था।

इस प्रकार उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा में क्रिया के व्याकरण-संबंधी बर्णों की सख्या घटाने के प्रयास के कारण विकरणों और प्रत्ययों की प्रचुरता मिलने लगती है। अपने प्रयोग के आभार पर समुदाय में वे सरल होने की प्रवृत्ति प्रकट तो करते हैं किन्तु मपी-मपी रचनाओं की ओर नी जिनका कारण कभी-कभी समझ में नहीं आता। यह भी पाया जाता है कि सरल क्रिये जाने का प्रयास उग क्रियार्थ भेदों के इतिहास में उपलब्ध दुस्वृताओं की सीमा पर पहुँच जाता है जो मध्यकालीन भारतीय भाषा में शेष रह जाते हैं, अर्थात् आज्ञार्थ और आवरार्थ।

आज्ञार्थ

-व के मध्यम० बहु कर्तृवाच्य और २ बहु मध्य-श्लो के संबंध में तो बताया ही जा चुका है। मध्यम० एक० में अधिकरणमुक्तों का प्रत्यय अपने को बनाये रखता है और विस्तृत करता है वृहि देहि, अस्साहि किन्तु जीव के निकट जीवाहि भी पक्ष के निकट उमाप्साहि, सुबाहि और सुज के निकट सुयोहि (बैरिक भृषुहि स भृषु) करोहि, तुस्याहि। इसके अतिरिक्त -स्तु बहुत प्रचलित है यह संस्कृत में सामान्यतः मिलने वाले -स्व का स्वाभाविक है व्यवहार चाहे तो ध्वनि-संबंधी रूप में विभारणीय हो सकता है चाहे-स्तु -स्तु मुख्य प्रथम पुरुषों के प्रभाव के रूप में हो सकता है पुच्छस्तु मुष्चस्तु, अहस्तु साथ ही मिलता है १ बहु० पत्नी जो पापुबध्याम द्वारा विवक्षित है। आदेशार्थ के रचय अत्य के लिये इसके बाद देखिए।

आदेशार्थ

अन्य योग रचनाओं की भाँति मध्यम० और प्रथम एक० के प्रत्ययों में अत्य ध्वजनों के रूप के बाद गड़बड़ हो जाती है रज्जा जो प्रथम पुरुष से सम्बन्ध रहा आता है मध्यम में नी व्यवहृत हुआ है। उससे प्राचीन संवाचार्थमूचक के साथ योग होता है (जिसने कुछ स्पष्ट उदाहरण बच रहे हैं, जैसे गरहासि भवाय वास्तव में मध्यम

पुरुष में है) जिससे फिर एक० के बिन्दे एक तिज प्राप्त होता है ? दज्जं १ दज्जसि ३ दज्जा । इसी प्रकार विकरणमुक्तों में २ ३ क्रम जो लभेय लभेयु (अथाक० में प्राप्त रूपों का प्रकार) के प्रभावान्तर्गत लभेयों में व्याप्ति को प्राप्त होता है तत्पश्चात् पाली में [संभवतः दज्जं दज्जु का (बो दीर्य शब्दांशो का) छादिक परब प्राप्त करने के लिये] लभेय्यां रूप के अन्तर्गत दृढ़ हो जाता है, अंत में बो २ लभेय्यासि प्रभाव करता है जिससे हैं १ लभेय्यामि और लभेय्याति और इसी प्रकार बहु० म १ लभेय्याम २ लभेय्याव जो लभेय के निकट है और जिस -एसि मुक्ति क्रियाओं के विरोध प्रेरणाधिक के, वर्तमान रूपों के साथ मुर मिमाने में असुविधा हुई।

यह प्रणाली सामान्यीकरण के एक वर्ग से निकसती है किन्तु अद्याक की कृपा से यह बात हो जाता है कि इतिहास अधिक बुरा है और उसमें अपरिपक्व प्राचीनिक रूप दृष्टियोग्य होते हैं उसमें कुछ रूप थे १ एक० -एई जो -ए(अ)ई है पाली में कृत्त रूप लभेय्याई प्रकार है जो उसी सिद्धान्त पर निर्मित होते हैं बहु० में लसय्यां म् इसी प्रकार मध्य में बरेय्याहे। प्रथम० बहु० में अयोक में मासमयेयु है जो -वैयु का ध्वनि-संबंधी रूपान्तर है, और साथ ही मीळमानु है जो अब भी संघटार्थसूचक के साथ मिश्रण का प्रभाव है। गिरजार में और भी मध्य है सुसुत्तेर जो प्राचीन है और सुनाह जो संघटार्थसूचक है अबका आजार्थ।

पाली क्रिया परस्पर विरोधी बातों का प्रभाव है एक ही प्रणाली के सरलीकरण की ओर, और जो परंपरागत बुराईयों का अंत प्राप्त नहीं कर पाली विरोध सामान्यीकरण के लिये प्रयास से कुछ मवीन रूप आ जाते हैं दूसरी साहित्यिक मूल है, जो प्राचीनता-प्रिय है तथा यह कह देता सावधान है कि हम यह बता सकते हैं असमर्थ हैं कि अनेक रूप जो स्वयं नवीन हैं, जहाँ तक संस्कृत व्याकरण के अनुक्रम नहीं हैं।

प्राकृत

प्राकृतों की विशेषता बड़ीत बाछ का ह्रास है। जैन प्राकृत से बाहर केवल आसि मिलता है। जैन प्राकृत में आसि व्यवादा अमू और होत्या तथा कुछ अन्य रूप निकले हैं जैसे (अ)कासि वमासि बहु मे कुछ छात्राओं के साथ प्रयुक्त होते हैं बिपर्यस्त रूप में पाये जाते हैं, उदाहरणार्थ प्रथम० मे और साथ ही एकजवन के उत्तम० में कौरिस्तु आहु ३ एक० तथा वहु० के निकट निकले हैं जैसे पानी मे आहुंस्तु जो १ और ३ एक० में समान है। इत्यां युक्त प्रत्यय (प्रेरमार्भक में -एत्त) मध्यम और प्रथम पुरुष में निकले हैं। इसी प्रकार विशेष का कथन है कि अच्छे वग्ने (-च्छिद् और -मिद् से) का प्रयोग आवरण की भाँति हुआ है।

तो जब केवल वर्तमान (आज्ञार्थ और आवरण सहित) और भविष्यत् का संबंध और शेष रह जाता है इसमें यह प्रनाली पानी की प्रनाली के निकट बनी रहती है।

वर्तमान के विकरणों की रचना एकामिक है किन्तु क्योंकि उसके किमार्थ-भेद महत्त्वपूर्ण नहीं रहे इसलिए, उन्हें छोड़कर दिनका संबंध प्रेरमार्भक और कर्मवाच्य से रहा उनके संबंध में करना निरर्थक है।

प्रत्यायक का निर्माण -ए (स०-अय) से युक्त होता है हाथेइ किन्तु विशेषता-भे से युक्त (स -यय) और यह निस्मिदिह धातुओं से निकलता है ठावेइ (स्वाप-यति) की भाँति ह्सावेइ, बाजावेइ (वर्तमान के विकरण पर निर्मित) और साथ ही जाणवेइ, ठवेइ।

कर्मवाच्य का सामान्य गात्री है इस हो सकता है-इज्ज -इ(स्)य स निकलता हो वर्तमान के विकरणों के साथ उदारतापूर्वक जोड़े गये हैं धरिज्जै मुणिज्जै (मु) पुण्णिज्जै (पुष्-) और इसी प्रकार दिज्जै (दीयते) पिज्जै। कुछ सबल कर हैं हिस्ती वीर्य (वृन्त्यने) मुष्ठी (मुष्थने) यमी (गम्पत) इस बात का भ्रं करना कठिन है कि वीर्य से सामान्य व और किम्हें प्रत्यकारों ने मन्वृत के अनुसरण पर बना किया वा।

वर्तमान की रूप-रचना में कुछ ध्वनि-संबंधी नवीनताएँ हैं २ बहु उट्टेइ १ एक बट्टेमि जो वट्टेमि (वैपाकरणां का ज्ञात कर्ममौकल प्राकृत व किय न कि पाठों में) के निकट है। किन्तु इसके अनिश्चित बहुवचन के उत्तम० में विशेषतः पद्य में -म जैसे पानी में (और नियमं प्रणिगाम) और -म्ह पाया जाता है (और साथ ही एक०

में-न्दि। तुल० क्रिया 'होता' १ एक० मिह १ वहु० म्हु म्हो और जैन में मि मा) किन्तु प्रचलित रूप है मा अवस्था-म्, जिसका मूलम रूप है तथा स्वभावतः वास्तविकता के अधिक निकट है। इसका अतिरिक्त विकरणयुक्त स्वर का प्रायः स्थान ग्रहण कर लिया जाता है इ द्वारा बाणिमा बन्मिो ह्मिमो मिहिमो इसी प्रकार एकवचन में किन्तु कमी-कमी जानिमि यह सम्प्रदायमक है कि द्वयसंज्ञात्मक भावुओं के मन्वृत क्रिया-रूपों में से एक छेप रखा हो बन्मिमि तो पाली से है जिसका स्थान इमि न ग्रहण कर लिया है यह दृष्टिपोषण नहीं होता कि किस प्रकार इ युक्त सामान्य जनीत अवस्था इति युक्त भविष्यत् रूप हुए इस बात का स्पष्ट करने के लिये कि यह बात प्रथम पुरण तक ही सीमित रखी जाय तो ध्वनि-संबंधी क्रम की व्याख्या आवश्यक होगी।

जहाँ तक मध्य प्रत्यया से संबंध है वे हैं (प्रथम० बहु०-म्ने और-इरे में) किन्तु स्वयं वैयाकरणों में ही तिङ्ग पूर्ण नहीं है और जो कुछ निश्चित रूप से ज्ञात है वह यह है कि य कुछ नापा-बिज्ञान-संबंधी महत्त्व से हीन रूप हैं।

आचार्य २ एक० में तान प्रत्यय हैं या पाली के प्रत्ययों से साम्य रखत हैं रक्त मनाहि रक्तम्। जिसका संबंध अन्तिम से है वह क्या वर्तमान (रक्तसि) के छम के अनुकूल बनाया गया पाली-स्मृ है? अथवा इसके विपरीत क्या वह यहाँ मूल प्रत्यय नहीं है एक ओर-म् के अनुकरण पर-म् तथा दूसरी ओर-मि-ति? यहाँ यह पूछने का लोभ हो सकता है कि यह कहीं पाली-स्मृ-म् के पुनःसंस्कृतीकरण के प्रयास के रूप में तो नहीं है।

आचार्य में कमी-कमी यह प्रत्यय मिल जाता है करणोंमु जो करेणामि वारि के साथ बरुन वाले करेणसि के निकट है। प्राकृत वास्तव में एक ओर तो कुप्ये वारि का प्रयोग छोड़ देती है दूसरी ओर सिया सक्ता कुण्वा (कुर्वाण्) और उसके अनुकरण पर केण्वा होण्वा जिससे योग द्वारा जोकेण्वा कुप्येण्वा वारि।

किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि उत्तम० का अनुनासिक प्रायः नहीं मिश्रता जिससे कि एक० के उत्तम और प्रथम पुरुष समान हैं इसके अतिरिक्त इस विविध रूप में प्रथम बहु० का नाव है मन्वृ के लिये मन्वृ आगच्छाम् के लिये आगच्छन्वा। यहाँ तक कि आचरार्थ वास्तव में बहुत क्रिया-रूप ग्रहण नहीं करता।

इसके विपरीत भविष्यत् के रूप प्रचुर और अत्यन्त विविध हैं। वे मन्वृ-क-मन्वृ नहीं रहे बात है जो पाली के हैं-इहिमि-इहि(इ)इ, जिनमें 'हीं' है प्रकार के विस्तार का उन्मूलन करना यथेष्ट होगा कथत्-मिलत् है ममिस्मं (विज्ञापत् कर्मिमा कस) ममिस्मामि (जैन बुद्धन) गच्छं (जैन) और गच्छिहिमि। वैयाकरण भविष्यत्वा प्रकार के २ बहु० रूप का जो सामान्य अतीत से आया प्रतीत

निस्सन्देह किन्नामूलक विशेष्य बचवा कृदन्तों से नि-सृत वो प्रसा गौण रचनाओं के संबंध में हो सकता है न कि संस्कृत के आगम वाले रूपों के जारी रखने के संबंध में। ज्यौक में किन्ना "होना" में ये रूप केवल मुक्तिक से मिलते हैं। पामी में आगम का प्रयोग अपेक्षाकृत संक्षिप्त रूपों में ही हुआ (जया जयमा) किन्तु अ-वामिक साहित्य में से यह सुप्त ही जाता है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में खेन्की आदि सहायक-किन्ना चिन्ह के रूप में रह जाती है।

नव्य भारतीय प्रपासी रूपों के दो समुदायों के विरोध पर आधारित है। एक तो वास्तव में किन्नामूलक समुदाय है जो वर्तमान निष्पत्तियों को जारी रखता है और कुछ हद तक प्राकृत भविष्यत् और आज्ञार्थ को एक समुदाय में सामवात रूप मिलते हैं जो न्यूनाधिक आदि रूपों के साथ संबद्ध हो जाते हैं या उनमें मिला जाते हैं। ये रूप कर्त्तु बानी संज्ञा के हैं, उदाह० सिंहनी में किन्तु प्रधानतः वर्तमानकालिक कृदन्तों भविष्यत् भूत के। इन भूतकालिक कृदन्तों के विकरण निष्पत्तियों के वर्तमान के साथ समान हैं या नहीं इसके आधार पर ही किन्नाओं के एक या दो विकरण होते हैं। वर्तमान की रचना विद्वान्मत्त कर्त्तुवाच्य होने के कारण और भूतकालिक कृदन्त की कर्मवाच्य होने के कारण पुनः होने की दृष्टि से किन्ना का कुरूप कार्य है, वैसे ही जब कि बानों रूपों के लिये विकरण विभिन्न होते हैं।

विकरण

उ भविष्यत् कहीं कहीं भी यह मिलता है, और आज्ञार्थ के वर्तमान के विकरण के आधार पर निर्मित होने के कारण की रचना पर विचार करना यथेष्ट होगा।

नव्य-भारतीय की दृष्टि से मूल विकरण विभिन्न प्रकार के हैं। यह जैसे सब व्युत्पत्ति का विनुद्ध कार्य है वैसे ही उन वर्गों के भेद करने का जिनसे उदाहरणार्थ निकलते हैं हि० या (याति) ला (लाति) हो- (भवति) सो- (स्वपिति) कूर (कूर्बति) पूष् (पूषति) कर् (करोति) उद्- (उत्तिष्ठति) गम् (गणयति) पी (पिबति) प्राग् (प्रायति) छिन् (छिनति) जान् (जानाति) गुन् (गुञ्जति) नाष् (नृत्यति) उपम् (उत्पद्यते) सक- (सक्यते) आदि हास की नामवाच्यता की गणना किये बिना।

कुछ भाषाओं द्वारा भूतकालिक कृदन्तों से किये गये ऐसे विकरणों की ओर संकेत करना मुक्तिदायक होगा। जिनकी संस्कृत में संज्ञाओं की भाँति मचना की जा सकती है। जिनसे दो रचनाओं की तुल्यता है, न केवल कुछ सकर्मक में जैसे हि० वीत् और वीद् (उपविद्यति उपविष्ट) किन्तु नृपी के संबंध में वन् वेत्त जिप्पी भाषा फम् गु० जान्- (मज्ज) जो वीद् जिप्पी भाषा फम्, गु० मान् स मित्त है, प्रा० मुक्क- मुष्-

हृदय से निकलते हैं पं० मुक्- संभक्त कृती, वैवेसि मुक्- (बरकुम मुषं क निकट, मुष्यते से) किन्तु गु० जिप्ती भाषा मुक्-, म० मुक्- (सिपी मुष्पु सं० मुष्प से के निकट) भी। इसी प्रकार पं० सद्- से मित्र गु० छाप् छाप् वेस्य जिप्ती भाषा इत् "पाना" का अर्थ प्रकट होता है अर्थ का विरोध अन्त में बैधा ही है बैधा कि सम्यते कर्मबाध्य से निकले म० साम् और मामभातु गु० साम् में है। ती भी हृदयों के कुछ विकरण कर्मबाध्य के विकरणों से प्रकट नहीं देखे जाते उदाहरणार्थ प्रा० सनी लमा सं० सम्यते मन से निकले हैं।

विकरणों के स्वर से नियमित परिवर्तन क्रम उपसम्भ होते हैं यह उस समय जब कि प्राचीन सामान्य वर्तमान के निकट कर्मबाध्य के विकरणों अथवा प्रेरणार्थक के विकरणों का सह-अस्तित्व रहता है। ध्वनियों के विरोध प्रणार्थक में, परिवर्तन-क्रम के भी उदाहरण उसमें देखे जा सकते हैं। किन्तु ये परिवर्तन क्रम सामान्य नहीं हैं और कर्मबाध्य और हेतुक बनाने के सिधे अधिक अनुकूल और अधिक प्रयुक्त पर-प्रत्यय हैं।

कर्मबाध्य

एक ही क्रिया से सीधे दो विकरण निकल सकते हैं, एक वर्तमान सामान्य कर्त्तृ बाध्य या प्रेरणार्थक को दूसरे कर्मबाध्य को बताते हुए।

उदाहरणार्थ सिधी में हैं

कान् (कापते)	का (कापति)
छिग्म् (छिपते)	छिन् (प्रा० छिन्)
बुम् (बुम्पते)	बुम् (प्रा० बुम्)
रम् (रम्पते)	रन् (रम्पति)
कम् (कम्पते)	कइ (कम्पते)
द्रद् (द्रुदपते)	टोक् (टोटपति)

अन्यत्र भी ये ही युग्म मिलते हैं उदाहरणार्थ कइया बम्द् बुन्द्, जिना उन् र्ण । अन्य हैं उदाहरणार्थ जिना द्बे र्बे (बह) नपासी साग् काद (कम्-), सईया गु० त्प ल० ता- गु० हि० ताप् ताद् (तप्-) सईया विस्त् बस्म् औ बुद्-य बर्ष के प्राचीन परिवर्तन क्रम पर आपाण्डि है।

इन सादृश्यभूतक बुधों से ओसिन्धी में काश्ची पाये जाते हैं (उदाह० इह से इम्) जउय इन परिवर्तन-क्रमों में पीछ समुदायों के सिधे जिनम गुन्-रहित मूळ अकर्मक और प्रकृत कर्मबाध्य प्रकट करता है, आदर्श का काम दिया है

हि० क्त्वा क्त्वा (सर्वयति) के अनुकरण पर।

बिच्ना बेच्ना (प्रा० देखीं) के अनुकरण पर।

फट्ना फाट्ना (स्फटयति) के अनुकरण पर।

बन्ध्ना बाण्ड्ना के अनुकरण पर।

क्रियाओं के युग्म नियमित क्रम-माला से नहीं बनते और किसी भी भाषा में उनका परिवर्तन क्रम निरन्तर नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त उनका कोई स्पष्ट व्यं-विचार संबंधी मूल्य नहीं है।

कुछ भाषाओं में कर्मवाच्य के स्वमात्रों के प्रयोग द्वारा सामान्य परिवर्तन क्रम मिलते हैं, प्रा इन्हीं लपवा ईएँ मूल जिसके बिना संस्कृत का स्वर-संबंधी विकार बना रह सकता है वे सामञ्जस्य कर मारबाड़ी करीब् लबीब् सिबीबीब् मारिब् मार से जो मर् का प्रेरणार्थक है जिससे अर्क्युक्त में हसिब् और साब ही कृदन्त के आधार पर निर्मित सिब् धिता चरिब्- तपिब् (कर्मवाच्य के मूल लप् के आधार पर) क्त्वा पड़ीए, मरीसा नेपासी गरीए, चही-वैम पु० म० कग्जे सेविजे बेइज जाइजे पु० गु० कहीयै बीबी तुल्सीदास पुत्रिमत्^{वै} पुत्रिवहि करिज और करीजै पु० ब० कटिऐ, कटिजै और किरिजै। उसके कुछ प्राचीन अप्रचलित प्रयोग रह जाते हैं जैसे म० पाहिये म बंभाबी पाइए, बाभाय कटिऊ, जाइऊ, पं कि जानिये गु० जोइये। इन रूपों का उत्पत्तापूर्वक बन्धनसूचक भाव है तुल्सीदास मुनिब कथा। उससे है भन्न आभाय हिन्दी के (बेसिये) उत्तरी बंगाली के (उनेब) कश्मीरी के गुपिदि जो केवल कर्मवाच्य में वर्तमान हैं जैसे चाहिये तुलु बीरभूमि की बंभाबी में बकाब की भावना भी जागुने हाइ दिये न।

प्रेरणार्थक क कर्मवाच्य सं० -य्यते से भी कुछ रचनाएँ उपलब्ध होती हैं पं० कि जाये कि जानिये (किं जानाप्यते) प्राचीन है किन्तु प सीप् जोसी (सिन्) छ है सादृश्यमूलक है और इसी प्रकार सिबी यन् जा-न् [जा(प)य्ते] जो जम् से मिल है पु० म० बे-न् जो बे इन् के निकट है हारप्। इन रचनाओं के आधार पर और प्रचलित पपिब् हारपिब् प्रकार का अनुसरण करते हुए पुनर्निर्माण किया गया है (बोरेटे, बी एस० भी एस० IV पृ० ५९)।

भंग में एन शीर्ष स्वर वाला प्रकार है। गुजराती में नियमित रूप से व्यंजन के बाद -आ है लृप्ता और स्वर के बाद -आ गया जोबा तुलु० अप भावइ (भावते) तुल्सीदास कहावड इसी प्रकार बंगाली में है बाला बुबा (पु बुबा-) (किन्तु हि बु)। यह अन्तिम त्रिया पासी में विज्ञापति क रूप में है (जिसका प्रेरणार्थक रूप है विज्ञापति) किन्तु इनमें कुछ बात नहीं होता क्योंकि पासी क्रिया का संस्कृत पूर्वस्वर

नहीं मिलता तथा दूसरी ओर—आवृत्ति युक्त संस्कृत व्युत्पत्तियों का कोई विरोध मुख्य नहीं है। प्रेरणार्थक रूपों के साथ अनुस्यूता ध्यान बाह्यष्ट करती है, विरोधत यदि कोई कर्मशास्त्र की भाँति निर्मित "शक्तिशास्त्री" मराठी के निष्कट आय मुद्रायाम बाह्यि र्हेते कर्-अन्-एम् । इन रचनाओं की कुंजी प्रेरणार्थक और मन्वीसूचक की तुल्यता होनी चाहिए अहाँ तक रूप से संभव है सादृश्यों का पूरकत्व यदि कोई हो तो मध्यकाशीम भारतीय भाषा में प्रदर्शित होना चाहिए।

पर प्रत्ययों में मापाएँ सामान्य उम परिवर्तन रूपों को चुनती हैं जो प्रेरणार्थक के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं, बनना पड़ ला आ सहित निर्मित अन्विष्यंभनाओं से निहित मुद्रावारे के साथ पहली अन्विष्यंभना इच्छि को मात्र दिखाती है अन्य दो ईरती की।

प्रेरणार्थक

अत्यधिक सामान्य मीम रचनाएँ प्रेरणार्थक की हैं।

संस्कृत में दो प्रकार के प्रेरणार्थक (और नामवाचु) के

(१) परिवर्तनीय मूल शब्दा प्रेरणार्थक का मूल स्वर गुण से निकलना हुआ होने से अर्थात् संस्कृत स्वर प्रणाली की दृष्टि से एक अतिरिक्त अ होता है इसके अतिरिक्त कुछ विविधताएँ होती हैं पर प्रत्यय -अय-।

(२) -आ युक्त वाचुओं में पर प्रत्यय-न् का योग वा-अवृत्ति मा-अवृत्ति इत पर-अत्यय का विस्तार अन्य वाचुओं तक हो जाता है, सूत्र० के समय से अद्-आपपति।

मध्यकाशीम भारतीय भाषा में दोनों रूप साथ-साथ जीवित रहते हैं किन्तु दूसरा अधिकारिक विस्तार ग्रहण करता है, यहाँ तक कि प्रथम को टिपुण कर देता है (अपोक वाचापमानि) और स्वयं अपने को द्विगुण कर केता है अपोक० इत्यन्त लिखापापिता को लिखापिता और लेखापिता के निष्कट है।

१

पहला मध्य-भारतीय भाषाओं में बना रहता है किन्तु निरिक्त रचनाओं में और एक सीमित मरुपि बड़े क्षेत्र में सिद्धी काँडिर, जिना में उसका अभाव प्रतीत होता है जिसी भाषा के निस्तन्वेइ विभिन्न परिवर्तन-रूप मेर् (मर्) मर् (मारय) का कोई अर्थ नहीं है क्योंकि मर् का अर्थ 'मार डाकना' नहीं है किन्तु "पीटना" है "मार डाकना" होगा मेर। तोरबासी में कम-से-कम मीम सुरक्षित है मोर् "मार डाकना" और सादृश्यों के प्राचीन जाल के दोष चुन् चुन् का विरोध बना रहता है।

[स्रोतार में एक ए युक्त पर-प्रत्यय है (बिना मूल परिवर्तन क्रम के) जिसके संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह प्रा० -ए- का प्रतिनिधित्व करता है अथवा काकित्त में सामान्य -आ पर-प्रत्यय के ध्वनि-संबंधी रूपान्तर का १अद् १अरे बिष् बिभे] ।

“प्राङ्ग” भाषाओं में एक परिवर्तनीय क्रियाओं का समुदाय है जिसमें ध्वजन शक्ति की दृष्टि से अंतस्थ (इव वर्ण) है (उसमें रहता है-इ जो सं -एति का प्रतिनिधित्व करता है और -इयते से निकले -इ का विरोध करता है) और जिसके साथ ही एक प्राचीन कर्मवाच्य पर आधारित अकर्मक दो कर्मवाच्य के वर्ण में प्रेरणार्थक। उसके विरोधी रूप हैं

	गु० बह्-	वाह्-	
	म० पद्	पाद्	
	मद्	माद्	
	बद्	बाद्	
	ठद्	ठाद्	
	तुट्	तोत्	
और भी	बद्	वाद्	
सिन्धी	सद्	साद्	बाद्
	पद्	पाद्	(और पद्दा)
	बिद्	बेद्	(और बेद्दा)
	मुर	मोद्	

कदमीटी के कुछ उदाहरण

कप्	काप्	(जिसमें -म् ध्वनि-संबंधी नहीं हो सकता) ।
बम् ठद्	बाम्	ठाद्
मद्	माद्	

हिन्दी में रचना संभव है

मद्	माद्
छुद्	छोद्
बद्	बाद्
तुम्	तोम्

कुछ नयी रचनाएँ हैं कद् में ए-रव से नहीं आ सकता वह काद् (कर्व्) से आता है इसी प्रकार छद् जो स्वर्ण एव संसृष्ट वाग्द से किया गया है के अनुकरण पर

रचनाएँ हैं विपर्यस्त रूप में प्रेरणार्थक रूप का रूप से आता है जो हिन्दी टीवा (रिक्त) ने बाजार पर बना है इसी प्रकार मेद् का द मिद् (मुष्ट) से आया है देख के अनुकरण पर वीद् बिस् (वृक्षते) का स्वान प्रहण कर लेता है।

अथ वा परिवर्तन-रूप इ पर प्रमुक्तता कारण किये हुए है ए अथवा ज जो कुछ परिवर्तन रूप इ हैं ई उ ओ पीस् के अनुकरण पर वीसे पिस् विपर्यस्त रूप में लुट के अनुकरण पर रूद् ।

बंगाली में कुछ मुम् रूद् आते हैं, किन्तु कमी-कमी अर्थ से बिहीन पड़ पाड़ गळ बाळ किन्तु बस्- चाळ सर् सार् सूर् छोड़ ।
रूप-रचना बेसी ही है बेसी साधारण क्रियाओं में ।

२

इसके विपरीत सं-आपवति प्रा०-आवेह प्रकार बहुत-सा प्रतिनिधित्व प्राप्त करता है और जीवित रहता है मराठी (स्वान के कारण ह्रस्व स्वर सहित) करवि (स्वांतर करवि जो निस्सन्धेह एक दूसरे प्रेरणार्थक करे के प्रमाणावर्धत है) मूजटाटी म्जाद् मारवाड़ी उडाद् सिंधी टरा मवा तुम्सीवास मुभाद् मैपिली लपद् बोली लम्प पु० बंगाली बन्वावए (काद् बाद को पंजाबी हिन्दी बंगाली में -आ का रूप धारण कर लेता है) उक्रिया देसाएँ, किन्तु सुबाह, छा से नैपाली पराउ कए० रूप-आम् जो कस्तवारी के क्यावनाम् के निकट है इसी प्रकार सिन्धी में (कव यव), यूरोपीय जिप्सी भाषा में पेड़ पेड़् गूरी बन् जनी (डुक्कुटाएँ, रे० मीकाहिस्टर, ५१०८) अन्त-वर्ष में कती पिस्-ए और अक्-आ पस्-ए अस्कुन आबावर्ष उयव में उया उप् से वा कमाव माएँ मसे-।

यह रचना उन ईरानी बोलियों पर कव मरी जो भारत की सीमा पर हैं अफगानी बल्ची यिद्वा दे० धादनेट, 'सुडिस' II पृ० २२२, ३२९ (अरबी प्रेरणार्थक-आम् है पहलवी और बलोची -एम्) ।

तो भी साध भारत में उसे अय पर-प्रत्ययों की प्रतिवृद्धिता सोझनी पड़ती है प्रथमतः-आद् सिंधी उचार और दुहरे पर प्रत्यय सहित आ-रा (बैसा जि पर-प्रत्यय और मध्यवर्ती परिवर्तन रूप के योग द्वारा प्राप्त होता है फिद् से मिन्न फेरा जो 'तेद् के समीप है और तीनों एक साथ सेवार् में मिलते हैं), कव० कप् खब् र् (सामान्य रूप प्राचीन प्रेरणार्थक पर प्रत्यय की कार्यवाही सजा के साथ सम्बन्ध हो जाने की अनुमति प्रदान करता है करनाब-) सिना पस्नें पवदेंर सो- सर् उभि उयर् ।
-अद् मुक्त, ग्रीक प्रकार कस्-अर्, जो और जिप्सी-भाषाओं के नामानुओं की एक

दूसरे के समीप जाने का प्रसंग होता है जो जब वे इन्त के आचार पर बगते हैं जैसे तद्-अद् मर्ष-अद् में तो प्रेरणार्थक रूप प्रस्तुत करते हैं। यह सादृश्य-अद् सहित रचना के अनुमान की ओर से जाता है।

यह एक नामवाच पर-प्रत्यय ही है जिसे गुजराती वेल्-आह में देखने का प्रसंग होता है (प्राकृत के सिन्धे हेमचन्द्र द्वारा संकेतित भमाई) तो भी बहुसकम्प की प्रकृति प्रबोधित करता है धन्-अद्-आव् पं के सिद्धास-और, सिद्धास के निकट, सिद्धास विहास-ओ बिहास के निकट है के-स-में देपाही (असाधारण) बस्-आस्- हिन्दी इस पर प्रत्यय का प्रयोग कुछ स्वर-संबंधी वातुओं के अतकरण पर करती है विसा से से मुसा सो से आदि।

प्रेरणार्थक और नामवातुओं के रूपों की तुल्यता वास्तव में संस्कृत के समय से निरन्तर रहती है। किन्तु पर प्रत्ययों का वास्तविक इतिहास नहीं मिलता।

जो महत्त्वपूर्ण बात है वह यह देखना है कि साधारण प्रेरणार्थक विकरणों का विरोध जो कर्मवाच्य में साधारण विकरणों के विरोध से पूर्ण हो जाता है अन्तिम रूप में अकर्मक विकरण और अकर्मक विकरण का विरोध है (असाधारण रूप में एक भिन्न रूप-रचना द्वारा पूर्ण से अन्तम)।

हिन्दी के वास्तविक दृष्टिकोण से उदाहरणार्थ निम्नलिखित में संबंध एक ही है, प्रत्येक समुदाय का मूल चाहे जो रहा हो

मद् (पा० मरति)	माद् (पा० मारेति)
कद्	काद् (सं० कर्दयति)
मिद्	मेद्-अबबा मिटा
पिम्	पीस्-
और इनमें	
पङ् (पा० पठति)	पङ्गा
जाग् (पा० जम्पति)	जगा
मुग् (पा० मुषति)	मुना
मुग् (पा० मुक्त सं० मुक्-)	मुपा
पक्- (पा० पक्- सं० पक्)	पका
बुम् (पा० बुग्मति सं० बुष्मते)	बुसा
बन् (बर्षति)	बना
बान् (बाघते)	बना-

जिन पर प्रश्नों की परीक्षा की गयी है उनके अतिरिक्त काष्ठिर में कुछ विभिन्न रचनाएँ देखने में आती हैं जवाहरकार्य-म् में (अनुनासिकता-युक्तप्राचीनरूप से निकला हुआ अथवा स्थानीय कृन्त से तुल्य० कश्मीरी प्रेरणार्थक?) और साम ही-म् में (कृन्त-मान् से आवृत या उससे निकला हुआ? इ० यद्बली एक० एष० आई० VIII II पृ० ८४)।

कुछ अपवाद जो बहुत कम भी मिलते हैं पूरे समुदाय की एकता को और भी अधिक स्पष्ट कर देते हैं।

रूप-रचना

निरुचयार्थ की अकेली सामान्य रूप-रचना यह है जो प्राचीन अतिकरणयुक्त वर्तमान से और कर्तृवाच्य भविष्यत् से निकलती है। वह प्राकृत में दो रूपों में दृष्टि फीका होती है १ एक०-अइ और -एइ, जो संस्कृत के भूक विकारजों और प्रेरणार्थक नामवाचु से निकलते हैं। मध्य-भारतीय भाषाओं में दूसरा प्राय नहीं ही मिलता कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है, वह पहले के साथ मिल जाता है जत में दो भाषाओं मराठी और सिंधी में स्पष्ट अर्थ-विचार-संबंधी मूल्यवालों के साथ उसका विरोध होता है।

मराठी में है

एक०	१ हसे	मारिँ
	२ हसलीँ हसस्, हसस्	मारिस्
	३ हसे	मारी
बहु०	१ हसो हसूँ	(मारिँ)
	२ हसा, हसाँ	मारिँ
	३ हसलीँ हसलूँ	मारिलीँ, मारीस्

और, सिंधी में

एक०	१ हलाँ	मारिँ
	२ हसे हसिँ	मारिँ मारे मारी
	३ हसे	मारे
बहु०	१ हलूँ	मारपूँ
	२ हलाँ	मारपो
	३ हलूँ ^ए	मारिँ ^ए

अन्यत्र कुछ मिश्रण है। व्यपञ्च में करेह का प्रयोग उसी मूल्य के साथ होता है जिस मूल्य के साथ करेह का यह संबन्ध किया जा सकता है कि १ एक० बं० उड़िया अक्षि मँधिजी मयाही अली २ एक० मध्य बं० अक्षिषि जो अक्षिषि के निकट है बाबु निक बं० अक्षिस् जो पूर्वी बंगाली अक्षस् से भिन्न है, प्रथम बहु० मध्य बं० अक्षेन्त जो अक्षन्त के निकट है, प्रेरकार्थक से निकलते हैं। प्रमाय नहीं मिलता क्योंकि इस लिंग के रूप केवल नहीं मिलते हैं जहाँ प्राचीन प्रथम में अत्यन्त-इ है। विकरण के पूर्वी समुदाय में देखते के निकट वैदिकत् वर्तमानकासिक कृष्ण के यह-अस्तित्व से भी अंतिम निर्णय नहीं होता। अंत में यह बता देना आवश्यक है कि कुछ स्फुट रूप हैं जैसे क० २ बहु० अक्षिन् तुल० १ बहु० अक्षन्।

स्वयं जनका संबंध साधारण विकरणयुक्त की रूप-रचना से है। ऐसी भाषाएँ बहुत कम हैं जिनमें संस्कृत या कर्षीकृत प्राकृत के प्रत्यय स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। ये विशेषतः विकसित भाषाएँ हैं।

सर्वप्रथम तो वे हैं जिनमें कर्षीकृत संस्कृत के अज्ञात प्रत्यय सुरक्षित मिलते हैं उदा०

अशकुन—

सेम्
सेस्
सेह
सेमिस्
(सेम्)
सेन्

वैवेसि—

वेसम्
वेसस्
वेसमिह
वेसमिस्
वेसम्
वेसम्

अथवा जिनका कर्षीकृत मध्यकासीन भारतीय भाषा (प्रथम० एक०) में शय ही जाता है

यूरोपीय ज़िप्सी-भाषा—

कमम्
कमेस्
कमेल्
कमस्
कमम्
कमेन्

नूरी—

ननम्
ननम् (ननेक्)
ननद्
ननन्
ननस्
ननम्

तुल्य० खोमार सेन् (बोले) कक्षाए एक० ३ वलि जो १ देम् ३ वेत् से भिन्न है।

मध्यकालीन मायवीय भाषा के अन्व सामान्य प्रकार के साथ भी सम्बन्ध मिलता है। उनके बिना हमें इन भाषाओं में एकरूपता नहीं मिलती।

मध्यम० एक० का-स् और प्रथम० बहु० का-न्त (ध्वनि-सम्बन्धी रूपान्तरों सहित) पीछे देखी गयी मराठी की मंगना किये बिना कुछ भाषाओं में सुपिहित है, उदाहरणार्थ

पोमुकि (कन्नड़ के दक्षिण)	मैपासी	पु० मैबिली	बंगाली
"मैं पीटूंगा"	'मैं बनाऊँगा'	'मैं देखता हूँ'	"मैं खाता हूँ"
फार	यई	देखो (आबु० देखी)	बलि बलिम्
फारस्	गरेस् (गरु)	देखसि (देम्)	बल्ह
फैरि	गरे	देखही (बेसे)	बलो
फारम्	गरते	देखो (देखी)	बल
फारब्	पर	देखो	बलन् (इ)
फारब्	परन्	देख्	बलभि बलेन्

किन्तु उर्दू में जा ३ बहु० देखन्ति को सुपिहित रखती है, २ एक० देन्गु मिलता है। कदमीरी में एक असप्ट २ एक० है जिसके संबंध में यह ज्ञात नहीं कि क्या बहु २ बहु० बनकून-म्-क १ बहु० सबद्वती-कसाघ (आधिक) -क (मृत् २ एक० -क स्थानीय प्रतीत होता है) के निकट होना चाहिए। रोप में बहु रूपमय पूर्ववत् पोमुसी के साथ-साथ चलता है एक० १ गुप ३ गुपि बहु० १ गुपब् २ गुपिब् (क्या उत्तम पुरुष से संबंध बताते के लिये प्रत्ययार्थक के स्वर का आगम ?) ३ गुपन्।

एक० क मध्यम पुरुष की रूप-रचना की एक सुबद्धता प्रतीत होती है। अपभ्रंश में यह निस्संदेह आश्चर्य से आता है निष्चयार्थ और आश्चर्य की निकटता वास्तव में अपभ्रंश में मध्यम० बहु० कर्णुं द्वारा स्वीकृत है, जो केवल प्रथम पुरुष एक० करत बहु० करन्तु से आ सकता है, यो मी १ बहु० *करम् अपवा करतु, निष्चयार्थ जा स्वभावतः आश्चर्य के अनुकूल ही गया है, द्वारा समर्थित। किन्तु स्लेप-पद ने, जिसे मध्य बहुवचन में समर्थित प्रथित करते हैं, एसा प्रतीत होता है, एकरचन में अधिक बलिनाई पैदा कर दी है जिसमें २ करमि समर्थित या १ करमि और ३ करमि द्वारा कर अनमय करेहि असप्ट रूप बाका निरवधार्य में इन दोनों का स्वात करहि ने से किया है, यो ममी बलि एकरचन की प्रवाही में उभाहित हो जाता है और जो स्पष्ट बहु० कर्णु के चितरीत है इस मनीमता में मबिन्द् में-न् सुपिहित रखने का अधिक काम था।

एक और कठिनाई भी थी जो एकवचन और बहुवचन के उत्तम पुरुष की ध्वनि संबंधी बातों के मिश्र पाने के कारण है, कम-से-कम अपभ्रंश तथा उससे सम्बद्ध भाषाओं में वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि इस समुदाय में सर्वनाम १ एकवचन हूँ ने उत्तम मध्यकाळीन भारतीय भाषा के समय से प्रभाषित एक लचील प्रत्यय को सामान्य बनाया ही वास्तव अनुसन्ध है। अपभ्रंश में फिर ह वृष्टिगोचर नहीं होता उस समय जो वह मिश्रता है वह बहु० में इतर का है, निस्सन्देह-हु युक्त मध्यम पुरुष के तथा संभक्त प्राकृत जन्ही "हम है" तथा "हम" के महाप्राबल्य के प्रभावान्तर्गत।

फलतः है

१ एक० करतें	बहु० करहुँ (मभ० करहुँ)
२ करहि	करहु
३ करइ	

यह परिधमी समुदाय का मूल वादर्थ है धिभी में जिसका एक तिज मध्यम विद्या वा श्रुता है और जो जोड़े वा सकते हैं

सहुँवा मारें	कमेवाकि	मारें
मारें		मारें
		मारें
बहु० मारौह		बहु० मारौ
मारो		मारो
मारैन्		मारन्

मुक्त पञ्चासी में एक० १ मारें २ मारी ३ मारु, कुमायूनी में १ हिट्टुं २ हिट्टइ ३ हिट्ट भी।

पंचासी लहारा के साय-साय बसती है, कबल-इए युक्त उत्तम० बहु० को छोड़कर जो मध्यकाळीन भारतीय भाषा के कर्मवाच्य एक० स निकला प्रतीत होता है, और जो गुजराती में मैथिली में और मध्यकाळीन बंगाली में मिश्रता है।

अथ में मध्यमर्तो भाषाओं की एक अन्तिम लचीलता है, जिसका प्रमाण अपभ्रंश में मिश्रता है उसका संबंध प्रथम पुरुष बहु० म० करहिँ से है, जो आचार्य ३ बहु० करन्तु वर्तमानकालिक इत्येक पु० करन्तु, स्त्री० करन्ति के प्रकाश में देखते हुए, ध्वनि-संबंधी नहीं है। यह देखा जाता है कि प्रथम पुरुष एक० करइ, बहु० करहिँ का संबंध उत्तम पुरुष एक० करतें बहु० करहुँ के संबंध से साम्य रखता है जो सामान्य परिमाण अपभ्रंश होता है वह है। हस्वीं द्वारा निर्मित प्रत्यय लय जिस-जन्ति ने मन्ट कर दिया।

इस बात का सम्यक् यह बात है कि जहाँ का प्रमाण उत्तरप्रदेश भाषा में ही मिलता है किन्तु यह स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है कि एक ग्रामीण प्रयोग जिसे बाद को अपभ्रंश ने सामान्य रूप में स्वीकार कर लिया जैन धर्म-नियम में प्रचलित हो गया हो।

अपभ्रंश प्रकार गुजराती और राजस्थानी में मिलता है

	गुज०	पु० गुजराती	वैपुरी
एक०	१ चार्हुं	चारही	चारुं
	२ चार		चरुं
	३ चामे	मारही	चरुं
बहु०	१ (चारिण, किन्तु महिव्यवृ चारिण्यु)		चरुं
	२ चाली		चरुं
	३ चामे	मारही	चरुं
तथा बरणी (छत्तीसपुरी) में			
एक०	चरुं		बहु० (चरुं)
	चरुं		चरुं
	चरुं		चरुं

इस समुदाय में हिन्दी और ब्रज में एक और विशेषता मिलती है, जिसका ध्यान नहीं की जा सकता और यह यह है कि उत्तम० बहु० का प्रत्यय प्रथम० क प्रत्यय के समान है।

	ब्रज	हिन्दी बुन्देली
एक०	१ चरुं चरुं	चरुं
	२ चरुं	चरुं
	३ चरुं	चरुं
बहु०	१ चरुं	चरुं
	२ चरुं	चरुं
	३ चरुं	चरुं

तो नागाओं का एक भ्रष्ट विद्वान होता है वही जिसका सर्वप्रथम अपभ्रंश का मापसी माते क अर्थ है। उसका एक और प्रचार छत्तीसपुरी में मिलता है जिसमें

मध्यम० और प्रथम० बहु० के नवीन रूप मिलते हैं किन्तु मध्यम० एक० का प्राचीन रूप सुरक्षित रहा जाता है

एक० बुचर्त्
बुचस्
बुचद्

बहु० बुचन्
बुचठ
बुचर्द्

(मोजपुरी में एक साथ 'बार्त्' और 'बद्' है 'बद्दे' साथ ही हो सकता है "बहू है" निस्सन्देह हिन्दी का प्रमाण है)।

सिंहली की स्वतन्त्र रूप-रचना सामान्य योजना पर आधारित है एक० १ कम्(ह) (आयामि?) २ कहि ३ कमि का बहु० १ कम्(ह)उ (क्रिया 'होगा' का प्रयोग?) २ कहु ३ कत्(ह)।

मातृत्व

इसमें विशेषतासूचक रूप प्रथम पुरुष के हैं सं० एक -अत्, बहु० -अत्तु जिससे एक० म -ओ उड़िया -उ बं० उक बहु० म -ओत् उड़िया -अत्तु, -उत्तु, बंगाड़ी -उत्। बैबिए, जोवार एक० बियाद्, जो प्रत्ययतद् इदात्तु का प्रतिनिधित्व करता है।

मध्यम० एक० सामान्य रूप गुण्ड मूक है क्योंकि सं० प्रा० -अ कृप्त हो जाता है। साहित्यिक प्राकृत में प्रायः बीच प्रत्यय मिलते हैं करत्तु, करेतु जिसका प्रत्यय १ एक० -त्तु के अनुकूल बना लिया गया सं० -त्त है करेहि प्रेरणार्थक विकरण के साथ प्राचीन अविकरकयुक्त प्रत्यय सं० (ह)हि के प्रयोग से बनता है वैन करहि में वह उसी ऋष्य सहित मिलता है अप० करेहि जो उससे जन्म लेता है, जो वैसे कि बैबा या चुका है निश्चयार्थ में भी काम आना चाहिए। करेहि प्रकार बज में सुरक्षित है और उससे उपलम्भ होते हैं पु० राज० कर, सेबि सार्बे करि।

सिंधी में अकर्मक बेह^३ और कर्तृवाच्य मार^५ में श्रेष्ठ है।

विशेषतासूचक उ स्वर के प्रमाणात्सर्कत मराठी में १ एक० अं से युक्त है जो बहु० वैसे है।

भविष्यत्

स भविष्यत् जो वर्तमान की भाँति हो जाता है केवल एक सीमित रूप में बना रहता है। अपभ्रंश में सामान्य होते हुए भी प्राचीन बंगाली में उसका बहुत कम और लम्बे-ह्रास्य चिन्ह धन्य रह जाते हैं, पंजाबी सिंधी और इसी प्रकार मराठी और सिंहली के प्राचीन पाठों में उसका अस्तित्व नहीं मिलता। पूर्वी हिन्दी और बिहारी में, वह

कृष्णती र्णों में मिल जाता है। जैपुरी (पर-भारम -स्) में मारवाड़ी में और मुम्बैली (पर-भारम -ह) में उसे समास-र्णों की प्रतिवृत्तिका का सामना करना पड़ता है। उचित रूप में तो वह केवल गुजराती और सङ्घा में और मारवाड़ से बाहर, नूरी में अधिक दृष्टिपोषक होता है। करमीरी में वह भूत-समास्य का अर्थ ग्रहण कर लेता है।

गुजराती

- एक० १ मारीष्
२ मार्से
३ मार्से
बहु० १ मारीष्
२ मार्से
३ मार्से

सङ्घा

- मरेसा
मरेसे
मरेसी
मसाहा
मरेसो
मरेसित

नूरी

- एक० १
२
३ मम्मरि
बहु० १ जम्ममि
२
३

करमीरी

- मुपह
मुपहष्
मुपिहे
मुपहन
पपिहिष्
मुपहम



नामजात रूप

१ सस्कृत

भारतीय-ईरानी और नारोपीय की भाँति संस्कृत में क्रिया के पुरुषवाचक रूपों में कुछ नामजात रूप जुड़ जाते हैं। एक तो कुछ विशेष्य हैं जो कुछ कारकों के साथ सम्बन्ध हो जाते हैं और वे प्रभाव (reaction) के योग्य होते हैं। दूसरे कुछ विशेष्य हैं जो वाच्य और वास का अनुसरण करते हुए पृथक् हो सकते हैं।

कार्यवाची संज्ञाएँ । क्रियार्थक समा पूर्वात्मिक रूपरत

भारोपीय में एक संज्ञा जिसका बर्च एक क्रियामूलक वातु के निकट पहुँच जाता है स्वयं क्रिया की भाँति प्रभाव की प्रवृत्ति प्रकट करता है। इस दृष्टि से वैदिक भाषा में प्रायतिहासिक प्रयोग मिलता है।

कार्यवाची संज्ञाओं की रचना दो रीतियों से ही सकती है। एक ओर तो नाम जात रचना है। सर्वोपभूयें वृद्धी और क्रियामूलक रचना याजनाय देवान् और उसी शब्द के सहित योत्रस्य वाग्ने अथवा क्रियामूलक मंहि वाग्ने। कुछ संज्ञाओं के विद्वत कारकों में क्रियामूलक का प्रयोग सामान्य है और वास्तव में यहाँ हमारी क्रियार्थक संज्ञाओं के तुल्य है। अत्रगुण् च रात्रेः पारम् एतेषु प वा। स्वभावतः वे वाच्य के प्रति उदासीन हैं। स्तुपे सां वाम् रात्रि न अस्ति तत् अतिष्क्रे उष्का केवल पुराण भाष प्रवर्धित करता है। नाय्वेन स्तोमो अन्वेतये।

वेद में कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग हुआ है जो ध्वेय प्रकट करने की प्रवृत्ति वाले कारक में होते हैं। कर्म० और विशेष्य संप्रदान० (अतिरिक्त रूप में कुछ प्रत्ययगत अधिकरण०। दाय्य शब्दी के प्रत्यय वाले प्राचीन संप्रदान दे मेदए, बी एष० एष २००००० पृ० १९१) और साथ ही उपसर्गत्मक अव्यय और क्रियाओं के विन्हे उसी भावसंपन्नताहानी है। बाद अन्वादात्त संबंध विभिन्न रूप में ईम् के ब द और उसकी यह सामान्य रचना है।

यहाँ तक विकरणों से संबंध है वे निर्मित होते हैं

१ गुड पातु द्वारा दूर्गे ऋ० ८, ४८ १० इष्टम् प्रतिरम् एम् वागु

२ धातु के साधित धर्मों द्वारा कभी-कभी -न् और -न् मुक्त बिभ्रमने बाबने विशेषतः चेतनसंज्ञामों द्वारा -न् बहुत पुर्णम है (दुर्गये ति पुर्णम) इसका साम्य इस तथ्य से है कि भारोपीय की भाँति वैदिक भाषा में -ति युक्त संज्ञाएँ रचना में केवल बड़ी मुश्किल से मिलती हैं -या केवल इत्थं में प्रय -तु बहुत मिलता है [दृष्टु, गन्तवे पाँउने (•पाँउने बँ) गन्तो] अन्त में

३ क्रियामूलक विकरणों के साधित धर्मों द्वारा पुष्यसे (पुष् धातु) ऋजसे (ऋज्) और विशेषतः (अ)र्ष्य इष्यै मात्तययै प्रेरणा •।

ये अन्तिम रचनाएँ, जो अनेक पहली की भाँति ईरान में साम्य रखती हैं किन्तु क साय संवद्ध हो जाने के भीगनेश की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। और वास्तव में एसा प्रतीत होता है कि क्रियार्थक संज्ञा का एक वर्ग संस्कृत में निर्मित होता है संप्रदान • के रूप प्रारंभ में अर्थ की अपेक्षा सत्त्वाने छुप्त हो जाते हैं और -तुन् जो शुरु के पाठा में बहुत कम है यहाँ तक काम प्राप्त करता है कि कर्मवीरल भाषा में उसका एकाधिपरय स्थापित हो जाता है। किन्तु साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा संप्रदान • को बनाये रखती है असाक • अमितवे पा • वातवे (पा • एउसे विभिन्न और संदिग्ध है) और स्वयं संप्रदान • की प्रणाली में भाषा नवीन रूप रखती है जैसे पा • हेतुय जो असाक • भेदवे पा • दक्षिणताये (दीर्घत्व निरिष्यत नहीं है) प्रा • वीन (इ)त्तए जो (इ)उ के निकट है। इसके अतिरिक्त उसमें -अन् युक्त संज्ञाएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो अन्त में उसे हटा देंगी किन्तु आधुनिक युग में। तो संस्कृत प्रणाली बूढ़ नहीं है।

-ति और -तु युक्त कार्यवाही संज्ञाएँ (और कुछ उनके व्युत्पन्न रूप) जिनका प्रयोग करज • में हुआ है मुख्य क्रिया द्वारा व्यक्त कार्य की पूर्ण स्थिति प्रकट करने योग्य हो जाती हैं यह वह है जिसे पूर्वकालिक इत्यन्त कहते हैं, दे • अन्यत्र।

कर्तृवाची संज्ञा । इत्यन्त

क्रियामूलक धातुओं से सीधे निकले कुछ विशेषण और कर्तृवाची संज्ञाएँ स्वच्छन्द रूप में क्रियामूलक प्रभाव की रक्षा करती हैं ऋ • कामीं अत्य पीडितम् हरिर् पाँ तै • सं • कामुका एनं स्थियो मबन्ति । पतयति न भोग्नं भोवका मच्छति का उस्सेल क्रिया है जिसमें विशेषण एक भविष्यत् कृष्णत का भाव ग्रहण करता है। यह उसी वर्ग में है जो -त्तर् युक्त कर्तृवाची संज्ञा का विकास करेगा ऋज्व में संबंध • के अनेक संबंधों के निकट बहु कर्म • पर सामान रत्नन की क्षमता रखता हुआ पाया जाता है हस्ता यो बूर्ध संनिजोठ बाइम् दाता मबानि

किन्तु भविष्यत् के अर्थ का जन्म होते हुए दया जाता है १ • ११०, १, जिसमें

इत्ताहम् पूर्वियोंम आमे के पक्ष के संघापार्थसूचक द्वारा स्पष्ट हो जाता है औपम् इत् पूर्वियोंम् यह अङ्गनाति। यह संज्ञा ही अपरिवर्तनशील होती हुई अथ क्रिया के उत्तम और मध्यम पुरुषों में काश्ची बन्धी बन्धमूल हो जाता है (प्रथम पुरुष में नामजात वाक्यांश के नियम नाम आते रहते हैं) उससे भविष्यत् की एक रचना क्रिया-स्वों में शामिल हो जाती है। वातास्मि वातासि वाता मासि मध्य में वातासे २ एक० वातासे के तिफ्ट असंभवा का स्थान नामजात समुदाय वाताहम् वातासे आदि के आदर्श पर निर्मित वाताहे प्रह्वम कर देता है। पाणिनि के अनुसार भाष एक परिवर्तित भविष्यत् का है वास्तव में पाठों में नियम का स्पष्ट रूप से पालन नहीं हुआ वह प्राचीन समय में एक यथेष्ट शक्ति रहने वाले रूप के कारण होता है और जो अत्यन्तानीन भारतीय भाषा तक नहीं आता।

कुछ विशेषण भारतीय के समय से न केवल वातुओं के साथ किन्तु क्रियामूलक विकरणों के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। वे संस्कृत में हैं

१ वातु के आभार पर निर्मित -त -न युक्त विशेषणों और उनके सम्बन्धित शब्दों से परिणाम दृष्टिगोचर होता है जो -य- युक्त हैं उनसे व्यय प्रकट होता है अत्यन्त और जुड़े हुए एक या दूसरे के साथ।

२ विकरणों के आभार पर नियमित रूप में विभाजित और प्रमाद के प्रति प्रवृत्ति रखने वाले उचित रूप में कृत्य।

अस्वापी कृत्य

वे हैं जो भारतीय रचनाओं पर आधारित रहते हैं, किन्तु उनसे साम्य नहीं रखते। कर्तृवाच्य में हैं

१ -अत् पर प्रत्यय -वत् के साथ परिवर्तनीय वाले कृत्य। अधिकरणयुक्त पु० एक० कर्म० सन्तम्, संबंध सत् का साम्य है अ० हर्त्वात् अम् कृती से। विकरण युक्त में भारतीय भाषा में कही परिवर्तन कम है संबन्धम् संबंध० संबन्ध किन्तु अवेस्ती में संबन्ध अनुनासिक है पम्पम्पम् पम्पम्पत्। द्विबन्धुत् अधिकरणयुक्त क्रियाओं में संस्कृत नियमित रूप से -वत् का प्रयोग करती है बहत्म् बहत् यह एक भारतीय विशेषता है, संबन्ध प्राचीन अप्रचलित विशेषता।

२ -वात् वाले पून कृत्य -उत् कुछ रूपों में त्रिबन्धुत् स्थान -वत् प्रह्वम कर देता है, जो भारतीय है किन्तु विभाजन किसी भंग में समाप्त नहीं है, और -वत् ईरानी में नहीं है।

मध्य में दो रूप हैं त्रिबन्धुत् विभाजन कास का अनुवर्तन करते हुए नहीं किन्तु

विकरणों का अनुसरण करते हुए होता है। विकरणयुक्त के साथ -मान जो भारतीय-ईरानी है विकरणयुक्त के साथ (जा)मान जो वास्तव में भारतीय है और पहले के साथ *अ भारतीय-ईरानी के सामञ्जस्य से उत्पन्न होता है (दे० बौधिसिंह की० ए० ए० २००३५ पृ० ५)। जहाँ तक असोक० पूर्व और अपरंगमुक्त के -मीन रूप से संबंध है क्या यह प्राचीन *मू जो मो- है जिससे -मान की छत्र से सारूप्य प्राप्त *मिन निकलता है? सं० आसीन आस्तो से और मोई से प्रा० मेनीय की भी गणना करना आवश्यक है जो एकट है।

ह्रस्वों में वाक्यों का पुनर्विभाजन केवल पौन रूप से निश्चित है वेप में (मू)मान युक्त ह्रस्व ठेकी से कर्वावाच्य पुटपवाचक रूपों से साम्य रखते हैं विपर्यस्त रूप स्पष्टतः अधिक दुर्लभ है। वास्तव में -मान जो अकेला निरंतर रूप में है, बौद्ध और धर्म धार्मिक नियमों में उपलब्ध कर्वावाच्य विभाजों के वर्तमान के विकरणों तक प्रसारित होता है (पा० असोक० समान व्युत्पत्ति का प्रा० समान आदि)।

क्रियामुक्त विशेषण

१

ईरानी और भारतीय की भाँति संस्कृत में -त (-अय युक्त व्युत्पन्न रूपों म इत-) युक्त विशेषणों से धातु द्वारा छातित प्रक्रिया का परिणाम प्रकट होता है भूत (भू-) अ० भूत मूत (मर), अ० मूर्त्तमूत मूर्त्त- युक्त (युम्) अ० मूर्त्त पृष्ट (पृष्त्) अ० पर्येत जाठ अ० जाठ [जन्(इ) से] जायित (यि) अ० सित घृत् (घु) अ० लुत्। यह देखा जाता है कि क्रिया के साथ संबंध अर्थ-विचार की दृष्टि से निश्चित नहीं है। जो भी वह काफ़ी सीमित है जिससे कि जहाँ तक वह कर्मवाच्य में आता है, यह विशेषण उससे मूतकामिक कृष्ट हो जाता है रचना अत्यन्त निमग्नित है। वा वातु में छोड़ कर, जिसमें स्व-वात और दत्त का पुनर्निर्माण दित से संघर्ष बचाने के लिये किया गया है, धातु की शुभ्य अर्थी निरन्तर रूप से मिलती है, उस समय जब कि वह अवेस्टी में नहीं है।

संस्कृत में -न मूल विशेषण को बही कार्य सौपने में नवीनता का प्रवर्तन किया है जो वास्तव में उसके मूर्त्तों द्वारा या उसकी रचना और उसका अर्थ पहले के सपुत्र या भारतीय-ईरानी ने उससे काम किया अ० परिनास्य प्री० "किम्-इपोत्" तुल० पीणमति और दूसरी ओर वैदिक प्रीत जिसका व्यवहार घोड़ों के लिये हुआ तुल० हवा-पित टैन अ० टैन "अपूर्व" एक धातु के साथ सम्बद्ध हो जाता है जिसका अ० जयम् मग्य वतमानकामिक ह्रस्व है किन्तु स्वयं क्रिया नहीं मिलती। जहाँ कहीं वह है,

रचनाओं का अनिवार्यता पुनरुत्पन्न नहीं होता सं० पूर्ण से भिन्न अवेस्ती में पुनरुत्पन्न है।

यह संस्कृत की मौलिकता है कि उसमें यह विशेषण एक नियमित कृत्य बन गया है जो प्रधानतः अन्तस्य (अन्त बर्ष) वाली द्वयभारतक भातुओं में पाया जाता है पूर्ण (पूर्व) का एक विशेषण हो गया है स्तीर्ण कुछ भातुओं की स्वराज्य होती है हीम जो हा (हित कृत्य है वा से) अहित से निकट है वा से (अन्य भातुओं में वा के कृत्य है विरत वत्) दिन अंत में अन्त में अन्त होने वाली भातुओं भिन्न जो मिद् से है स्कन्त जो स्कन्तु से है।

तो भी क्रिया के साथ सम्बन्धता अनिष्ट नहीं है और रचना असाधारण रूप में रहती है मै० सं० पत्यु क्रीटावर्तौ त सं० अस्य प्रीतानि। बाष्प निश्चित नहीं है गतौ अष्वा "यथाहुआ मार्ग किन्तु गत का साधारण अर्थ होता है जो मया है"। अन्त का अनिवार्यता मूल नहीं है पूर्ण की भाँति इस विशेषण के विविध भाव है। बह्वृ० १ ११० १ में प्रवेशसूचक वर्तमान के विरोध द्वारा मूल का अर्थ चोदित करता है तत्तम् मे अपस तद् उठापत्तौ पुन। मगन्तुगीता २ २० में है जातस्य हि भूषो मृत्युर् ध्रुवा अस्म मृतस्य च। किन्तु इससे पहले के कृत्य में है अथ चैनं मिर्यजातम् मित्यं वा मयसे मृतम् (अनु० मनात्)।

यही भाव है जिससे इस बात का पता चलता है कि किय सरलता के साथ ये विशेषण विशेष्य हो जाते हैं जात जातम् अतिवृत्ति युक्तानि अतिवृत्तम् तुक्त पा० गतं चन्माने मत्त। अतित से अमर्बनेव में अन्य सभी विशेष्य की भाँति और उगी संधि सहित (अपवाकम्) संबंधवाची एक विशेषण मिलता है १, ६ ३८ (गत में अन्त) अतिवृत्तम् अतिवान् अदनीयात्। प्रथम अर्थ का क्रियामूलक भाव जितना अतिवृत्तवाची होता है, उतना ही इस विशेषण में कर्तृवाच्य पूर्ण० कृत्य के तुक्त होने की प्रवृत्ति रहती है, जो स्वयं प्रयोग द्वारा प्रकट होती है। कृत्यों का प्रयोग केवल पूर्ण० क्रियाओं के भाव सहित होने की संभावना प्रकट करते हुए, पतञ्जलि ने एक ही चरण में रखा है वच युयम् उपिताः, किं युयं तीर्था? तथा दुसरी ओर किं युयं कृतवन्तः? किं युयं पश्यन्तः? (पश्य तुक्त० प्रा पश्य पश् चान्ते कृत्य का नाम देता है)। सब ती यह है कि -उपत्तु मुक्त नहीं कृत्य का विकास पैसा कि देता जाता है, केवल अस्वायी रहा है।

अब कि-त युक्त विशेषण मूलका का भाव प्रकट करने की दृष्टि में अपने की क्रिया-रूप क साथ सम्बन्ध करने बात होने है अन्य विकरण जो भारतीय के समय में

संभावना या कदम प्रकट करते हैं भविष्यत् की नामजात अभिव्यञ्जना को संभव बनाते हैं।

दोनों शीघ्रित नहीं रहे -त्(उ)व (हृत्स्य अ० ब्रह्म०) ऋग्वेद के एक वजन वाक्यों में केवल मुदिक्क से मिलता है -अत और युक्तम है जिसका रूप बहना चाहिए, कम विशेषतासूचक या यत्त अ० यत्त वरांत तुल० अ० मुद्बत ।

इसके विपरीत (इ)य प्राय मिलता है वर्ण (इ)य अ० इर्भस्य एक अग्य स्वर-अभाषी में वृत् (इ)य अग्य और भाष्य रेंय । वेद के समय से ही यह पर-अल्प्य ऋत्स्य विकरणों तक तथा विभिन्न मूलों तक प्रसारित हो जाता है उससे अर्थात् जो प्रेरकार्यक के आचार पर निर्मित है स्तुर्पेय्य जो क्रियार्थक संज्ञा स्तुर्पे के अनुकरण पर निर्मित हुआ है दिदुर्लेय इच्छार्थक विकरण क आधार पर निर्मित हुआ है कर्देम् (इ)य जिसकी व्याख्या नहीं हो सकती किन्तु जो प्राय मिलता है और गीष् विकरणों के अनुकूल है दिदुर्लेय वाक्येय्य अस्तत् और विशेषतः क्रियामुक्त संज्ञाओं के अनुकरण पर, धुर्य अतानुहृत्य चरकृत्य । अर्धवद में दो और नये प्रकार दृष्टियोजर होते हैं एक तो विशेष्यों से निकला है प्रारम्भ में केवल समास-युक्त विशेष्यों से आत्मशरीय (आत्मशरीयम्, -अम -अना युक्त संज्ञाओं के क्रियार्थक संज्ञा के निकट भाव की ओर पीछे सकेत क्रिया या चुका है) अंत में दूसरे, -त्प्य जो प्रागैतिहासिक प्रतीत होता है (पी -रेंजोत्) -त् युक्त विकरणों के साथ हर परिस्थिति में सम्बद्ध हो जाता है और अप्रत्यक्ष रूप में -त्(उ)व युक्त विशेष्यों से संबंधित हो जाता है किन्तु वह -त् युक्त क्रियामुक्त के समीप भी रहता है और फलतः -तवन्त् युक्त महीन इत्यन्त के वीर मही से उससे विक्रास का सूत्रपात होता है।

इत्यन्तों में वाक्यांश में विविध रूप में आने वाली संज्ञाओं के साथ स्वान्त पाने की प्रवृत्ति पायी जाती है अ ४ १८, १२ सयु कस त्वाम अभिधासच् चरन्तम् । इसके लिये वे अपनी क्रियामुक्त प्रभाव की शक्ति का सोप नहीं कर देते ४ १८ ११ अवाश्वीद् बुभ्रम इन्द्रो हृत्पिप्यन् १ ४५ ४ अहूपत् रान्तम् अचरान्ताम् अग्निम् १ १५८ २ जुपत् विदवान् अत्य कर्दमोपस्तुतिम् भरमाणस्य कारो । सप्त वा यह है कि स्वान्त प्राप्त इत्यन्त मुख्य कारणों में स्वच्छासूचक आता है, और प्राय परिपूरक बिना रहता है। और एसा प्रतीत हाता है कि उसका प्रयोग जारी रहता है जातक ५, २९० दोबिसस पि किलन्तिभ्रिय भीयिय यच्छन्त अन्वतत इत्पी विस्वा ।

वर्तमानकालिक काल को बहुत कम वाक्य-क्रियास-संबंधी स्वतंत्रता है। वह स्वच्छा रूप में कुछ ऐसी क्रियाओं के साथ आता है जो किसी परिस्थिति या क्रियाघासता का चोत्रन करती हैं विस्वम् अर्थों अभिधासाम एति किन्तु नामजात वाक्यांश का

इतनी स्वतंत्रता नहीं है कि वह क्रिया का स्थान ग्रहण कर से इस प्रकार के जो कुछ उदाहरण मिलते हैं १ १७१ ४ ३ ३९ २ केवल संभावित हैं। उसके संबंध में वही बात नहीं है जो क्रियामूसक विशेषणों के संबंध में है।—स मुक्त क्रियामूसक ऋ० १ ८१ ५ न स्वाबाह् इन्द्र कश्चन न जातों न जनिष्यते में पुनश्चाचक रूप के प्रतिकूल पड़ता है। वही बात मनिष्यत् कृपन्तो के लिये है रिपवो हस्वास य एक ईद् र्भव्यश् चरपनीनाम्।

प्रथम पुरुष का प्रयोग होने पर उसका प्रयोग अभिवाचिक हो जाता है। जब यह प्रयोग अन्य पुरुषों में हो जाता है, अथवा वर्तमान की अपेक्षा अन्य कार्यों में हो जाता है तो या तो कुछ सर्वनाम आते हैं, या अस और मू अथवा बाह को आते बर्तते आदि ऋ० मुक्तस ते अस्तु र्भविषा महा० केनास्य अभिहत् किमर्भम् अभिहत्।

इस प्रकार प्रमुक्त होने पर,—स मुक्त क्रियामूसक उसे पूर्ण करता है, और फिर पूर्ण में उसके प्राचीन प्रयोग का स्थान ग्रहण कर लेता है। यही कारण है कि स्वच्छन्द रूप से उसका प्रथम पुरुष में प्रयोग पाया जाता है 'अग्निर् उपसमाहितो भवति' कहे जाने योग्य है 'अग्नि अपन को जली हुई पाठी है' न कि 'जलायी गयो है'। किन्तु काष्ठ की दृष्टि से यह प्रयोग सीमित रहता है।

कर्मवाच्य अर्थ बाधा क्रियामूसक करण० के पूरक होने की प्रवृत्ति प्रकट करता है और अर्चानुकूल (स्वायोजित) कार्य के कर्ता को प्रकट करता है। उदाहरणार्थ ऋ० ८ ७९ ४ अयं ह येन वा इव स्वद् मस्त्वता जितम्।

यह रचना जो निस्सन्देह शुरु में उन संबंधवाची भावनाओं में अभिन्न जाती है जो पुरुषवाचक क्रियाओं के अधिक सरसतापूर्वक प्राप्त होते हैं प्रमान तक प्रसारित हो जाती है। यह एक प्रमान में ही है कि बन्धनसूचक का कृपन्त पाया जाता है किन्तु बिना करण० की संज्ञा के अर्थ० ५, १८, ९ न ब्राह्मणों हिंसितस्यो गिन प्रियतनोद् इव।

इसी प्रकार मित्रार पर असोक० में पड़ने को मिलता है इयं बमन्पि रा(म्)या स्नेयापिता। इय न किञ्चि भीषं आरमिद्या प्रजुहितस्य न च समानो क(त्)स्यो।

स्नानाब-भासा में सुमि(हृक्) सवं उपयते (उपेते) की और मया(मे) संवे उपयति (उपयति) की तुस्पता दृष्टिबोधर हीती है।

एक विशेष कारण यह है जिसमें मनु कर्ता का क्रियामूसक सामान्य कर्मवाच्य मरुदूक की क्रिया के तुल्य है, जैसा कि बताया जा सकता है (किन्तु छायाद ही कमी प्राचीनवासीन में) दा० हा० लप्यते मै० सं० ऋष्यते संम् कमठ ऋ० में श्री वद्भिर्त्तै चराचर मिमता है। यह क्रियामूसक विशेषण अस्तवोगत्वा अर्चानुकूल (स्वायोजित)

कर्ता के करण० के साथ सम्बन्ध हो सकता है तै० सं० तस्मात् समासश्च तिष्ठत्या होलक्ष्यम् मै० स० अग्निहोमिना तदितिष्येम् ।

फिर ससृष्ट में एक नवीन अतीत कास है किन्तु तपु० अथवा कर्मबाध्य कर्म का सपुत्र कर्मबाध्य के भाव के साथ न रहने वाला -तबन्त् मुक्त स्मृत्यपन्न का विशुद्ध कर्त्तव्यकर्म प्रयोग (मनु में सर्वप्रथम उदाहरण मिलता है) उसी से है।

दूसरी ओर वेद में ज्ञात छ बन्धनसूचक कृदन्तों में से जो -य मुक्त और -तस्य मुक्त हैं (जो अथर्ववेद में दृष्टिगोचर होते हैं) वे हैं जो धीरे-धीरे संभावना के भविष्यत् का कार्य करने लगते हैं किन्तु यह बाद का विकास है, जो अस्त्युक्त कर्मबाध्य के विकास के साथ-साथ चलता है।

२ मध्य भारतीय भाषाएँ

कृदन्त

ऊपर मिल भूतकालिक रूपों पर विचार किया गया है उनमें से केवल वर्तमान कालिक कृदन्त और भूतकालिक और भविष्यत्कालीन क्रियामुद्यम विशेषण आधुनिक कास तक आते हैं। पामी में तो वैसे ही भविष्यत् कृदन्त नहीं मिलता (प्री० हॉपासु भरिसं कर्म तुभ० सर्वोमं जो सतिमा का कर्म० है)। प्राचीन पूर्ण० कृदन्त केवल क्रिया-रूप के स्फुट रूपों में अधिक मिलता है बिना नये प्रकार बिहु, बिहसु वास्तव में विशेषणों के हैं -तबन्त् मुक्त विशेषणों के समीप-ताबिन् मुक्त तुल्य रूप हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि वे कृदन्तों की अपेक्षा विशेषणों की भाँति अधिक हैं भूतबन्त् और भूताबिन् तुभ० अ० मादाबन्त् और मायाबिन् । किन्तु दोनों रूप बहुत कम मिलते हैं साथ ही भूत को प्रकट करने के लिये -त मुक्त क्रिया से एक सरस और सचीली प्रभासी प्राप्त होती है और इस भूत० के -त क साथ असोक० -तस्य पा० -तस्य- भविष्यत् में आकर झकट्टे हो जाते हैं। किन्तु इसका एक गंभीर परिणाम निकलता है सामान्य क्रिया में वर्तमान० सकर्मक है या अकर्मक किन्तु भूत० और भविष्यत्० कृदन्त अनिर्धार्यतः अकर्मक या कर्मबाध्य होते हैं तब से वर्तमान सकर्मक के मुकाबले में भूत० और भविष्यत्० अनिर्धार्यतः कर्मबाध्य रचना के होते हैं। यह द्विरव आधुनिक क्रिया के मूल में है।

इसके अतिरिक्त भूत० और भविष्यत्० "कृदन्तों" का महत्त्व वर्तमान के आधार पर अंकुरित होता है, और वर्तमान० कृदन्त जो प्राचीन माया में तथा साथ ही मध्य कालीन भारतीय भाषा में कभी पुरुषवाचक क्रिया का स्थान ग्रहण नहीं करता तुल्य होकर समाप्त ही जाता है।

वर्तमान० कृदन्त

रूप

वर्तमान० कर्तृवाच्य कृदन्त जो पाली में प्राचीन रूप रचना की सुरक्षित रहता ही है (पु० एक० कर्त्ता तिष्ठं कर्म० तिष्ठन्तं बहु० संवप० तिष्ठन्तं) पूर्णतः विकरण युक्त संज्ञा-रूप में चला जाता है (प्रा पु० एक० जानन्तो बहु० जानन्ता) और यही नवीन रूप है जो इस महाद्वीप की आधुनिक भाषाओं तक चला जाता है चाहे छात्राण्ड रूप में पु० अद्यत् वेद्यं कर्त्तव्यं करिष्यत् तुलसीदास मुनय्^{म्} प्रविशय्^{म्} बुन्देली जाय् देय् इत्यपु० मारद्यु, स्त्री० मारसि आदि चाहे (और यही रूप है जिसने सामान्यतः पहले का स्वान ग्रहण किया है) स्याप्ति-युक्त सहित हि० पु० एक० करता पु० राज० करती कीवती (तुल० प्रा० किर्यद्, सं० क्रियते) पुरानी मुबराती उठती पठीती उठिया देबन्ता -न्त् के परिचयी प्रयोग सहित प० मारेन्दा मारन्दा मारबा सिंघी हसन्तो, मारीन्तो। मैयां में अभ्यय वर्तमान है कुटान्त् 'मैं पीटता हूँ' तु पीटता है हम पीटते हैं आदि" चिद् (०बेन्तो) "बह देता है" जो निस्सन्देह उची हसत् पर आधारित है इसका विपरीत कर्मरी में कोई समान रूप नहीं है और महानय प्रकाश (धियसंग § २४३ तुल० § २४०) में संवेदित-अन्त युक्त कृदन्तों के कर्त्ता बहु० संभवतः, इसके विपरीत क्रियामुक्त प्रथम पुरुष हैं जो उनके रहित नहीं मिलते।

मध्य कृदन्त जो साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा में प्रचलित थे ही कुछ आधुनिक रूपों में फिर मिलने लगते हैं। इसलिये पबर्बती निमान् सं० भ्रियमाय डे (टर्नर, 'पीबीयन ऑब रोमनि पु० ३३) कलाय ह्येन्त् वीमन्त्। ठो मी यह स्वीकार करना चाहिए कि इस प्रकार में कृदन्त पबर्बती में एक पुरुषवाचक क्रिया-रूप प्रमाण होता है क्योंकि ठीमीमन् कृदन्त है ठीमीमेम् ठीमीमेस् का और कृदन्त वर्तमान ठीमी-म् का एक विकरण है जो ठीमी-म् मृतकालिक विकरण ठीमी-त् का प्रतिरूप है, जिसका जो व संस्कृत-त को बनाये नहीं जाता जिस मी (मृत) से जाना जा सकता है अथवा जा सके (आवु) के प्रतिरूप है। क्या यह याद दिलाता आवश्यक है कि ईरानी परस्ये इने एक-अमान् युक्त पूर्वनासिक कृदन्त (घरमान्) है जो यद्यपि अस्पष्ट है?

अविकरणयुक्त रूप सं०-आत् साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा में बहुत कम मिलता है। इसलिये यह जानकर आश्चर्य होता है कि उसमें एक भविष्य का मात्र अन्त हा जाता है यह चाहे त्रास भारतवर्ष के जनवाच्य कृदन्ता में (मृत के अर्थ में) हा चाहे दर्य और सिहनी (कल कपन) में कर्तृवाच्य कृदन्तों में हा पहल की दृष्टि में यह स्वच्छन्दतापूरक स्वीकार किया जाता है कि-अमान् के प्राथमिक अनुनासिक का

असामयिक सोप हो जाता है किन्तु उस युग में उसका कोई प्रमाण नहीं मिलता जब कि प्रेरणार्थक का उदाहरणार्थ -ञ् सुरक्षित रहता है दूसरे की दृष्टि से पाली में प्रयुक्त -अन् युक्त संज्ञाओं में बराबर सोपा जाता है विशेषतः समासों के प्रथम अशों की भाँति ऋद्धि पावेहि विचरण-मकण्टं हेट्ठां वसनक नामराजा किन्तु आधुनिक रूपों का बिस्लेषण निश्चित नहीं है और दर्व का वीर्ष मात्रा-कारु तो कठिन रहता ही है।

कटी अब्रुमन् विनागन् (क्रियार्थक संज्ञा से निकले) प्रकार में तो उन्हें पहिचानने में और भी संकोच होता है जो अबेल् और असे (जो -अन्त् युक्त कृदन्त में मझी भाँति प्रवर्धित होता है) के साथ सह-अस्तित्व प्राप्त करते हैं। अस्तुन वर्तमान अनुनासिक विकरण पर आधारित रहता है जो जैसा कर्तृवाच्य कृदन्त म वैया ही अन्य में मझी भाँति व्यक्त हो सकता है तुल० कोन् (लि)। कश्मीरी में एक कर्तृवाची संज्ञा गुप नन्^४ है स्त्री० बुम्^४ पु० कर० वसवाने स्त्री० बाशि जो क्रियार्थक संज्ञा क्रियामूलक संज्ञा गुपुन् के निकट है, विकृत रूप गुपोन्^५ सं० गोपन यह इन रूपों का अल्प्य गुपान् के साथ संबंध है जो वर्तमान का निर्माण करने के काम आता है बौह सुम् गुपान् ? यह कहा जा सकता है कि पहिलवी -आन् अब भी मध्य रूप में सुरक्षित है यहाँ यह एक संयोग की बात है, जिसका मूल चाहे प्राचीन हो चाहे उपार सिंये जाने के कारण यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि इसी क्षेत्र में ईरानी प्रकार के एक युक्त प्रकार प्रचलित हैं।

पु० राज० -आणी उत्तर की गुजराती और दक्षिण की सिंधी -भापो की कर्मवाच्य कृदन्तों (भरणो भरणो) से उत्पत्ति स्पष्ट प्रतीत होती है यदि इन भापाभो म -आ युक्त कर्मवाच्य का रूपमान न होता यदि भविष्यत् के बोधक समान रूप न होते (सिंधी मारिणो कर्तृवाच्य विकरण से भीमी पद्बालो) यदि अन्त में समान स्थिति से निकली स्पष्ट संज्ञाएँ दृष्टिगोचर न होतीं कबीर की रचनाओं में बिकालो है किन्तु साथ ही गरबानो भी। इसी प्रकार बंगाळी के कर्मवाच्य कृदन्तों को जो प्रत्यसत -आ युक्त प्रेरणार्थकों (उपार सिंये गये ? इस समुदाय की अन्य भापाभो में ऐसा नहीं मिलता उलटे असामी करओ वा बुबाभा वा का बंगाळी से साम्य नहीं है) से निकले प्रतीत होते हैं असा प्रकार के नन्० अर्ध बासे कृदन्तों से निकला हुआ माना जा सकता है वंवाली मुदान हदान किन्तु साथ ही करान तथा एव संज्ञा से उत्पन्न ट्ण् गात।

प्रयोग

यह बेधा जा चुका है कि भारतीय की भाँति संस्कृत में वर्तमानकालिक कृदन्त वाचयोग के किसी भी विशेष्य से सम्बन्ध हो जाता है शब्द चाहे कम-से-कम मिडान्त में

किसी कारक या किसी बचन में हो। यह स्वतंत्रता संपूर्ण मध्यकालीन भारतीय भाषा-काल से लेकर आधुनिक भाषाओं के प्रारंभ तक बनी रहती है।

अपभ्रंश के उदाहरण

ध्वन्यालोक लवम् स (पिरोष्ठ 'वैटीरिजलेन' पृ० ४५)

महु महु त्त मयन्त-वहो बरुवइ काष्टु बजस्तु।

सरस्वती कंठाभरण बद्यम स० (बही पृ० ४९)

बिट्टि पित्र परै सम्मुहु अन्ती।

पिय पन्वहिं अन्तरे पेकसमि।

भविष्यत्कह एकादश स०

२१ १ नाहु विरञ्चमानु पेकसमी परिचिन्तइ मणि सेइकजन्ती।

५७ ८ पेकसइ ठाम सपुहि बहसुरै अरुहन्तई।

१५६ ३ बिहयई तीस यमई चिन्तल्लिए अनुपिनु पुतागमनु सरस्विए।

इस भाषाबोध में यह देखा जाता है कि कृत्यन्त में एक परिपूरक है।

किन्तु ज्योंही किसी आधुनिक भाषा में काम पड़ता है, कृत्यन्त केवल मुख्य कारक में मिलता है अन्त में कर्मकारक के साथ सहित

दे० बंयाळी (कम्)

मूढ अञ्जन्ते कोम न पेकसइ।

बूब मासं लड अञ्जन्ते न देवइ।

तुमसीवास

तम् सती मन्गल-नाग कर्य्।

भावद् जानि मान् कुम्भेन्नु।

चरन् पर्य् नृप राम् मिहारे।

पु० पुत्र०

धिय्य धास्त्र पठीती } हर्ते सोमच्छरे
धिय्यई धास्त्र पठीती }

जिसके निकट विद्वान् कारक केवल पूर्ण रचना में इस्तमोप करता है

पोनासिई याए रोहितिए चैतु आबिउ (गोपालेन गवि दुह्यमानामाम्)।

यूरोप की त्रिप्ती भाषा में कर्ता० एक० पु० परोस प्रयोग में बढ़ ही जाता है
इंमेरियन रोबिन्डो (ग्रीक और बोहीमियन में कर्ता० क-म् द्वारा व्याप्ति रोबिम्बोस्
चार देने वाली न द्वारा स्मानियन और जर्मन में रोबिन्डोइ)।

किन्तु जिस समय से कृत्यन्त किसी भी शब्द के साथ सम्बन्ध होने की प्रवृत्ति नहीं

रखने लगता उसका कार्य बंदस जाता है। ऐसा उदाहरणार्थ मराठी के ब्याप्ति-युक्त रूप में देखा जाता है जिसमें केवल विशेष्य अधिक होता है म० वाहाठ^३ पाणी पु० म० पधियन्तां ठायी बाइठ^३ साइ तथा इसी प्रकार असामी जीयत् माइ के अख्याप्ति-युक्त रूप में। वह असामी रखोता करोता मुजराती अता बाबता नो बेबो में विशेष्य हो जाता है। प्राचीन भाव प्रदान करने के लिये उसे सहायक क्रिया विशेषत 'होना' के कृदन्त के साथ सम्बद्ध करना आवश्यक है पु० राज जागती हुँती देखती करती हिन्दी बरासन्^३ भी यों कहता हुमा उनके पीछे बीड़ा।

वास्तव में प्राचीन कृदन्त के इसके बाद केवल दो प्रधान कार्य अधिक रह जाते हैं कर्तृकारक में वह पुरुषवाचक रूपों का स्थान ग्रहण कर लेता है विद्वत् वारक में उससे पूर्ण रचनाएँ उपसम्पन्न होती हैं।

१

मामजात बाणर्षास के सिद्धान्त की दृष्टि से यह निश्चित है कि वर्तमानकालिक कृदन्त स्वयं अपनी वर्तमानकालिक क्रिया का भाव रखे। वास्तव में यह केवल बाद को होता है और संभवतः भूतकालिक कृदन्त के साथ सादृश्य के कारण। पुरानी मराठी में मिसता है

उदक ते आसण्ड असत ।

तेच तिन्ही सोक डसुमसीत ।

तेच समुद्रबसु^३ उससु^३ कीलासवरी ।

और ब्यप्ति-युक्त रूपों के साथ मी कर्ता (पु०) ती होती ते मर्ते ।

गुलसीदास की रचनाओं में

राज बबबपुर बहुत सिपाए ।

सिराति न राति ।

इसी प्रकार सिन्धी कविता में है।

दर्र (दे० ऊपर) और पंजाबी (डोग्रा आठे मारवा) को छोड़ कर यह प्रयोग मात्र दुर्लभ है यह देखा गया है कि वास्तविक वर्तमान का भाव एक सहायक के जुड़ जाने से प्राप्त होता है। इसके विपरीत कुछ भाव अनिश्चितता के अर्थ से निकलते हैं अर्थात् जनघटन भूत० और भविष्यत् ।

भविष्यत् का भाव सिन्धी में देखा जाता है हुसन्दी, हुसन्दी हुसन्दा हरसन्दि^३ । उत्तम और मध्यम पुरुषों में पर-भरयवों द्वारा भूय निर्धारित होना संबंध में दे० बाये । हिमाक्य में जीनयारी पु० मारवा स्त्री मारूदी भविष्यत् क सभी मध्यम और

प्रथम पुरुषों में काम करते हैं। किर्वाली में इस रूप का विशेष्य बाका भाव है और यह लकारमकता सहित समावना का भाव ग्रहण कर लेता है

माहुर निह् दन्वो ।

तेरे निह् डेरन्दो आम्बि ।

यहाँ मैथिली-मगही समुदाय के प्रथम पुरुष की और पूर्वी बंगाली में मबिष्यत् के मूळ की गजना करना आवश्यक है से देखो :

दूसरी ओर अपभ्रंश द्वारा अनच्छतन मूत का भाव प्रमाणित है उदाहरणार्थ पिछेक इत् 'मिटीरिअच्छेन' का छन्द ५ देखिए, या एक वर्जन है अपवा मबिष्यत्कह का यह वाक्यांश जिसमें दो प्रकार के मूत० परस्पर विरोधी रूप में आते हैं, २९४ ५

ओ बिह मग्मिभित् बिज ह्योन्तओ सो एव तिस्यवीर संपत्तओ

इसी प्रकार पुतनी राज० में

मरब नै विनंप्रति ओसम्मो वेटी ।

उसी से गुजराती प्रकृति मूत (बच्छो) और हिन्दी अपूर्ण (बच्छा) है।

किन्तु प्राकृत और अपभ्रंश में एक भाव मिलता है, जो अनिश्चित और मूतकास क

योग का परिणाम है यह अवास्तविक संभाव्य है। अपभ्रंश के लिये हे० मबिष्य

पु० ४१* तथा पिछेक 'मिटीरिअच्छेन' पु० ११ छन्द ३५१।

पु० राज०

ओ राम ह्येव न ह्युव ती कौंज जीव पुञ्ज पामत ।

तुलसीदास

ओ पै बिम न हीति कुटिलाई ।

ह्युव जनम न भरत को ।

गुजराती

ओ तय अन्वसा ह्येन् ती तन्ने पान् न ह्येन् ।

पञ्जाबी

जा मै बस्तवा ।

हिन्दी

जहि मै जानूता तो कमी नह जाता ।

मराठी में प्रत्यया के कुछ अंश से वर्तमान के समाव्य का भ्रंश किया जाता है पु०

म० लरि मी न म्हुणता जरि न देखता यह वर्तमान से भिन्न है कचित्तो (विस्तार के लिये) देखिए अठ में दादरे की एम ओ० एम० पु० ५९५) ।

मदिर्वा में भी बराबर क्रियासु-युक्त संभाव्य मिलता है पु० वे० बगिन

करते हैं। वास्तव में जब कि प्रत्यय प्रथम० एक० पु० अत् स्त्री०-अत् वर्तमान को निदिष्ट कर बता है तो -एत् स्त्री -एत् पुंन समास्य को निदिष्ट कर बता है।
 बयामी म (मध्यकालीन बयामी स भाग) एक तुलनीय रूप मिथ्या है

इबिअँ मरिना अब ना थाकित कान्ह ।

इसी प्रकार उड़िया में है और बयामी न निश्चित इन्त हेते न् म उतका पिन्ह विद्यमान है जो उसे भूत स सवद करन समय क्रिया को समास्य का भाव प्रदान करता है।

२

संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में स्वच्छन्तापूर्वक अनुकूल इन्त स मुक्त गौण कारक म पिरोप्य का प्रयोग होता है जिसमें अप्रत्यक्ष पूर्व सय का भाव निहित रहता है (कृष्ण समुच्चयबोधक क कञ्-स्वरूप प्राप्त पूर्व कर्त्ता० दुर्बल है)। जो कारक वेद में आया है वह अस्वामी भाव बाण अधिकरण है प्रत्यक्ष अम्बरे, उच्छ्रयाम् उपसि सय उन्ति। ब्राह्मण ग्रन्थों में कुछ मनोवैज्ञानिक भाव प्रकट होते दिखायी देते हैं बर्षसि राज्यां भूतायाम्। इसी प्रकार पूर्ण सवय० जो इन्हीं पाठों में वृष्टिगोचर होता है बाद को अनादरे भाव ग्रहण कर भेता है इत-प्राज्ञाजीत् किन्तु यह एक गौण विकास है। पामी में नियमित रूप से अत्यंत गत सुरिये मच्छन्तेमु सकतेमु।

भाषागत भाषाओं में यह प्रथाकी सुरक्षित बनी रहती है कि विभिन्न विकृत रूप स्वभावतः प्राचीन अधिकरण का स्थान ग्रहण कर भेता है। ऐसा प्रायः विद्वत् रूप पु० एक० से होता है

पु० रात्र०

मधि बरसतइ मोरा नापहँ ।

गावालिहँ पाए दोहिदीए बैनु आविठ ।

तुलसीदास

देबद् तुम्ही नगर जेहि पारा ।

उड़िया

पल्लवं मेदिनी कर्म ।

प्रधान पूर्वसय के कर्त्ता वास्तविक या अर्थात्कूल (श्यामानुकूल) म व्यवहार द्वारा इन्त का लोप हो जाता है, किन्तु बिना उक्त साथ साम्य रखत हुए तो फिर पूरा रचना तक ही अपने को सीमित रखना पड़ता है

मुहम्मद जायसी

जो भूत भावतहि ।

पु० बंगाली

बलिटे बलिटे तोर इनुमुनु बाजे ।

बंगाली

से नाबिते नाबिते भासे ।

हिन्दी

हम गाते गाते सीटी है ।

इसी प्रकार नेपाली जान्दा (बिहृत०) जाँदै (बबि०) उडिया देखते भासार्मि चाइ बाताते ।

इस प्रकार इदन्त सचमुच क्रियामुक्त संज्ञा हो जाता है जो एक उपासर्गत्मक मय्य्य द्वारा निर्धारित होने की संभावना रखता है। मार० आम्ता नै (तुम० बा० नै) नेपाली ली छोरा बेरें ऊरकं छाँदा-मा तेस्को बहुभु देखि एक विशेषण द्वारा निर्धारित होने की संभावना रखते हुए भी सस्त्रीमपुटी हमारे लार् मा तुन्दु मचाओ लहरा मेरे भीदेजा मोएअ ।

यह रचना उस मृतकामिक इदन्त के सदृश है जो प्राचीन कास से विद्येय्य रूप धारण करने की क्षमता रखती है। इससे बंगाली क्रियार्थक संज्ञा की व्याख्या की जा सकती है जाइते छि से ताहाके मारिते कायिक से पड़िते बमिया छे (बस्तुतः पड़ते हुए) तुल० आपयसूचक भाव के लिये द्विजैठभो सीबूछेठम्बे) से बसिते पारे जाइते वजो तथा फण्ट ताहाक जाइते बैलिमाम् जिसमें जाइते का ताहाके के गाय एकान्वय मानने की आवश्यकता नहीं है। उदाहरणार्थ हिन्दी में मैंने सङ्क को बसूते हुए देजा की मति ।

मराठी गुजराती और राजस्थानी में बहु० बिहृत क समाज प्रयोग मिलने हैं मराठी

तो बसता बसता खासी पडता ।

त्यासा बसता म्यां पाहिते ।

कर्ता भिद्य-भिन्न रहने पर, इदन्त का क्रिया 'होना' के इदन्त के बिहृत रूप क समाज प्रयोग स्वच्छन्द रूप में होता है

भापी सेळ्न् बस्ता तो भाठा ।

मी काम् करीउ बस्ता आपन् काही करीन् माही ।

परमर्ष सहित

म्या जेबितां ना तुमी बिटी बाबुन् टाकिनी ।

तुला हे काम् करतां ना येन् मब्हन् ।

सुबराजी (अधिक सन्धि कर्त्ता कहते हैं) और बिहृत रूप समान हैं)
 बर्बा छोकरां बात् कर्त्ता बात् ने खातां बात्
 मारबाड़ी

माहृत्ते नाम मगावृत्तं बभौ न कर्त्सी जेम् ।

साभिष्य के रूप

अन्य उल्लिखित कर्त्ता में हृदन्त की पुष्पबाधक रूप के साथ तुन्मता भाषुनिक भाषाओं के विशेषतः प्राचीन काल में प्रमापित है। समय के साथ-साथ उनमें स कुछ में ये हृदन्त क्रिया-रूपों में मिल जाते हैं अथवा क्रियामूलक प्रत्ययों के आबरण में आते हैं।

इस प्रकार कुछ प्रभावपूर्ण वर्तमान उत्पन्न होते हैं जो उस प्राचीन वर्तमान का स्वान ग्रहण कर लेते हैं जिसने अनिश्चित का भाव ग्रहण कर लिया था। पुयस्व पा० अच्छति (सं० भास्ते का उत्तराधिकारी) के वर्तमानकाधिक हृदन्त के साथ साभिष्य में पाया जाता है और बाद को ऐसी अनिश्चिन्नाओं में जैसे थप० या अच्छद् वेच्छन्तु। उदाहरणार्थ पु० मराठी में है म्हाण् आहासि म्हाण् असे तो असे बोधत (अपवाद स्वरूप कम) गम्यी आठे कारिते (बहु० मपु०) आहाति।

तुलसीदास जानत मही जानति हीं जानते ही।

इसी प्रकार हिन्दी होते हैं, मैपानी मन्द छन सिधी मारिन्तो आहिमां लहदा मारन्वा हीं पं० मारवा (मारना) मां गुरी जान्शो मि। क्रिया हो- सहित विशेष अर्थ पं० जान्वा होबां (क्रिन्तु, जान्वा हुन्वा है) सिधी मारीन्तो हुमां मु० हूँ उतरतो होवूँ (वही उतरें जैसा भाव) जो उतरें हूँ से भिन्न है।

इन सूत्रों की स्थिरता के कारण कुछ अर्थ आपस में जुड़ गये हैं पु० म० देखतासि देखतासि लहदा मारेनां जो मारेन्वा मां के निकट है। सिधी मरिष्यन् में क्याकि अनुकूल पड़ता है प्रथम पुष्प में कुछ विचुड़ नामजात रूप हैं हृदन्तो हृदन्दी हृदन्दा हृदन्दिम् क्रिन्तु (स्त्री० बहु० को छोड़ कर) मध्यम पुष्प में स्वर-सन्धि क फलस्वरूप क्रियामूलक प्रत्यय हैं हृदन्त हृदन्दिर्, (हृदन्तो -री बाहि से) हृदन्तो (हृदन्दा आहो) और यहाँ सं० अस्मि स्म-से निकली क्रिया 'होला' को छोड़ कर,

ऐसा ही उसम पुष्प में पाया जाता है एक० पु० हृदन्तु स्^ए स्त्री० हृदन्दि-अस्^ए तुल० आशुम् जो० *मान्-आहो-स्^ए है बहु० हृदन्दा सूँ अथवा सी (ई के प्रभावान्तर्गत यह दूषय रूप जो मूलतः स्त्री० हृदन्त वा समी क्रियाओं में प्रसारित हो जाता है) सिना में भी इसी प्रकार का विभाजन मिलता है १ एक० हन्-स्^ए हन्ति-स्^ए (*भवन्तो-स्मि

*मन्वन्ती-स्मि) बहु० हन्-म् २ एक० हन्ते हन्थ बहु० हन्तेत् (स्व) ३ एक० हन्तु, हन्ति बहु० हन्ते।

पूर्वी समुदाय में जिसमें विकृत रूप कुन्त ने नामजात या क्रियार्थक संज्ञा का भाव धारण कर लिया है क्रिया 'होना' के साथ विन्यस्त होने की प्रवृत्ति प्रकट होती है वंशाली धर्मिता से 'बहु चल रहा है, बहु चलने को है बहु चलता है' कहने को वास्तव में तुलनात्मक दृष्टि से वंशाली में बहु हारु की रचना है, किन्तु १५ वीं शताब्दी में मसामी-संस्कृतों की रचनाओं में उसके प्रमाण मिलते हैं।

इसी प्रकार समयत प्राचीन मैथिली में

गाइ अन्त छी पहुँचा परैत छी। आपुनिक मैथिली में मगही में मोरपुरी में जल्पन्त विकसित 'क्रिया भाषा' सहित।

मोरपुरी में भी कम-स-कम एकवचन में यही सूत्र मिलता है देख् हर्त् तु, वा देख् हर्त् हर्त्, स्मि से मुक्त किन्तु बहुवचन में स्त्री० मध्यम और प्रथम पुरुषों में बँधा जाता है देखती हर्त् हर्त्, (तुल० अपूर्ण में देखती रहर्त् रहर्त्) मधिव्यत् में देखती होइहर्त् होइहर्त्, समास्य मं देखती हर्त् हर्त् होति। "भूत संभाव्य" म कुछ योगात्मक रूप पाये जाते हैं देखतेरें बन्त(ह)र।

केवल भारत के मैथानी हिन्दों में गुजरती और राजपूती बोम्बियों में कुन्त के आचार पर निर्मित वर्तमान का अभाव मिलता है किन्तु प्राचीन पाठों में बहु समुदायगत मिलता है बाद करिती छे मासुता छे।

त्रिप्ठी-भाषा ही एक ऐसा महत्त्वपूर्ण समुदाय है जिसमें वर्तमान० कुन्त क्रिया-रूप से अलग हो जाता है। तों भी क्रिस्तिन की त्रिप्ठी-भाषा में क्या विशेषात्मक पर प्रत्यय एक -एह् बहु० -एन् (ईरानी से उभार छिलि० -आक ओसेट -अह् -अय्) है जो कुन्त और क्रिया का एक साथ काम देता है

जन्-एक "बहु जानता है" (तुल० मम जन्तो-मि "मैं जानता हूँ")।

पन्बी आठक सहर्दासु मे^{या}।

जरो कुसेनी-एक "सड़का छोटा है" (कुसेनी-एरो "छोटा सड़का")।

छवि कुसेनी-एक "सड़की छोटी है"।

भूतकामिक कुन्त

अथ

मीय बाहु म तिकसन के कारण संस्कृत में इसके अत्यधिक विविध रूप हुए जिनका वर्तमान० विकारणों से कोई संबंध नहीं था भूत (भवति) पतित (पतति) जात

(जायते जानयति), जाठ (जानाति) कान्त (कामयति) पीठ (पिबति) भूठ (भरति) भस्त (भजति) पूष्ठ- (पूछति) इष्ट (इच्छति तथा मजति) निठ (नितोति) नठ (नहति) निन्न (निघटे निनति) आदि। केवल साधित क्रिया का -त् प्रत्यय (चोरित चोरयति) निरंतर निरन्त बाधा रूप है जो किन्तु कुछ सामान्य या मौखिक क्रियाओं तक प्रसारित हा ही जाता है (चरित चरति आदि)।

सामान्यतः परिवर्तन रूप का परिवर्तय तथा स्पष्ट रूपों की खोज और अधिक विशेष रूप से क्रिया में वर्तमान० विकरण की प्रमुखता और इन्द्रियों काय क्रियामुक्त विशेषणों का सामंजस्य इन सब बाधा का परिणाम हुआ मध्यकालीन भारतीय भाषा म रूपों का पुराणामी सामान्यीकरण इन का प्रचार पार्श्व में ही जाता है और प्राकृत में उभरे-इह इज मिले हैं पा० पुच्छित जो प्राकृत पुच्छि(इ)म द्वारा जारी रहता है, पुच्छ- के विकृत दृष्टिगोचर होता है जा जैन जन नियम में भी सुरक्षित है (पूष्) प्रा० आधिप सं० जाठ का स्थान ग्रहण कर लेता है, आदि।

तो भी प्राकृत में "विशेष" इन्द्रियों का कुछ संख्या बनी रहती है, जिनमें कुछ नम रूप और कुछ जाते हैं जैसे पयक (पय) मुक्क (०मुक्क ? मुक्क अन्य इन्द्रियों से साधित्य प्राप्त कर०-ओत्^३ में फिर मिलता है) दिष्ण (पा० दिष्ण) जो दत्त क लिये है (एक रूप वर्तमान चरित क अनुकरण पर ?)। आपुनिक भाषाओं से फिर मिलते हैं और साथ ही उनमें कुछ वृद्धि ही जाती है ये इन्द्रिय सिधी म बहुत हैं सहदा और पयार्थी में कुछ कम कुछ गुणरानी में हैं सिमितिक मर्ष की संश्लिषित शिस्तों में उनकी सूची मिलनी। कर्मारी में हैं गौद् गद् (क्रियार्थक सभा गहन म० गत्- गच्छति) आद् (आप्) (आपद्) मॉर्षोव् (मूत्-) दोद्^३ तुळ० घिना घोद् (दम्भ) घूर्^३ तुळ० घिना बद् (उपविष्ट) घूर्^३ (इष्ट) मोठ^३ (मूष्) मुनु तुळ० णिना मुनु (मुक्क) अक्कन में हैं यद् (गत्-) च (इत्-) प्रीय्म [कनीप्त वैशेषिप्रथ "उत्तने रिया" (प्राप्त) निर्विन (निदिप्य-)]। जिप्पी मापा म नूरी यद्, यूरो० णिणे (मत्) नूरी निन यूरा० मुतो (मुत्) चिर्ली कल (इत् पा० कत्-) मत् (मत्) हुद् (इष्ट पा० रिद्द-) गिद् (गत्) कुद् (पा० रिद्)। मराठी मने इन्द्रिय या चीन इन्द्रिय का पर प्रत्यय द्वारा व्यापि-युक्त हो जात है के-या मे-या जा-या पाद्-या, हिन्दी में भी बराबर है गया (मत्) एक मस्तन अनुनासिक धातु स, तथा आ की धातुओं म क्रिया (इत्) मूमा (मूत्) कुछ प्राचीन इन्द्रियों म क्रियाओं क विकरणों का नाम रिया है, मराठी तान् (कम्) मुक्क (प्रा० मुक्क) रि० बँद्-

(उपविष्ट) आदि। उससे नामवाचक वर्ण से बाहर समुदायों और पुनर्निर्मित रूपों का निर्माण हुआ है। जैसे पु० हि० दीन्ह (प्रा० दिष्ण) ने तुष्० म दिष्सा कीन्ह कीन्ह पान्ह के आवर्ष के रूप में काम किया है। किन्तु वीष और कीष का निर्माण कीष के कीन्ह और पा० प्रा० क्त्वा सहित प० सद्वा सिधी लभो द्वारा प्रभावित अनुकरण पर होता चाहिए।

बड़ी बड़ी ये वृष्टियों पर होते हैं। इन प्राचीन कृत्यों की प्रतिवृत्तिता में सामान्यतः सामान्य रूप आते दिखायी देते हैं। जिनका निर्माण वर्तमान विकरण से होता है वे संस्कृत -त -ठ के प्रतिनिधियों का अनुसरण करते हैं। पु० राज० कहिठ (कविठ-विठ (स्विठ) के निकट बयज सिधी मार्या प० मार्या बज मार्या हि० मारा व० गुर्वं गुपयोक् छु (अच्छ-“होना” से) इसी प्रकार सिता और काकिर में है (अदकन मुर्षे)। नूरी में पर प्रत्यय र् रूप के अन्तर्गत -स- जिसकी आगे उल्लिखित पर प्रत्यय के साथ गड़बड़ हो गयी है के अन्तर्गत मूरो० जिप्पी-भाषा में नियम है नूरी छर, मूरो० लसी (आदि)।

प्राकृत में स्वच्छ रूप में पर प्रत्यय इत्स- का प्रयोग हुआ है (-वन् के तुल्य सं इत्स का रूप पाणिनि ५२१११० अस्-इस्-समवत् अस्मिन्वत् बही १८१९) और जैन प्राकृत विधेयत् इस पर-प्रत्यय की कृत्यों का व्याप्ति-मुक्त रूप प्रदान करती है। भाग्यलक्ष्म्या उसके आधुनिक रूप मराठी में निरन्तर मिलते हैं (बेबिसा मेला) बहुत कम मुद्रणों में (-एस् -एको रूप के अंतर्गत) नियमित रूप से बिहारी (मैथिली बेबिस पीठक भेक् भरक बबवा मुद्दल) बंगाली (दैनिकल गल) और उड़िया में (बेबिसा) निस्सन्देह शिना में (बुक जो बुँठ स० भूठ के निकट है टर्नर, बी० ए० जो० ए० पृ ५३४) मुरात की जिप्पी भाषा में (अभिज्ञो सुठिओ बंगाली मुठिल की भाषि पीनिका जो बिनी “दिया गया मारा गया” के निकट है) पुरानी हिन्दी में (कबीर पुच्छक बापसा) प्राचीन हिन्दी में (गयसा बेष्सा)। लहदा में यह पर प्रत्यय क्रियार्थक संज्ञा के आधार पर निर्मित कृत्वाधी संज्ञा के स्थिर मुरमित है। मार्याला मार्यभासा तुष्० हिन्दी गैम्।

प्रयोग पर मूरो की जिप्पी-भाषा की व्याप्ति -रो अदकन -र, का भी उल्लेख करना आवश्यक है, जिसकी व्युत्पत्ति अनिश्चित है। र कृत्य सहित सामिष्य जिसकी और मरेत् किया जा चुका है। इस भाव का संकर बसता है। हि० निकाल देना जो निकालना के समीप है। किन्तु कुछ कठिनाइयाँ हैं। प्रत्येक परिस्थिति में रूप प्राचीन है। क्याकि उपार लिये मये शब्दा मं मुरात में धीरे म लिया गया एक विधेय कृत्य है। बसन्तिमन। मिना मं-नु पुन मून० की एर मूयया है। पसीहु चरीहु बिलाहु (बिलिदे मं० बिलि-

मते) यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि यहाँ ऐसा बहु, वहु (बठ वप्प) के विशेष प्रकार का प्रसार हो गया है।

प्रयोग

भाषुनिक भाषाओं का सूत्रपाठ होने के समय मू० की पुस्तकालयक अभिष्यजना नहीं थी (इ)त मूक्त संस्कृत विशेषण से निकले क्रियामूलक विशेषण ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया था। यह देखा जाता है कि छल के रूप में क्रिया के अकर्मक या सकर्मक होने से सकल बदल जाती है। दूसरे कारक में पूरक कर्ता हो जाता है और न्यायानुकूल कर्ता का प्रचार होना चाहिए गीम कारक द्वारा करण० द्वारा यदि वह हो तो। अपभ्रंश (सन्स्कृ० ६७२) के इस दोहे में दोनों रचनाएँ मिल जाती हैं

तुहँ कहिँ गइय चइव मम ति भजन्तु।

विद्विच विष्णुस्त्रिजुइय निबइय कह वि भजन्तु।

पु० मराठी

हे कीर्ति आसी तुज।

म्याँ अभिबन्दिता भीगूह।

पु० राज०

हउँ बोमिउ (सो पु० कर्ता०)।

राजकन्या में विठी (मया वृष्टा)।

तुलसीदास

सो फलु हम पावा।

मैं मुह सन तुनी कया।

भाषाओं के कुछ प्राचीन पाठों में भी एसी ही रचनाएँ मिलती हैं। ऐसे पाठ अब मल्ट हो गये हैं

पु० मैथिली

बाङ्गरे मोरी करि भरी जानसी।

पु० बंगाली

‘मूथिली काहिली’।

यहाँ सकर्मक क्रिया का पूरक व्यक्त नहीं जाता यहाँ क्रिया मपु० में रहती है

सं० महा० : कुल्य मया इतम् उपाभ्यायेन।

भा० मूष्ण० : सुष्टु तुए जाणियां,

पु० म० अर्जुनं म्भितल।

जिन भाषाओं में नपुं० नहीं है पु० ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया है हि० योपास ने जाना कि

इस प्रकार की रचना को क्रिया के कृदन्त क अधिकधिक निकट पहुँचने का रूप है और इस रूप में उसकी सामवाच एकक्यता विकीन हो जाती है। राजस्थानी में वह अकर्मक क्रिया में मिलने लगा है

मारवाड़ी मैंतकिए डबूर गयो ।

मालवी छोटा लड़काएँ बड़यो गयो ।

बूत्तरी ओर, अकृत पूरकयुक्त सङ्गमक क्रियाओं में उसका प्रयोग होता है। यही बात फिर पूरक की विशेषता बताने वाला प्रत्यय ग्रहण कर देता है

पु० राज०

अबकिई देव पूजिउँ (आबकेन देवाम पूजितम् न कि देव पूजित) ।
और जमी हाल तक निर्धारित सङ्गाओं की साक्षात् रचना-सहित पंजाबी
उम्हौं नै कुड़ी नू मारिआ ।

राजा ने इस बात को बताया "राजा द्वारा यह बात बतायी गयी राजा ने यह बात बताया" (राजा ने मैंें बात बतायी के निकट) ।

मरुने सेरो को मारु बाला ।

मराठी (इसर का और बिद्वत्तापूर्ण केवल जेतन होने की सङ्गा सहित)

त्या ने रामाम् मारिसे (राम मारिणा के निकट) "उसने राम का मारा है।

अंश में दोनों रचनाएँ परस्पर मिस्र जाती हैं और कृदन्त कर्तृवाची क रूप में व्यक्त कर्ता के साथ साम्य रखता है। गुजराती में ऐसा निरंतर होता है, मराठी में अक्सर राजस्थानी में कमी-कमी। उदाहरण :

मु० तेने ए राजाए पकड़यो ।

तेणे राजी ने मसारी मुकी ।

पु० राजस्थानी में है ही

मुन्दरी नै मरळी रखी ।

म त्याज आपुस्या मुम्मासु घाल व पाठबिसा ।

यह दुर्बल रूप अल्प प्रमापित नहीं होता परंपरामत रचनाओं की शक्ति बताने की दृष्टि में यह रीति है क्योंकि उगलीन कृदन्त-युक्त वाचवाच प्रकार में साम्य फिर स्थान प्राप्त करता है।

इन रीति की प्रपान अपूर्णता पुरुष का अनिर्धारण है।

आनुनिक भाषाओं में और कुछ में एक साथ ही उन ही रीतियों का आशय ग्रहण

क्रिया यथा है जितका प्रयोग संस्कृत में व्यापानुकूल कर्ता या व्याकरणीय कृता प्रयत्न करने क स्थिते हुआ था।

१ भाषाओं में बहूँ प्रत्ययाद्य रूप हैं वहाँ सर्वनाम काम माता है। इस प्रकार क्रिया "हूँता" के लिए मूरी म है एक० १ कर्त्तृणाम् २ कर्त्तृणुर्दितम इदन्त कर्त्तृणो (स्मिन् ?) है जिसका प्रत्यय -म् और २ है। समान नह मुरदकारक है (मन् क्तु से पूर्व रूप) यद्यपि -म् और -न् का सामान्य प्रयोग कर्मकारक का होना चाहिए।

सिद्धी में मूर्त्तारिभो (मारी) "मैने उसे मारा है" का प्रयोग होता है। किन्तु साथ ही अब उसमें कहा जाता है पिठ-म्^१ देखिए क्रिया-मूर्त्त-म्^२ "यह कहा गया है -मुपसे-उसकी" तो विकृत रूप सर्वनाम सीधे इदन्त में हो जाता है मारिठ-म्^३ "मैने उसे मारा है" मारिमा म्^४ "मैने उसे मारा है (स्त्री०)"।

यही प्रभाषी कर्त्तृदा और कर्मिरी में है (क्रियमें क्रियाओं-सहित केवल प्रत्ययाद्य युक्त सर्वनाम है)

म बुद्ध्योम अथवा बुद्ध्योम् ।

मै बुद्ध्येयं अथवा बुद्ध्येयैम् ।

पुपुम् पुप्^५ म् "मैने उसे छिपा दिया है" मुपिम् मुपेम् "मैने उ-हूँ छिपा दिया है" पुपुप् पुपुवप् "तुने उसे छिपा दिया है" आदि।

यही प्रभाषी कम-से-कम आधिक रूप में चित्तपक्ष की बनेली म भी है एक० १ कृत्-म् २ कृत्ते-म् (-म् सं० -त्वा से) जो प्राचीन वर्तमान १ कृत्स् २ कृत्स् से मिले हैं।

बंवाली में भी एक सर्वनाम (प्राचीन एक० इत्तं अथवा बहु० मामि) उत्तम पुरप में पाया जाता है पु० बंगासी पड़िसहो भाषुतिक पड़िमात्। स्त्रियों की कठिनाइयों के अतिरिक्त इस अनुमान के अंतगत उल्टे सामान्य प्रयोग में प्रथमाद्य-युक्त सर्वनामों का अभाव मिलता है।

२ अत्यन्त सामान्य भूय है इदन्त में सहायक क्रियाया की अनुपपन्नता, जिससे सामासिक रूपों की रचना पर इच्छते भागे विचार दिया गया है। सहायकों में क्रिया अम्-ने जिसका आदि विशेषण स्वर-सभि या स्वर-बन्-भाव की प्रवृत्ति रताता या पीछ ही कर्त्तव्यों के साथ योग स्थापित करना शुरू कर दिया। पाली में आमतौर गिठ, यथासि बुत्त्वंमह का प्रयोग हुआ है और कर्मवाच्य में मूर्त्तमहि अम्त्वंमह और साथ ही सम्बन्ध नाक सहित पत्तोसि निप्यायं। किन्तु ये वाच्य-विस्तार

ध्याकरण की प्रणाली में प्रवेश नहीं कर पाते वे ह्रस्वों से व्यंजन साथ के क्रियामुक्त विशेष्य से बने हुए अन्य रूपों के साथ आते हैं, तिष्ठति चरति बतति हर कारक में वे अतीत के ह्रास-सहित पाठी में बराबर-अबबर आते हैं। किन्तु प्राकृत में परि स्थिति बदल जाती है। मूच्छकटिक में क्रियाविहीन प्रथम पुरुष में मिश्रता है :

पपसीञ्

अर्द्धकारभो तस्त हृषे जिज्ञितो ।

किन्तु मध्यम पुरुष में

गहिषा सि ।

नामं से पुञ्जियासि ।

तुष तुमं मए सह उञ्जाणं गवा आसि ।

तथा उत्तम पुरुष के स्त्री० में

अञ्जाए भवन्हि (पूर्ववर्ती वाक्यांश की गति के अनुसार) ।

अन्वेसेन पसिन्मि ।

अर्द्धाञ्जिन्मि रोदेहि अकत्तेरिह ।

इसी प्रकार मराठी में मिश्रता है चातसे आहाति किन्तु म्यां देपूजासि तू पुञ्जियासि मागते । उत्तर-पश्चिम में यह बात काफी मिश्रती प्रतीत होती है

अदकून एक० प्रथम पु स्त्री० पूर्वार्ध 'बह चला गया बह चली गई' किन्तु पूर्वार्ध (पतोस्मि) "मैं चला गया हूँ" 'तो ऐ मरुम्' 'तरे द्वारा मैं पीटा गया हूँ।"

कदमीरी कबल अकर्मक में

बुपुम् स्त्री० बुपूतम् मैं बिलुप्त हो गया (गयी) हूँ (बुप "मैं बिलुप्त होता हूँ") ।

छुम् स्त्री छेम् "मैं हूँ" (प्राकृत से निकले अञ्ज-कृतत्त क आभार पर निर्मित) ।

ओंनुम् स्त्री० ओंनुस् "मैं या बी" (अम् का अपूर्ण प्राकृत भासी से निकले कृतत्त क आभार पर निर्मित) ।

(अह० के उत्तम पुरुष प्रथम की भाँति नामजाल रहते हैं) ।

निपी पु० बिडम् "मैं आराम से हूँ" इत्तिम् स्त्री० इत्तिम् "मैं प्यार करती" सहसा पु० बाहुम् स्त्री० बाहिस् "मैं या बी" ।

'क्रिया होना' के साथ इन वीग का परिचय पुरुषनाचक क्रिया के ह्रस्व के साथ निश्चय के रूप में इत्तिगापर होता है ।

कदमीरी में मध्यम पुरुष प्रत्यय द्वारा सामान्य क्रियाओं से भेद उपस्थित नहीं

करता एक० पु० वृपुष् स्त्री० वृप्^{र्ष} ल् सीधे वर्तमान वृपष् जो अस्पष्ट भी है की याद दिलाता है बहु० पु० वृपिब स्त्री० वृपिब^{र्ष} वर्तमान वृपिब के साथ-साथ बसता है।

पु० मराठी में वैशिष्ट्यासि पुत्रिकासि के निकट उत्तम पुष्य मे भी कबलिसो मोहें मिसता है जिसमें इदन्त और क्रियामूलक प्रत्यय के बीच में कोई मध्यवर्ती भातु नहीं है। इसलिए अकर्मक क्रिया में है

मी पङ्क्तो पङ्क्त्ये ।

तू पङ्क्तास् पङ्क्तीस् तपू० पङ्क्तेस् ।

यह रूप-रचना कर्तृवाच्य क्रियाओं में भी पायी जाती है

तू काम् (तपू०) केलेस् (न कि त्वां काम् केले) ।

तुम्ही काम केलेत् ।

तू पोषी (स्त्री०) लिहिमीस ।

तू पोष्या लिहिस्मात् ।

यहाँ कर्तृवाच्य प्रत्यय इदन्त में जो साम्य की प्रकृति रखता है अङ्ग जाता है मूल० रूप-रचना के वर्तमान० भासे में पुर्यत मिस जाने में केवल जोड़ा-सा ही अन्तर रह जाता है, और मराठी बहुत बड़ी संख्या में क्रियाओं का अतिक्रमण कर गयी है पु० म० मुकुट लेइसासि ।

मैं पायी (तपू०) प्यालो ('प्यास्ये' यदि 'म्या पायी प्यासे के तुस्य कर्ता स्त्री० है) ।

मैं तुमी गोष्ट (स्त्री०) बिसार्लो ।

प्रथम पुष्य में केवल इदन्त ही रहता है, किन्तु विचका कर्ता० के साथ साम्य होता है और जो फलत कर्तृवाच्य इदन्त हो जाता है

ती मरे म्हणली ।

तो संसृत् सिद्धला ।

इसी निय की नेपासी में रचना है अन्तर केवल इतना है कि कर्ता (कर्तृवाची कारक) में रहता है निस्सम्भेह ऐसा त्रिबन्दी आचार के प्रभावान्तगत होता है

बेस्वा-य्य भनी (स्त्री०) ।

तिनिहृक्-क जानन्द माम (पु० बहु०) ।

क्रिया 'होना' के साथ जाने वाले इदन्त को कर्तृवाच्य का भाव प्रदान करने की प्रकृति प्राचीन होनी चाहिए निय के प्रमाण प्राप्त होते हैं कदन्हि पसिदन्हि, प्रहियसि दसिबन्ति की भांति। इनसे पु० सिह्ली हुन्तो (*दिमा-स्व) कल्मह और आपुनिक

रूप-रचना कर्मिणि (*कल्पितोस्मि) कर्मिण्येभि (*कल्पितकोस्मि) भाषि त्रिसते प्रथम पुरुष नामजात एक० कर्मिण्ये बहु० कर्मिण्यो से निम्न है की भोषणा होती है।

बिहारी में ऐसा ही है मैबिली १ एक० पु० देखतेहुँ स्त्री० देखलि २ एक० देखसे २ बहु० देखलहु प्रथम पुरुष में उसमें कुछ व्याप्तियुक्त नामजात रूप है एक० देखलहु बहु० देखलम्हि स्त्री० मरली।

बयासी में त्रिसमें लिय नहीं है (वे० पीछे) देखिऊ प्रथम पुरुष का विभिन्न रूप है धेप तिउ बर्तमान स साम्य रखता है १ देखिनाम् ३ देखिना(हा) ३ देखिलम्।

बिप्पी-भाषा अकर्मक और कर्तृवाच्य के भेद के प्रति उदासीन हो गयी है किन्तु सिंग की दृष्टि से उसमें साम्य है यूरोपीय बोलैठो 'बहू बैठा' लसो "उसने खाया" फेन्दि "उसने (स्त्री०) कहा" बीने "उन्होंने दिया" नूरी मन्ध, मन्दि "बहु काया कायी है" बीर, बीरि "उसे डर है (स्त्री० पु०)"।

इस प्रकार विभिन्न रीतियों के कारण और असमान सफ़सता क भाषा भारतीय भार्य भाषा ने उस समस्या को हल करने की चेष्टा की है जो इन्द्र के प्रयोग द्वारा उत्पन्न हुई है भूत० के कारण बर्तमान और भविष्यत् के क्रियामूक रूपों और नामजात रूपों का विरोध प्रस्तुत करने का परिणाम कर्ता के साथ साम्य में हुआ किन्तु क्रिया के अकर्मक या सकर्मक होने के अनुसार, यह कर्ता० स्यामानुक्त कर्ता होता था या नहीं होता था। सबसे कुछ ऐसी दुरुहताएँ उत्पन्न हुईं जिनसे प्रत्येक भाषा ने बचने की चेष्टा की कमी-कमी से और भी अवांछनीय दुरुहताओं में फँस गयीं इन प्रायोगिकों का भी जो निस्सन्देह अपनी सीमा पर नहीं पहुँच पाये इतिहास बताता है उनका प्ररक सिद्धान्त स्पष्ट है।

बिभ्रत कारक में इन्द्र

अधिकरण में साम्य रखने वाली सत्ता और इन्द्र का समुदाय त्रिसते पूर्वत्य और अबतर पर आनुवंशिक अवस्था प्रकट होती है बड़ी कठिनाई से आपुनिक काण तक कुछ-कुछ बच पाता है इन्द्र का क्रियामूक भाव यहाँ तक प्रभूत हो गया प्रतीत होता है कि उसका कर्ता कर्ताकारक में प्रस्तुत करता हुआ निम्नया

पु० रात्र० में

यहाँ पात्र पत्र कीर्षे नामि जो एक प्राचीन रचना प्रदान करता है, के निरुद्ध विस्तार है

वनन्यई देम्बु नाम बर्षमानपुमार ।

उससे हिन्दी में

कर्तुं इत्नी रज् (स्त्री०) गये (बिहृत पु०) तुम् आये ?
तीन् वजे (एक०) ।

पूर्ण कृदन्त बिना कठिनाई के प्रथम कर्ता से संबंधित हो जाता है और कर्तृवाच्य रूप में वास्तविक क्रियामूसक विशेष्य ही जाता है तुल० सैंटिन मामीना पोलीवीटा (सैंस्यूटे) "सब कुछ का बायबा" ।

पु० राज०

मद्य पीबाइ गहिठार्ई करी ।

हि० पगड़ी बांधे माया (बिहृत० एक० बांधे स्त्री० पगड़ी के साथ जिससे वह संबंधित रहता है साम्य नहीं रखता न कि पु० एक० माया के कर्ता के साथ) ।

इससे हिन्दी में एक बिबिधता-संपन्न सव्य प्रयाय-पद्धति मिलती है
बसते हुए बेगम् मे कहा "बसते हुए" (बिहृत० पु० एक०) ।

मैं समझे हुए था कि ।

उससे क्रिये की भाँति व्याकरण-संबंधी साम्य है ।

यही रूप क्रिया 'होना' के साथ सांनिध्य प्राप्त करने पर, अवधी में अतीत के कुछ रूप प्रदान करता है ।

तुलसीदास

अनुचित बधन कहेतें (कर्ता० पु० परगुराम) ।

देखितें (कर्ता स्त्री पूर्वजला) ।

और मात्र कलीमपुरी में देखेजें बेने हजें से (दिखे बिहृत) देखिम्^ई •देखे (भा)सी ।
बिहृत बहु० भी मिलता है

पु० राज० भागि समीपि रह्यां रहिगयोवीसुभां मारवाड़ी लियां मु० मारवां
गुज० मारवाड़ी बोल्यां कर्भुं ।

यह प्रत्यय क्रिया वा अव्ययता ही किन्वा उसमें बोल्या कर्भुं "यासना करना" ठीक-ठीक हिन्दी 'बोला करना' की अनुसूचता है जयवा क्वा इराके विपरात ये अस्तित्व रूप बिहृत रूप के स्थान पर है । पहला अधिक संभव है क्योंकि हिन्दी का बिहृत रूप बहु० अं युक्त बहुत नहीं है बरन् ओं में है । यहाँ पर कृदन्त का प्रयोग विशेष्य के नाम की भाँति होया ।

यह प्रयोग प्राचीन है

धं० तस्य गर्तं सवितासम् ।

इयम् एषाम् आसितम् ।

किं पृष्टेन ?

पा० किं ते अश्वत्थ गतेन ?

प्रा० इच्छामि पञ्चाशिवं मुष्ठाशिवं (प्रघाजितम् मुष्ठाशितम्) ।

इसी प्रकार आयुनिक बंयासी बिनि बाँचिसे” हि० तुम क्यों ऐसा किमा करते हो कहे से पिना पिपीते प्रौं मुठुँस् ।

नेपासी में यह कृदन्त विशेष्य संबंध के माध्यम द्वारा संज्ञा के साथ सम्बन्ध हो सकता है, जिससे एक नवीन कृदन्त उपसम्भ होता है

मार्या अथवा मरे को पियो “वह मीस का का (नपु० न कि “मीस से”) मर’ ।

बाबु का घर बसे को ।

येक जोगी इन् मा शुष्ठीये को (वर्तमानकालिक कृदन्त का भी ऐसा ही प्रयोग होमा शुष्ठीये को ‘कटका हुआ’) ।

बयासी में पर-प्रत्यय -त्- रहित कृदन्त भी प्रयोग में आता है मार होइ, बामा के बेका होइ, कि कारा होइ (‘बया किया आपने’ का अतिविधित विनम्र रूप) काया वेळ । यह कर्तृवाच्य कृदन्त उक्त आना करान् जैसी अभिव्यक्तियों में करान् पर निर्भर रहता है रचना बेसी ही है जैसी यान् करान् में । यह पूछा जा सकता है कि एक ही रूप जैसे क्रियामुक्त विशेष्य के प्रयोग में विविधत बन्धन कौन-सा है पाया वेइ (कभी मिछा) यदि वह पाता है वह छाठा है” आमि आसिया देखिताम् “बा जाने पर, मने वेला है” यह स्वीकार किया जा सकता है कि द्वितीय उदाहरण में एक कर्तृकारक है (इसी प्रकार मारा जाम् अथवा पड़ वपा पाड़ में गिरता हूँ देखा है, कोई मुझे बेपता है”) तथा पहले में कृदन्त कर्तृवाच्य भाव धारण कर केता है । यह तथ्य कि यह रूप अपरिवर्तनीय है उस विशेष्य प्रयोग के विस्तार की ओर संकेत करता है जिसके क्रियार्थ नर रह जात है अथवा यहाँ भी प्राचीन विहित रूप बहु० में प्रत्यक्षत अनुनासिकता बिहीन रूप (अ तो बिउरल से अनुनासिक है वे० पीछे) रूप की स्थापनाप्रता है ।

यहाँ कृदन्त के नामान्त भाव का यह उदाहरण है कि उक्त न्यायानुसूक्त कर्ता निर्भरता के साथ प्रस्तुत हो फिर सत्रयवाची विरोधन का साथ हो जाय अथवा यदि सत्रयवाची तो अभिधारमूक्त विशेष्य का रूप के अन्तर्गत

गुज सिक्न्दर् ना मुजा पाछि हि० सिक्न्दर् ने मुए के पीछे ।

बंयासी आमाद् न दिसे “अस्माकम् न इत’ ।

पु० म० (गुनाराम) मद् आस्या किना ।

किन्तु यह हो सकता है कि क्रिया की सामान्य रचना के अन्तर्गत म्यामानुकूल कर्ता कर्ता कारक में हो। नैपासी में भिन्नते हैं (श्री टर्नर द्वारा सूचित उदाहरण)

मै-के गर्वा दुनिया सर्व माम् गयो।

मै-के गर्-खु की भक्ति किन्तु गर्-क्रिया में उसी प्रकार बेसा लोम कहते हैं म धरे खु कहा प्रायया

मा आर्वै मा (अहम् आगतस्य मध्ये)।

बंगाली में आमार म दिसे के निकट नकी अच्छी तरह कहा जायगा आमि दिसे आधुनिक बंगाली सुभि बनमिला होते। आधुनिक मराठी में इस विन्यास ने काफ़ी विस्तार ग्रहण कर लिया है निस्सम्बेह् द्विविध आचार के प्रभावान्तर्गत भी तय गेसा ने पावसासा सरुसा-नर् (बरसा सुतम्भ उपरि)।

यह एक द्विविध आचार ही है जिससे ग्रामीण सिहली में कर्ता० में अपने म्यामानुकूल कर्ता के साथ आपे हुए अम्पी विशेषण स्पष्ट होते हैं ममन्की के "अह कथित कार्यम्" "काम जो मैंने कहा है" उड़िया में ऐसा ही विन्यास प्राचीन भविष्यत् कृदन्त के आचार पर निर्मित क्रियार्पक समा वृष्टिगोचर होता है मू रेबा घान "अहम् वातम्-आत्मम्" "मान जो मैंने दिये है।

यह ध्यान देने की बात है कि ये समस्त प्रयोग कृदन्त को उसके मूख से जो विशेषण है दूर हटा देते हैं, जिससे संस्कृत में कुछ ऐसे विशेषण वृष्टिगोचर होते हैं जो क्रिया से अलग हो जाते हैं जैसे प्रीत सीत बुध। आधुनिक भाषाओं में विशेषण का प्रयोग समाप्त नहीं है। धाम ही सिद्धांततः स्वान विशेषण और क्रिया में भेद उपस्थित कर देता है उड़िया पड़िसा गछ "गिरा हुआ पेड़" गछ पड़िसा 'पेड़ गिर गया है। तो भी विशेषण भाव गाबिलों या भाव-विस्तार द्वारा सुविधानुसार बनता है।

सामिन मु करेवै काम् "क्रिया गया काम (काम् करवुँ "काम क्रिया गया है") म० पाठबिसेल मज्जापत्र "मेजा हुआ मात्रापत्र" (और साथ ही है) मात्रापत्र लिहितेसे असून "यह मात्रापत्र जो मेजा जा रहा है") नीका बाँपेसेमे माह "नीका बीपी है" मारबाड़ी मारिपोको "पिटा हुआ" (मारिपो) "पिटा पा" हुमावूनी ह्रिटियो "मम्म रिया हुआ" (हिटो "बहु अक्षम हो गया है) गुण० गिमा अनीगु "पिटा हुआ पीटे जाने की बात जो संभवतः एक पूर्वकालिक कृदन्त और अस्मित का सामिश्र प्राप्त रूप है, हर कारक में जैसे "पीट केने पर" और जमयन् "मैंने पीटा है" क बिपरीत है।

भाव-विस्तार इसकी रचना में कृदन्त महिन होनी है। संसृष्ट में तो मूल-का प्रयोग समासों की पान्त् स्थिति और द्वितीय शब्द के रूप में, किन्तु बाह् द्विन समासों

के साथ हुआ ही है अन्ततः-मृत 'भयक' वाली में केवल कुछ अकारिक-मृत गिहिरुत प्रकार मिलते हैं। ऐसा ही गिहिरुत में है, मुद्रुव् अत्येक "सञ्जेर योका" (गुप्त मृत)। किन्तु कुछ आपुनिक भाषाओं में प्रथम वर्ण संज्ञा-स्व्य वारण करता है गिहिरुत में 'यका भावुमी' का "यका हुआ भावुमी" (न कि यका भावुमी) वाग्य प्रकट किया जाता है। इतल में इस मूल का प्रयोग करते हुए कहा जाता है इमाम् पाया हुआ एक ही के नाम ही हुई पुस्तक इसी प्रकार भारतीय भाषियों द्वारा भारतीयों के मुख्य है यैबिनी मूलतः भेद देवक मयः। गिहिरुत में पूरा 'पूरुता का इत्यन्त है किन्तु ऐसा पाया जाता है कि इस क्रिया का बहुत प्रयोग हुआ है, और सुविधानुसार उसे 'पूरा करना' कहा जाता है यहाँ इतल का विशेषण की भाँति प्रयोग होने पर उसमें क्रिया को निकाल बाहर किया है।

भविष्यत् • इत्यन्त

अन्ततःमृत विशेषण की रचना करने वाले विविध पर-प्रत्ययों में से जो -य- युक्त या और जो प्रारम्भ में बहुत प्रचलित या बहु मी दीर्घ ही निकाल बाहर किया जाता है क्योंकि उन काम से हटते ही अब अन्ततः के समुदायों का परस्पर साम्यत्व हीता है, रचना की स्पष्टता नष्ट हो जाती है। स्वयं सं० पूजनीय पा० पूजनेय्य (अपभ्रंशेण सपथेय्य प्रकार के साथ यौग द्वारा) प्रा० पूजनीय्य पुपनिष्ठ (पूजनाम्) प्रकार कीर्तित नहीं रह सके—बहु मी अन्ततः विशेषण रूप के साथ बिसर्ग क्रियायक संज्ञाएँ प्राप्त होने वाली थी संभव रहने पर भी। बहु रूप को उस हटा बैता है (इ)ठम्भ-है त्रिभ-त युक्त विशेषण के मुकाबले में जाने का लौकिक प्राप्त था यद्यपि मूल की अन्य स्वर-नभमी यैबी के साथ पानी में पतम्भ मुरजित है जो वन (प्राप्त) के साथ चलता है और पापुचानि भाषि स अण्य हू जाता है अण्य दान्य (दान्य) नेतय (नेतय) जो किशोर्वर मन्त्राओं दान्य नेतय के साथ चलता है और वर्तमान नेति (मयति) के साथ भी।

वर्तमान पश्चिम पुनरुक्ति पुनरुक्ति गढ़ेति के आधार पर ही पश्चिम्य पुनरुक्त्य पूजनेय्य गतेन्य (गुप्त प्रा० बहिर्दन्त गिहिरुत में) विहित होते हैं, जो सं० पठ्य्य प्रथम्य पूज्य बहिर्दन्त मन्त्राणाम् गृहीत्य के विपरीत हैं।

प्राचीन रूपों में से केवल कुछ स्पष्ट मन्त्राएँ रह जाती हैं यैने नि बान् (वार्ध प्रा० बान् किन्तु गिपी बान्^{वै} सं० क्तम्भ) अनाम् (सं० अनाद्य) गिपीवै^{वै} हि० पम् (सं० वेप पा० वेप्य प्रा० वेप्य) गुप्त-सम्भ्र में ही पानीयाम् हि० पानी।

भारतीय-आय भाषा में यह रचना जगज्जन सर्वत्र पायी जाती है पीछे-न् युक्त कृन्त और बिधेयत् सिधी मारिबो लहवा मारना प्रकार देस ही वा चुके हैं।

किन्तु जीवित रहते हुए उसका प्रयोग प्रायः बहम जाता है। प्राचीन प्रयोग केवल मुजराती और मराठी में रह गये है

अप० (अब०) उलह देखत

उज्जवणु करिब्यत

पु० पाज० हिंसा न करावी (स्त्री०)

पु० पु० तेने वा चोपडी वाअुपवी (स्त्री०)

पु० म० मझी कापु करावे (तु०) ?

म० मी पाअुन् पाठडावा (पु०)

सिधी में 'मारिबो' प्रकार बर्तमान में प्रभावित हुआ है वह सामिभ्य में मारिबो माहिया (मारयमाणोस्मि) मारिबो होम् "किसी ने मुझ पीटा" आदि की भाँति प्रवेद पाता है। कृन्त के प्रथम पुरुष क्रिया का भाव ब्रह्म करने पर भविष्यत् का अर्थ फिर आ जाता है मारिबो बहु पीटा आपणा मारिबो "बहु पीटी जायगी" मारिबा "वे पीटे जाएँगे" मारिबिडे "वे पीटी जाएँगी" (किन्तु सान ही मध्यम० बहु० के सर्वनाम में "तुम पीटी जाओगी")। इस रूप क चारो ओर एक क्रियामुष्क तिङ्ग की अन्य कृन्तों की भाँति गपता हुई है मारिबुम् "मैं पीटा जाऊँगा" मारि बिमस "मैं पीटी जाऊँगी" आदि।

इसी प्रकार मराठी में वर्तमानपूरुष कृन्त जिसका मता-रूप था ही मध्यम० एक० में-न् जोड़ लेता है बहु० क प्रथम० और नम्यम० में-त् तु प्रत्यु क्रियावात्, पोबी आपबीम् आणी हुसरे काम कारुव सु। इसके अतिरिक्त बहु सदक क्रिया-रूप का मूपाधार प्रतीत होता है हे सरिता मठरवे जीबी आहिँ कँसे करवेत ? (न- पर प्रत्यय भविष्यत् का तुम० दे० जागे)।

पूर्वी भाषाओं में इसी कृन्त से कृन्तवाच्य धर्म में एक क्रियामुष्क आधार उपसर्ग होता है, न- युक्त मूडकाकिरु कृन्त की भाँति किन्तु भविष्यत् इस प्रकार केवल बंगाली में पूर्ण है एक० १ वचिब २ वचिबि और उकिमा में है एक० वेचिबि २ वचिबु आदि। प्राचीन अवधी में-त् मुञ्ज स-भविष्यत् पूर्ण रूप में-यद् स्त्री० प्रबि समी पुरुषों में प्रयुक्त कृन्त के साथ मिलता है आज श्रीवाचार में मिलता है १ देग्^मदु २ व्^मब और देग्^मबेत् किन्तु १ वचिह और इसी प्रकार बहुवचन में, सारीमपुर

में स-भविष्यत् केवल बहुवचन के उत्तम० में गुरु होता है (वेत्तिवा) छठीसप्तकी में है 'वेत्तिही' म कि 'वेत्तन्' तथा इसके विपरीत २ देख^{ये} के और वेत्तिही तीनों पुरुषों में प्राचीन भविष्यत् को छोड़कर कुछ नहीं एक० वेत्तिहै बहु० वेत्तिहै । अस्तु प्रथम पुरुषों में ही -ञ् रूप नहीं मिलता और बिहारी में भी ऐसा ही है यह जान लेना कि ऐसा मानजान मूल के रूप न होना है, एक महत्त्वपूर्ण बात है। निम्नन्वेह स्वयं रूप के विष्णु के भाव में प्रतिवृत्तिता ही इस प्रतिरोध में कुछ पीछे है।

वास्तव में संस्कृत के जाल से ही उगरीन इत्यन्त भाववाचक विधेय्य का मुख्य ग्रहण करने को प्रवृत्ति प्रवर्णित करता है। कायम् रणितभ्यम् अप भविष्यत् प्राणय।

भाव क्रियार्थक संज्ञा के विस्तृत निकट है मया यन्तव्यम् पंच० मयं वक्तव्यस्य काम् । यह भाव आपुनिक भाषाभा में विद्वत् कारक में विवक्षित होता है साथ ही वह क्रियार्थक संज्ञा के अनुकूल पड़ता है

अप० (मच०) ममसह न हुउ पुच्छिष्यह मग्धारितु पाकस्यह तित्तु

पु० राज० साहवागी वाँछा जीपवा वाँछी पाहमिवा मपामि विन्तविषा
आयी त्रिमवा वीठी

मागवाडी चरावा मेन्वो।

पुत्ररायी में कर्तुं सामान्य क्रियायक संज्ञा है उसमें से सबबवाची विधेय्य के साथ-साथ बन्धनपूत्रक भावभारतक विधेय्य निकलता है करवा-नो (पु० एक०)। इसी प्रकार करवयावा (विधेय्य) करवयाम् कम्न् (प्राचीन *करवीनि)। ऐसा ही राज चहको चहको ब्रज० चरिदी पु० हिंसी चल्न् जन में बदासी उड़िया चलिवा।

अस्तु यह रूप हिंसी और पत्राकी को छोड़कर समस्त मध्य और पूर्वी भाग में मिलना है। उड़िया के मबमवाचक इत्यन्त के लिये दे० बोझा पीछे।

अस्तु मसृष्ट के इच्छा और क्रियामूलक विधेय्य का एक समुदाय है और उसका प्रत्यक्ष समानान्तर विकास हुआ है। यह ध्यान देने की बात है कि इस विकास की सीमा वह नहीं है जिसमें समान्य संस्कृत में इच्छा की प्रनाली के रूप में हो गया था इत्यन्त फिर नहीं मिलने अर्थात् क्रियामूलक विकरणा से सारित विधेय्य के इत्यन्त इत्यन्ती भाव जबल तक महानक क्रियाओं के मबम में अधिक दिग्गता है जो प्रायः मिथ्य की सीमा तक तन्वाचान् रूप के पूष त्वात् तक पहुँच जाती है। किसी अन्य रूप में प्राचीन इत्यन्त अरना विवरण बाणा कार्य छोटे हुए, कुछ क्रियाओं के रूप हो जाते हैं अथवा कुछ क्रियार्थक मन्नाया या पूर्वजासिक इच्छा के निकट पहुँच जाते हैं।

क्रियार्थक संज्ञा

इसमें हमें अधिक धेर न सगेयी। सब तो यह है कि संस्कृत का विकास एक सञ्ची क्रियार्थक संज्ञा की रचना की ओर झुका हुआ प्रतीत होता है, जबकि संज्ञा-रूप की एक पृथक रचना की ओर (अत्यन्त स्पष्ट मूळ होने पर भी) और एक साथ किसी संज्ञा या क्रिया पर आभारित रहना और संज्ञा पर शासन करने की क्षमता रखता हुआ प्रतीत होता है। किन्तु संस्कृत क्रियार्थक संज्ञा की तुलना उन भाषाओं की क्रियार्थक संज्ञाओं से करना यथेष्ट होगा जिनमें यह वर्ग बास्तब में यह प्रदर्शित करता है कि उसका कार्य कहीं तक कम हो गया है। उसमें मुरिकक से केवल अतिम भाव मिलता है। अबका उसका प्रयोग 'इच्छा होना प्रयत्न करना जाना करना' भावों के द्योतक संज्ञो के साथ होता है। इन्हीं मूल्या के साथ यह मध्यकालीन भारतीय भाषा में दृष्टिगोचर होता है, उदाहरणार्थ बघोक के अभिलेखों में। किन्तु कर्त्ता० का भाव नहीं मिलता। क्रियार्थक संज्ञा बाळ पूर्व वर्ग का जिसकी कुछ-कुछ रूपरेखा देखी जा चुकी है निर्माण नहीं होता। अतः में केवल एक रूप है जो अस्थायी विकरणा से पृथक और अत्युवाच्य तथा कमवाच्य के सिधे एक साथ बराबर हो गया है।

संभवतः मराठी का छाड़कर, आधुनिक भाषाओं में से संस्कृत क्रियापक संज्ञाएँ छुट हो गयी हैं ताँतें कहे इच्छितो। यह स्मरण करना ठीक होगा कि यही पर रचना क्रियामूलक विशेष्य वाली हो सकती है। अबका मध्यकालीन भारतीय भाषा में -इत् युक्त क्रियामूलक विशेष्य या वे० बोझा बाये।

सौमान्तवर्ती छोटे-से समुदाय से अलग (प्रपुन और गवर्बती -क- कोबार और पहाई इक धिना -ओइकि) ईरानी से उबार लिये गये (बली प्रह् ओर्मुरी -एक्) सर्वत्र नामजात रूप मिलते हैं।

बहुत अधिक प्रयुक्त होने वालों में एक -अनम् युक्त संस्कृत कार्यवाची संज्ञा से निकला है एक ओर मूळ (सामान्य) रूप है सिंहली -न् कद० -उन् सहदा -उम् (बिहल० -अण्) सिपी-अम्^३ बुल्गेरी-अन् जिनके साथ अन्य के अतिरिक्त बगामी का उत्तम' बोझ देना आवश्यक है बूसपीओर व्याप्ति-युक्त है म० में ब्रज-नी पं० -ना (-ना मूळ्य के बाद) राज० -ना -न्, नेपाली -न् (बिहल -न)। मध्यकालीन भारतीय भाषा में ये ही प्रयोग पहलू से शाल दे एरो अयस्ते अम धर' आरम्भ निबारेवम्भो (मम परं आणन्त् के तुल्य) तुळ० भारणे छिर् (आकोनी 'एरुवाह्लुयेत' पीम० ११९, १०१)।

अन्य किसी रूप में अम्पनमूषक इदन्त (गुज० -न् राज० -ओ बज -इरी

वंगासी इव उडिया -इवा और म० -जया केवल विद्वत्० में), और वर्तमान० तथा मृत० कृत्वन्त मिस्रते हैं जिनका उल्लेख पीछे किया गया है।

इन संज्ञाओं का वास्तविक भाव अर्धपूर्ण रहता है और उनका प्रयोग रूप-रचना के सामारण भाव-सहित हर कारक में होता है। इसके विपरीत उन्हें बोझ-बहुत व्याकरण-संबंधी मूल्य वाले वाक्य-विस्तारों में बहुत कम स्थान मिल पाया है और यह प्रश्न आये उठेगा। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा को क्रियार्थक संज्ञा की रचना में सफलता प्राप्त नहीं हो सकी।

शेष क्रियार्थक संज्ञाओं के कार्य का एक भाग पूर्वकालिक कृत्वन्त द्वारा अपना उनके आभागी रूपों द्वारा पूर्ण होता है।

पूर्वकालिक कृत्वन्त

ईरानी में इस संज्ञा के अन्तर्गत परिस्थिति के घोटक नाम-बातुओं अथवा -ति-युक्त संज्ञाओं के सामान्यतः समास रूप में कुछ क्रिया-विशेषणमूलक कर्म० रसे जाते हैं म० वेति सद्ग्रहम् "खंडन करने में" ऐति तपूठीम् "पीला करने में"। वेद में कर्म० के तुलनीय रूपों में क्रियार्थक संज्ञा का भाव है है पीछे किंतु भी रन् को अवेस्ती रूपों की तुल्यता वेद के परवर्ती रूपों में मिली है और इन सूत्रों तक सीमित रहती है इत्थं-कारम् से अ-विशेषम्।

इसके विपरीत संस्कृत में मिश्रित रूप से "पूर्वकालिक कृत्वन्त" अथवा क्रियामूलक विशेष्य के एक वर्ग की उत्पत्ति दृष्टिगोचर होती है जिससे सिद्धांततः पूर्ववर्ती अथवा समकालीन परिस्थिति का घोटन होता है उसकी अभिव्यक्ति करण० (और अधि करण ?) में बड़े कुछ रूपों द्वारा होती है जिनका कर्ता कम-से-कम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कर्ता नहीं होना चाहिए जो प्रधान वाक्यांश का होता है पिंवा निपद्य स्त्रियं दृष्ट्वाऽरि क्रितव तताप।

विकरणों का सबंध -नु इ -ति-युक्त क्रियार्थक संज्ञा में काम आने वाले विकरणों से है वैदिक प्रत्ययों -न्वी -स्वा -स्वाऽरि का मूल क्रियाओं में व्यवहार होता है -वो और -वो का साक्षिण और समाधेयों में।

इन तुल्य रूपों की समृद्धि कर्त्तव्य संस्कृत में कम हो जाती है जो भाषा की इस स्थिति के अनुसूचक हो है किन्तु पूर्वकालिक कृत्वन्त की सजीवता रूपों के विस्तार और पुनः मन्कार द्वारा प्रकट होती है पहलु क्रम में वैदिक भाषा में स्वाऽरि और पाणिनि के अनुसार -वीर्यम् (इष्टवीर्यम्) का संकलन मिलता ही है पासी में -वा (जिगमे प्राणुत पीर० -नुज) के निवट -वान (जैन-ताप) का प्रयोग हुआ है अजीव० में गिर०

त्या सह० -ति (पढ़ने में निस्सन्देह -ती) मुरलित्त मिलते हैं साथ ही -तु (तुल० निव विप्रवेतु "विस भाति गणता की आय" एक० इत्यम्० टीमस 'ऐक्या मारिएंट' २५५ पृ० ४९) और एक बार -तुर्न भी प्रयोग बहुत कम मिलता है, द्वितीय पापी में बहुत कम है किन्तु प्रा० माह० -त्तण में बहु बराबर मिलता है।

जो -ई मुक्त विकरण है उसकी दृष्टि से पापी में सामान्य -म म (जो प्रा० इज में मुरलित्त है) काव्यात्मक व्याप्ति -माक (उदा० उत्तरिमान उत्तरित्वा द्वारा विवेचित) पुङ्ग जाता है इसी क्रम में वीम भावाए (भावाय) प्रकार भी सम्बद्ध हो जाता है जो सामान्य विङ्गन० स्त्री० (तुल० पा० अत्पाय जो एक साम आत्पाय और अर्थाय से साम्य रत्ता है) के सदृश है जिससे निस्सन्देह अगो० म उद्देश्यसूचक सप्रदान म(ट)वाए भादि (तुल० पीछे दें०) हैं। (इ)उ का न केवल क्रियापंक्त मत्ता की भाँति प्रयोग का किन्तु पूर्वकासिक कृत्यन्त की भाँति प्रयोग का भी उल्लेख करना आवश्यक है अगो० में मिलता ही है तथा कव रूप जिसकी व्याख्या करना कठिन है (अ मुक्त पूर्वकासिक कृत्यन्त के प्रत्यय का विकरण करा में प्रयोग ?)।

अपभ्रंस का लाम अपना रूप है इ अस्मि करि -एप्पि और -एप्पिणु भी है जो सं०-स्त्री स्वीनम् और -वि -विणु (स्तुदीनम् का गणाय ?) की याव दिखाते हैं। जो -इ है उसका सिये अनेक प्रतिपादन समझ हैं उनमें से कोई स्थापित नहीं होता इसके अनिश्चित राजस्थान के धीर-ग्रन्थों की बीर्म लेखन प्रवामी के कारण भी दुसहता उत्पन्न हो जाती है, उदा० कपी जिसके कारण टेमिटटी को मूल० कृत्यन्त का अधिकरण करिपी लोभना पडा था। गुजराती पहाड़ी (विचित्र व्याप्ति-युक्त रूपों सहित), पुरानी हिन्दी मैथिली और हिन्दूकुस की अनेक बोसियों (प्रमुन कसाश गबर्बती लोभार) में यही रूप ई बना रहता है गिमा म भी -ए अमबा -इ हैं जो क्रिया-रूप का अनु यमन करते हैं। आधुनिक हिन्दी में प्रत्यय कृत्यन्त हो गया है और क्रियापूरक विद्यम् क्रियावात मूल के रूप में आता है संभवतः उमी कारण तथा साथ ही आसार्थ एक० से उसके साम्य के कारण बहु केवल महिति में मुरिकक ये ही आता है कहु-कट्ट, कट्ट-क प्राचीन करि-की (द्वितीय गम्ब यहाँ अधिकरण अमबा भूत० कृत्यन्त के विद्वत्० में अधिक है)।

अन्य आधुनिक भाषाओं में अकेली काठिन म कुछ प्राचीन अपभ्रंसित रूप हैं कती भरकुम बीवेदि -हि म० -जी का मली भाँति प्रतिनिधित्व करते हैं और जिनके प्रमाण उत्तर-पश्चिम क अगो० के अभिसत्ता में मिलते हैं। क० -स्य प्राचीन -स्य म अमबा -त्ताय में (तुल० सं० स्वया की क्रियाओं म -स्य विद्वत् सर्वनाम) यही है, अमबा कहु कहु और ही है ? बी० -वि क्या मूय स सम्बद्ध है ? सिहनी -ओट, पु० सिंहनी -ओट "दाय"

लोक० धी० क(ट)टु से आमा प्रतीत होता है किन्तु सामान्य रूप-य जबस-
-भाव पर आधारित प्रतीत होता है।

अप्यत्र ये रूप बिस्तार ही नहीं मिलते यह देखा जा चुका है कि उनका कार्य
कदन्ती रूपों द्वारा संपन्न होने लगता है। जो महत्त्वपूर्ण बात है वह है कार्य की
निरंतरता पूर्वकालिक कृत्वन्त केवल अज्ञान प्रदेश की सीमा पर (पसई, टीरही और
कोहिस्तानी समुदाय) और बिप्सी भाषा में नहीं मिलता।

इसके अतिरिक्त पीछे भी पची सिद्धान्त की परिभाषा की अपेक्षा कार्य अधिक
विचित्रता-संपन्न है वास्तव में पूर्ण अधिकरण जो उसमें सिद्धान्तगत आनुपंगिक
परिस्थिति प्रकट करता है, के साथ पूर्वकालिक कृत्वन्त संस्कृत में वाच्यार्थों के संबन्ध के
अनेक प्रथम साधनों में से एक प्रथम साधन प्रस्तुत करता है। कृत्वन्त या डैटिंग क्रिया-
मूल्क बिद्येय की भाँति वह मुख्य क्रिया की तुल्यता वहन करता है। ऐ० वा० अपक्रम्य
प्रतिभावतो तिष्ठन् "बि हठपूर्वक प्रतिवा" करते हुए जाते हैं (अनुवाक "बि जाते
हैं किन्तु बन जाते हैं" से वर्ष छप्ट हो जायगा)।

एक सबब और वह भी लक्ष्मीसा है के कारण धनक वाक्य-विस्तारों की उत्पत्ति
होती है जिनमें मुख्य क्रिया में केवल सहायक भाव होता है ऐ० वा० इन्द्रम्
आरम्भ मन्ति यही क्रियामूल्क बिद्येय का वही रूप है जो ष्ट० बिमजम् एति में
उपसम्भ कृत्वन्त का है और वास्तव में इस रूप में प्रयुक्त वर्तमान कृत्वन्त की वह कमी
पूरी करता है। य वा० तं हिचिस्त्रेण मेने में पूर्ण० कृत्वन्त की तुल्यता होगी वह भी
सुप्त हो जाने को धी तुस० ष्ट० सौमम् मन्यते पपिवाद्। "होना रहना" क्रियाओं
का भी प्रयोग किया जाता है वे जो केवल क्रियामूल्क प्रत्यय के रहन करने का कार्य
करती हैं वस० मन्वीरान् अतीत्य वर्तते इसी प्रकार कृत्वन्त के साथ रामा० धर्मम्
आभित्य तिष्ठता बिमसे एक ऐसा मुख्य भेद उपसम्भ होता है जो म तो आभयमान
एक प्रकार से प्रारम्भिक क्रिया को व्यक्त करता है म आभित को बिचमें भूत० की भावना
निहित ही है।

आधुनिक भाषाओं में अब भी ये वाक्य बिस्तार मिलते हैं और उनसे शब्दावली
में निरोपना उत्पन्न होती है।

द्वितीया प्रकार क्रिया मरमा" का प्रयोग होता है प्रारम्भ में समन्वय ध्वज-स्मृत्यति
धाम्न क अनुत्तर बर्मावाप्य-भाव सञ्चित (किन्तु स० शक्यत का क्रियार्थक संगत से निर्माक
हुका है)। भा० (भव०) बन्नि पणिपि म मचिरयई पु० राब० बॉली न सके हि०
पोड मकना नाहिं। दिना" और भिना" क्रियाओं का भी एसा ही प्रयोग है हि० में
शतृ पड़ सो दो "पड़ यह पड़ सो दो जान सो पड़ पत्र मुझे पड़ दो" सिपी व दिमपु,

हि० कह देता (यहाँ गुजराती में क्रियार्थक सज्ञा का प्रयोग होता है जो प्राचीन भविष्यत्० हृदस्त है तेने हिर्भा रेहेवा दधो।

कुछ क्रियामूलक विशेष्य प्रयोग द्वारा अपने वास्तविक अर्थ के एक अंश से रिक्त मध्यकालीन भारतीय भाषा में परसर्गों का काम करते हैं दे० पीछे। आधुनिक भाषाओं में उनका प्रतिनिधित्व मुष्किल से मिलता है। पीछे विभे गये उदाहरणों में हमें (एष स्मिन् के अनुसार) सिहृषी सिट "का से" (स्पीत्वा) मुत् मिस 'बजाम' (मुत्त्वा मुष्मिन्) करणकोट (करण हत्वा) 'के कारण से' और जाइ भने चाहिए। विन्तु विद्वत् इन्स्थों जो उनका कार्य करने लगते हैं, से सबन एव काफ़ी लंबी सूची मिलती है उदाहरणार्थ हि० नेपाली बिहारी पु० बयामी सामि नेपाली साह 'सिदे' सिधी सामे "दष्टि मे" हि० क्रिये म० हाऊन् और वह पूरी परंपरा जिसका पूर्वज स० ह्ये ह्येन है ब्रज के प० हि० वि० के तुल० ब्रज करि, प० हि० कर् राज० अर्।

नवीन क्रियामूलक रूप

प्रचामी का हास हो जाने पर भी मध्यकालीन भारतीय क्रिया में कई कासों और कई क्रियार्थ भेदों का अन्तर मिलता ही है। आधुनिक भाषाओं में प्राचीन क्रियार्थ भेदों का कोई सास बिल्कुल नहीं रह गया जब तक कोई आशार्थ को जिसका साधारणतः एक सध्यम पुरुष की अपेक्षा कोई अन्य रूप नहीं है, मूल क्रिया के समान न गिने इसके अतिरिक्त स्वयं आशार्थ चाहे क्रियार्थक सज्ञा (विशेष भाव-रहित) द्वारा अथवा कर्मवाच्य वर्तमान (भिन्न अथवा आदरपूर्ण भेद) द्वारा अपना स्वाग सिधे जाने की प्रवृत्ति प्रकट करता है।

स्वयं निरक्षयार्थ में अर्पित रूप हो जाते हैं स भविष्यत् केवल कुछ भाषाओं में रह जाता है केवल वर्तमान निरंतर रूप में बना रहता है और ऐसे अर्थ प्रकट करने की क्षमता रखता है जिनकी अनिश्चयता बहुत उचित नहीं होती सस्यत्वं में ही बहु आधिपत्य पूर्वसर्ग में सप्तमार्थसूचक रूप का स्वाग ग्रहण कर स्था है। यथन करते समय बहु सुबिधानुसार निरक्षयार्थ के अन्य कासों में मिथित हो जाता है मध्यकालीन भारतीय भाषा में पारलोक का अतिशय बहुल उतिहासिक पुरा-न-पुरा वर्तमान में है बरल नूनिना को छोड़कर जिसमें राजा के अक्षयन बासा सर्वपवाचक अर्पित-त-युक्त हृदन्तों द्वारा अक्षय क्रिया गया है, और अत में हस्तागतों में ही जो केवल सामान्य बान्धवों में बना है भित्यस्येह ऐसा दो पीछियों के सप्तम की अपेक्षा अर्थ का मूलम भद में कम होता है। भविष्यत् क अर्थ बासा वर्तमान बहुत कम मिलता है।

आधुनिक साहित्यों तथा साध ही प्राचीन बोधियों में जो प्राचीन है, प्राचीन

वर्तमान में साधारणतः वास्तविक अर्थ सुरक्षित रहता है चाप ही मूत्र या कृहावत-संबंधी वर्तमान का जो निरन्तर रहता है। ऐतिहासिक वर्तमान कर्षण में अधिक मिश्रता है मराठी तो और आगे जाती है उसमें प्राचीन वर्तमान मूत्र में पुनरावृत्त हुए कार्य को नियमित रूप से चोड़ित करता है। दूसरी ओर मराठी में बहुसमायना अनिश्चितता व्यक्त करने का काम देता है उसमें उसका वह भाव है जो हिंदी में पंजाबी में कश्मीरी में [गुपि "बहु लिपेगा बहु छिप सकता है (यदि) बहु छिप"] प्रचलित है उसमें भविष्यत् का भाव निहित रहता है यिना में सामान्य (हरम् में से जाऊंगा) तथा अन्य दर्द-बोक्मिों में (दमेजी तोरबासी प्रथम० एक के विभिन्न रूप सहित) मीथिली में (समाध्य अर्थ भी)। बान्द्र में केवल नूरी में उससे अधिक पूर्वसर्ग का सहायार्थसूचक बनता है और निरूपयार्थ भाव प्रकट करने के लिये उसमें एक निपात जुड़ जाता है ननम् "मैं जो साता हूँ" ननमि "मैं साता हूँ" इसी प्रकार यूरोप में कदाच एक प्रकार से सहायार्थसूचक है, कदाच वास्तविक भविष्य है "मैं प्यार करूँगा।"

विपर्यस्त रूप में क्रियार्थ भेद-संबंधी शुद्ध भेद वर्तमान से सम्बद्ध निपात द्वारा उपलब्ध हो सकता है। यह सिहली वा है, और क्षेत्र की दूसरी सीमा पर, कटी भरदुन बैगलि वा (पचरूवती वा ?) ऐसा निम्नस्वैह कम-से-कम अन्तिम समुदाय में संस्कृत मू वातु के रूप संभवतः आदर्श से हो जाता है इसके अतिरिक्त वा स काफिर में "सकना" क्रिया उपलब्ध होती है। यही वाक्य यूरोप की बिष्नी-भाषा (स्मानियन ह्योरियन ब्रेस्प) के आचार्य में सामान्य प्रत्यय हो जाता है। तीरही में भविष्यत् बताने वाला उपसर्ग वा का और अक्रगानी से उच्चार सिधे गये का भेद करना आवश्यक है।

सहरा में काफिर के "आवरार्थ" के विद्वान्तों का अनुसरण करते हुए अययार्थ की रचना हुआ है मारा-हा मारेन्-हा। इसी प्रकार कश्मीरी में है निपात से बाद आने वाले प्रत्ययों को छोड़कर, गुब-हृन् गुपि-हिन्।

किन्तु सामान्यतः अययार्थ त्रिसुधे मूत्र० अनिश्चितता का चीजन होता है, अधुने के गाय सम्बद्ध हो जाता है उदाहरणार्थ हि० कर्त्ता।

दूसरी ओर यह देना जा चुका है कि कर्मबाध्य वर्तमान अपने मूत्र या कृहावत संबंधी भाव के नाम में प्रायः कर्षण का भाव ग्रहण कर सता है और मज्ज आजा हैन के काम आता है। म० पाहिज हि० पाहिय अब० देतन् हि शीजे बीजिये पु कर० पेजे "उसे निरमा चाहिए" पेजे "उसे गाना चाहिए" कर० भाबु० गुपिनि हि० बीजिये आदि इयो मुक्त बगाली का आणीर्वाशरमक (हिन्दी में उच्चार किया गया ?) मभवतः प्राकृत पीर० दिग्गु क आचार्य प्रकार बाल इन रूपों का अनुकूल रूप है।

क्रियार्थ भेद-संबंधी सूक्ष्म भेद अतः अस्थायी सूक्ष्म भेद विविध रूप में आते हैं।

मुख्य कालों में वर्तमान में प्राचीन वर्तमान की संभव अभिव्यक्तता की संस्कृत (इ)त से निकला इदन्त सामान्यतः अतीत का प्रतिनिधित्व करता है। अनेकान् मरिष्यत् वहाँ अहाँ ए मरिष्यत् रूप नहीं है उचित अभिव्यक्तता-रहित रहता है। ऐसे कारक देखे जा चुके हैं जिनमें वह बन्धन के इदन्त द्वारा आती है, स० (इ)तम् ।

अन्य रीतियाँ भी हैं, जिनके उत्पन्न आधुनिक हैं।

प्रथमतः सामान्य बाधय-निस्तारों की रीति म० बोझणार जाहे यु० बालबातो छुं, सिहली रूपने-मि (प्राचीन काल में सतततासूचक वर्तमान और वर्धनात्मक मू० के रूप में) क्रियार्थक सज्ञा के साथ नेपाली में मनें छ बनता है पर्यन्त वर्तमान प्रत्ययसत संज्ञिति पर आधारित है हनीक-अम "मै मारता हूँ मैंने मारा"।

एक दूसरी रीति वर्तमान से सम्बद्ध निपातों की है यह देखा जा चुका है कि यूरोपीय जिप्सी-भाषा में यह कारक है (ग्रीक ज्ञ के अनुकरण पर कम "इच्छा होना" के बालकानी प्रयोग को छोड़ कर) मबदृशती में आ और -ओ क्रिया-रूप मूम के साथ सम्बद्ध हो गया प्रतीत होता है (सामान्य वर्तमान म पर-प्रत्यय के साथ है) ठेस्-ओ "मै पीरूमा" ठेस्-आ पु० बोएम् बोएस् (स्वयं एक इदन्त और क्रियामूलक रूप रचना का सापेक्ष रूप) सिना में वूर्नेप् अनिश्चित को बोड़े-से मरिष्यत् का भाव प्रदान करता है।

प्रायः प्रयुक्त निपात नामजात मूल का रहता है, और ठीक-ठीक रूप में कहा जाय तो इदन्त। एक विशेष रूप से स्पष्ट कारक हिन्दी में मिलता है

एक० १	पु० चर्लू(इ)गा	स्त्री० चर्लू(इ)गी
२ ३	चलेया	चलेमी
बहु० १ ३	चले(इ)ये	चले(इ)गी
२	चलोगे	चलोगी

हिन्दी तथा आसपास की सभी बोलियों में यह प्रकार ज्यों-का-त्यों मिलता है मैजिली (आसिक्) पंजाबी मेबागी। किन्तु राजस्थान के दक्षिण में मारवाड़ी और मासवी या मीमी यो पु० एक० के रूप में स्थित हैं। पंजाब की उत्तरी जातियों की बोलियों और पड़ोसी हिमालय-निवासियों की बोलियों में पर-प्रत्यय ग अथवा पा है तथा इसके अतिरिक्त मुख्य क्रिया के प्रत्यय वृष्टिगोचर नहीं होते। उदाहरण डोगरा (पंजाबी)

१ एक० मारम्	बहु० पु० मारम् मारुये
	स्त्री० मारुगिर्जा
२ पु० मारुम्	पु० मारुमिभो मारुमे
स्त्री० मरुपी	स्त्री० मारुगिर्जे
३ मारम्	मारुये -गन्
	मारुयन् मारुग्जे

तुल्य पु० में कर्मिजा बोली में

एक० १ मरुगि(ह)या १ २ ३ मारुय(ह)या बहु० १ २ ३ मारुय(ह)ए।

कुछ रूप इस सामान्य अनुमान को प्रथम देते हैं कि प्रथम शब्द क्रिया-रूप-युक्त रूपों का दबसिष्ट मरा है यह भी समझ लें कि क्रियामूलक विशेष्य बीज में वा टपका हो जैसा शिना के मूत० में है जमेसु जमेगि "उसने (पु०) उसने (स्त्री०) पीटा है"।

द्वितीय शब्द स्पष्ट नामनात और स्वतंत्र है इस अवसर पर हिन्दी उन्हें पृथक् कर देती है जो ही गा। क्रिया 'जाना' सं मरु के मूत० कृन्त के अ-व्याप्ति-युक्त रूप को पहचानना सरल है पु० प्रा मरुो ब्रज गौ हि गा [व्यप्ति-युक्त रूप प्रा म(म्)मरुो ब्रज गयी हि गया]। यह कृन्त जो शिना में मूत० अर्ध-युक्त वाक्य विस्तारों की रचना करता है (हरीसु हरीमि "वह के गया ले गयी है") और फल्य-स्वाभाविक रूप में अन्तुन में अयवार्थ भाव में (विजले-नोम् "मैं जाऊँगा" तुल्य० तुल्य० विजलम् "मैं जाऊँगा") यहाँ पूर्ण होने का भाव ग्रहण कर लेता है इसलिए लर्ध होमा में गया हूँ (गयी हूँ) ताकि मैं पीटूँ आदि। तुल्य बन्ध जिप्पी भाषा की अनिश्चयता में जाँच ले लें "मैं जाना हूँ कि मैं साऊँ, मैं जाने के सिधे जाता हूँ" और मूत० कृन्त के साथ मूरी मर जादि 'गया कि वह जा सके वह जाना जाइता है'।

अथवा द्वितीय संज्ञा म अकेले या व्याप्ति द्वारा निर्मित होता है। मराठी में अत्यन्त प्राचीन पाठों के बाल में -स् अकेला है पईम् पडेक करील। भीली में और मारुवाड़ी में पर प्रथम अथवा -गो -ला है। किन्तु बैपुरी में -को सजा-रूप प्राप्त करता है, और भाष ही हिमालय के समुदाय में मुमापूनी को नेपासी -ला

१ मरु ए (अथवा मरुप्यन् म गर्ने छ दे० पीछ) "मैं बनाऊँगा मैं बनाना पाटता हूँ"।

२ मरे-मन् ।

३ मरे-सा।

(प्राचीन रूपों के साथ योग उगाहरणार्थ पूर्व की सहृदा बहू की बोली में)।

समीपवर्ती बोलियों में मारुटा प्रकार की प्रतिवृत्तता मारुटा से है वैसे कि उसी क्षेत्र में देखा जाता है कि मारु-गा की प्रतिवृत्तता मारु-गा से है।

अपरिवर्तनीय मूल की उत्पत्ति वहाँ इतनी कम स्पष्ट है कि कुछ बोलियों में द्वितीय अंत के क्रियामूलक प्रत्यय प्रभावित हो गये हैं जैसे काटिर में अदहन बान्ह, कर्ती बेछोम् अदहन कतिम् कर्ती कुसुम् "मैं जाऊँगा" तुम् • बान्हुम् सेम् कर्ती म्यम् "मैं हूँ"।

मध्य • वंशाक्षी में स-भविष्यत् के उत्तम • एक • व विकरण में जो क्षीय हो चुका था -लि जुड़ जाता है कटिहलि विहलि।

प्रमात्रियों के व्यवधान और निम्ना रूढ़ि पर भी भोजपुरी वर्तमान-भविष्यत् की मयता करन के लिये भी यह उपयुक्त स्वर है पु • देखने स्था • देखियि देखे-से बने-अन्, देख-सिन् (तुम् • देखन् "यदि वे दगन हैं" देखिन् "यदि वे देखती हैं")। एसा वहाँ प्रतीत जाना ही है मद्यपि हमारे सामने चाहे भूम् • हृद्यन् हों अथवा क्रियामूलक बिद्येप्य कोकणी वर्तमान • हृद्यन् से अथवा काम बसा लेती है मिद्गो को "मैं सोऊँगा"।

अस्तु, इन रूपों का इतिहास जटिल है किन्तु वे मुक्त रूप व माय समानता द्वितीय सभ्य में हृद्यन् देखने व लिय बाध्य करती है, हृद्यन् या निस्वल्ह म • ला से है जो अस्तुत मध्यकालीन भारतीय भाषा-शास्त्र में से (दे के अनुकरण पर निर्मित) द्वारा सामान्यतः स्यात-अस्तुत कर दिया गया है स्त्री त्रिण्वी भाषा स- "सिता" के प्रयोग के साथ संस्मरण ध्यान देने योग्य है।

भविष्यत् से बाहर, एम् उगाहरण बहुत कम हैं जिनमें सहायक एक हृद्यन् हो। सिपी में निश्चयाय वर्तमान बड्डे हृद्यी को (स्त्री • थी) अथवा घो(पी)हृद्यी "मैं जाता हूँ" समूह स्था यानु के हृद्यन्-ग्रहित है 'पित्री पार' त्रिप्तम हृद्यन् समूह पठित म निकला है।

इसी प्रकार की रचना त्रिण्वी क्रियामूलक सहायक के साथ (तुम् • त्रिण्वी-भाषा का भविष्यत् त्रिप्तम पीछे उल्लाह किया गया है) मुरारती-राजस्थानी-बड़ मनुमान में यथार्थ वर्तमान निर्मित करने का बाध करती है गु • अर्द्ध हूँ बड़ मारी ही।

क्रियामूलक सहायक जो प्रधान भाव का घोषित करन वाले हृद्यन् कर्ता या विहित रूप के साथ आते हैं अस्थानी और क्रियाय भ-अवर्ती सूत्रम न • की सानारण-स-सामान्य अनिश्चयता के सापेक्ष बनते हैं और त्रिप्तके अब तक बने गये का अनुमान के अर्थात् है सतत संबंध काव्य साहित्य। इस अर्थपर पर व्याकरण और दार्शनिकों के बीच कोई निश्चित सीमा नहीं है यद्यपि क्रिया-रूप भाषाओं के अधिक परिष्करण और उनकी

मनीरता के अनु रूप ही समूह प्रतीत होते हैं उनका यहाँ उल्लेख करना उतना ही मनाबस्पक है बितगा संज्ञा का आकृति-मूलक बर्णन करते समय समस्त प्रयुक्त परसर्गों की सूची का। यहाँ 'होना' क्रिया के सात योग के ऐसे कुछ उदाहरण देना यथेष्ट होगा जो व्यंग्य स्पष्ट उदाहरणों में से छटि गये हैं (सभी ब्रह्मयी रूप पु० में प्रकट होते हैं)

भगटी

क्रिया "होना" के रूप

वास्य् वाहे
 वास्यो वाहे
 वास्यो वाहे
 वास्यार् वाहे
 वास्य् असे
 वास्य् अस्तो
 वास्य् अस्तो
 वास्यो अस्तो
 वास्यो अस्तो
 वास्यार् अस्तो
 वास्यार् अस्तो
 वास्य् असेन्
 वास्यो असेन्
 वास्यार् असेन्
 वास्य् होतो
 वास्यो होतो
 वास्यार् होतो
 वास्यार् होतो

इसमें से क्रिया 'होना'

वास्य् असावा
 वास्यो असावा
 वास्यार् असावा
 म्यां वास्य् असावे
 म्यां वास्यार् असावे

सिन्धी (सामान्य या परमर्गात्मक विद्वत् सर्वनामों की रचना किये बिना)
क्रिया "होना" का रूप

हसरो आहियाँ
हस्यो आहियाँ
हसन्दो हुमाँ
हसन्दो हो-न्^ए
हसन्दो हुन्दु-स्^ए

क्रिया "होना" इबन्त

हसाँ पो पो हसाँ

तुल० हकिउस्^ए वे (विद्वत् इबन्त) जो वास्तव में है हकिउस्^ए
मारबाड़ी

मादूतो हुअँ 'मैं पीट सकता हूँ' (निरक्षयार्थ वतमान क
लिये त्रिभुज अनिश्चय मारूँ हूँ) ।

मादूतो हुअँला

मादूतो हो (तया भूत० इबन्त के अधिकरण सहित मारूँ हो)

मादूतो होतो

हिन्दी

क्रिया "होना" के रूप

गिरता (-ती) हूँ
गिरा (ई) हूँ
गिरता होऊँ
गिरा होऊँ
गिरता हुआ
गिरा हुआ

क्रिया "होना" इबन्त में

गिरता होता
गिरा होता
गिरता था
गिरा था

मपिली

देखइ छी देखइत् (देखइत्^ई) छी।

देखन् अपवा देव्^अ छहुँ अछि (अपवा अहि)।
देखसे छि।

देखइ अपवा देखइत् (-इ^ई) अछहुँ^अ (अछ- का क्रिया-रूप कृन्त)।

देखसे अछहुँ^अ।

आमू० बंगाली करिते छि करिते छिआम्।
करिया छि करिया छिआम।

म० बंगाली : करि छि करि छिछो।

गुरी

मन्-ओ-अम् (क्रियामूलक विद्येप्य + *हो + *अच्छामि) में जाना आहता हूँ
में साना हूँ आ रखा हूँ।

क्रिया "होना" कर्मवाच्य बनाने के भी काम आती है

मिथी मारिबो आहियाँ तुम्^अ मारिबु-म्^अ विपर्यस्त रूप में 'होना' का कृन्त प्राचीन कर्मवाच्य से सम्बन्ध पाया जाता है मारिबो वो "मैं पीटा जा रहा हूँ"।

मारबाड़ी मारियो है हो और फसत न्हे मारियो है हो न्हे मारियो हुबे यह केवल कर्मवाच्य है, प्रयोग कर्तृवाच्य का पुरक है।

बंगाली लबा हाइ, मारा होने परा होइआ छे ए बोइ आमार पका आछे।

पय^अ (समुदाय में ऐसा प्रतीत होना है केवल यही) हनिन् जियिन् बीकीम्
"मैं पीटा जाता हूँ तुम पीटे जाते हो" हनिन् बिगाकुम् "हम पीटे जाते हैं।"

त्रिप्ती-भाषा में भी ओम् (प्रा० हो-) से कर्मवाच्य बराबर बनता है बिन्वोबब
"मैं गिरा हूँ" मट् अरिओबब मैं बडा हो गया हूँ" प्रकार का विस्तार है। गुरी में ऐसा कुछ भी नहीं है।

इन समस्त अभिध्वंजनाओं का महत्त्व अभी माँति समझान के लिये (जिनमें प्राचीन वाचिन धेनियाँ नहीं डूँती पड़तीं अपवा प्रयोग की आवृत्ति नहीं डूँती पड़तीं) न कर्त्तृ कृन्तों के मध्य में सत्यतः यौगिक साभिध्य की और पीछ सकेतित अभिप्यत् की ओर ही ध्यान जाना आवश्यक है, कर्त्तृ कृन्तों ओर उन समुदायों की आवृत्ति की ओर भी जा "होना" के अनिश्चित अल्प क्रियाओं के साथ सावृत्त राती है।

अत्यधिक विशेषता-सूचक अभिव्यञ्जनाओं में से उन अभिव्यञ्जनाओं का उल्लेख क्रिया जा सकता है जो "जाना" से बनती हैं। पीछे यह देखा जा चुका है कि घिना में मविप्पत्- और मुत्- में यह क्रिया कृन्त रूप में है। व्यस्त्रिबाचक रूपों में प्रयुक्त होने पर, उससे कर्मबाध्य बनाये जा सकते हैं।

कस्मीरी में यह क्रिया विहित क्रियार्थक संज्ञा से निर्मित होती है। गुप्त विभ "मैं ईङ्गने जाऊँगा मैंने ईङ्ग क्रिया होता" बंगाली में प्रत्यक्ष कर्तृ क्रियार्थक संज्ञा (प्राचीन कृन्त) से देखा जाय मपवा होइ।

"जाना" कर्त्ता से साम्य रखने वाला कर्मबाध्य कृन्त क साम भी मिलता है और एसा विशेषतः हिन्दी पंजाबी मराठी और उड़िया में है। जो मारा ममा मैं मारा माता हूँ।

यह रचना कुछ कम स्पष्ट है। क्या अस्मा-असंग होने के समय जन् बावु के संस्कृत जात से निकले प्रा०-जाम (कपूर् सुत्रिओ जाओन्दि) और प्राकृत जा मं० या 'जाना' जिसका निरन्तरता का भाव एक प्रकार से सहायक का या के बीच गड़बड़ है [तुल० हि० जो कहता था अबका रहता मेरा मसा वैठता (बीठा) जाता है] ? क्या यह ईरानी प्रभाव है ? फारसी और मज्जगानी वास्तव में इसी रीति से मुञ्ज का प्रयोग करती हैं, जिसका प्राचीन अर्थ है "जाना"। इस समय में उन् मध्यम मार्ग और अन्य भाषाओं के सिधे जाइय होमी। हर हालत में यह रचना केवल हास की ही प्रतीत होती है और संभवतः उस पर अँगरेजी का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

क्या एसा ही "होना" क्रिया की रचना में है ? प्रत्येक परिस्थिति में प्राचीन देवी प्रणाली से कर्मबाध्य के स्थान पर, प्रेरणार्थक कर्तृबाध्य विकरण के विपरीत मनु० कर्मबाध्य विकरण उपलब्ध होता है, ४० पीछे स्पानीय स्वरूपों की मपवा किये बिना उदाहरणार्थ कर्ती बिगन् जग पु० सिह्नी मयन्नु सजमि (रूप जो अप्रत्यक्ष रूप से बुद्धिपोष की पामी में मिलता ही है, २० "किटि० पाकी बिगा०" & W अन्तरकर्म्य) सिह्मी मापु मयष्ट पेदेनवा हि० देन्त में जाना दिवाई दना अहाँ तर मार साना सुताई पङ्गा "सुताई में मिनता सुत पङ्गा" प्रकारों से संबंध है इन बात की ओर उक्त क्रिया ही जा चुका है कि एक कुछ मनुष्य रूप हैं पहला ईरानी म दूसरा द्रविड़ में। बंगाली में मामि दया पङ् "मैं पङ्गा हूँ देगा" के किट्ट आनाक देन्त मापु मबवा होन् 'मैं ही ओर देखा जाता है हाता है" जो वचनर है "मैं देगा जाता हूँ" क।

यहाँ यह देना जाना है कि व्याकरण का बहुत काम रहा है। एसा अति सामान्य प्रयोग के स्वभाव के बिना प्रयोग द्वारा ही जाता है और जो भारतीय वाक्यांशों की

विशेषता है। उदाहरणार्थ बंगाली में "विरना" के प्रयोग की ओर ध्यान देना यथेष्ट होमा से माछे उठिया पड़िस से माछे उठिया पड़िक जिनर्म अतिशयता के बल-स्वत का अनुगमन करते हुए, उस प्रभाषी का समुदाय है अथवा नहीं जिससे वो विरोधी अर्थ उपलब्ध होते हैं। पेड़ पर चढ़ा हुआ वह फिर पड़ा है वह पेड़ पर चढ़ने को हो गया है" (एंडर्सन 'मैनुअल ऑफ दि बेंग० सीप्० पृ० ३५)। "लेना" "देना" "फेंकना" के क्रिये क्रियाओं से प्रमुक्त अतिशयता का भाव प्राप्त होता है। बंगाली वाक्यांश "छोड़ देना" वो भाषाओं में जो व्याप्ति-मुक्त भी है, आता है जिससे गुजराती और कर्नाटी अपने मूल-व्यंश को संरक्षित बनाती हैं। गु० लेने राणी ने तसाड़ी-मुकी (उसके द्वारा राणी का पीछा किया गया) क्य कुह पुप्^च-मोत्^च "बहु छिपा हुआ है"। अस्तु, क्या जो प्रचुर है और बर्धनारमक व्याकरणों में कठिनाइयाँ उपस्थित करते हैं वास्तविक सच्चे क्रिया-रूपों के निर्माण के प्रमाण नहीं हैं।

कर्त्ता के साथ क्रिया के संबंध

वाच्य

प्राचीन संस्कृत में अकर्तृक क्रिया नहीं थी। 'सं० सं० यद् बँ पुरुषस्यमयति सं० सं० प्रजाभ्यो'कस्वत ऋ० अर्षीत् घ० वा० बपिप्यति' किन्तु कर्प द्वारा एक कर्त्ता व्यक्त होता है। तथा घ० वा० में उर्षीं वाति वास्तव में सामान्य सूत्र की भांति आता है। यदा बसबद् वाति एक पु० कर्त्ता निहित है। वास्तव में संस्कृत में कर्मवाच्य के रूप में केवल अकर्तृक का ही विकास हो सका। यह एक वास्तविकता है कि स्वयानुकूल कर्त्ता यहाँ करण० द्वारा प्रकट होता है। और समानता से भी जिस कर्मवाच्य पुरुषवाचक रूप - लभ्य तथा उ मुक्त क्रियामुक्त विशेषण के सहित प्रस्तुत करते हैं। आपुनिक भाषाएँ सुविधा के अनुसार कर्त्ता प्रकट करती हैं। हिन्दी में 'ह' या 'पानी पड़ता है' बादल परबूती (?) है जिसकी समकक्षी है 'सिद्ध में वर्ष है' कृती से 'विष्' गूरी को 'पुष्प' रक्षमा आबद्धक है जिसमें 'बदसूद्' एव विषय एक अरबी प्रभाव है जिसके निकट उसमें 'बदसूरि' "बरसता है" भी है। यह समझा जाता है कि कर्त्ता समबत एक उपसर्गात्मक अण्वय बाद म "कि" लया कर अपना परिचय देता है जैसे संस्कृत यद् और बाद को फारसी से लिया गया कि हि बिहूतृ होगा कि।

जहाँ तक कर्त्ता के पुरुषवाचक क्रिया संसर्ग की बात है वह संस्कृत में दो प्रकार के प्रत्ययों द्वारा प्रकट होता है

कर्तृवाच्य और मध्य। दूसरे में कर्त्तृवाच्य संस्कृत में केवल कर्मवाच्यों का निश्चित भाव सुरक्षित रहा है। साथ ही उनमें एक विशेष पर प्रत्यय का प्रयोग होता है। जैसा कि बेला या चुका है। मध्यकालीन भारतीय भाषा में यह बग बना रहता है किन्तु उसका विशेषण-मूचक प्रत्यय लुप्त हो जाते हैं। मध्य भारतीय भाषाओं में यह बग सीमित रूप में मिलता है अनेक स्थलों पर कर्मवाच्य अपने प्रागतिहासिक तुल्य रूपों द्वारा व्यक्त होता है किन्तु कर्मवाच्य का ह्रास अपूर्ण रह जाता है। जहाँ तक पीछे उल्लिखित ह्रास के रूपों से संबंध है उनका मूल साहित्यिक है और अधिकतर वे यूरानीय प्रभाव के कारण हैं।

हर हास्य सं अकर्तृक क अभाव की भांति सामान्य कर्मवाच्य का इतिहास इन

वात का प्रमाण है कि बीजों को कर्तृवाच्य रूप से अन्तर्गत देखने की आवश्यकता है कुछ समय के लिये कर्मवाच्य रूपों के वर्तमान भविष्यत् में कर्मवाच्यों के जीवित रहने के कारण जब कि भूत की अनिर्धारित कर्मवाच्य बाष्पी अभिव्यजना भी इस बात की आशा की जा सकती है कि एक पूर्वतः कर्मवाच्य क्रिया की रचना हो। वास्तव में कई भाषाओं में कर्ता कारक में ऐसे कुछ रूपों का प्रयोग होता है जिनके विद्वत रूप होने का संदेह किया जा सकता है विशेषतः सर्वनामों में यह स्पष्ट है और वह भी न केवल सिन्धी में जिसमें तिब्बती का प्रमाण माना जाता है (एल एच० वार्ड० पृ० ३५०) किन्तु, उदाहरणार्थ हिन्दी में भी है। लेकिन वास्तविक भाषा-विज्ञान की भावना के अनुसार, ये सब कर्ता० से होते हैं तथा स्वयं भाषा-विज्ञान की भावना व्याकरण-सम्बन्धी सूचनाओं के प्रकाश में देखने पर, उस रचना का कर्तृवाच्य की भाँति विद्वेषण करती है जिसका पूर्ण साम्य कर्मवाच्य प्रकार के साथ होता है मैं ने में प्रिताम् पड़ी।

सिम

पुरुषवाचक दण्ड-रूप क्रिया-रूप में एक बहुत ही स्पृह-पूर्ण स्थान ग्रहण कर लेते हैं—यदि उनकी तुलना अन्य क्रियाओं के साथ आने या न आने वाले कृत्वन्ती रूपों के साथ की जाय। तो फिर यह कहा जा सकता है कि सिम की अभिव्यक्ति उन भाषाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लेती है जिनमें विशेषतः उसे स्वीकार कर लेते हैं हि० म बोझता या बोझती मैं बोला या बोली म० मैं उठी या उठतीं मैं उठ्ने अथवा उठ्म आदि।

हिन्दी जैसी भाषाओं में भूत के लिये कर्मवाच्य अभिव्यजना मिलती है (औरत् ने घोड़ा मारा घोड़ी मारी जिसका ठीक-ठीक रूप होगा 'औरत् द्वारा घोड़ा मारा गया घोड़ी मारी गयी') सिम पूर्वतः पुरुष पर छाया हुआ है। अर्न्तक रूप "औरत् ने घोड़े (घोड़ी) को मारा" "औरत् द्वारा घोड़ा का (घोड़ी को) उसे कुछ आवाज दिव मये हैं" सिम क मन्त्र को बिना पुरुष को उसके अधिकार लिये बिना दबा देते हैं इसी प्रकार मेपानी आदरमूषक है।

सिम की अभिव्यक्ति केवल वही नहीं मिलती जहाँ वह विद्यपण में नहीं है। सिन्धी में वाकिर में (उसमें गवदुर्गता भी शामिल कर लीजिए जिसमें विद्यपण का आधिक साम्य स्थापित होता है) कर्मान में पण और स्वीकार म अतः पूर्वोक्त समुदाय में स्वयं मोक्षपुटी म उमटे क्रिया-रूप से गणना की जाती है २ एक० पु० देवत् स्त्री० देविन् जब कि विद्यपण का साम्य केवल महत्त्वपूर्ण काव्य-रूप 'मारी' में अधिक प्रमाणित होता है।

पुरुष तथा वचन

यह देना जा चुका है कि पुरुष की अभिव्यक्ति किस प्रकार कर्तृता रूपों में प्रकट होती है जो सिद्धान्तगत उस स्वीकार नहीं करते इसका अतिरिक्त सर्वनाम विशेषतः उगम और मध्यम पुरुषों में, साधारणतः उनमें अनिव्यक्त होना है—जब तक कि उनके बिना जाता सर्वनामों के लिए अतिव्याप्य न हो।

भारतवर्ष में बाल्यविक विकसित सामाजिक ऊँच-नीच के कारण पुरुषों का प्राचीन प्रयोग कुछ बटिक हो गया है। प्राचीन सस्कृत में तो नहीं जिसमें अभिष-म-अभिष पद के अनुसार सोयी को संबोधित करने में भेद था (उदा० ब्राह्मणों के लिये सो) किन्तु बाद को एक और रूप भवन्त् निकल पड़ा जो एक सम्मानित व्यक्ति को संबोधित करने के काम जाता था पायी और संस्कृत में विद्यपत्-विष्ट और मन्नापायीक साहित्य में सर्वनामों के बहुवचन भी मिलते हैं।

विष्ट भाषावा में यह एक नियम यम जाता है। यद्यपि हिन्दी-भाषा में सर्वत्र 'तू-तेरा' प्रथकृत है यथा-सिधू बाटियों की भाषाओं में उसमें अनिव्यक्ता स्तहणीयता अथवा नृपा विहित रहती है। हिन्दी में बहु० का मध्यम पुरुष छोड़ने के साथ सामान्य संबंध में काम जाता है। विष्ट रूप प्रथम० बहुवचन का हाँसा जिनके साथ या साम क्रिया तथा एक प्रथम० एक० का कर्ता होना किन्तु जो सम्मानमूषक होना आन् वास्तव में 'स्वयं' तुल्य० दे० पीछे महाराज हुकूम, साहेब आदि क्योंकि प्रथम० एक० में आदरमूषक कर्ता हर हातमें क्रिया को बहु० में परिवर्तित कर देगा राजा ऊरुमात है। फलस्वरूप एक० उत्तम० को अक्षर करन के लिये 'मैं' का प्रयोग किया जा सकता है, और विनम्रता के सूक्ष्म भेद के साथ 'बन्दा' प्रकार के वचनों का प्रथम० एक० में किन्तु 'हम' बिना किसी विशेष मुख्य के सामान्य है हम नहीं करेगा मैं (उम) नहीं करेगा। मराठी और गुजराती में सर्वत्र नियम है किन्तु ठीक सिगा के अतिरिक्त के कारण यह दुकहता है कि स्त्री० का आदरमूषक रूप तपु० है म० बाई-साहब आदि अस्ति० गु० उन्नी साथ अपनी पत् अर्थात् छ (यथा इक्ष्म और हिन्दी प्रकार के स्त्री० बहु० के बीच का संबंध प्राचीन तपु० प्रतीत होता है दे० पीछे)। सिहली में बहु० उम्मेक अथवा मु(म्)क प्रथम० उन्-न्मी की भाँति बराबर बाध अथवा उस छोटे का जिसके साथ विनम्रतापूर्ण व्यवहार किया जाता है (जिसमें नवीन बहु० उम्मेक-ग की उत्पत्ति) घोटन हुआ है आदर उमु-स (अर्थात् स्पष्टतः धारणता छाया) अथवा नुब बहनुं "आनकी बुचइयों की छाया (?) " द्वारा प्रकट किया जाता है स्त्री प्रकार गु० प्रथम० में उन्-न्मेह उन् बहनुसे का "उसे" (क्योंकि स्त्री० धी के आदरमूषक रूप नहीं होते) के स्थान पर प्रयोग होता है तुल्य० गुबमान् "स्वामी"।

बहु० सर्वनामों के प्रयोग के कुछ आकृतिमूलक परिवर्तन वृष्टिगोचर होते हैं। बंगाली में 'बहु' के प्रतिकूल आदि "मूसे हमें" तुम्हें तुमि "तू तुम" में बिपरीतता मिलती है

मूह तुम्हें "मैं तू"	} निम्न
मोरा तोरा "हम तुम"	
आमि तुमि "मैं तुम"	} सामान्य
आमूरा तोमूरा "हम तुम"	

अस्तु, मध्यम पुरुष में मिले

तुम्हें करिस् (बनिष्ठतासूचक)

तुमि कर (एक व्यक्ति)

तोमूरा कर (बहुत-से व्यक्ति)

स्वभावतः जिना गणना किये

आपूनि (आपूनात्) करेन्

और आज्ञार्थ में प्रथम० बहु० का रूप वैसे ही होगा जैसा मध्यम० के लिये आपूनात् अभिप्राय व्यक्त करेन् ।

और प्रथम पुरुष में न केवल मिले

स करे, तद्वारा करेन् किन्तु, यह मान कर कि ध्रुव में बहु० सर्वनाम त्रिणि एक० में व्यवहृत होता है एक ऐसा क्रियामूलक रूप मिलता है जो प्राचीन रूप में बहु० होते हुए भी दो भावों के साथ प्रयुक्त होता है

त्रिणि करेन् तद्वारा अबधा तद्वारा करेन् ।

मैत्रिली में भीजें और मी डूर चली जाती है एक ओर ता बंगाली की भाँति सर्वनाम बन्धनमुक्त होते हैं हम् तोह (प्राचीन बहुवचन) हम् सम् "मह बहुत-से मैं" अबधा कहना चाहिए "हम सब" अस्तु "हम" तोह सम् किन्तु क्रिया किसी भी तरह उसका बचन प्रकट नहीं करती। एक दुरुह प्रजासी म आदर की भावना ने बचन का स्वान पूर्वक पहल कर लिया है—एमी दुरुह प्रजासी म जिसने नवीन भावनाओं के मूल में स्वभावतः ऐम कथा की शरक मिलती है जो प्राचीन की भावना प्रकट करते हैं "तू बेगता है की तीन साबारक अभिध्वजनाएँ मिलती हैं देन् देलहू^३ प्राचीन बहुवचन इमी प्रकार एक अन्वय निपात-अहित देन्^४ हु-न् हमके अतिरिक्त "तुमै" "तुम्हें" के साथ व्यवहृत^३ का प्रयोग किया जाता है यदि पूरक मात्रात् ही अबधा नहीं

बस्तु, पशु अथवा नगण्य व्यक्ति है, तथा वेत्स्य छद्मन् (वह० विद्वत् सर्वनाम को संबन्ध करता है) यदि वह सम्मानित व्यक्ति के संबंध में होता है। दूसरी ओर यदि कर्ता "तुम्" एक या अनेक सम्मानित व्यक्तियों का बोधन करता है तो वेत्स्य छिप्रश्च और वेत्स्य छिप्रश्च से पूरक के सम्मान के पद का अनुसरण करने हुए काम किया जाता है।

यहाँ यह देखा जाता है कि पूरक की प्रवृत्ति प्रत्यय के आकार पर होती है यह परिचाम स्वयं निरुद्धता है कि प्रत्यय के होने पर, पूरक का पुदप अपने को प्रवृत्त करता है।

मूर्ता नेमा के मूर्त्तम् ^म की।

मूर्ता तौम् ^म रा के मूर्त्तम् ^म की।

प्रत्यय मध्यम० बहु० बहु का प्राचीन प्रत्यय है अस्तु, यहाँ क्रिया का पूरक के साथ साम्य है।

यह निष्कर्ष हो सकता है कि नञ्प्रता क कारण अप्रत्यक्ष अविभ्यञ्जना पुदप को हटा देती है। पहले ऐसा कुछ अकृत्य कर्मवाच्य द्वारा व्यक्त नञ्प्रता या आपरसूचक आशार्थ में होता है, जैसे हि० देखिये अथवा केवल क्रियार्थक संज्ञा द्वारा (जो नञ्प्रतासूचक है) अथवा कुछ 'वाहित्य' सहित अविभ्यञ्जनाओं द्वारा। नेपाली में तिष्णती के अनुकरण पर एक अकृत्य आपरसूचक क्रिया-रूप निर्मित हो गया है।

तेस् के गर्नु भा

और यह परसर्ग के लोप-सहित निर्मित हुआ है जिसके कारण रचना स्पष्ट रहती है।

तथाई मुद्गु हृत्तु इत्तु पुदपवाचक आपरसूचक क्रिया-रूप है जो अपरर क्रियार्थक संज्ञा पर आधारित है लोप गर्ने भयो प्रसन्न-नरुद्धन भय-का छाटा।

यूरोप की ज़िप्पी-भाषा में २ बहु० -व ध्वनि की वृष्टि से एन् के निकट जा जाता है, जो प्रथम० एन्०-अति सं विकले-एन् सहित वृष्टिगोचर होता है निस्सन्देह ऐसा प्रथम० द्वारा सामान्यतः मध्यम० का स्थान ग्रहण करने का कारण होता है (जिसका संबंध क्रिया से है न कि सर्वनाम से)। इसका अतिरिक्त जबकि क्रिया "होना" में यह मध्यम बहु० अस्पष्ट परिस्थितियों के अंतर्गत एक० का भाव ग्रहण कर जाता है किन्तु जो ध्वनि-संबंधी संयोग के कारण भी हो जाता है, क्योंकि ज़िप्पी भाषा में 'तु' का 'तुम्' से नियमित रूप से भेद मिलता है।

चतुर्थ खण्ड
वाक्यांश

१ क्रिया "होना" और नामभात वाक्यांश

माखीय-ईरानी से संस्कृत में एक अस्तित्वसूचक क्रिया बन् आयी है जो प्रधानतः क्रिया मू द्वारा भविष्यत् और सामान्य कृतीठ में मिलती है इसके अतिरिक्त द्वितीय क्रिया का वर्तमान विकरणमुक्त होने के कारण धीरे-धीरे 'होना' का अर्थ भी ग्रहण कर लेता है। मारोपीय और माखीय-ईरानी परंपरा के अनुसार क्रिया 'बना रहता होना' साधारण युग्म का काम वे सकती है 'होना' किन्तु इस प्रकार के प्रयोग में बहु सामान्यतः प्रथम पुरुष में नहीं होती और जब सर्वनाम व्यक्त होता है तो अन्य पुरुषों में भी नहीं रह जाती

अथ सर्वनामीं सूर्यं, नभ आत्तम् पूष्य पतम् न देवासि कवत्नवे स्व बरुण उत मित्रो अग्ने किन्तु त्व हि रत्नमा अंसि।

वैदिक गद्य में यह परंपरा सुरक्षित बनी रहती है और कुछ नयी-नयी बातें विकसित हो जाती हैं उदाहरणार्थ तुम्यता का मंत्र ऐ आ० पासवो वा एते पव आप्। महा भारत में आकृतिमुष्म सहित सर्वनाम द्वारा प्रकृतित वाक्यांशों का प्रत्यसूचक वाक्यांशों का और विशेषतः उनका प्रयोग हुआ है जिनमें विशेष या तो फल का [(-उ) -तबन्त] अथवा भविष्यत् का (-व -सध्य) क्रियामुक्त विशेषण होता है जिसके साथ पु० एक में संबद्ध बहुवाची संज्ञा द्वारा उपलब्ध वाक्य-विस्तार से निर्मित सुदूर भविष्यत् को भी जोड़ देना आवश्यक है स आ० अथ वपिप्यति सर्वो वप्टा इसके अतिरिक्त यह वाक्य-विस्तार भविष्य-रहित था।

संक्षेप में क्रिया 'होना' केवल कठिनाई से प्रथम दो पुरुषों में मिलती है जिनमें बहु सर्वनामों के तुम्ह होती है।

अथोक्त ने "मैं कुराछ हूँ" को कमी 'भूमि उपासके (गबीमठ) कमी 'उपासक सुमि' (महसराय) अथवा कमी 'हूँ उपासके' (सिहपुर, बीराट) द्वारा व्यक्त किया है। क्रिया "होना" एक ऐसे वाक्यांश में आती है जिसमें एक क्रिया कर्ता के साथ सम्बद्ध होने की प्रवृत्ति रहती है महा० एपो स्मि हन्मि सर्वस्मम् पा० सविगो म्हि तथा आसि उतसेम भिक्षेत्तो वामी सिहली Epig Zeyl. III २५८ १३२ तथा २९९ c-४) अथवा मि म बत्त्निमि पि सी मि मयद् बत्क विन्मि-यि "(यह) मैं बहना हूँ मैंने भोज किया है मैं भी हूँ " तथा बहुवचन में वेगमो हुन्मो "हम लोग

(*अन-स्म) हमने दिया है (*दिद-स्म) । और भी अच्छे रूप में प्रथम पुरुष में अस्ति 'अववा तव' का सामारण अर्थ-सहित बर्धन प्रवर्तित करता है।

इसके अतिरिक्त अस्तित्व प्रकट करने भासा शब्द विविध प्रकार का रहा है।

केवल उत्तर-पश्चिम सीमा पर अस् का स्वतंत्र रूप में प्रयोग सुरक्षित है साथ ही वही यह विकरणयुक्त में परिवर्तित हो जाता है कृती तुसे नम् के अर्थ 'तुम्हारे नाम क्या है' (इसके अतिरिक्त भास् ससृष्ट भास्ते पा० भासति के पीछित रहने को भी ध्यान में रखना आवश्यक है कम-से-कम कश्मीरी में) । बोलियों के अनेक समुदायों में प्राचीन अतीत का भी प्रयोग हुआ सं० भासीत् पा० प्रा० भासि और यह प्रयोग भूत-काल की रचना के लिये हुआ है तुलसीदास रघुसि सखीमण्डल २ ३ एक० बेबिस् यूरोप की बिप्पी-भाषा के अतीत प्री० केई-अस् 'उसने बनाया है' केरेस-अस् 'उसने किया' तथा उत्तर-पश्चिम के मैया कुट्-अस् 'मैंने पीटा' कुटेक्-अस् 'मैंने पीटा था' और इत्यन्त सहित शिवा बर्मेसु 'बहु पीटा है' पं आन्वा-सा मिआ-सा।

अन्य किसी तरह से प्राचीन क्रिया में से केवल बड़ी मुश्किल से वर्तमान का प्रथम पुरुष एक बच पाता है पा० प्रा० अत्थि और नकारात्मकता सहित पा० प्रा० नत्थि "है, नहीं है" के बर्ध में मराठी भाषि भाषि सिहरी अति नृति आदि।

संस्कृत के समय से जैसा कि देखा जा चुका है, वर्तमान में नवति बहु० स्मः, स्व द्वि० स्त की अपेक्षा अधिक अच्छे ध्वनि-संबंधी रूप प्रधान करता है तुल्य भास्ते 'मि० द मादिमनिरम एस० लेबी' पृ १५१ सामान्यतः सभी प्रथम पुरुष उससे उपलब्ध होते हैं। क्रियामुक्त विषयों को सहायक के रूप में ही कार्य करते हुए पाया जाता है पठमसि के 'नापितो भवति' पर निवृत्त की टीका है ११२ पठति भाष्यते "क्रिया शब् भाषा म है।"

संस्कृत के समय से ही अन्य एही क्रियाएँ भी मिसरी हैं जिनसे विशेषतः सतत स्थिति का घोटन होता है यास् और स्या क अतिरिक्त हम इ (बैत्तिक) या (हि० जा आदि) चर मिलते हैं जिनका इन्द्रियों के साथ प्रयोग होता है बिद्यते बतते (यह अतिम पूर्वी समुदाय में आदिम रूप में काष्ठि में सहायक की भाँति मिलता है) मध्यकालीन भारतीय भाषा में मिसता है अन्ध- बहुत बाद का रहु आहू । ये सब ऐसे पद्य हैं जिनकी अनुत्पत्ति देना पठिन है सिहरी में इन्द् (सं० शब्) वास्तव में 'बैठा हुआ' तुल्य हि० बैठना। इन धर्मों से एक साथ कुछ सामान्य समोजन और इन्द्रियों म घोड़-बहन मन्द्य साधिय्य प्राप्त पद्य उपलब्ध होने हैं।

निगु संयोजक का रहना आवश्यक नहीं है आप्तिक भाषाओं में नामवाचक पारदा है—यं भाषाओं क्रियामुक्त और इन्द्रियों प्रयोगों से मुख्य हैं ही। तो भी उसके

स्वाधी होने में अभी देर थी वह कभी-कभी प्राचीन अप्रचलित रूप में इन भाषाओं में दृष्टिगोचर हो जाता है। काव्य वर्णनात्मक साहित्य काव्य सिंधी ऊँहो खुनु उणे

पु० पु० पान्त् पीका मे पग् पाण्डुरा पु० कप० गन्गि ह्यह^च न तीरप् कँह 'गंगा के वरपर कोई तीर्थ नहीं है' उड़िया (गीत) कोइलि ठज के पुसुन्दर बेनि पोए हि० बीसी बोनी बीसी मरुनी जोरी का गुइ भीठा।

बंगाली में यही काव्य विन्यास अधिक स्वतंत्रता के प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है स्पष्ट कथा इ माल ए सुटि बड़ मिट्टि से एकजन् बिदेसी लोक एटा मोरगू ना मुर्मी ? किन्तु अधिकतर भाषाओं में क्रिया "होमा" ही व्यक्त करना पसन्द किया गया है। विभाषिक बार्ताछाप की पुस्तक में जिससे ये अस्तिम उदाहरण मिले गये हैं (एन० सी० चेटर्जी 'ए मनुमल बाँध कोलोकिबमल हिन्दी ऐंग्र बंगाली' १०१४) हिन्दी के संबंध में लिखा है। साऊ साऊ बोक्ना बहुत ही अच्छी बात है मैं रागू बहुत अच्छा है, बौ परदेसी है, मैं मुर्मा है या मुर्मी ? क्या यह विकसित सम्पत्ता का चिन्ह नहीं है। अजुन तोय नाम का सेइ, म्पूईइ योइइ भीत्-म्येसी सेइ "योइइ कितना बुझा है" जो मुली बो है या किराम् "उसका दाम दो रुपए और आधा है" शिना में स्वयं क्रिया का इस प्रकार के वाक्यांशों में से तीसरे में प्रयोग होता है। अनिसेइ पाप् दु डबले ग जैप् जान (२४०८ भा०) हनि।

सिंहली अधिक प्राचीनता-प्रिय प्रतीत होती है। महारमया मे रगु मिरिस् मोकड करेसे "किं कर्त्तव्यम्" मेस एक उसमें संस्कृत 'इति का प्रतिनिधित्व करने वाला संयोजक-वि की तुल्यता में प्राय प्रयोग होता है। ऊ होर यि इइ मदि-यि "स्वान अयमेष्ट है" मे सोप् तवे बँडि-यि "यह घोरका बहुत गरम है तुल० बोहोम होर्नेइ। इसी तरह के प्रयोग में भूटी अ-क्रिया-मूलक पर प्रत्यय का व्यवहार करती है एक०-एक (ईउनी ? तुलु ३० पीछे) बहु० नि।

मह ध्यान देने की बात है कि संयोजक के कार्य से जो सामान्य होता हुआ प्रतीत होता है अस्तित्व के प्राचीन धर्म को आपात नहीं पहुँचता तथा जिसके स्वायत्त के प्रतिरोध में क्रिया to have का पूरा अभाव निश्चय है।

२ अशों का क्रम

संस्कृत में भारतीय रूप रचना-संबंधी समृद्धि के साथ-साथ मुक्तिदानुसार वाक्यांश के अंशों को यथास्थान सजाने की संभावना जो उनी पर निर्भर है सुरक्षित है। इससे अतिरिक्त इस पक्षित का प्रयोग साहित्यिक प्रभाव क किये किया गया है,

उसमें एक स्वाभाविक क्रम है जो भारतीय से उत्तराधिकार में मिला और मध्यकाशीन भारतीय माया तक आया।

यह इस प्रकार रूप धारण करता है (१) उद्देश्य (अथवा उसका मनोवैज्ञानिक तुल्यार्थक) भाषि में (२) विषय का समुदाय क्रिया अथवा उसके तुल्यार्थक, अंत में वर्णन में प्रकृतित आत्मार्य और निश्चयार्थ को छोड़ कर, जो भाषि में सामान्य रहते हैं क्रिया से पहले उनके पूरक आते हैं, अतएव पूरक सिद्धान्तत मुख्य कर्मकारक से पहले तो भी लक्ष्य द्योतित करने वाले पूरक क्रियार्थक संज्ञा विरोध्य या सप्रधान कम-से-कम आह्वान-प्रश्नों में सुविधानुसार क्रिया के बाद अस्वीकृत हो जाते हैं यह एक ऐसा प्रयोग है जो भारतीय-ईरानी समाता है (तुल्य० मेहए-बाबनिस्त 'शै० दुःस्यु पर्व पुणनी छारसी का व्याकरण पृ० २४०) और फिर बना रहता है अज्ञेय के अभिलेखों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं।

विद्यमानतः शब्दों के समुदायों का संगठन इन्हीं प्रधान प्रकृतियों का अनुसरण करता है निर्धारित संबंधकारक विशेषणजात उपाधि निर्धारक से पहले आते हैं नाम जात सामासिक शब्दों के मध्य में भी यही क्रम रहता है। पूर्व-क्रियाएँ, प्रारंभ में स्वतंत्र जिस क्रिया के अर्थ को सीमा-बद्ध करती हैं उसके बाद अपनी शक्ति का लोप कर देती हैं, तत्पश्चात् वे उसने प्रतिकूल स्थान प्राप्त करती हैं उपसर्गात्मक अर्थ्यों की भाँति प्रयुक्त होने के कारण (इसके अतिरिक्त प्रयोग धीरे-धीरे विरल हो जाता है) वे संज्ञा के बाद आने की प्रवृत्ति प्रकट करती हैं—उस संज्ञा के जो क्रिया से पहले ही बद्ध हो जाने की अपनी प्रवृत्ति के साथ साम्य रखती हैं—और फिर अपने को क्रिया-विरोधनों के रूप में तथा मायजात रूपों अथवा पूर्वकासिक कृन्त के रूप में जो अधिकाधिक उपसर्गात्मक अर्थ्य का स्थान ग्रहण करते हैं रस कर बिछीन हो जाती हैं।

यह होगा जा चुका है कि कर्ता और कर्मकारक का विरोध जो संस्कृत में एक साथ विकरण के रूप और प्रत्यय द्वारा प्रकट होता है द्योतित हो जाता है और अंत में स्तुत हो जाता है तत्पश्चात् समग्र सभी आपुनिक भाषाओं में जो प्रकार का कार्य करने वाले विरोध्य का केवल एक रूप रहता है। यह गड़बड़ एक ऐसे क्रम के बद्ध हो जाने से साम्य रगने के कारण है जो प्रारंभ में केवल स्वभावगत था। विशेषणलोपक शब्दों की भाँति प्रयुक्त इन्होंने और विषयों की भाँति प्रयुक्त कृन्तों में भेद उपस्थित करने की आवश्यकता के कारण भी इस प्रवृत्ति का समर्थन हुआ जैसे उड़िया पहिला गछ "पिरा हुआ पेड़" गछ पहिला "पेड़ गिर गया है।

सामान्य आपुनिक क्रम इस प्रकार है मर्षार्थ अथवा श्यादानुकूल कर्ता अतएव तथा प्रायण पूरक क्रियाविरोधन क्रिया

हिन्दी मैं तुम्-कोयें फिताइ देताहूँ मुखाली न हम^३ तुम्ह इम्बन् सेने भेजा ।
 छत्तीसगढ़ी मीबाटी-हर्द मँबान्-अरद्-अ बन्दुक-माँ भाङ्क-ए गोली मारिस् ।
 वंगाली आमि तोमाके एक टाका दिवो ।

किन्तु यह

आमि एर आम-मुलो मूतन्-बजार-येके एनेछि "मैं नये बाजार से तुम्हें ये आम लाया हूँ ।

इससे निम है

आमि मूतन् बजार येके एर आम-मुलो एनेछि "यह नये बाजार से है कि मैं तुम्हें ये आम लाया हूँ ।

सिंहली गुरुनान्से मठ इन्ड्रोलदि सिंहस अङ्कव इगनुबा "मुद मे मुसे स्मृत में सिंहली बजार सिलाये हैं ।

ऐसा ही बरं में मिलता है—कबस बिबिन्न कर्मीरी को छोड़ कर जिसमें क्रिया पूरक और बिबेय से पहले आ सकती है

यिम् पोसे म चटुन्^३ ये फूल मठ चुनो ।

किन्तु

ऊम् (लोगु) यिमिस् मुरिस् "इस बोड़े पर चढ़ता है (बह चढ़ा) ।"
 हातिम के किस्मों में यह पङ्क को मिलता है

दुग्गाहम् मन्त्र गण्डिष् "हम बुनिया मे आते हैं ।"

किन्तु

दिछ छेन पाठसेभोदि मन्त्र "ऐसी (स्त्रियाँ) राज्य में नहीं हैं ।

ठिम् अननय् गेम् चन्दब्^३ कर "वे तरे किन् एने हैं तान (को) कुछ पारकी मटर ।"

इसी प्रकार निम्नलिखित उम्पेजों में अन्य बर्ता मिलता है

अमिम् मा आमिन् ईहमारमोम्^३ अहर्द अहर्द बङ्क सोन का ।"

तय्-क्युत्^३ चुत्^३ नम् छेसेकुत्^३ पत्र "उसके निय लिया गया उसके द्वारा उन एक लोहे का बाटा ।

किन्तु आभित बाक्य में क्रिया निरन्तर अन्त में बनी रहती है

में चुनुत् न जाह् अज्ञान्ति-छिर येमि मूतनिन् पनन्वी-मि बीसान् बौत्तम् हरह्मे
 " मैं सकता बना ।

रचना की इस उलट-फेर का मूल कारण ज्ञात नहीं है। बुद्धास्की और तिब्बती, सिमी जो कदमीर की सीमा पर हैं भारतीय क्रम का अनुसरण करती हैं।

जिप्सी-भाषा में यह क्रम बराबर पसन्द किया गया दिखता है। कर्ता पूरक या लक्ष्य क्रिया (और कर्मों में क्रिया कर्ता) रूमनियन बोली बूब छ'अस स्स पर ह जोड़ "बह छते अरने हृदय में पारण करती है" बेस्य बोली ई तरुनी छुँकेत् पिरबस् इत्तिबर "बबान छङ्की अरुमारी जोस्ती है" किन्तु यही विना किसी कठोर नियम के रूमनियन लोग जिप्सी भाषाओं को 'मदुमत् है "हाज मुजे बे" कहते हैं। यहाँ पर यूरोपीय प्रभाव देखा जा सकता है। वास्तव में फ़ारसी का मुख्य भाग भारतीय है। जहाँ तक आरमीनियन से संबंध है उसमें प्राचीन स्वतंत्रता अब तक बनी हुई है। दूसरी ओर गुरी सुविधानुसार वाक्यांश के आगे विना अरब प्रभाव के क्रिया को लक्ष्यकार करती है।

भारतीय ईरानी नकारात्मकता या दो वाक्यांश के आदि में आती है या क्रिया से पूर्व दूसरे प्रकार की रचना जिसका साम्य क्रिया-विशेषणों और पूर्व-क्रियाओं से है, अधिक प्रचलित हो जाती है। उसमें सं० म सकनोमि नास्ति वा० प्रा० गरिब (जिससे म० नापि सिह्मी न्मोन आरमीनियन जिप्सी भाषा मत् आदि) और इबर हास में म० म-ये मिता मुसे जो मज्ञा-रूप पारण नहीं करता की भाँति सामान्य समुदाय है। किन्तु नकारात्मकता सुविधानुसार कदमीरी से नेपाली से (नकारात्मक क्रिया-रूप जहाँ नकारात्मकता पहले या बाद में आती है) बयाली में मराठी में (बिकरण और प्रत्यय के बीच में स्थान प्राप्त करने की दृष्टि से नकारात्मकता क्रिया के बाद स्थित होती है म करी अक्का करी ना) बरीस् ना तथा करी-नान् बरी-नान् जिससे बोरणी का नकारात्मक क्रिया-रूप निदना निदनात्।

इस बाद में आयी हुई नकारात्मकता को प्रत्ययपूर्क अथवा नकारात्मकता से अलग करने की आवश्यकता है *is it not?* "एसा नहीं है क्या या "है न? जो उदाहरणार्थ हिन्दी में प्रचलित है। वास्तव में यह एक वाक्य है जो पूरे वाक्यांश की भावृति करता है। उसी से बिरला बताने वाली नकारात्मकता का मूल भी है। कवी अबोधान् स्वाहि लेस् ए न विनिअन् सेत् ए निगाही अछरानी है (बह) क्या अछडा (यदि) नहीं बिरानी है (ब) क्या अरठा?

एगमग सर्वेभ मत् निरोप आजायं या उतने उतगपिरारिया संहित में हास्य प्रकट हुआ है। म० मां भारतीय मूल का केरल जिर्गी भाषा (मा) जिप्सी कदमीरी (म म-स या सदर भी प्रकट करता है) तथा जिप्सी मन् बोली मडि (सगर-मुनागि ? म्-ग् बलिउ जिन्ना है किन्तु म् मरप आब-रुम नहीं है) में मिलता है।

प्रत्यक्षक बाक्यांता स्वीकारात्मक प्रतीत हा नरता है तथा केवल ध्वनि द्वारा उस समय मित्र हो सकता है जब उसका प्रारंभ प्रत्यक्षक सर्वनामों अथवा क्रिया विशेषणों से नहीं होता। किन्तु—भारतीय ईरानी क अनुकरण पर—एक घट्ट जोड़ बना पसन्द किया जाता है जिसका माक होता है “क्या quod? what? वा est that” “est-ce-que” क मुस्य हाता है गाया कृत् का अ० विन् ईदिक० फ्रु सं० विन् पा० किं सिमी नपाली कि पु० पू क० क्याहू हिरी क्या म० काप्। नकारात्मकता का ही काम देता है हि० छत्तीस० मा बगामी रिता। मिहसी -य केवल मात है वा बाक्यांतों को समाप्त कर देता है जो प्रारंभ में भी वा घालन नी करता था और जो प्रत्यक्षक से ध्वनि को संबद्ध कर लेता है क०- qu, who कीन? न ही कती अस्तुत खोबार, रिता ‘अ’ बा० म थाया हुआ जो आदर्शव्यंजनक रूप में इतिहास भाषा की याद दिलाता है यह कहा जा सकता है कि बैकल्पिक रूप में रिता कती की भांति नकारात्मकता से काम लेती है

ए० कुर्य मुम् मिट्टु हट्टनु म लखु हनु “बनीत मुहारे गाँव की क्या है यह अष्टी अथवा क्या है वह बुरी?”

३ बाक्यांतों का संयोजन

स्वतंत्र बाक्यांतों का संयोजन

संस्कृत में भारतीय ईरानी संप्राप्त कुछ ऐसे निपात हैं जिनमें बाक्यांतों का संयोजन या विशेष मात होता है एक तो प्रथम घट्ट के बाद रले जाते हैं च ईद, नु हि वा आदि दूसरे बाक्यांत का प्रारंभ कर सकते हैं और अथ भाद् आदि प्रारंभ में वे अन्य रीतियों के अनिश्चित अनेक निपातों का सांनिध्य कर, सख्या में वृद्धि कर सक्त हैं जैसे अयो चैद् कुबिद् आदि निपात मुक्तिवानुसार प्राचीन गद्य में भी सकल्पित हो जाते हैं किन्तु उसमें निदिष्ट नवीन सांनिध्य-प्राप्त म० ‘यथवा पा० इप (महनीति में व्याख्या पृ० ८९८, म० २) की भांति कम मिलते हैं। वास्तव में ज्यों-ज्यों निपाता की माया कम होती जाती है वे प्रकल्पित रहने पर भी अरनी रक्ति प्राप्त जात हैं महाकाव्यों में वे प्रायः पूरक रूप में जात हैं।

संयोजन या मिश्रितता सामान्य है, वा अनाथ एक दीर्घगत माप प्रहा कर सता है वह विशेषी बातों को सीधे-सा प्रदान करता और गद्य-पद्य का विशेषता-संपन्न बनाता है। इसी प्रकार विशेष प्रकट करन क लिये ही अयोग की भाषा में एक नवीन घट्ट उत्पन्न हुआ गया है कु(य+नु)। अयोग का घालनात्रा का जन्मोत्पन्न कल्प समय यह देता जाता है कि वास्तव ही कभी वाक्यांत मरक रहित है। पर वाक

उदाहरणार्थ पिरनार की पौषवी घोपना के प्रारम्भ में है क(क्)सायं दु(क)करं
 यो आदिकरो क(क)साणस सो दु(क)करं करोति वाक्यगत घौनी के कारण ऐसा
 होते हुए देखा जाता है तथा बाद में सर्वनाममूसक निपात के अनुकूल है (रूप की
 दृष्टि से वैदिक ऋ अथवा ऋ के पुत्र्य) जिसका अनुवाद करना कठिन है—मदि
 इस वाक्यांश पर जो आगे है विचार किया जाय त मया वहु क(स)सायं कृतं त मम
 पु(त्)ता च पा(त्)ता च य् मे अप(त्)पं अनुव(त्)तिसरे तथा सो सुकृतं
 वा(स्)सति सेनतं मे अनुवाव क्रिया है “अववा (त) मीने स्वयं किये हैं बहुत अच्छे
 काम। इसी प्रकार (त)के मेरे पुत्र जो अनुसरण करते हैं इस प्रकार मेरे उदाहरण
 का वे मसी भाँति करेंगे।

निपात के अर्थ की अनिश्चितता इस बात का संकेत करती है कि उसका प्रधान
 कार्य एक वाक्यांश के अर्थ को दूसरे के अर्थ से अलग करना था।

जैसा कि उल्लिखित अंतिम उदाहरण में है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि
 वाक्यांशों के बीच का संपर्क एक सर्वनाममूसक अथवा द्वारा संकेतित हो। यह संभवतः
 वास्तव में सर्वनाम कड़ा जाने वाला हो जिसका संबन्ध पूर्ववर्ती वाक्यांश की संज्ञा या
 संबन्धवाचक सर्वनाम से हो यह आधुनिक मूलक स(त) है उसका प्रयोग प्रायः प्राचीन
 यद्यपि की नीरसता प्रदान करता है। यह सर्वनाम भी पुर्बल पड़ जाता है नित्यसंबन्धी की
 भाँति बहु वैदिक गद्य में सामान्य हो जाता है और तब काव्य में उसका सरलतापूर्वक
 अभाव मिलने लगता है इस प्रकार उसका अर्थ क्लृप्त हो जाता है और उसमें विभिन्न
 रूप में वाक्यांश का उच्चारण दृष्टिगोचर होने लगता है, और जो अधिक-से-अधिक
 उसे क्लृप्त मूलक भेद प्रदान करता है सं० स यत्र स यद् वा छजे वा० सेम्यथा
 अपवा तमय अगो० स से सो वा० से में कर्त्ता० पु० एक स पूर्णतः पूरक हो जाता
 है यह अर्थ इस बात के स्मरण करने का है कि महावाक्यों की मापा में बहुत एक मुख्य
 उपपन्न प्रदान करने वाला हो जाता है—प्रकृति किन्तु, जैसा कि देखा जा चुका जिसका
 अर्थ नहीं हुआ है।

आधुनिक भाषाशास्त्र में आधुनिकमूसक सर्वनामों द्वारा सुष्ठु समुच्चयबोधन और
 संबोधन अब भी प्रमुख स्थान ग्रहण किये हुए हैं। निपात बाधा कोय बहुत धीन है।
 मिहरी च -न् ही गमबत च वा अन्ता उत्तच्छिवाटी है, क्योंकि बैठ वह न० पु(इ)
 छत्तीस० च जो प्रा० च यद्य स है, तुल्य भाष्याङ्गी ईन् गु मिथी न् जा प्रा० उन्न से है
 की भाँति आधुनिक निपात से नहीं होता। कुछ मनीन मन्त्र ममुच्चयबोधन उत्पन्न
 हो जात है जिसका भाव्य होता है “और नी अर्थ वाते” पु० हि० अवर, हि० और
 मेरामी अथ अनामी अथ (अररम्) म आर्षी -न् गु० अने मेरामी अथ मिथी

अथ (अन्यत्) इसी प्रकार हि० सि० पद् (सं० परम्) जिप्सी-भाषा से कद्० त नेपाली त (संभवत् तथा से संबंधित) सिहली हा (सह) धिमा य् (?) की उत्पत्ति कम स्पष्ट है। विरोधवाची क्रियाविशेषण जो उत्तर-वैदिककालीन है तथा जो स्पष्ट नहीं किया जा सकता पुनः मध्यकालीन भारतीय भाषा के काल में वीर्य हो जाता है (पा० पन पुन 'नये' के अर्थ में बना रहता है) सिंधी उड़िया पुनि पु० म० पन् नेपाली पनि पु० हि० पुनि (सिहली पन पुन एक प्रकार से "फिर से" का अर्थ प्रकट करते हैं यह पाकी का प्रभाव हो सकता है) आदि में जाने वाले जो यह ज्यों-जा-रथो बनाये रखती है जो शुरु के प्रयोग का चिन्ह है। 'या' को प्रकट करने का डग अत्यन्त विशेषता संपन्न है सर्वनाममूलक विकरण से काम चला लिया जाता है हि० व० नेपाली कि सिंधी प० गु० के (अन्यत्र संस्कृत जयवा अरबी से उभार लिये गये द्वारा स्थानापन्न) अन्य शब्दों में समुच्चयबोधक नहीं मिलते प्रश्नवाचकवाक्यांश अक्षम से बनाया पड़ता है।

आश्रित वाक्य-योजना

प्राचीन संस्कृत में आश्रित वाक्य-योजना प्रकट करने की दो रीतियाँ मिलती हैं

(१) संस्यार्थसूचक (श्लेष-कार) का प्रयोग जिसमें इस परिस्थिति के अंतर्गत किसी क्रियार्थ-श्लेष का भाव नहीं होता और जो ध्याकरण का एक सामान्य भाव हो जाता है वह संबंधवाचियों द्वारा अपना संबंधवाची क्रिया-विशेषणों द्वारा अपना लकारात्मक भेद द्वारा जो मुख्य पूर्वसर्ग में निरूपण के साथ आता है, प्रकटित होता है

श्ल० १० ८५ २५ २१

प्रेतौ मुञ्चामि नातु सुवर्षान् अमूर्तसु कम्

यमेयम् इन्द्र मीड्वः, सुपुत्रा सुभगाऽति ।

पृष्टान् बभूवृषती यवाऽ ।

१० ५१ ४

आयन्

नेद् एव मा युजन् अत्र वेवा ।

(२) क्रिया का स्वरित होना। उपर्युक्त उदाहरणों में "यदि" संभाव्य के अर्थ में व का विशेष प्रयोग जोड़ा जा सकता है

२ ४१, ११

इन्द्रम् च मृष्याति न

न न पदवाद् अर्थ नद्यत् ।

इसी प्रकार मुनिव "यदि" (प्रत्ययवाचक) है जो असाक्षात् प्रत्यय संकेतित करता है और साथ ही हि (क्यों) है जो स्वभावतः स्वीकारात्मक है या निरूपयार्थ के साथ जाता है।

३ ५३ १८

बलं मेहि तनुषु नः स्व हि बलवर्षा वसि ।

स्वरुपात मनोबैज्ञानिक आश्रित वाक्य-योजना प्रकट करने के काम जाता है जो इसके सिवाय और कुछ प्रकट नहीं करता (दे. मेइए, बी० एच० एम० XXXIV पृ० १२२) मै० स० तस्मात् बचिरो वाचा बचति न मृगाति ऋ० तुयम् वा यहि कप्येवु मु सचा दिव ती० स० उतात्रपिप्यन् कर्पत्य एव ।

दोनों रीतियों का संबंध केवल प्राचीन भाषा से है। समसार्थसूचक (केन्द्र-स्फार) से जहाँ तक संबंध है बाह्यजन प्रयोगों में उसका प्रयोग काफी कम हो गया था अद्योक्त० में केवल कुछ शेष रहते हैं जहाँ तक स्वरुपात से संबंध है न केवल पाणिनि ने उसे गभीर आश्रित वाक्य-योजना-मुक्त में (पुत्र सहित) देखा है किन्तु वे मुख्य पूर्वसर्ग के अनेक कथा में उसे स्वीकार करते हैं उदाहरणार्थ किम् सहित या रहित प्रत्ययवाचक में यहाँ तक कि उम मय के अंत में जब कि बहुहाराण ध्यान आकृष्ट करता है स्वरुपात अपना वाक्य-विचार-संबंधी भाव करीब-करीब खो चुका था।

वर्षमीकृत संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा में आश्रित वाक्य-योजना बताने की कोई व्याकरणीय पद्धति नहीं मिलती।

संबंधवाची मत् द्वारा तथा अन्य संबंधवाची क्रियाविशेषण यावत् यदि यथा आदि द्वारा प्रवर्तित पूर्वसर्गों की रचना इस प्रकार होती है मानां वे स्वतंत्र हों और निरूपयार्थ आदरात् के आधार पर प्रगति प्राप्त करता है। निपातों का अर्थ मुद्रित ही में विवक्षित हुआ था स्वयं मत् में जो एक वास्तविक निपात क अधिक विकृत पदुष जाता है संबंधवाची अर्थ अब भी समझ ही होता जाता है "बहमा विस्वाप्त करमा जानना' क्रियाओं के बाद उच्चता प्रयोग सामान्य नहीं हो पाता इसी प्रकार अद्योक्त० में तथा पार्श्व म 'दिति' मन्तव्य बताया है किन्तु उच्चता अनुवाद केवल "अपने से क्या बहते हुए? विमलित? होता है और समस्त अनुरित होता भी चाहिए क्योंकि श्लोकप्रिय भाषा में बाधनीत के मध्य रहने वाप्य स्पष्टों को बताने के लिये प्रत्ययवाचक एक मापन के रूप में राना है तुय० म० तिव जय दि वह अपरम् तथा व की धानि ममानापर के निय नाम आता है।

प्राचीन भाषा आश्रित वाक्य-योजना प्रदान करने वाले मापन प्रस्तुत करती है। भारतीय परंपरा क अनुसार, उनकी मर्यादा में ही इच्छा की पात्र स्थिति है। एव

सत्ता की पुसती सत्ता के साथ साधारण पार्श्व स्थिति में अभिप्राय की भावना निहित रह सकती है और समकक्ष हो सकती है उदाहरणार्थ "क्योंकि यद्यपि के इससे अतिरिक्त कृत्य के कारण एक क्रियामूलक भाव का प्रवेश हो जाता है जो फिर पूर्वसर्ग के तुल्य हो जाता है।

इस प्रकार के प्रयोग में वह उद्देश्य या पूरक की पार्श्व स्थिति प्राप्त करता है विशेषतः मुख्य कर्मकारक में। उसकी अनुस्यूता इसमें मिलती है

ऋ० अरुणो मा यन्तु बर्षां हिं

इसमें विरोध मिलता है

तै० सं० मित्रं सन् क्रूरम अक

सनाभ्य रूप्य इसमें है

कौटिल्य त्वत्तं मूढपुत्र्या हस्यु ।

भावना अथवा विचार-संबंधी क्रियार्थों सहित

तै० सं० परामर्शिन्यन्ती गम्ये कसैसीकस प्रहरन् न सज्जसे आशुष्टे पिरम् आत्मानम् परिभ्रान्तम् ।

पार्श्व वाक्य के इस वाक्यांश में क्रियामूलक विशेष्य के कृत्यन्ती कर्मकारक के स्थान में अप्रत्यक्ष में सुसंज्ञित संबंधवाचक होगा

कुमारो कम्मारेण कथं रूपकं सुबन्धगम्ये त्रिपापेत्वा ।

कृत्य से विद्वत् कारक (विशेषतः अधिकरण) के विशेष्य से साम्य होने पर उस उपसर्गिक अन्वय की तुल्यता प्राप्त होती है जो पहले अप्रत्यक्ष रहता है, तत्पश्चात् उसमें मनोवैज्ञानिकता निहित रहती है जो मुख्य में स्थान प्राप्त कर लेती है किन्तु अपने में पूर्ण रहती है और उसका स्वतंत्र वाक्यांश में व्यवहार होता है रघु० मा वेति व्याहृत्य एव तस्मिन् ।

इसी प्रकार के निष्कर्ष और भी प्राप्त होते हैं

(१) कारक के अनुसार व्यक्त क्रियायक सत्ता सहित उद्देश्य (बम० में अथवा संप्रदान म ऋ० अह्ये हन्तव्यं "अहि के क्रिय, मारने के क्रिय" पारम् एतत्) अथवा हेतु (अपादान में श्राव्यं कर्तव्यं अथवा अक्षरत्वा "जानना चाहिए हमें गढ़े को गिरने से" मूर्धोत् मो अनपत्यांति गन्तो)

(२) मूल परिस्थिति और उस समय मानसिक मूढन भा प्रकट करने वाले पूर्व कालिक क्रियायक सहित (दे० पीछे)

(३) अन्त में सामंजस्य रचना द्वारा कृत्य अनुस्यूता प्रकट करने हुए, और विशेषतः जब उसमें कृत्य रहता है

- रनु० धृत-देहविसर्जनं पितुः ।
 का० प्रतीहार्या मूहीतपम्बर ।
 पा० कुमारिकाय छद्मभाष ।

मध्यवर्ती अनुकूलता तथा नित्यसंबन्धी वाक्यांश का थोड़ा-बहुत विरोध ये ही सामन हैं जिनके द्वारा दो क्रियामूलक तत्त्व एक-दूसरे के आविष्ट किये जाते हैं फलतः संस्कृत में अटिक पूर्वसर्ग नहीं है।

और भी उसमें असाक्षात् उक्ति नहीं है कथित या सोची मयी बात को व्यक्त करन वाला वाक्यांश साक्षात् उक्ति होता है अथवा नही भाँति पूषक होता है अथवा यत् द्वारा प्रवर्तित होता है अथवा और यह बहुत अधिक प्रचलित है इति द्वारा समाप्त होता है जिसकी अन्व-भूत्यति (सं० आइटा) यह प्रवर्तित करती है कि प्राचीन अर्थ "अिन्ति, इस प्रकार, इसलिये" है अ० ४ २५, ४ य इन्द्राय मुनबामेत्स्य धा३ "कौन—बारों के लिये इन्द्र इस प्रकार कहता है" अर्थात् 'कौन कहता है और वे क लिये इन्द्र' १ १६१ ८ इदम् उच्यते पिबतेत्स्य अन्नबीतन "यह पानी पिओ इस प्रकार तुमने कहा है" १० १० १ स्वप्या दुहिर्ने बहत्सुं इणोर्तोव इव विस्वम् मुबन संम् एति "एव० करता है रस्म विवाह के लिये अपनी पुत्री इस प्रकार फलतः समस्त सवार इकट्ठा होता है" इस प्रकार मुताबी पड़ता है "संसार इकट्ठा होता है यह कहते हुए कि क्याकि त्व ।

साक्षात् या तर्क-पूर्व उक्ति प्रवर्तित करते समय इति मूलतः अपना प्राचीन भाव सुदृष्टित रलता है (इससे अशोक के अभिलेखों का अन्वय त्रि तथा सिंहली के एक संयोजक के तुल्य-वि भी स्पष्ट हो जाता है) और संज्ञेय में कबल लुप्त समुच्चयबोधक को महत्त्व प्रदान करता है। किन्तु आभय का यह एक बहुभूत्य सामन है पा० आबाय नं गमि-स्सामीति आगतोमिह ऐसे ही क्रम में अटिक में सदायार्थसूचक की क्रिया के संबंध में प्रमुख स्थान रखने वाला संबंधवाची वा। पाबी में फिर यह सक्षिप्तता बेधने की मिल्ती है सुबन्धस्यं ति सम्प्रं अथत्वा ।

अस्तु, मध्यकालीन भारतीय भाषा और आधुनिक भारतीय भाषाओं को संस्कृत का वाक्य-विचार-गणनी आभय और असाक्षात् उक्ति का उचित सामन प्राप्त नहीं होते य भाषाएँ हम दिशा में विकसित भी नहीं हुईं। सप्त समुच्चयबोधक क्रियामूलक विशेष्य तथा पूर्व के स्वक नित्य संबंधवाची पूर्वसर्ग केवल ये ही सामन हैं जिनका के मात्र भी आभय ग्रहण करती है। स्पष्ट रूप रचना-विहीन भाषाओं में अनुकूलता (पार्वं स्थिति) समझ मही थी इत्यन्त कबल पूर्व विवृष्ट में ही अधिक मिलता है। नामवाच रचना स भी कुछ है उसकी दृष्टि से निदान-शास्त्रीय विवास जो संस्कृत

साहित्य में मिश्रता है, अपने वास्तविक इतिहास से साम्य नहीं रखता। अशोक के जैसे प्रामाणिक पाठ महाकाव्यों के माध्यम भावकीय कथोपकथन तथा अंत में आधुनिक भाषाओं में केवल दो शब्दों के समास प्रचलित है अस्तु, सभी भारतीय भाषाओं की भाँति भारतीय भाषाओं में वही परिस्थिति है संस्कृत में इस रीति का असामान्य प्रसार व्याकरण की दृष्टि से नहीं साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से रोचक है यह प्रसार विशेषतः उस समय से प्रारंभ होता है जब से बीजित भाषाओं के प्रत्यय अस्वष्ट हो गये इससे वर्णों में छिपित संबंध आ गया इसी के द्वारा वह मसम्बद्ध बाण्य विन्यास वाली भाषा की सामान्य प्रकृति के साथ साम्य स्थापित करता है।

कृत्त समुच्चयमोचक निरंतर मिश्रता है, विशेषतः अपरिभाजित भाषाओं में उदा० अरकुन

तू दात्रे धरिन्-व चित्ताद्-प्रलिम् (जब) कल तू मामे में (तुझे) एक किताब दूँगा।

जम्बेद् सेइ जाने असेम् "भाशा है (कि) कल तुम आओ।"

तु वाबुर विरैकेसु का कोसु (जब) तू बाबर के पास जायया तू क्या करेया?"

हुँडु ब सोसु कल बेइ मफुपू तो विरैकेसु सकीइये मिसु बेरी कसेम् "कुछ माग (जो) तू चछा है (इस) समय (और जो) कोई (जो) अरकुन तुमने देखा जाम उसके साथ तू वाठ करेया।"

अपभ्रंश परिवृत्त भाषाओं में जनोपैसायिक संयोजक प्रायः सर्वनामों द्वारा अथवा सर्वनाममूलक विकरम में अव्ययों द्वारा व्यक्त होता है।

निश्चयवाचक

शिपी वु ईमान्गार्^उ माहूँ आही तहि-करे-सो-वे नाइन्^उ काजी मुकरिद्^उ काया^उ की निश्चयवाचक की भाँति मराठी की रूप रचना में दृष्टिगोचर होता है हति थोडे आधि बीत्^उ हाधि^उ चार घाता इसी प्रकार है रामा यत्ता मस त्याने एकसे इमी प्रकार गुज० ठे गयो हतो ए में सम्पत्तुं।

संबन्धवाचकों अथवा संबन्धवाचकों से निकले जो सुविधानुसार (जैसा मन्वृत में था ही) उर्मा श्रुतति क निश्चयवाचका के विरोध में आते हैं और उन्हें बताते हैं

- म० जा मुकना मिं कान् पाहिला तोब् हा आहे
 "यह बचचा है (२) जो मैंने कल देगा है (१)।"
- हि० सुदा जो चाह सो करे।
 "सुदा करे वह (२) जो वह चाह (१)।"

जित्ना चाहिये इतना ले लो।

“इतना ले लो (२) जितना तुम चाहो (१)।”

जहाँ गुल है वहाँ काप्टा भी है।

जिस् रूप में मैं प्रन्त् अब निकला है वों उसे सभहहीं सताम्बी में प्राप्त हुआ होया।

ब० आहा इच्छा आइये साहा पाइयो ना।

अत्सन् ना तिनि आसेन् उत्सन् वसिया थाक।

केवल संबन्धवाचक का ही लक्षणीय प्रयोग ही संकटा है

हि० वों आइनी वों पकूमा माहिं जानूटा माबान् है।

सिन्धी कृपाने बापारि ^म से पँह ^म जो माम् ^उ दिनो होम् ^ए जोहुं हाप ^ए उम्ह ^ए ना इन्कार् ^उ जो-करे।

मनुमान की अभिव्यक्ति सम्भव क्योंकि उसमें परस्पर सम्बन्ध का कोई स्पष्ट चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होता कुछ-कुछ अस्थिर है। पञ्जाबी सिन्धी में जो (यदि) मिलता है किन्तु हिन्दी जो (नियसंबन्धी तो ठी) अस्पष्ट है क्या वह स० यावत् से निकला है? किन्तु प्रमानज अस्थायी अच् उच् हैं। उच्च काटि के उच्चार क्रिये गये शब्दों का भी प्रयोग होता है ब० हि० यदि हि० सिना जगद् एक संस्कृत से दूसरा फारसी से केवल मराठी ने और यह ब्रह्मण साहित्य से हाथ की उच्चार लने की प्रवृत्ति छोड़ कर, बेविकर क युग यहि ताहि प्रह्वन क्रिये है जो संस्कृत में केवल पुराणो म आते हैं और जिनका मध्यकालीन भारतीय भाषा में अभाव है

उद् पाठ्न् पठ्त् अस्मा उर यँने मयो।

जिन भाषाभाषा में औंम द् और जिन्मी-भाषा म संबन्धवाचक नहीं है, प्रत्ययवाचक उपादा स्वान ग्रहण कर लेता है वह भी उग समय जब कि वह सामान्य निष्पत्त्यवाचक के रूप में नहीं होना जैसे सिना मो मुस्से यनुग् मा आइनी (जो) आमा है, वह ।”

हनु, सन् ममुक्पदवाचक द्वारा प्रकट होता है ब० कारन् मु० कारन् कारण (यदि त्रि) अथवा प्रत्ययवाचक द्वारा सिन्धी छो जो हि० प वयुं कि अंत में पूर्ववर्ती पात क अग की भावुति करने हुए क्रियामूलक विद्योप्य द्वारा जैसे स० इति इति इत्या पा० इति इत्या म० (हे) म्ठर्णुन् अथ० भाषिणि नेपासी अति पूर्वी सिन्धी वाक्त् ब बालिदा मिह्नी क्रिये मे वात्मक मं “वहू सेने पर” धातित हाता है यह अस्मिन् रूप भी बराबर इति है।

बर्हि भाषाभाषा में एक सिन्धी भाषिय वाचक-योजना का प्रयोग होता है या हो ही

बुका है, जो सं० यद् से सादृश्य और रूप के साथ परिवर्तन की प्रवृत्ति रखता है। येन में वह निस्सन्देह प्रभावपूर्ण रूप में दृष्टिगोचर होता है म० जे गु० ब० ज कद० जि। फ़ारसी क प्रभावान्तर्गत सिंधी में त का हिन्दी और बंगाली में कि का मराठी म किं और गुजराती में के (द्विचरित्रा क अनुसार मराठी क अनुकरण पर, 'गुजराती सैम्बल एंड सिट्टरचर' पृ० २२) का प्रयोग होता है। इस निमित्त (यहाँ तक कि जो प्रसिद्ध माया मासो—malo—तक में पाया जाता है) की संस्कृता अथवा प्रसन्नवाचक सं० किम् के साथ मड़मड़ हो जाने से होनी चाहिए

हि० लुलु आया कि मं रात्रा हूँ।

गुम् को अवरुध है कि वहाँ जाओ।

गु० र्यां म एसी वस्तु जोई के बिभूता सुवि मने साम्भरने।

हिन्दी में इस निमित्त का बिभ्रता सिधे हुए (फ़ारसी क अनुकरण पर ?) और प्रायः शब्द-बाहुल्य-मुक्त प्रयोग यह प्रवर्धित करता है कि उसका कार्य बड़े बिचित्र रूप में बातचीत का उच्चरित करना है

हि० मासून् हुआ कि चोर् कीन् है।

एसी तन्वीर कर कि जिस स मेरा पेट मने।

किन्तु बिपर्यस्त रूप में साथ ही कहा जाता है

बहुत् दिन् हुआ बदनन्दन् को मी मे नहीं देना।

“ कि मने दे० को नहीं देना।”

लड़कियाँ अपना बक्त् मुड़ियाँ बेलने में खोती हैं बहुत रहती हैं “लड़कियाँ (जो) ।”

संस्कृत को जिसमें द्विगर्भ भेद सुरक्षित हैं असादात् उक्ति स्वीकार नहीं है, तथ्य-भारतीय भाषाओं में वा और भी जा कबल अनिश्चित और यथार्थ वाक्य का भंग करती हैं और वह भी काश्चि अनिश्चित रीति से सामान्य रूप सुरक्षित रखन वाक्य कथन अलग हो जात हैं

क० ५^म ह मन्वु म्भेलेम् म पक्षि आमुन् ग्^म मकार्^उ।

बंगाली एक दिन् द्वांके छवि चार्द मनेर् हन होम् मा।

पीर त्रिप्पा भाषा मुनेन कसिब केनेन “उग्रहनि मुना (कि) वाई पाता है।”

अब इस प्रकार की रचनाओं में फ़ारसी समुच्चयकोषका का बहुत प्रयोग हुआ है, किन्तु उमन रचना में कोई अन्तर नहीं पड़ता

हिन्दी में वे चन् आईं त पैसा छबिह रूपमा बठन्बो सौं "बहु मुझसे कहता है (कि) ।"

हि० मैंने इरादा किया कि चन्
योपाक ने जाना कि तोते में चन् प्रान् नहिँ है ।

तो भी मनोवैज्ञानिक बाधित वाक्य-योजना सर्वमानों के परस्पर परिवर्तन द्वारा भी कभी-कभी प्रकट होती है

हि० क्या तुम समझते हो कि मैं मूर्ख हूँ ?
बाबू साहब न मुझे आपकी ये छिछने के लिये कहा था कि वे
आपके (अथवा हनु उन्ने) पत्र का उत्तर दूँ कि छिछन् स दगे ।
बंगाली स बोकिते छे ताहारु आतारु थादेरु जन्म ताकाह बारि वेते होइवे ।
हिन्दी भाषा : दिनेक ह रचिल नने परें छस्ते "बहु देखता है सङ्के उसके साथ
नहीं है ("कि" अप्रकट है) ।

नेपाली (टर्नर, इंडि० ऐंटी० १९२२, पृ० ४४ तथा नोट प० ४८)

हिमालय की मारबर्नद्वारि तो प्खानहेस क गारि नूर्म औन्ूर्म सकुन् भनि " (तुर्क)
कहते हैं कि हमारा (नेपाली कहल बालों और उनके साथियों का) सामान और हमारी
पाइपियां नहीं आ सकती ।"

अस्तु मध्य भारतीय भाषाओं का वाक्य-विन्यास प्राथमिक है और, जिस हद तक पूर्वमर्ग नियमसंबन्धी रूप क अन्तर्गत परस्पर संबन्धित रहते हैं वही तक वह न परिवर्तनीय और एकत्व है । यह मध्य के अर्थों के कारण है जिससे वाक्यांशों में पुनरुक्ति आ जाती है हिन्दी के 'आला मुक्त मरठी के -गारु पुक्त कर्तुबाणी सजाएँ, छान्ती गुन बाचक बिदोषण म०-असा हिन्दी भा हुबा' तुक० दे० पीछे विभिन्न क्रियांशक सजाएँ पृ० ठेने हिर्ने रेखा रूपी ।

हि उन् में प्रभाप्तिह तक कर्णन् निम्ने स में गिरिचत् र्ण स कहा जा सकता है कि ।

क्रियांशक मताओं में सामान्यतः ग्रहण किये गये दृष्टान्त त्रिजना उल्लेख पीछे हो चुका है मन्मनिरिक्त विद्वत कारणों में दृष्टान्त दे० पीछे अत में और विद्याप म्ग ग पूर्वसात्तिक दृष्टान्त और पूर्वसात्तिक दृष्टान्तों का कार्य करने वाले दृष्टान्त हैं त्रिजना पीछे अनेक उदाहरण दिए जा चुके हैं । इन तर्जान पुनरुक्ति कृपन्ता न एत ऐमा स्वान घटग दिया है कि ब भाषाओं का न बचस पूर्वमर्ग का ही किन्तु सपुस्त क्रियांशक,

क्रिया-विशेषणों पूर्वसर्गों (ब० होइते छये हि० किये भाषि) का भी माध्यम प्रदान करता है।

कुछ उदाहरणों द्वारा यह सिद्धा कर कि इन भाषणों द्वारा साहित्यिक भाषाएँ किन प्रकार बाब्यास का लक्ष्यीक और समृद्ध बनाती हैं इन विषय मन्त्राण बन गना चाहिए

ब० (टी० गांगोली) आसुर विवेचना बने स्मिर् करुसाम् तोमारु आग आमावेरु बाछ भक बच्छ पाबा डबिनु भायु ।

हि० (हृग्निदीप) तो बना स्यासनुकरु क यहाँ ब्याह करुव कइकी को प्रभुमनर क किय मिट्टी भौ मिला देना ही आप अच्छा समझन है । 'तो क्या (१) भायु अच्छा समझते हैं (५) ब्याह करु क जननमर क किय देना ही (४) हनाये सइकी का (३) ब० क यहाँ ब्याह कर के ।'

हि० (आधुनिक) श्मुबरुदायुकी मे तुम्मीकरिनु म गाम्बामी जी की जो कुल परम्परा मिली है बौं सानुन योय्य है।

अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि भारतवर्ष में जो वर्षों से अधिक अनुप्राणी सिद्धा होते हुए भी बौं उन्नति को अपना न करके पश्चान् वर्षों में प्रत्येक विषय में प्राण्य की है भारतवर्ष के किमी भायु में दृष्टि नहीं आती ।

यह बोलने की बात है कि यूरोपीय प्रभाव क अन्तर्मन एक एमी दुःख हीमी का निर्माण हो रहा है जिसमें परंपरागत बाब्यास-विन्यास के बजा आम्पायी रूप म गना-क-स्यों बन हुए हैं। स्वभावतः यह तथ्य केवल अत्यन्त परिष्कृत भाषाओं में ही दृष्टिमात्र होना है मराठी हिन्दी बंगाली। अस्तित्व भाषा क १० की गनाइकी क साहित्यिक प्रायोगिक रूपों के कुछ अच्छे उदाहरण हैं। मो० मेन 'बिगासी प्रौढ साहित्य' १८००-१८५७ म विमर्शे 'अमेरे पना बसठा है कि युग की शक्ति के सम्बन्ध में योज कितना मं' मनि मे की जा सकती है। एक प्रतिक्रिया मानने आनी है बंगाली बन्द-मे-बन्द एक एमी भाषा है जो विनयी समृद्ध है उन्नती हो लक्ष्यी होने क बहुत निकट है। विनु दर एक अणवार है।

उपसंहार

भारतीय प्रायः भाषाओं में अविनाशित संस्कृत और साथ ही फ़ारसी से अनेक भाषों ग्रहण करने वाली अत्यन्त परिष्कृत भाषाओं में एक अत्यन्त समृद्ध सम्भावनी मिलती है जो यूरोपीय भाषाओं के समान है किन्तु उनमें सूक्ष्म भेद और मनोवैज्ञानिक संयोजन की उद्यती ही समृद्धि नहीं मिलती। क्योंकि एक वीरवासीय संस्करण वृत्तियों पर होते हुए भी बिरोपक रोमन समुदाय के विकास की दृष्टि से भारतवर्ष में संस्कृति न तो यथेष्ट मात्रा में परिवर्तनशील रही है, और न इतने यथेष्ट रूप में प्रसारित रही है कि सार्वभौमिक भाषा प्रत्यकारों की रचनाओं से काम उठाती तथा प्रत्यकारों की भाषा जन-जीवन से प्रेरणा ग्रहण कर अधिक विकसित होती भाषा और संस्कृति में पार्श्वक्य रहा।

हमें यह बतया जाता है कि उस समय देगी प्राथमिक पाठशालाएँ थीं किन्तु कोई भी यह कहने का साहस न करेगा कि इन पाठशालाओं में यूरोप की भाँति वह भी बान्धव में अपेक्षाकृत हास ही से भाषाओं का उनकी समृद्धियों तथा बारीकियों का अध्ययन होता था। संस्कृत ही एक ऐसी भाषा थी जिसका प्रत्येक युग में अध्ययन हुआ वह अल्प-अल्पक लोगों तक सीमित थी और ज्ञान तथा परिष्कृत विचारों के प्रचार का एकमात्र साधन थी। आधुनिक साहित्यों की प्राथमिक सामग्री क्या है? संक्षिप्त तथा दुष्प्राप्य मराठी अभिज्ञानों आदि दर्शन राजपूत तथा बंमाली पत्रों एक या दो पद्यत्मक व्यावहारिक गीत-वाक्यों के संग्रहों को छोड़ कर, वह बीर-नाम्न अथवा भक्ति या मोक्ष-प्रवर्धन वाक्य के रूप में है कुसीकों तथा जनसाधारण के मिय मिलित वे रचनाएँ ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का प्रायः प्रचार नहीं करतीं अहाँ तक उनका संबंध ब्राह्मण साहित्य में है वह उनके अन्त-परिचयन के लिये है, न कि उसका स्थान ग्रहण करने के लिये। जैसा कि पीछ बताया जा चुका है कुछ साहित्य संस्कृत पर आधारित मिलने हैं किन्तु वे परिष्कृत अभिज्ञान-वर्ष तक सीमित थे मराठी गीत-नाम्न की भाषा बर्धमानस नाटकों की प्रायः उनके विपरीत जनसाधारण की भाषाएँ हैं जो भाषा ही सरल न प्रसारित थीं अहाँ तक वैशाखी में विहित बुहणभा से संबंध है उनके जा पाठों में अल्प उपमस्य हैं न दस बात का प्रमाण नहीं देते कि वह साहित्य रचना थी। उन मात्र भाषों का दण्ड हुए, तो ब्रह्मणस की भाषाएँ मिलती नहीं हैं ? अतः एक

अभिप्रायों में जिनमें बाध्य-विन्यास कट्टर या और कुछ हद तक बौद्ध तथा जैन धर्म नियमों से संबंधित ग्रन्थों में जो कमजाहो स सबजिन अपवा माधारण हैं और जहाँ तक सम्कृति से उनका संबंध है वे संस्कृत में लिखित सम्कृति से सम्बद्ध हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इतने बिलुप्त जन-समुह और निम्न स्तरों में प्रचलित होने पर, भारतीय-आर्य भाषा जो वैदिक और ब्राह्मण ऋषियों के अंतर्गत भारतीय के इतिहास में उसी समय विविध रूप में परिष्कृत हो गयी थी अपना परिष्करण खो देती है और, यदि यह कहा जा सकता है अमस्कृत हो जाती है। क्या उस पर और यनीरतापूर्वक मोक्षने और उसका मूल्यांकन करने पर कम-से-कम कुछ विस्तार से यह दृष्टिगोचर नहीं होगा कि जनसमुह ने जिनसे सम्कृत मीनी अपवा अत्यधिक समान बौद्धियों व तथा इनके अनिश्चित उनके साथ निरन्तर मनुक के प्रभाव से उस प्रभावित किया ?

सिन्धु की प्रागैतिहासिक सम्प्रदाय को ता छाड़ बीबिए, और अब तक वहाँ की भाषा भी अज्ञात है। सीमान्तवर्तिनी यह सम्यता निम्नग्रह भाषों के भारतीयमन के समय ही पवित्र हो चुकी थी—उत्तर में पञ्जाब के उपजाऊ भूमि भागों में मजा भक्ति। यह भाव नहीं है कि इस भूमि-भाग के जिन निवासियों पर भाषों व अपना प्रमुख स्थापित किया तथा इनसे भी अधिक मुम्किल से यह भाव है कि बाद में उन्होंने जिन भाषों व साथ समयके स्थापित किया।

इन लोगों का संबंध जन-समुह के उस भाग से स्थापित करने का प्रयत्न होगा है जो उस समय तक स्थापित भाषों के भूमि-भाग के चारों ओर बसे हुए थे और जिनकी भाषाएँ जन भी जीवित थीं। इन भाषाओं में से केवल निम्नगी नागड में पहुँचती है जो भाषा बुद्धास्त्री नाम से मानी जाती है। क्या यह कुछ ऐसे रूप्य प्रदान करती है जो तुम्हारा ही समय तक रहे? इनमें अभी और प्रतीत हानी है। अविज्ञ भाषाओं और मुग्धा भाषियों पर ध्यान से यह भाव होता है कि वे वास्तविक भारतीय-आर्य भाषा के संबंध में थीं।

अविज्ञ भाषा इस प्रायद्वीप के दक्षिण में और बन्धुविस्तार के छोड़े से भूमि-भाग में है। मुग्धा गया के मैदान और पश्चिम में महात्त गिरि-माण्डों की चार त्रिवेणी सहानक नदियाँ बनी गयी हैं। उस महात्तरी के मुग्धाने के बीच छात्र-नागपुर के पठार में बौद्धा जाती है।

अपवा एसा प्रतीत होता है कि इस प्रायद्वीप में भाषों से पहले कम-से-कम दो बार बाहर की शक्तियाँ आयीं। एक जो अविज्ञ प्राचीन प्रतीत हानी है और जिनकी उन्नति भी लोग परिष्कृत से खोजने का चयन करने मान्य हाने है। अविज्ञों की हानी

दूसरी मुष्ठा समूह की जिसकी भाषाएँ हिन्द-चीन की मोन्-जुमर से संबंधित प्रतीत होती हैं, अन्यथा पैसा कि कुछ छोटे भेगना चाहत हैं जिनका संबंध उसी विभाग में और दूर की भाषाभाषा से है। इन दो समुदायों के संबंध में अप्रत्यक्ष रूप से भी प्राचीन काल के सिधे हम कुछ नहीं कह सकते किन्तु इधर हाल में इतिहास में उनका भेग बहुत मिश्र रहा है। द्रविड़ भेग सम्य है और इसकी सन् से पहले ही। तमिल-भाषियों ने भू-मध्य सागर की ओर समुद्री व्यापार द्वारा समुद्र राज्य स्थापित किये और कम-से-कम आसिक रूप में मौलिक परिष्कृत साहित्य का जन्म दिया। इसके विपरीत मुष्ठा भेगों के संबंध में मुरिकल ही से कोई समस्या है तथा आयुनिब जाति-विज्ञान ने सम्य भारत के किनारे किनारे कम-से-कम तीस लाख मनुष्यों के छोटे-छोटे समुदायों के रूप में उनका महत्त्व और अस्तित्व स्थापित किया है। इन दोनों समुदायों की भाषाभाषा में उनके भारतीय-आर्य भाषा के साथ स्थापित सम्पर्क के प्रमाण मिलते हैं यह बात इस कारण भी बहाली जाती है कि आर्यों के आक्रमण से पूर्व से ही भेग उत्तर भारत में निवास करते थे।

एक ऐसे प्रागैतिहासिक भारत की बड़ी सरलता के साथ कल्पना की जा सकती है जिसमें द्रविड़ भेग अपने से पहले के तथा बाद के भेगों की भाँति सिन्धु की निम्न घाटी में गुजरात में और दक्षिण के समुद्री राज्यों में निवास करते थे और जिस भारत में मुष्ठा भेग गया नहीं द्वारा सिंचित भूमि-भाग में और पंजाब के निम्न हिमाचल प्रदेश में निवास करते थे। दोनों सम्यताओं के बीच पंजाब के रेतीले भूमि-भाग और गंगा तथा ब्रह्मपुत्र के बीच के पठार का पार्यवय था और उनमें एक ओर मालवा के निकट, और दूसरी ओर समभवत् पूर्व की तरफ सम्पर्क था। बाद को द्रविड़ भेग धीरे-धीरे दक्षिण की ओर हटा दिये गये। एक विकसित सम्यता की बाह्य भाषाओं की प्रतिरोध शक्ति के बिना आज तक बने हुए हैं (तुस० मराठी और उड़िया में इस सम्पर्क के बिना, वे० पीछे)। मुष्ठा भेग को एक ऐसी सम्यता के विरुद्ध संघर्ष करने की क्षमता नहीं रखते थे जिससे करब तम्बार और बौद्धिक श्रेष्ठता की पठार के भीतरी भागों में कटेड़ दिये गये। किन्तु दोनों समुदाय आर्यों के उच्चारण तथा व्याकरण पर अपना प्रभाव छोड़ गये हैं और उनकी शब्दावली समुद्र कर गये हैं।

कुछ हद तक यह अनुमान ठीक प्रतीत होता है। तो भी यह भ्रम जाने की बात नहीं है कि उत्तर भारत में कुछ भाषाओं के कुछ पूर्णतः नष्ट हो सकते हैं। किन्तु इसके प्रमाण के संबंध में भारी कठिनाईयाँ होंगी। दोनों भेगों का काष्ण-व्यवधान बहुत अधिक है। यद्यपि संकेतित भाषाओं की प्राचीन स्थिति लगभग अज्ञात है। द्रविड़ भाग में साहित्यों द्वारा मुरक्षित अपभ्रंशित प्राचीन अप्रकृत रूप मिलते हैं तथा इसके

अतिरिक्त ऐसे रूप मिलते हैं जो पुनर्निर्माण के अन्त प्रदान करने की दृष्टि से समष्टि मिश्र हैं। मुख्य भाग में नापाएँ, जहाँ तक बचाव है हमारे अन्तर्निहित तन्त्रों के सामने या तो बहुत अधिक या बहुत कम मिश्र हो जाता है। कदाकत कुछ व्यापुनिक प्रमाण मिलते हैं और हिन्दू-धर्म की बालिया पर आधुनिक समय में अब भी बहुत कम निरिच्छत है।

ता भी हमें समस्या की वास्तविक स्थिति समझने की शक्ति करनी चाहिए।

स्यानाय नामों से संबंधित जिन्होंने यूरॉप का प्रागैतिहासिक भाषाशास्त्र में इतनी बहुमुख्य भाग प्रदान की है, का अन्ती सम्बन्ध नहीं हुआ। श्री एम० एच० न उत्तर भारत के प्राचीन भाषाओं के कुछ ऐसे नाम बताते हैं जो सुन्दर हैं और जो मॉन्ट्रो-एथिमाटिक की याद दिलाते बाकी प्रणाली से सम्बन्ध रखते हैं (पुस्तिका-मुद्रिका कोमल-लोसक कस्मिन्-विभिन्न प्रकार) श्री प्रिंशोपस्की का अनुसन्धान करके हुए, उनमें पञ्जाब के उदुम्बर तथा आंध्र का मातर्कणी ब्रह्म (ब्रह्मिष्ठ जनममूह ? दे० जे० ए-एम० १९०६ I पृ० २५ अ आर० ए० एम १९२९ पृ० २३३) भी जोड़ देना चाहिए। इसमें बिना किसी कठिनाई के यह स्पष्ट किया जा सकता है कि सम्बन्धित शब्दावली के कुछ तत्त्व मुख्य बोलियों के कारण हो सकते हैं। अन्य के अनिश्चित या प्रिंशोपस्की से कुछ पौषों के नाम प्रस्तुत किए हैं (५ 'प्री-एग्जिन ऐंड प्रा-प्री-ब्रिंशोप इन् इटिया' पी० सी० बागशी द्वारा अनुसृत) ताम्बूल कदम्ब-मीर शब्दों में ही भारतीय इष्टु का स्थान ग्रहण करने वाला बाग और मीर शब्द (इस "मन्त्र" उद्देश्य और सीमा भारतीय हैं किन्तु कीर्तन में एक विद्यगीतन भी है)।

इसरी ओर, सर्वश्रेष्ठ सम्बन्ध और सम्बन्धीय भारतीय भाषा को सम्बन्धित के कुछ तत्त्व एम हैं जो भारतीय से अज्ञात हैं किन्तु जिसके लिये ब्रह्मिष्ठ भाषा में सम्बन्ध मिलते हैं। बेशक में ही कुछ उदाहरण लिये गए शब्द देवता का प्रमाणन होता है। श्च० उदुम्बर-अमरं-मुसल श० आ० मन्त्रीय एक तन्त्र (गणक ?) का नीर या बाद को पुनर्क हो गया प्रतीत होता है ही से अज्ञात प्रमाणित नाम।

य तथा अन्य निश्चित की बातें जो स्मृत्याधिक मनन हैं यह प्रमाणित करनी दृष्टि योग्य है कि कार्य तथा अन्य भाषाओं में कुछ आदान प्रदान हुआ या किन्तु इनके पास न तो शक्ति-रूप है और न शक्ति-व्युत्पत्ति-सम्बन्धी प्रमाण है जिसके आधार पर यह निश्चित हो सकता है कि ये भाषा-संबन्धी अनुशासक के ही से जो हमें ज्ञान है और फिर किन-किन भाषाओं का आगमन हुआ ? एवं उदाहरण भी मिलते हैं जिसके अन्त में यह नहीं कहा जा सकता कि उनका मूल दोनों कुत्ता में से (हा ही तब अन्त का सीमित रखना हुआ) सिद्ध स्पष्टि करके शक्ति, न यही ज्ञान होता है कि किम में यह उपाय सिद्ध

गया क्योंकि अधिक कुशल आर्य भाषा ने "देवी" भाषाओं पर जोरों से धावा बोल दिया था।

दो बातें तो भी कही जा सकती हैं

एक ओर तो सप्ताकी की उच्चारण की सरसरी परीक्षा यह प्रदर्शित करती है कि उसका हिन्दी के बिछपत बंगाली और उड़िया के कुछ रूपों के साथ अनिष्ट और हास का सम्बन्ध है। विपयस्त रूप में बंगाली में ही और प्राचीन बंगाली में सर्वप्रथम चटर्जी और बायजी ने मुग्धा और आर्य भाषाओं का एक नवीन संबंध खोज निकाला है। अस्तु कुछ समय के लिये ही ऐसा प्रतीत होता है कि मुग्धा से आर्य भाषा द्वारा तत्त्वों का किया जाना बीच के काल में बन्द हो गया होगा और बालिक प्रघासकीय तथा आधिक्य कारणों से अब फिर शुरू हो गया है।

इतिहास उसके प्राचीनतम ज्ञात रूप से जहाँ तक सम्बन्ध है प्राचीन तमिल साहित्य में संस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा से लिये गये शब्दों की काफी संख्या है। आधुनिक युग में आर्य भाषाओं द्वारा इतिहास भाषाओं से लिये गये एक प्रकार से आर्य शब्द पश्चिमी भाग के प्रतीत होते हैं (उदा० बी. एच० बी० एच० V पृ. ७४२)। ब्रह्मरी और संस्कृत में प्रवेश पा गये कुछ शब्द आधुनिक भाषाओं में बने नहीं रह सके। इससे ऐसा विश्वास होता है कि सम्पर्क एक प्रकार से पश्चिम की ओर रहा होगा कहना चाहिए आर्य शब्द की अपेक्षा मालवा में क्या यह गौरवपूर्ण उम्बेनी की जो उस भूमि-भाग का केन्द्र थी जहाँ यह बौद्धिक आराधन प्रधान हुआ?

यद्यपि ऐसा भले ही हुआ हो सप्ताकी का आवान प्रदान ही केवल जो निश्चित है अन्य प्रकार की बातों की दृष्टि से समझना प्रकट करता है। इन संभावनाओं का उपयोग करते और उन्हें स्वीकार करते हुए हम कह सकते हैं कि मुग्धा और इतिहास उन लोगों की भाषाएँ रही होंगी जिन्हें आर्य भाषा ग्रहण करनी पड़ी। अब देखना यह है कि स्वयं आर्य भाषा पर उनका प्रभाव कहीं तक पड़ा।

सर्वप्रथम ध्वनि-मात्र के परिवर्तन-क्रम ने भाषा में जो परिवर्तन उपस्थित किया उससे जन-समूह का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। और, वास्तव में व्यंजनों की प्रमाणी में परिवर्तन उपस्थित करने की दृष्टि से एक प्रभाव अपेक्षित महत्त्वपूर्ण रहा। भारतीय आर्य भाषा में व्यंजनों का एक वर्ग है उससे भाषा के पूर्ववर्ती भाग में उच्चरित व्यंजनों की जाड़ा की जाती है। प्राचीनतम संस्कृत में वे जो हैं जो वास्तविक व्यंजनों की जाड़ा की जाती हैं। यदि इन दोनों के उद्गमों का जोड़ना संभव किया जाय तो वैदिक भाषा में गौण रूप से निकले हुए अस्तित्व-व स्वर-सम्पन्न से मानने का प्रकोपन होता है और आधुनिक भाषाओं के एक महत्त्वपूर्ण समुदाय में -स्-स्वर-सम्पन्न से। किन्तु इतिहास भाषा

में है जो मुग्धा में नहीं है। दूसरी ओर है का भौगोलिक विभाजन महत्वपूर्ण प्रतीत होता है (मिथी के अतिरिक्त जिसमें रू है मुख्यतः) पश्चिमी बोलियों को छोड़ कर उड़िया में जो इतिहास प्रथम म लगी हुई पूर्व की जाती है वह है। हमें इन्टर क अनुमान का महत्व कम हो जाता है जिसकी पूर्व की धार फँसते समय मुग्धा में भारतीय-भाष की भाँति एक प्राचीन ध्वनि-भाष बन ही जाती चाहिए।

यहाँ तक दस्यों और मूर्धियों के विभाजन से सबब है यह देना या चुका है कि उनमें प्रागैतिहासिक कार्य ध्वनि-ध्वनि के कारण प्रारम्भ में हुए परिवर्तन की एक शृंखला के साथ अनुकूलता और नियमित रूप आता है।

भारतीय-भाष भाषा की ध्वनि प्रणाली की एक विषय बात है महाप्राय स्वरों का अतिरिक्त। किन्तु मुग्धा में अन्तर्गत कर्म-म-कर्म मुग्धा के अन्तर्गत समुदाय में (मोक्ष उनमें नहीं है) महाप्राय है इतिहास में वे नहीं हैं। इस बात को पिछली बात म निम्न रैन की दृष्टि से इस बात के ज्ञान का साम गठाय या मकता है कि वैदिक-रू का स्थान कर्षणीक संस्कृत में -इ ग्रहण कर लेता है और हमें इतिहास प्रभाव के बाद मुग्धा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। मुग्धा द्वारा मचाये जान के मुद्दापले इतिहास ही महाप्रायों की प्राचीन प्राणाय की तत्त्व करने में मयेत् न होनी। हमें अतिरिक्त यह स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है कि इतिहास में उनका सामन अतिरिक्त कर्षणीक मूनि भाषा में यहाँ देनी प्रभाव प्रभावित किये जाने साम्य नहीं है और बलविमान (यहाँ बलपूर्वी बोली में हाल के कुछ महाप्राय है) में फँसने समय महाप्राय सुप्त हो गये होंगे।

यह विवेक स्वयं स्वयं की बात है कि महाप्रायों की परिस्थिति यहाँ नहीं थी जो दस्यों की थी। पहलों का वेकल गठान रजा अब कि दस्यों को पहल ही में बाधात पहुँचा और उनकी ही उनमें परिवर्तन का प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। भाषाओं का प्रभाव अनुकूल परिस्थिति के बिना उत्पन्न नहीं होगा। यही कारण है कि जान भाषा किसी भी प्रकार में पाद नहीं दिताती के चाहे मुग्धा की विपदा के मूलक अन्तर स्फोटक हों (अन्तर स्वर) चाहे इतिहास भाषा के तात्कालिक स्वरों का सम हो। या अन्य प्रभाव ऐसे जा सकते हैं के आनुकूल और पूरक स्थानिय हैं। एम समकाल में मराठी और तेलुगु में ध्वनि (यु)ए (बु)ओ का अनुकूल स्वर-भाव (नगण्य और व में नी भात) अथवा नगणी-भाष भाषा में तत्काल तथा बुद्ध इतिहास भाषाओं में बुद्ध पुष्क हो गयीं मुग्धा बोली में अ ओ भाष ही उस पूर्व तात्कालिक का स्थान हो जाता। अनुकूल तेलुगु के स्वर-वर्षी साम्य और संघापी तथा संघापी की प्रवृत्ति ध्वनि का भी निरन्तर से देना साम्य है।

इन प्रमाणों को छोड़ कर, एक और समानता की ओर ध्यान देना आवश्यक है जिसके बिना प्रतिपादित विषय स्पष्ट न हो सकता।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में जो एक यह विद्योपता मिलती है कि व्यञ्जन-समुदायों का उच्चारण करना कठिन होता है यही विद्योपता द्रविड़ में भी मिलती है। आपस्तम्ब के श्रौत सूत्र में असृष्ट म बोड़ का एक नया नाम वृष्टिगोचर होता है। 'गो' जो निरिपत रूप में अक्षर का स्थान ग्रहण कर लेता है। इस उच्चारण लिये गये दाण्ड से (किस भाषा में?) 'गु' प्रकार की कल्पना की जा सकती है जो मुग्धा की दो छोटी-छोटी बोटियों के रूप में भी वृष्टिगोचर होता है। छोटा कुर्ता गद्दक शूजा आदि जो निस्सम्बद्ध द्रविड़ से लिये गये हैं। क कठोरत्व से यही निष्कर्ष निकलता है। स्वयं द्रविड़ में एक बार तमिल कुदिरै, कन्नड कुदुरे है। दूसरी ओर तेलेगु गुरमु अस्तु, आय भाषा की भाँति स्वर संबंधी आगम अथवा समुदाय का समीकरण। इसी प्रकार गंधे के नाम श्रु० गर्भ के सामने—काकी निरुट—तेलेगु गारिडे तमिल कम्बेइ किन्तु कन्नड कलठे कर्ते मिलते हैं। कुछ तमिल कुदड़ "बबा" तेलेगु गुड् कन्नड कुड् तमिल कन्नड इ तेलेगु गड् कन्नड गडडे [प्रसववध यह बेसा जा सकता है कि कठोर और आदि मुलर (गोप) ध्वनियों की अनियमित प्रतिक्रमता से प्रागैतिहासिक द्रविड़ भाषा में महाप्राय म्बन्वो के अस्तित्व की बात सोची जा सकती है]।

यह संसर्ग केवल संयोगवत् ही मुदिक्रम से हो सकता है। किन्तु यदि उन भाषाओं में समानान्तर बाँटे हैं, तो क्या मध्यकालीन बाँटे भी नहीं हैं?

उनका समय कुछ भी हो यह प्रकृति भारतीय-आर्य भाषा की भाँति द्रविड़ भाषा में भी इसर के युगों की प्रतीत होती है। इस प्रकृति का महाकाव्यात्मक और मनु द्वारा ज्ञात पुण्यवाचक नाम द्रविड़ के और उसे अक्षरों कि समवत् केवल उच्चारण किया गया हो इतिहास में प्राचीन प्रमाण उपलब्ध करने का सोम होता है। मन्वया व्युत्पन्न (ती घ) की शास्त्रिका में दिमिरीस (Dimirice) पाली महावध में (पौ० द०) दमिळ और प्राचीनतम तमिल व्याकरण में तमिल मिलता है। किन्तु कौन कह सकता है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा में बीच की स्थिति नहीं थी?

तमिल में स्वर-मध्यग स्पर्श ध्वनियों मुलर (गोप) हो जाती हैं (तथा उस हालत में उनका शोष्मीकरण हो जाता है) किन्तु मध्यकालीन भारतीय भाषा से उसका संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता। कुमारिल ने सातवीं सताब्दी में ही कठोर शब्दों का उल्लेख किया है, तथा इसके अतिरिक्त परिवर्तन द्रविड़ भाषा में सर्वत्र नहीं पाया जाता।

यह देना जा सकता है कि संस्कृत के प और ओ केवल ध्वनियों हैं। किन्तु धीरे-धीरे इन

स्वरों में दो मात्रा-काल उत्पन्न हो जाते हैं अर्थात् ए तथा ओ इतिङ और मुष्ठा में ह्रस्व मा दीर्घ हो जाते हैं। किन्तु ऐसा एक अत्यन्त सामान्य तथा पहले से दिखायी पड़ने वाले लक्ष्य द्वारा हो जाता है जिससे कोई अन्य निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता सिवाय इसके कि दीर्घ शब्दों में प्राचीन दीर्घ ए तथा दीर्घ ओ के सामान्य ह्रस्वीकरण में कोई स्थानीय बाधा नहीं थी।

इस सब बातों में केवल जिसका मूर्खान्तों से संबंध है वह निश्चिन्ता है। आभार के अन्य चिन्तों को बिछेपत इतिङ आभार को बूझना ठीक होगा।

क्योंकि इतिङ माया ही है जिसमें कार्य माया की बहुत-सी समान बात मिलती है तथा ये साम्य जितने अभिकाशत गीण है उतने ही महत्त्वपूर्ण।

शब्द में पर प्रत्ययों के लगाने का निरन्तर प्रयोग और उपसर्गों (पुनः प्रत्ययों) तथा मध्यवर्ती प्रत्ययों का अभाव (आर्य माया से जहाँ तक समव है, सोप) जो मुष्ठा में प्रचलित है समुदाय में उपसर्गात्मक शब्दों और पूर्व-क्रियाओं का अभाव (सोप) भी ऐसा ही है। रूप-रचना में मुष्ठा में प्रचलित द्विवचन का अभाव (सोप)। संज्ञाओं में द्विगुण विकरण बिकृत विकरण में सबभ० का भाव की प्रकृति होने और म्युनाबिक वास्तविक अर्थ से हीन शब्दों का अनुसरण करने के कारण दो विकरणा वाले पुरुषवाचक सर्वनाम : कर्त्ता० वाले और मुख्य तथा गीण कर्म कारक वाले (मुष्ठा में केवल एक विकरण)।

क्रिया में मामजात रूप तथा परिवर्तनशील लिंग के तीन पुरुष क्रियामूलक विद्यमान का अस्तित्व (मुष्ठा में नहीं है) जो वाक्यांश के संयोजन में और धीमेगता अथवा व्याकरण-संज्ञी भाव वाले संपुक्त या मिश्र वाक्यावली की उत्पत्ति में महत्त्वपूर्ण भाग लेता है। सिंहवी क्रिय अ० अणिदि म० म्हुन्त् मे० बहूजिये बगामी बोस्मिया का लमिल ऐन्ड तेनेयु मणि कन्नड एन्ड "कह सेन पर" से स्पष्टीकरण करने के लिये साम्य है यह साम्य केवल दक्षिण की इतिङ मायाओं द्वारा प्रमाणित है, कुरुप गी ड में मुष्ठा की भाँति बहु नहीं है (इस संबंध में भी सोरा मुष्ठा-समुदाय से अलग रहती है दे० आर० बी राममूर्ति १७९)। अनुमान की बात है किन्तु इससे एसी अन्य बातों की तुलना करने के लिये प्रोत्साहन मिलता है जिसके लिये दक्षिण की मायाएँ महत्त्व पूर्ण हैं।

जहाँ तक तुलनीय अभिप्रेतनाओं से तथा उदाहरणार्थ द्विवचन-मुष्ठा तथा प्रतिष्ठा (दे० पीछे) शब्दा से संबंध है, इतिङ मायाओं के समस्त कृष्ण में मरम्मा पूर्वक एक सूची बनायी जा सकती है।

मकारात्मक बातें भी हैं कमवाच्य उपपद तुलना की शक्ती का अभाव। किन्तु

कहाँ पूर्वोन्मिश्रित बातें कुछ सिद्ध हो सकती हैं ये कुछ भी सिद्ध नहीं होती विशेषतः इतिहास और मुण्डा में अज्ञात बर्णों का आर्य भाषा में सुरक्षित रहने की बात पर ध्यान रखना होगा एक ओर संबंधनाशक तथा सर्वनाशक वाचयोग दूसरी ओर विशेषण लब्धवा अन्य उच्चारण से साम्य रखने वाली समा कभी-कभी प्रयोगबद्ध यह पूछा जा सकता है कि क्या वेणी भाषाओं में विशेषण के मात्र वाले अभ्ययी विकरणों का अस्तित्व आर्यों की साहित्यिक भाषाओं के समाओं के नाम के लिये नहीं है। हर हालत में स्वामीय प्रमाण दृष्टिगोचर होता है मराठी उड़िया सिन्धी में अपने-अपने ऋष से इतिहास 'संबन्धवाची कृदन्त' वाक्य-विन्यास के अनुकूल हो गया है कोई रचना हो उसमें अपरिवर्तनीय विशेषण म कर्ता कारक कर्ता की ग्रहणशीलता रहती है।

इसने महत्वपूर्ण और कुछ बातों में इतने निरिक्त साम्य होना पर ही भारतीय-आर्य भाषा का विनाश अस्वाभाविकता की सीमा पर नहीं पहुँच जाता। आर्य भाषा का ईरानी के साथ केवल संस्करण देखना है जिसमें श्राव स्वामीय प्रमाण विशेष प्रकार के हैं किंग का सोप एक एने आचार का अनुमान करता है जो भारतीय आधार से भिन्न है।

दोनों क्षेत्रों में जैसा कि देखा जा चुका है अत्यधिक प्रमुख अंतर ध्वनि क्रम का है। यदि ईरानी के आकृति-विज्ञान पर विचार किया जाय तो विशेष्य अपरिवर्तनीय हो कर (भारत की कुछ भाषाओं में ऐसा है) तुलना के लिये उपयुक्त नहीं रहता किन्तु विशेषण का वर्ग बना रहता है सर्वनामों में विकृत विकरण के सामान्यीकरण का प्रतिरूप भारत में मिलता है प्रभाषी का सबसे बड़ा अंतर यह है जिसके अंतर्गत बाब में आने वाले विशेषण की भाँति प्रमुख प्राचीन संबंधनाशक का अभाव आता है (यह इबाधत है, जो भारत में उर्वू में है)। क्रिया में भारत की भाँति ही प्राचीन वर्तमान का और भूत कृदन्त का विरोध किया रूप में प्रमुख स्वागत रहता है सर्वनाममूलक रूप को सम्बद्ध कर देने और सहायको के योग के अपने-अपने प्रतिरूप भारत में हैं।

दूसरी ओर भाषा-रंजाओं की सीमार्थों का एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में अतिरूप यह प्रकट करता है कि उनके मौलिक संबंध वास्तव में छिन्न-भिन्न नहीं हो जाते। हमें और स्पष्ट रूप से देख लेना चाहिए

दोनों समुदायों में 'ह' का प्रयोग विस्तृत एक-सा नहीं है अज्ञानी (अज्ञात) तथा बसूषी में उसका ह्रस्व स्वर बनता है जब कि अशोक के अभिलेखों के अंतर पश्चिमी समुदाय में इस बात का प्रमाण मिलता है कि कुछ भारतीय शक्तिओं में उसका उपयोग स्वर-+इ की भाँति था।

अज्ञानी और बसूषी में पूर्वोन्मिश्रित हैं। जिनका संबंध अज्ञानी और बसूषी

स है उन पर दूसरे रूप में विचार किया जा सकता है। वास्तव में हम जानते हैं कि ये बोलियाँ बाहर से आयीं और भारतीय सभ्यता ने इन क्षेत्रों में प्रवेश कर लिया था। जस्तु, -तो मुक्त बन्धी क्रियामूलक विद्येय्य तुल० स० -खा और अछान्नी बन्धी तथा विद्वा का -अथ मुक्त प्रेरणात्मक भारत से लिये गये हैं। इस प्रकार पूर्वी ईरान में भारतीय आधार का प्रभाव देखा जा सकता है जिन्ही भाषाएँ समस्त इसी भूमिमाय से निकलती हैं और साथ ही इससे उनकी कुछ ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताओं और शब्दावली का मिलना य बातें स्पष्ट हो जाती हैं (उदाहरणार्थ अछान्नी और जिन्ही-भाषा लसूँ हि० छाणी स० यष्टि । इन्ही कारणों से अछान्नी में सप्तयार्थमूचक (सद् सकार) और तुलनात्मक का अभाव बताया जा सकता है।

सू और सूँ बन्धी की सीमा भारत में नहीं रह जाती जैसे पिछले समय में अगोत्र की उत्तर-पश्चिम और ह० दुबु० की बोलियाँ वर तथा यूरप की जिन्ही-भाषा (एधि याई जिन्ही भाषा भारत के साथ सम्बन्धी हैं) में प्राचीन शब्दों की ध्वनियाँ सुरक्षित रहती हैं कर्मीटी और सिधी में सूँ हूँ होता जाता है और सूँ सूँ हा जाता है सूँ सूँ हा जाता है, जैसे ईरानी में। ईरानी में भी मिलने वाले एक सूत्र के अनुसार कर्मीटी में पहले बने वाले स्वरों पर धिन् ध्वनि हावी होते हुए देखा जाता है (दे० पीछे)। अछान्नी अथवा "भाठ" में भारतवर्ष में एक महाप्राय की भाषा की जाती है किन्तु ध्यान देना चाहिए कि सूँ बना रहता है।

वाङ्मय का तालम्यों को दन्त्य रूप प्रदान करना प्रिय है प्राचीन काल से ईरानी विद्येयता का चिन्ह।

लरोपी लिपि में लिखित युरोपिय युग के अभिलेखों में प्राचीन काल में भारतीय शोध के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है, दे० पीछे वर में यह बात भी है। दूसरी ओर महाप्राय का अल्पप्राचीकरण या रोप भारत में नहीं-नहीं मिलता है दरि और पञ्जाबी (पहले महाप्रायत्व एक स्वर-सम्बन्धी मुर छाह जाता है) में ईरानी की भाँति सामान्य है। प्रयोगवत् यह जान लेना चाहिए कि पूर्वी बन्धी में कुछ शब्द ही में उत्तर महाप्राय हैं।

कुछ बातें बातों शत्रु में से एक में भी सामान्य हुए दोनों पक्षों का सीमान्त में अलग कर देता है इन प्रकार सूँ जो स्वतंत्र रूप में अस्तित्व और भारत की "प्राकृत" भाषियों में सूँ प्रदान करता है किन्तु रोप ईरान में तथा भारत के पश्चिम का प्रायः भाषियों में सूँ [अगोत्र० स्यमु (स्वम्) ह० दुबु० विरर (विरर) अमित्य बस्यमिरि लिस् मिरि]।

आधुनिक काल तक ईरानी में सूँ हो गया भाषि-सूँ रोप ईरान में मिलता है यह

पश्चिमी भारत में भी बना हुआ है, जब कि पूर्व की ओर वह इ हो जाता है। बीच के समय में स्वर-मध्यग -इ से -ई- का प्रयोग ईरान के उत्तर-पूर्व और भारत के उत्तर पश्चिमी भागों में (अफ़ग़ानिस्तान में) समान रूप से होता है, जहाँ वह जिप्सी भाषा से सम्बद्ध हो जाता है।

रूप-विचार की दृष्टि से यह देखा जा सकता है कि मध्यभाषक य जो भारतपूर्व में बना रहता है और अत्यधिक महत्व ग्रहण कर लेता है उत्तर-पश्चिम और जिप्सी भाषा से नहीं है जैसे ईरान में नहीं है। क्रिया में सभनाममूलक पर प्रत्ययों का प्रयोग भारतपूर्व में ईरानी सीमा की ओर स्वामीय हुआ जाता है। दूसरी ओर भारतीय सीमा की ईरानी भाषाओं में सभयार्थमूलक (सद्-सभार) नहीं है। अफ़ग़ानी बसूची तथा बीच की ओमिया में दो विकारों वाली एक नामदात प्रणाली है। फ़ारसी और कुर्द में केवल एक रूप है। यह अन्तर, जो विकास की सापेक्षिक तीव्रता के कारण हो सकता है, स्वभावतः पहले भाषा की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण है।

उत्पत्त्यात् चन्द्रबली की बातों को कुछ महत्व प्रदान करना भी उपयुक्त है। अब भी दर्श में प्रचलित स० 'सी' के तुल्य रूप की बसूची में (सैर्ज) अनुरूपता मिलती है। मूल से अफ० मद् परसी मद् की अनुरूपता है (सै० मीरवीन्सटिएन 'एनी० बोक० ऑफ़ पस्तो' पृ० ४८)। धी तदस्को ने सोवियत में सिबी सीम् का सादृश्य देखा है तथा सिबी सीम् (स० स्पम्) कुइ (स० कुम्) तथा प्राचीन ईरानी में अर्ब-विचार संबंधी सादृश्य देखा है (सी० एल० एक० XXXIII पृ० ११४) इसी प्रकार धी टर्नर ने बताया है कि सिबी बच् अफ़ग़ानी बन की भाँति 'पे' का अर्थ देता है संस्कृत बन का यह अर्थ वेदों के बाद क्लृप्त हो गया था। प्राचीनतम वैद्याकरणों ने ही काम्योक्त में सैम् 'जाना' के अस्तित्व की ओर संकेत किया है तुल० पु० फ़ा० सिंपद् अ० सैरद् सोवियत सैम् (संस्कृत में मही धातु स्पद् रूप धारण कर लेती है और एक दूसरे अर्थ में धारण करती है)। निश्चित रूप से अन्व एमे ही साधुय है और उनसे निस्सन्देह आधिक रूप में यह झट होता है कि पूर्व और दक्षिण की ओर फ़ैसले पर संस्कृत चन्द्रबली में गवीनता आयी किन्तु प्रत्येक युग में उच्चारण क्रिये गये अर्थों को अन्व करना कठिन है। वैदिक द्वार जिसमें आदि महाप्रणव दृष्टिगोचर होता है संभवतः, वैया कि धी इरतेस ने संकेत किया है एक ईरानी सवर है। इतिहास ने वास्तव में दो सम्प्रदायों में एक स्वामी सपरक स्थापित और कार्यान्वित होने में सहायता प्रदान की है। एक दूसरे से ग्रहण किये जाने की जिस प्रवृत्ति का यहाँ संकेत हुआ है वह इस बात से और भी सुगम हो पड़ी कि दोनों देशों के अर्थों की ध्वनि-संबंधी प्रणाली एक-दूसरे के बहुत निकट है तथा निस्सन्देह हमारी चन्द्र-अनुत्पत्तियों का एक भाग ऐस अन्व-

परिवर्तनों की सरलतापूर्वक गमना नहीं करता जो ठीक है, किन्तु जो ऐतिहासिक दृष्टि से निम्न सिद्ध होते हैं।

अस्तु, इस प्रकार स्थायीय प्रभाव चाहे नितने महरे रहें हों उनसे नारणय की आर्य भाषा ईरान की आर्य भाषा से वास्तव में अलग नहीं हो गयी तथा अन्य भारतीय भाषाओं से बहुत अधिक भिन्न नहीं हो गयी भारतीय-ईरानी की साम्प्रतिक साहित्य संस्कृत का सम्मान पश्चिम से ऐतिहासिक सम्बन्ध फ़ारसी का प्रभाव एक ही अय म कार्यान्वित हुए हैं। निस्सन्देह अंगरेजी के प्रभाव ने न केवल साम्राज्यी में किन्तु वाक्य-विन्यास में भी भारतीय अनुदाय और भारत की परिप्लुत भाषाओं के बीच संबंधों को एकत्रय और भी अधिक दृढ़ करने में सहायता पहुँचायी है।

पारिभाषिक शब्द-कोश

हिन्दी-अंगरेजी

अंत	Desinence
अंत का	Terminal
अंतरंग स्फोट	Implosion
अंतरंग स्फोटक	Implosive
अंतर्भूत स्वयंबाधी	Inclusive
अंतर्धी	Intermediary Internal
अंतस्थ	Liquid
अंत्य रूप	Termination
अंत्य बंध	Apocope
अपा अर्धी भाषा	Degree
अकर्णक भाववाचक क्रिया	Impersonal
अकर्णक बभवाच्य	Impersonal Passive
अकर्णक	Intransitive
अकर्मक विकरण	Intransitive Theme
अ-क्रियामूलक	Non-verbal
अक्षरपरमक	Syllabic
अघापम	Prothesis
अपोष	Surd
अपोषत्व	Surdity Unvoicing
अचेतन	Inanimate
अतिरिक्त	Redundant
अतिशयता तीव्रता उत्कण्ठता	Intensity
अतिशयकारक, उत्कर्षमूचक	Intensive
अतीत काल	Pretense

अवर्धन	Elision
अधिकरण कारक	Locative
अनघटन मूत सातत्यार्यक मूत	Durative Past
अनन्वित उभयन्ता (विशेषण)	Absolute Superlative
अनन्वित संबन्ध कारक	Absolute Genitive
अनासिक्य	Denasalised
अनियमित क्रिया	Irregular Verb
अनिर्धारण	Indetermination
अनिश्चयवाचक	Indefinite
अनिश्चित क्रियार्थ भेद	Eventual Mood
अनिश्चितता	Eventuality
अनुकूल रूप	Adaptation
अनुकूलता समानता	Apposition
अनुकूलत्व अनुकूल रूप	Adaptation
अनुशास्त्रात्मक	Conclusive
अनुनासिक	Nasal
अनुनासिकताबिहीन अनासिक्य	Denasalised
अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय	Nasal Infix
अनुबन्धता योग	Adjunction
अनुमतिबोधक	Permissive
अनुमान	Hypothesis
अनुमेकत्व-मञ्जति	Orthography
अनुसर्प	Postponition
अनेकाक्षर	Polyryllable
अपनिहित	Epenthesis
अपरिवर्तनीय विकरण	Non-alternant Theme
अनन्वय समुदाय	Multiple Group
अपभ्रुति	Ablaut
अनादान	Ablative
अपूर्ण घटनान	Imperfect
अपूर्व या घटमान कृत्वा रूप	Imperfect Participle

अप्राण तासम्भ्य	Non aspirate Palatal
अभिनिवान	Elision
अभिव्यञ्जक	Expressive
अभिव्यञ्जक रूप	Expressive Form
अमूर्त	Abstract
अमूर्तत्व	Abstraction
अवयवार्थ	Unreal
अवयवार्थ संभाष्य	Unreal Conditional
अर्थ-विचार-सबधी	Semantics
अर्थानुसृत कर्ता	Logical Subject
अर्ध-स्वर	Semi vowel
अस्यमापीकरण	Deaspiration
अल्पार्थक	Diminutive
अवदत्त व्यंजन	Checked Consonant
अवरोध	Obstruction
अदन्त्यावर्था या स्वानवाची पर प्रत्यय	Suffix of Position
अ-विहरणमुक्त	A thematic
अच्यय	Indeclinable
अच्यय कर्त्ता उपसर्प	Preposition
असमापिका	Conjunction, Conjunctive
असमापिका क्रिया	Infinite Verb Conjunctive
	Participle
असमापिका (धातु)	Infinitive
असम्भ्र भूत	Pluperfect
अनाधात्	Indirect
असावर्ण्य	Dissimilation
अस्तित्वमूचक क्रिया	Verb of Existence
आवृत्ति-विचार, रूप-विचार	Morphology
आगम	Augment
आगम निवेश	Insertion

आगम संयोग	Affixation
आघात स्वरित हीना	Accentuation
आभार्य	Imperative
आदरसूचक	Honorific
आदरार्थं संभावक प्रकार	Optative
आदर्श	Norm
आदि या मूल या प्रथम स्वरपाठ	Initial Accent
आदि शब्द	Premier Term
आदेशार्थ	Injunctive
आरम्भिकताबोधक	Inceptive
आर्य प्रयोग	Archaism
आवृत्ति	Frequency
आवृत्तिमूलक	Anaphoric
आवृत्तिबाला	Redoubled
आशीर्वाहारमक	Precative
आश्रयसूचक क्रियार्थ भेद	Mood of Subordination
आश्रित	Dependent Subordinate
आश्रित वाक्य-योजना	Subordination
आश्रित वाक्य-संयोजक	Subordinating
आस्रसिद्ध ध्वनि	Recursive
इच्छार्थक	Desiderative
उच्चरित	Articulated
उच्चारण	Articulation
उत्कर्षता	Intensity
उत्कर्षसूचक	Intensive
उत्कीर्ण लेख	Epigraph
उदात्त	Acute
उदासीन लपुंसक लिंग	Neuter (Gender)
उदासीनता दुर्बलता भाषा	Neutralisation

उपपद उपसर्ग	<i>Article</i>
उपसर्ग	<i>Affix, Article, Preposition</i>
उपसर्गरिभक्त शब्दयुक्त कर्म प्रवचनीय उपसर्ग शब्द शब्दयुक्त स्त्री उपसर्ग उपसर्ग पूर्वसर्ग	<i>Preposition</i>
स्वप्नत्व खोकर स्पर्श में परिणति	<i>Mute</i>
एक-मूलक निप्रार्थी दो शब्दों में से एक युग्मक	<i>Doublet</i>
एकस्मिता	<i>Accord</i>
एकांतरकरण	<i>Alternance</i>
एकाक्षरत्व	<i>Monosyllabic</i>
एकीकरण	<i>Unification</i>
ऐतिहासिक वर्तमान	<i>Historic Present</i>
भौष्म	<i>Labial</i>
भौषम्य सादृश्य	<i>Analogy</i>
कंठशारीर	<i>Glottal</i>
कंठ्य	<i>Guttural</i>
कंठ्यीष्म	<i>Labio-Velar</i>
कंपन	<i>Vibrations</i>
कठोर	<i>Solid</i>
कठोर, अघोर	<i>Surd</i>
कठोरत्व अघोरत्व	<i>Surdity</i>
करण-कारण	<i>Instrumental</i>
कर्त्ता	<i>Subject</i>
कर्त्ता कारक	<i>Nominative</i>

कर्तुं कारक	Subject Case
कर्तृवाची	Agent
कर्तृवाची क्रिया	Active Verb
कर्तृवाची संज्ञा	Noun of Agency
कर्तृवाच्य	Active
कर्तृवाच्य कृदन्त या क्रियामूलक विरो पद्य	Active Participle
कर्तृ० पूर्ण०	Active Perfect
कर्तृवाच्य वर्तमानकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विधेयण	Active Present Participle
कर्म कारक	Accusative, Regime, Objective (Regime)
कर्मणि	Passive
कर्म प्रवचनीय उपसर्ग	Preposition
कर्मवाच्य कर्मणि	Passive
कर्मवाच्य-गत विकरण या मूल रूप	Passive Theme
कादलावात	Stroke of Glottis
कादस्य	Glottal
कारक	Case
कार्य का न्यायानुसूक्त कर्ता	Logical Subject of Action
कार्यवाची संज्ञा	Noun of Action
कृदन्त	Primary Suffix
कृदन्त क्रियामूलक विधेयण	Participle
कृदन्त-विरोध्य (संज्ञा)	Participle-Substantive
कृदन्ती	Participial
कृदन्ती काळ	Participial Tense
कृदन्ती गुणवाचक विधेयण	Participial Epithet
कृदन्ती विकरण या मूल रूप	Participial Theme
कोमल	Sonant
क्रिया की रूप-रचना	Verbal Flexion
क्रियावात मूल	Verbal Radical

क्रिया-नाम	Verbalisation, Mood
क्रियानुसङ्ग	Verbal
क्रियामुसङ्ग प्रत्यय	Verbal Desinence
क्रियामुसङ्ग बतमान	Verbal Present
क्रियामुसङ्ग विद्यापय	Participle Verbal Adjective
क्रियामुसङ्ग विद्याप्य	Gerund Gerundive
क्रियामुसङ्ग संज्ञा	Verbal Noun
क्रिया-रूप निश्चित प्रकार	Conjugation
क्रिया-विशेषण	Adverb
क्रिया-विशेषणानुसङ्ग	Adverbial
क्रिया-विशेषणानुसङ्ग कर्म कारक	Adverbial Accusative
क्रिया-विशेषणानुसङ्ग पर प्रत्यय	Adverbial Suffix
क्रियार्थ-नेह	Mood
क्रियार्थ-भेद-रूप	Modal Form
क्रियायुक्त रूप	Verbal Form
क्रियार्थक संज्ञा पूर्वकालिक क्रिया	Infinitive
यासमापिका (बाहु) क्रियामुसङ्ग	
संज्ञा तुल्य	
क्रियामुसङ्ग संज्ञा	Infinitive
श्रीगता	Atrophy
सम	Group
शब्दपरक	Statical
गुणारोपन	Attribution
सुह	Long
गीग	Secondary
गीग अनाखान्	Indirect
गीग धातु	Secondary Root
गीग प्रत्यय	Secondary Desinence
गीग या विहृत संक्षिप्त	Secondary Abridgement

कर्तृ कारक	Imperfect Progressive
कर्तृवाची	Future Progressive
कर्तृवाची क्रिया	Present Progressive
कर्तृवाची संज्ञा	Spirant
कर्तृवाच्य	Sonore
कर्तृवाच्य इदंस्त या प्रि पय	Voicing
कर्तृ० पूर्ण०	Animate
कर्तृवाच्य वर्तः क्रियामूल	Living Subject
कर्म कारक	Scansion
कर्म	Talgane (Fr)
कर्म	Causative
कर्तृवच्य समास	Determinative Compound
कर्तृवच्य	Secondary Suffix
कर्तृवच्य (विशेषण)	Superlative
कर्तृवच्य	Palatal
कर्तृवच्यवाचीय	Prepalatal
कर्तृवच्य	Paradigm
कर्तृवच्य-अकारण	Conjugation
कर्तृवच्य	Intensity
कर्तृवच्य	Infinitive
कर्तृवच्य	Comparison
कर्तृवच्य (विशेषण)	Comparative
दीर्घ	Prolonged
दीर्घ गुह	Long
दीर्घ मात्रा	Long Degree
दीर्घ रूप	Long Form

दीर्घस्मृता	Elongation
दीर्घ भगी दीर्घ मात्रा	Long Degree
दुरूह	Complex
दुरूह परसर्प	Complex Postposition
दुर्बलता	Neutralisation
द्वन्द्व समास	Co-ordinative Compound
द्विस्यारमक	Dissyllabic
द्विकर्मक धातु-संबंधी	Factitive
द्वियु	Collective Compound
द्वियुज	Double
द्वियुजन	Gemination
द्वित्थ	Doubling
द्वित्थयुक्त पुनरावृत्त भावृत्तिबाला	Redoubled
द्वित्थयुक्त परिवर्तन-क्रम	Double Alternance
धातु	Root
ध्वनि-तत्त्व	Phonology
ध्वनि-भाष ध्वनि-धेनी स्वनधाम	Phoneme
ध्वनि-लौप	Haplogy
ध्वनि-धेनी	Phoneme
ध्वनि-संबंधी	Phonetic
नकारात्मक	Negative
नपुंसक लिंग	Neuter (Gender)
नामजात सामान्य	Nominal
नामजात पर प्रत्यय	Nominal Suffix
नामजात पूरक	Nominal Compliment
नामजात रूप	Nominal Form
नामजात रूप-रचना	Nominal Flexion
नामजात विवरण	Nominal Theme
नामजात विहित रूप	Nominal Oblique

नामधानु श्रेणीसूचक	Denominative
नाम प्रत्यय	Nominal Declension
नाश	Neutralisation
निकृता हुआ	Derived
निवृत्तवाचक	Reflective
नित्य	Primary
नित्य संबंधी	Co-relative
निपात	Particle
नियम	Formula
नियमित रचना	Regular Formation
निरंतरता बोधक	Continuative
निर्देशक	Definite
निर्देशक क्रिया-भाव	Indicative
निर्धारक महत्त्व	Determinate Value
निर्धारण	Determination
निर्धारित	Determined
निर्बल	Weak
निवेश	Insertion
निश्चयवाचक	Demonstrative
निश्चयार्थ निर्देशक क्रिया-भाव	Indicative
निश्चयार्थ वर्तमान	Definite Present
निश्चित	Definite
न्यायानुरूप या न्यायोचित या अर्थानुरूप कर्ता	Logical Subject
र्यून	Reduced
र्यूनत्व परिवर्तन प्रहासन	Reduction
पद	Term
पद-समष्टि	Phrase
पद-सत्प्रय (अपवा केवल प्रत्यय)	Suffix
परसर्ग अनुसर्ग	Postposition

परिवर्तन	Reduction, Alteration
परिवर्तन-रूप एकान्तरकरण	Alternance
परिवर्तनीय मूल	Alternant Radical
परिस्थितिसूचक कारक	Circumstantial Case
पदत्रयामी	Regressive
पुनरावृत्त	Geminated, Redoubled
पुनरावृत्ति (बोर देने के लिये) द्विगु	Gemination
पन यम	
पुनरावृत्तिमूलक	Iterative
पुनर्निमित्त रूप	Reflexion
पुरःप्रत्यय	Prefix
पुराषट्ठि	Perfect
पुराषट्ठि अतीत	Past Perfect
पुराषट्ठि कृदन्त पूर्ण कृदन्त	Perfect Participle
पुराषट्ठि भविष्य	Future Perfect
पुराषट्ठि वर्तमान	Present Perfect
पुरुष (उत्तम मध्यम प्रथम)	Person (First, Second Third)
पुस्तकवाचक	Personal
पुस्तकवाचक क्रिया	Personal Verb
पुरोगमन	Progression
पुरागामी	Progressive
पुरोगामी सामान्यीकरण	Progressive Normalisation
पूरक	Complement
पूर्ण	Absolute
पूर्ण पुराषट्ठि	Perfect
पूर्णकारी	Perfective
पूर्ण कृदन्त	Perfect Participle
पूर्ण (या अनन्वित) तमबन्ध (विशेषण)	Absolute Superlative
पूर्ववाचोपद	Completive
पूर्ण संबंधकारक अनन्वित संबंधकारक	Absolute Genitive

पूर्व	Anterior
पूर्वकालिक कृदन्त	Absolutive
पूर्वकालिक क्रिया	Infinitive
पूर्व क्रिया	Preverb
पूर्व-प्रत्यय-संबन्धी	Pre-desinential
पूर्वसर्ग	Preposition
पृच्छाबरोबर प्रस्नोत्तर	Interpellation
प्रकार, क्रियार्थ-श्रेय क्रिया मात्र	Mood
प्रकार-विषयक	Modal
प्रगतिबोधक घटमान पुरोगामी	Progressive
प्रगृह्य	Hiatus
प्रतिम्बनित शब्द	Echo-Word
प्रत्यक्ष	Direct
प्रत्यक्ष रूप में	Directly
प्रत्यय बन्त	Desinence, Suffix
प्रत्ययांत	Enclitic
प्रथम	Initial
प्रथम स्वर	Cardinal Vowel
प्रभाव	Rection
प्रयोगार्थक	Tentative
प्रवेशसूचक वर्तमान	Ingressive Present
प्रश्नवाचक या प्रश्नसूचक	Interrogative
प्रश्नोत्तर	Interpellation
प्रहासन	Redaction
प्राचीन वर्तमान	Ancient Present
प्रासागम	Aspiration
प्रातिपदिक	Radical
प्रातिपदिक संज्ञा	Radical Noun
प्राथमिक	Primary
प्रारम्भिक क्रिया	Inchoative Verb
प्रेरणापरक धातु, विभक्त	Causative

प्रेरकार्थक धातु-मूलक संज्ञा	Causative Noun
पुस्तपुस्त्याहट वाली ध्वनि	Whispered
बंधन	Obligation
बंधनबाध या बंधनसूचक	Adjective of Obligation
बल	Reinforcement, Accent
बलाभास	Stress, Accent
बहुपदी समुदाय अपवर्त्य समुदाय	Multiple Group
बहुव्रीहि	Compound of Appurtenance
भविष्यत्कालिक कृदन्त	Future Participle
भाववाचक अमूर्त	Abstract
भाववाचकत्व अमूर्तत्व	Abstraction
भाववाचक क्रिया	Impersonal
भाववाचक संज्ञा	Abstract Noun
भावे प्रयोग	Neuter Participle
भाषा-रेखा सभ्य-रेखा	Isogloss
भूतकालिक क्रियामूलक रूप	Past Verbal Form
भूतकालिक या अतीतकालिक कृदन्त	Past Participle
या क्रियामूलक विशेषण	
भूत संभाव्य	Past Conditional
भंग	Dull
मध्य कृदन्त	Middle Participle
मध्यवर्ती	Interior
मध्यवर्ती अन्तर्वर्ती	Intermedlary
मध्यवर्ती परिवर्तन क्रम	Internal Alternance
मध्यवर्ती प्रत्यय	Infix
मध्यवर्ती महाप्राण (हकार-सुभ्र)	Interior Aspirate
मध्यवर्ती समानता	Internal Apposition

मध्य स्पर्श	Mi-occlusive
महत्त्व	Value
महाप्राण	Aspirate
महाप्राण तात्पर्य	Aspirate Palatal
मात्रा	Degree
मात्रा-काण्ड	Quantity
मात्राकाण्डिक	Quantitative
मिथ्य यौगिक संयुक्त	Periphrastic
मिथ्य संयुक्त पुरुह	Complex
मुञ्जर	Sonore
मुञ्जरा	Sonanty
मुख्य निर्देशक या निर्दिष्ट	Definite
मुख्य मूल शाखात् प्रत्यय	Direct, Proper
मुख्य कर्म कारक	Direct Regime
मुख्यत्	Directly
मुख्य प्रत्यय	Primary Desinence
मुख्य या निर्देशक उपसर्ग या उपपद	Definite Article
मूर्धन्य	Cerebral
मूर्धन्यत्व	Retroflexion
मूल	Initial Direct
मूल प्रातिपदिक	Radical
मूल प्राथमिक, नित्य	Primary
मूल का स्वरान्तक बंध	Vocalic Degree of Radical
मूल क्रिया	Radical Verb
मूल धातु	Primary Root
मूल या प्रातिपदिक संज्ञा	Radical Noun
मूल रूप में शाखात् रूप म प्रत्ययसंख्य म	Directly
मुख्यत्	Postposition of Origin
मूलबाला परसर्ग	Radical Theme
मूल विकरण	Radical Vowel
मूल स्वर	

मूळ स्वर-प्रकृति	Radical Vocalism
मूल्य	Value
मौलिक	Simple
मौलिक काल	Simple Tense
यथार्थ	Real
यम	Gemination
युग्म	Couple
युष्मक	Doublet
योग या संयोग उपस्थित करना	Agglutinate
योग समुच्चयबोधक असमापिका संभाव्य	Conjunction or Conjunctive
योगारम्भक	Agglutinating
योगिक	Periphrastic, Derivated
रचना	Composition, Formation
रूपमात्र	Morpheme
रूप-रचना	Flexion
रूप-विचार	Morphology
रुमु	Short
रुद्र-रुकार	Aorist
रुम-परिवर्तन	Modulation
रुपात्मक	Rhythmic
रुहडा	Tone, Intonation
रुग	Gender
रुप्य समुच्चयबोधक	Asyndet
रुचन-प्रगामी	Graphy
रुच-रुकार	Subjunctive
रुचौचित-संबंधी वर्तमान	Gnomic Present

वचन	Number
वर्ग	Group
वर्णनात्मक मूठ	Narrative Past
वर्ण-विपर्यय	Metathesis
वर्तमान	Present
वर्तमानकालिक वृद्ध या क्रियामुक्त विशेषण	Present Participle
वर्तमान विकरण या मूठ रूप	Present Theme
वर्तमान संभाव्य	Present Conditional
वाक्य-रचना	Syntax
वाक्य-विचार	Syntax
वाक्य-विन्यास वाक्य रचना वाक्य विचार	Syntax
वाक्य-विस्तार	Periphrase
वाक्योप या पद-समष्टि	Phrase
वाक्यों आदि का असम्बद्ध विन्यास	Parataxis
वाच्य	Voice
विकरण	Theme
विकरण-मुक्त	Thematic
विकरण-मुक्त रूप-रचना	Thematisation
विकरण-मुक्त स्वर	Thematic Vowel
विकल्प	Alternative
विचार	Variation
विद्वत कर्म कारक	Oblique Regime
विद्वत कारक	Oblique Case
विद्वत रूप	Oblique
विद्वत रूप-संबंधी मूल्य	Oblique Values
विद्वत संक्षिप्त	Secondary Abridgement
विच्छेद	Hlatus
विद्वतापूर्व वैकल्पिक	Facultative
विशेष	Predicate

पारिभाषिक शब्द-कोश

विधेयात्मक	Predicative
विधेयात्मक पर प्रत्यय	Predicative Suffix
विपर्यस्त	Inverse
विप्रकष स्वर-भक्ति	Anaptyxis
विभाजक	Disjunctive
विद्यमान	Stop
विधेयवाची या प्रतिदेवक क्रिया-विधायक	Adversative Adverb
विकृति विच्छेद प्रपञ्च	Hiatus
विवचन-सूचक क्रियार्थ-भेद	Mood of Deliberation
विधेय	Forse
विधेयम	Adjective, Epithet
विधेयमज्ञात या विधेयमज्ञी रूप-रचना	Adjectival Flexion
विधेयमज्ञीयक शब्द	Epithet
विधेय्य संज्ञा	Substantive
विधेय्यकरण मसाबन्धनं वीरूप्य	Assimilation
विस्तार	Extension
वीरूप्य	Facultative
वीरूप्यक सामान्यीकरण	Facultative Normalisation
व्यंजन-संबंधी विकरण या मूळ रूप	Assimilation
व्याकरण का प्रत्यय शब्द-रूप शब्द	Consonantal Theme
रूपवर्धी	Accidence
व्याकरणगत कर्ता	Grammatical Subject
व्याप्ति	Enlargement
व्युत्पत्ति	Derivation
व्युत्पन्न	Derived
व्युत्पन्न रूप	Derivative
वाह्यर ध्वनि	Hissing Sound
वाक्यताबोधक	Potential
वाक्य, पद	Term

सद्व-बाहुस्य मुक्त, स्वायिक	Pleonastic
सद्व-रूप	Inflexion
सद्व-रूपावली	Accidence
सद्व-रेखा	Isogram
सद्व-भ्युत्पत्ति सद्व-भ्युत्पत्ति-शास्त्र	Etymology
सद्व-स्य	Syllable
सिन्-भ्यति	Sibilant
सूय	Zero
सूय पर-प्रत्यय	Zero Suffix
सूय प्रत्यय	Zero Desinence
सूय रूप	Zero Form
सूय श्रेणी	Zero Degree
श्रेणी	Degree
श्रेणी-सूचक	Denominative
श्लेष पर	Amphibology
पठ्ठी तत्पुरुष	Possessive Compound
संज्ञित चिन्ह	Notation
संक्षिप्त	Gnomical
संक्षिप्ति	Abridgement
संज्ञा	Noun, Substantive
संज्ञा-रूप सुबन्त प्रकरण	Declension
संज्ञा-रूप-योग्य	Declinable
संघ्यधर	Diphthong
संप्रदान	Dative
संबन्ध	Appurtenance, Alliance
संबन्ध कारक	Genitive
संबन्धवाचक	Relative
संबन्धवाचक क्रियाविशेषण	Relative Adverb
संबन्धवाचक सर्वनाम	Relative Pronoun

पारिभाषिक शब्द-कोश

संबंधवाची कृदन्त
 संबंधवाची क्तकृदन्त (विशेषण)
 संबंधवाची विशेषण
 संबंध-सूचक संज्ञा
 संबद्ध
 संबोधन कारक
 संभावक प्रकार
 संभावनात्मक विशेषण
 संभाव्य
 संयुक्त
 संयुक्त क्रियापद
 संयुक्त (या मिश्र) वाक्यावली
 संयुक्त-स्वर, सन्ध्यस्वर
 संयोग-रहित पद-क्रम वाक्यों का
 असंबद्ध विन्यास
 संयोजक
 संवृत
 संशयार्थसूचक, सेटु-अकार
 संहिति
 सकर्मक
 सकर्मक विकरण
 सकारणमकता
 सतततासूचक
 सतततासूचक वर्तमान
 सवस
 स-अविप्यच्
 समानता
 समान-वाक्य संयोजक
 समानार्थ्य
 समापिका क्रिया
 समास

Participle of Obligation
 Relative Superlative
 Adjective of Appurtenance
 Related (Parented) Noun
 Affixed
 Vocative
 Optative
 Adjective of Possibility
 Conditional, Conjunctive
 Complex Group, Periphrastic
 Compound Verb
 Compound Locution
 Diphthong
 Parataxis

Copula
 Closed
 Subjunctive
 Combination
 Transitive
 Transitive Theme
 Affirmation
 Durative
 Present Durative
 Strong
 Sigmatic
 Apposition
 Co-ordinating
 Co-ordination
 Finite Verb
 Compound

समीकरण	Assimilation
समुच्चयबोधक	Cumulative Conjunction, Con- junctive
समुदाय वर्ग संयुक्त गण	Group
स-युक्त भविष्यत्	Sigmatic Future
स-युक्त सामान्य बर्तित	Sigmatic Aorist
सरल क्रिया हुआ	Simplified
सरल या मौलिक काल	Simple Tense
सरल या सामान्य या मौलिक	Simple
सरलीकरण	Simplification
सर्वनामजात	Pronominal
सर्वनामजात प्रत्यय	Pronominal Suffix
सर्वनामजात विकरण	Pronominal Theme
सर्वनामजात विहृत रूप	Pronominal Oblique Case
सर्वनामजात विशेषण	Pronominal Adjective
सर्वनामीय या सर्वनामजात विशेषण	Pronoun-Adjective
सहायक (क्रिया)	Auxiliary
सांख्यिक	Statistic
साक्षात्	Direct
साक्षात् रूप में	Directly
सातत्यार्थक भूत	Durative past
साधारण	Normal
साधारण विकरण	Simple Theme
साहित यौगिक व्युत्पन्न निकसा हुआ	Derivative
साहित शब्द व्युत्पन्न रूप	
साहित बाहु, गीण धातु	Secondary Root
साक्षिभ्य	Juxtaposition
सामर्थ्यबोधक	Acquative
सामान्य	Nominal, Simple, Common, Normal
सामान्य (विशेषण)	Positive

पारिभाषिक शब्द-कोश

सामान्य बर्तीत सुद्ध-रुकार

सामान्य बर्तीत-संबंधी विकरण या मूल रूप

सामान्य कर्मवाच्य

सामान्यीकरण

सामासिक रूप

सिद्ध धातु मूल धातु

सुप्रत्यय उपसर्ग

सुबन्ध प्रकार

सुट, कट्टा

सूक्ष्म भेद

सूत्र नियम

सूत्र या कट्टाबत-संबंधी संक्षिप्त

सोप्य षय

स्वान-युति

स्वानवाची पर-प्रत्यय

स्वानीय नामों से संबंधित

स्वर्ग

स्वर्गता

स्फोट

स्फोटक ध्वनि

स्वर्गत बर्न, कोमल

स्वनप्राप्त

स्वर्गवाची

स्वर-प्रकृति या प्रणाली, स्वरीण्कार

प्रकृति स्वराभिति

स्वर-भक्ति विप्रकर्ष

स्वर भेदक चिह्न

स्वर-सम्पन्न

स्वर्गवर्गुली काकृत्य इन्द्रातीय

स्वर बर्न या राष्ठीय-सोप अर्धगन

अभिनिधान

Aorist

Aorist Theme

Medio Passive

Normalisation

Compound Form

Primary Root

Affix

Declension

Intonation Tone

Nuance

Formula

Gnomical

Spirant

Substitution

Suffix of Position

Toponomastic

Occlusive

Occlusion

Release

Explosive

Sonant

Phoneme

Inclusive

Vocalism

Anaptyxis

Diacritical Mark

Intervocal

Glottal

Elision

स्वर-संक्षि	Contraction
स्वर-संबंधी	Vocalic
स्वर-संबंधी परिवर्तन-क्रम या स्वरात्मक एकास्तरण	Vocalic Alternance (Fr)
स्वर-संबंधी प्रत्यय	Vocalic Derivance
स्वरघात	Pitch Accent
स्वरघात बल	Accent
स्वरघात-विहीन शब्दाद्य	Proclitic
स्वरत्मक एकास्तरण	Vocalic Alternance
स्वरत्मक विकरण या मूल रूप	Vocalic Theme
स्वरान्विति	Vocalism
स्वच्छि	Circumflex
स्वच्छि करना	Accentuate
स्वच्छि होना	Accentuation
स्वरीन्धार	Vocalism
स्वाधिक	Pleonastic
सुलभ	Causal

अंगरेजी-हिन्दी

Ablative

Ablaut

Abrdgement

Absolute

Absolute Genitive

Absolute Superlative

Absoiative

Abstract

Abstract Noun

Abstraction

Accent

Accentuate

Accentuation

Accidence

Accord

Accusative

Acquisitive

Active

Active Participle

Active Prefect

Active Present Participle

Active Verb

अपादान

अपभ्रुति

संक्षिप्ति

पूर्ण

पूर्ण संबंध कारक अनन्वित संबंध कारक

पूर्ण (या अनन्वित) तमबन्ध (विरोध)

पूर्वकालिक काल

भाववाचक अमूर्त

भाववाचक संज्ञा

भाववाचकत्व अमूर्तत्व

स्वरापाठ बल

स्वरित करना

भाषात स्वरित होना

व्याकरण का प्रारंभ शब्द-ज्य

शब्द-क्याबली

एकस्मिता

कर्म कारक

सामर्थ्यबोधक

कर्तृवाच्य

कर्तृवाच्य हस्त या क्रियामूलक विरोध

कर्तृ० पूर्ण०

कर्तृवाच्य वर्तमानकालिक हस्त

क्रियामूलक विरोध

कर्तृवाची क्रिया

Actual Present	वर्तमान काल
Acute	उदात्त
Adaptation	अनुकूलन, अनुकूल रूप
Adjectival Flexion	विशेषणजात या विशेषण की रूप-रचना
Adjective, Adjective Epithet	विशेषण
Adjective of Appurtenance (Possession)	संबंधवाची विशेषण
Adjective of Obligation	संबंधजात या बंधनसूचक विशेषण
Adjective of Possibility	संभावनात्मक विशेषण
Adjunction	अनुबंधता यौग
Adverb	क्रिया-विशेषण
Adverbial	क्रिया-विशेषणमूलक
Adverbial Accusative	क्रिया-विशेषणमूलक कर्म कारक
Adverbial Suffix	क्रिया-विशेषणमूलक पर-भारत्य
Adversative Adverb	विरोधवाची या प्रतिषेधक क्रिया- विशेषण
Affirmation	सकारात्मकता
Affix	सुप्प्रत्यय उपसर्ग
Affixation	आपम संयोग
Affixed	संबद्ध
Agent	कर्तृवाची
Agglutinate	योग या संयोग उपस्थित करना
Agglutinating	योगात्मक
Alliance	संबंध
Alteration	परिवर्तन
Alternance	परिवर्तन-क्रम एकान्तरकरण
Alternant Radical	परिवर्तनीय मूळ
Alternative	विकल्प
Amphibology	दोष पद
Analogy	धीरम्य सादृश्य
Anaphoric	आवृत्तिमूलक

पारिभाषिक शब्द-कोश

Anaptyxis
Ancient Present
Animate
Anterior
Aorist
Aorist Theme

स्वर-भक्ति विप्रकर्ष
प्राचीन वर्तमान
चेतन
पूर्व
सामान्य अतीत रुद्र-अकार
सामान्य अतीत-संबंधी विकरण या मूल

Apocope
Apposition
Appurtenance
Archaism
Article
Articulated
Articulation
Aspirate
Aspirate Palatal
Aspiration
Assimilation
Asyndet
A-thematic
Atrophy
Attribution
Augment
Auxiliary

अर्थ वर्ण-श्लेष
अनुकूलता समानता
संबंध
भाष प्रयोग
उपपद उपसर्ग
उच्चरित
उच्चारण
महाप्राग
महाप्राग तात्पर्य
प्राणायम (हकार) महाप्राणीकरण
समीकरण
कुप्त समुच्चयशेषक
अ-विकरणपुस्त
हीनता
पुनारोपण
भागम
सहायक (क्रिया)

Cardinal Vowel
Case
Causal
Causative
Causative Noun
Cerebral

प्रधान स्वर
कारक
हेतुक
प्रेतार्थक पाणु निवृत्त
प्रेतार्थक पाणुपुस्तक संज्ञा
मूलक

Checked Consonant	अबद्ध व्यंजन
Circumflex	स्वरित
Circumstantial Case	परिस्थितिसूचक कारक
Closed	संबुद्ध
Collective Compound	त्रिगु
Combination	संहिति
Common	सामान्य
Comparative	तुलनात्मक (विशेषण)
Comparison	तुलना
Complement	पूरक
Completive	पूर्णताबोधक
Complex	मिश्र संयुक्त कुरूह
Complex Postposition	कुरूह परसर्ग
Composition	रचना
Compound	समास
Compound Form	सामासिक रूप
Compound Locution	संयुक्त (या मिश्र) वाक्यावली
Compound of Appurtenance	बहुव्रीहि समास
Compound Verb	संयुक्त क्रियापद
Conclusive	अनुभारत्वात्मक
Conditional	संभाव्य
Conjugation	क्रिया-रूप तिङन्त-प्रकरण
Conjunction, Conjunctive	योग समुच्चयबोधक, असमापिका, संभाव्य
Conjunctive Participle	असमापिका क्रिया
Consonantal Theme	व्यंजन-संबंधी विकल्प या मूल रूप
Construction	रचना
Continuative	निरन्तरताबोधक
Contraction	स्वर-संधि
Co-ordinating	समान-वाक्य संयोजक
Co-ordination	समानाश्रय

पारिभाषिक शब्द-कोश

Co-ordinative Compound

द्वन्द्व समास

Copula

संयोजक

Co-relative

मित्य संबंधी

Couple

युग्म

Cumulative

समुच्चयबोधक

Dative

संप्रदान

Deaspiration

अल्पप्राणीकरण

Declension

संज्ञा-रूप सुबन्त प्रकरण

Declinable

संज्ञा-रूप-योग्य

Definite

मुख्य निर्देशक निर्दिष्ट

Article

मुख्य या निर्देशक उपसर्ग या उपपद

Definite Present

निश्चयवार्थ वर्तमान

Degree

बंध श्रेणी मात्रा

Demonstrative

निश्चयवाचक

Denasalised

अनुनासिकताबिहीन अनासिक्य

Denominative

नामपाठ, श्रेणीसूचक

Dependent

आश्रित

Derived

साधित पीनिक श्युत्पन्न निकलाहुवा

Derivation

श्युत्पत्ति

Derivative

साधित शब्द, श्युत्पन्न रूप

Desiderative

इच्छार्थक

Desinence

प्रत्यय बंध

Determinate Value

निर्धारक महत्त्व

Determination

निर्धारण

Determinative Compound

उत्पुट्य समास

Determined

निर्धारित

Diacritical Mark

स्वर-भेदक चिह्न

Diminutive

अल्पार्थक

Diphthong

संयुक्त-स्वर, संयुक्त

Direct

मुख्य मूल सादात्, प्रत्यय

Directly	मूळ रूप में, छायात् रूप में, प्रत्यक्ष रूप में मुख्यतः
Direct Regime	मुख्य कर्म कारक
Dijunctive	विभाजक
Disimilation	विपरीतकरण असावर्ण्य वैकल्प्य
Disyllabic	द्विपञ्चरत्मक
Double	त्रिपुन
Double Alternance	द्वित्वयुक्त परिवर्तन क्रम
Doublet	एक-मूळक भिन्नार्थी दो शब्दों से एक युग्मक
	द्वित्व
	मंड
	सतततासूचक
	अनघटन भूत सातरसार्थक भूत
Echo Word	प्रतिध्वनित शब्द
Elision	स्वर-वर्ज या अन्दाश-शेष, अवर्धन, अमिनिप्राण
	दीर्घरूपता
Elongation	प्रत्ययाद्य
Enclitic	व्याप्ति
Enlargement	अपनिहित
Epenthesis	उत्कीर्ण सेव
Epigraph	विशेषणबोधक शब्द
Epathet	शब्द-भ्रुत्पत्ति शब्द-भ्रुत्पत्ति-सास्त्र
Etymology	अनिश्चितता
Eventuality	अनिश्चित क्रियाबन्ध-वेद
Eventual Mood	स्फोटक ध्वनि
Explosive	अभिव्यञ्जक
Expressive	अभिव्यञ्जक रूप
Expressive Poem	विस्तार
Extension	

Factitive	द्विकर्मक वातु-संबन्धी
Facultative	बिधुतापूर्ण वैकल्पिक
Facultative Normalisation	वैकल्पिक सामान्यीकरण
Finite Verb	समापिका क्रिया
Flexion	रूप-रचना
Formation	रचना
Formula	सूत्र नियम
Force	बिधेय
Frequency	आवृत्ति
Future Participle	भविष्यत्कालिक कृत्य
Future Perfect	पुनश्चित्त भविष्य
Future Progressive	घटमान भविष्यत्
Geminated	पुनरावृत्त
Gemination	पुनरावृत्ति (बोर बेन के लिये) द्विमुचन यम
Gender	लिंग
Genitive	संबन्ध कारक
Gerund, Gerundive	क्रियामुक्त बिधेय्य
Glottal	स्वर-संज्ञमुक्ती काकस्य कंठशारीय
Gnomical	सूत्र या कहावत-संबन्धी संक्षिप्त
Gnomic Present	लौकोक्ति-संबन्धी वर्तमान
Grammatical Subject	व्याकरणिय कर्ता
Graphy	लेखन-प्रणाली
Group	समुदाय वर्ग संयुक्त मण
Guttural	कण्ठ्य
Haplology	ध्वनि-स्रोप
Hiatus	बिभृति बिच्छेद प्रमूह्य
Hissing Sound	सकार ध्वनि
Historic Present	ऐतिहासिक वर्तमान

Honorific	मादरसूचक
Hypothesis	अनुमान
Imperative	मात्रार्थ
Imperfect	अपूर्ण घटमान
Imperfect Participle	अपूर्ण या घटमान कृदन्ती रूप
Impersonal	अकर्तृक भाववाचक क्रिया
Impersonal Passive	अकर्तृक कर्मवाच्य
Implosion	अंतरंग स्फोट
Implosive	अंतरंग स्फोटक
Inanimate	अचेतन
Inceptive	आरम्भिकताबोधक
Inchoative Verb	प्रारम्भिक क्रिया
Inclusive	अन्तर्भूत स्वयंवाची
Indeclinable	अव्यय
Indefinite	अनिश्चयवाचक
Indetermination	अनिर्धारण
Indicative	निश्चयार्थ निर्वेद्यक क्रिया-भाव
Indirect	पीठ असाक्षात्
Infinitive Verb	असमापिका क्रिया
Infinitive	क्रियार्थक संज्ञा पूर्वकात्मिक क्रिया असमापिका (वास्तु) क्रियासूचक संज्ञा तुल्य
Infix	मध्यवर्ती प्रत्यय
Inflexion	एव्य-रूप
Ingressive Present	प्रवेशसूचक वर्तमान
Initial	प्रबाल मूल
Initial Accent	आदि या मूल या प्रबाल स्वरवाचक
Injunctive	आवेद्यार्थ
Insertion	आगम निवेश
Instrumental	करण कारण

Intensity	अतिशयता तीव्रता उत्कण्ठता
Intensive	अतिशयार्थक उत्कर्षसूचक
Interior	मध्यवर्ती
Interior Aspirate	मध्यवर्ती महाप्राण (हकार-युक्त)
Intermediary, Internal	मध्यवर्ती अन्तर्वर्ती
Internal Alternance	मध्यवर्ती परिवर्तन-क्रम
Internal Apposition	मध्यवर्ती समानता
Interpellation	पृच्छाबोध प्रस्नोत्तर
Interrogative	प्रस्नवाचक या प्रस्नसूचक
Intervocal	स्वर-मध्यग
Intonation	गुरु, सहा
Intransitive	अकर्मक
Intransitive Theme	अकर्मक विकरण
Inverse	विपर्यस्त
Irregular Verb	अनियमित क्रिया
Isogloss	भाषा-रेखा शब्द-रेखा
Iterative	पुनरावृत्तिमूचक
Juxtaposition	साक्षिष्य
Labial	बोध्य
Labio-Velar	कंठ्योप्य
Liquid	अंतस्य (इव वर्ण)
Living Subject	अवन कर्ता
Locative	अधिकरण कारक
Logical Subject	स्थायानुकूल या स्थापोचित या अर्था- नुकूल कर्ता
Logical Subject of Action	कार्य का स्थायानुकूल कर्ता
Long	दीर्घ मुह
Long Degree	दीर्घ अर्था दीर्घ भाषा
Long Form	दीर्घ रूप

Honorific	भादरसूचक
Hypothesis	धनुमान
Imperative	आज्ञार्थ
Imperfect	अपूर्ण घटमान
Imperfect Participle	अपूर्ण वा घटमान कृदन्ती रूप
Impersonal	अकर्तृक भाववाचक क्रिया
Impersonal Passive	अकर्तृक कर्मवाच्य
Implosion	अंतरंग स्फोट
Implosive	अंतरंग स्फोटक
Inanimate	अचेतन
Inceptive	आरम्भिकताबोधक
Inchoative Verb	प्रारम्भिक क्रिया
Inclusive	अन्तर्भूत स्वयंवाची
Indeclinable	अभ्यय
Indefinite	अनिश्चयवाचक
Indetermination	अनिर्धारण
Indicative	निश्चयार्थ निर्देशक क्रिया-भाव
Indirect	वीण असाक्षात्
Infinite Verb	असमापिका क्रिया
Infinitive	क्रियार्थक संज्ञा पूर्वकालिक क्रिया असमापिका (धातु), क्रियासूचक संज्ञा तुमन्त
Infix	मध्यवर्ती प्रत्यय
Inflection	ध्वज-रूप
Ingressive Present	प्रवेशसूचक वर्तमान
Initial	प्रधान, मूल
Initial Accent	आदि वा मूल वा प्रधान स्वरभाव
Injunctive	आदेशार्थ
Insertion	आगम निषेध
Instrumental	करण कारण

Intensity	बतिघायता, तीव्रता, उत्कर्षता
Intensive	बतिघायार्थक उत्कर्षसूचक
Interior	मध्यवर्ती
Interior Aspirate	मध्यवर्ती महाप्राण (हकार-युक्त)
Intermediary, Internal	मध्यवर्ती अन्तर्बर्ती
Internal Alternance	मध्यवर्ती परिवर्तन-क्रम
Internal Apposition	मध्यवर्ती समानता
Interpellation	पृच्छाबरोध प्रस्तोत्तर
Interrogative	प्रश्नवाचक या प्रश्नसूचक
Intervocal	स्वर-मध्यग
Intonation	सुर, सहजा
Intransitive	अकर्मक
Intransitive Theme	अकर्मक विकरण
Inverse	विपर्यस्त
Irregular Verb	अनियमित क्रिया
Isogloss	भाषा-रेखा शब्द-रेखा
Iterative	पुनरावृत्तिमूलक
Juxtaposition	सापिच्य
Labial	बोध्य
Labio-Velar	कंठ्योष्ठ्य
Liquid	संज्ञित (द्रव वर्ग)
Living Subject	चेतन कर्ता
Locative	अधिकरण कारक
Logical Subject	स्थापानुकूल या स्थापयित्त या अर्पण- नुकूल कर्ता
Logical Subject of Action	कार्य का स्थापानुकूल कर्ता
Long	दीर्घ युक्त
Long Degree	दीर्घ भेदी दीर्घ मात्रा
Long Form	दीर्घ रूप

Honorific	भाषरसूचक
Hypothesis	अनुमान
Imperative	आज्ञार्थ
Imperfect	अपूर्व घटमान
Imperfect Participle	अपूर्व या घटमान कृदन्ती रूप
Impersonal	अकर्तृक भाषबाचक क्रिया
Impersonal Passive	अकर्तृक कर्मबाध्य
Implosion	अंतरंग स्फोट
Implorative	अंतरंग स्फोटक
Inanimate	अचतन
Inceptive	आरम्भिकताबोधक
Inchoative Verb	प्रारम्भिक क्रिया
Inclusive	अन्तर्गुह स्वयंवाची
Indeclinable	अव्यय
Indefinite	अनिश्चयवाचक
Indetermination	अनिर्धारण
Indicative	निश्चयार्थ विशेषक क्रिया-भाव
Indirect	गौण असाक्षात्
Infinite Verb	असमापिका क्रिया
Infinitive	क्रियार्थक संज्ञा पूर्वकाञ्चिक क्रिया असमापिका (घातु) क्रियासूचक संज्ञा तुल्य
Infix	मध्यवर्ती प्रत्यय
Inflexion	शब्द-रूप
Ingressive Present	प्रवेशसूचक वर्तमान
Initial	प्रधान मूल
Initial Accent	आदि या मूल या प्रधान स्वराभाव
Injunctive	आदेशार्थ
Insertion	आगम निषेध
Instrumental	करण कारण

Intensity	अतिघनता तीव्रता उत्कर्षता
Intensive	अतिनायार्थक उत्कर्षसूचक
Interior	मध्यवर्ती
Interior Aspirate	मध्यवर्ती महाप्राण (हकार-युक्त)
Intermediary, Internal	मध्यवर्ती अन्तर्वर्ती
Internal Alternance	मध्यवर्ती परिवर्तन-रूप
Internal Apposition	मध्यवर्ती समानता
Interpellation	पृच्छावरीष प्रस्नोत्तर
Interrogative	प्रस्नवाचक या प्रस्नसूचक
Intervocal	स्वर-मध्यम
Intonation	सुर, लहजा
Intransitive	अकर्मक
Intransitive Theme	अकर्मक विकरण
Inverse	विपर्यस्त
Irregular Verb	अनियमित क्रिया
Isogloss	भाषा-रेखा शब्द-रेखा
Iterative	पुनरावृत्तिमूलक
Juxtaposition	साप्रिभ्य
Labial	ओष्ठ्य
Labio-Velar	कंठ्योष्ठ्य
Liquid	अंतस्थ (इव वर्ण)
Living Subject	चेतन कर्ता
Locative	अधिकरण कारक
Logical Subject	स्यायानुकूल या स्यायोचित या अर्था गुरुक कर्ता
Logical Subject of Action	कार्य का स्यायानुकूल कर्ता
Long	दीर्घ गुरु
Long Degree	दीर्घ श्रेणी दीर्घ भाषा
Long Form	दीर्घ रूप

Medio Passive	सामान्य कर्मवाच्य
Metathesis	वर्ण-विपर्यय
Middle Participle	मध्य कृदन्त
Mi-occhulve	मध्य-स्पर्श
Modal	प्रकार-विपर्यय
Modal Forms	क्रियार्थ-भेद-रूप
Modulation	रूप-परिवर्तन
Monosyllabic	एकाक्षरपरमक
Mood	प्रकार, क्रियार्थ-भेद क्रिया-भाव
Mood of Deliberation	विशेषनसूचक क्रियार्थ-भेद
Mood of Subordination	आत्मनसूचक क्रियार्थ-भेद
Morpheme	रूपमात्र
Morphology	आकृति-विचार, रूप-विचार
Multiple Group	बहुपदी समुदाय अपत्यर्थ समुदाय
Mute	ऊष्मत्व खोकर स्पर्श में परिचयि
Narrative Past	वर्णनारमक मूठ
Nasal	अनुनासिक
Nasal Infix	अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय
Negative	नकारपरमक
Neuter (Gender)	उदासीन मपुंसक क्रिय
Neuter Participle	भावे प्रयोग
Neutralisation	उदासीनता दुर्बलता नाश
Nominal	नामजात सामान्य
Nominal Complement	नामजात पूरक
Nominal Desinence	नाम प्रत्यय
Nominal Flexion	नामजात रूप-रचना
Nominal Form	नामजात रूप
Nominal Oblique	नामजात विद्धत रूप
Nominal Suffix	नामजात पर-मध्यय
Nominal Theme	नामजात विकरण

Nominative	कर्ता कारक
Non-alternant Theme	अपरिवर्तनीय विकारण
Non aspirate Palatal	अप्राप्य शाल्भ्य
Non-verbal	अ क्रियामुक्त
Norm	आदर्श
Normal	सामान्य साधारण
Normalisation	सामान्यीकरण
Notation	संकेत-चिह्न
Noun	संज्ञा
Noun of Action	कार्यवाची संज्ञा
Noun of Agency	कर्तृवाची संज्ञा
Nuance	सूक्ष्म भेद
Number	वचन

Objective Case (Regime)	कर्म कारक
Obligation	बन्धन
Oblique	बिभृष्ट रूप
Oblique Case	बिभृष्ट कारक
Oblique Regime	बिभृष्ट कर्म कारक
Oblique Values	बिभृष्ट रूप-संबंधी सूत्र
Obstruction	अवरोध
Occlusion	स्पर्शता
Occlusive	स्पर्श
Optative	आपराध संभावक प्रकार
Orthography	अनुसूचन-पद्धति

Palatal
Paradigm
Parataxis

Participial

शाल्भ्य
तिर
संज्ञा-रहित पर क्रम वाक्यों आदि
वा अमव्यय विन्यास
दृश्यते

Participial Epithets	कृदन्ती गुणवाचक विशेषण
Participial Tense	कृदन्ती काल
Participial Theme	कृदन्ती विकरण या मूल रूप
Participle	कृदन्त क्रियामूलक विशेषण
Participle of Obligation	संबंधवाची कृदन्त
Participle-Substantive	कृदन्त-विशेष्य (संज्ञा)
Particle	निपात
Passive	कर्मवाच्य कर्मणि
Passive Theme	कर्मवाच्य-नात विकरण या मूल रूप
Past Conditional	भूत संभाव्य
Past Participle	भूतकालिक या अतीतकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण
Past Perfect	पुरावटित अतीत
Past Verbal Form	भूतकालिक क्रियामूलक रूप
Perfect	पूर्व पुरावटित
Perfect Participle	पुरावटित कृदन्त पूर्व कृदन्त
Perfective	पूर्णकारी
Periphrase	वाक्य-विस्तार
Periphrastic	मिथ यौगिक संयुक्त
Permissive	अनुमतिबोधक
Person (First, Second, Third)	पुरुष (उत्तम मध्यम प्रथम)
Personal	पुरुषवाचक
Personal Verb	पुरुषवाचक क्रिया
Phoneme	ध्वनि-मात्र ध्वनि-श्रेणी स्वतन्त्र
Phonetic	ध्वनि-संबंधी
Phonology	ध्वनि-संज्ञ
Phrase	वाक्यांश या पद-समष्टि
Pitch Accent	स्वरवाह
Pleonastic	शब्द-बाहुल्य-मुक्त स्वाधिक
Pluperfect	अर्धपन्न भूत
Polysyllable	बनेकाक्षर

Positive	सामान्य (विशेषण)
Possessive Compound	पट्टी उत्पुङ्ग
Postposition	परसर्ग अनुसर्ग
Postposition of Origin	मूलभासा परसर्ग
Potential	सम्भवाभावक
Precative	आशीर्वात्मक
Pre-denuncial	पूर्व प्रत्यय-संबन्धी
Predicate	विशेष्य
Predicative	विशेष्यात्मक
Predicative Suffix	विशेष्यात्मक पर-प्रत्यय
Prefix	पुरःप्रत्यय
Premier Term	आदि शब्द
Prepalatal	तालव्याद्रीय
Preposition	उपसर्गात्मक अण्वय कर्म प्रवचनीय उपसर्ग अभ्यय स्त्री उपसर्ग उपसर्ग पूर्वसर्ग
Present	वर्तमान
Present Conditional	वर्तमान संभाव्य
Present Durative	सततासूचक वर्तमान
Present Participle	वर्तमानकालिक दृश्य या क्रियामुक्त विशेष्य
Present Perfect	पुटवृत्त वर्तमान
Present Progressive	घटमान वर्तमान
Present Theme	वर्तमान • विकरण या मूल रूप
Preterite	अतीत काल
Preverb	पूर्वक्रिया
Primary	मूल प्राथमिक नित्य
Primary Denuncence	मुख्य प्रत्यय
Primary Root	सिद्ध धातु, मूल धातु
Primary Suffix	द्विप्रत्यय
Proclitic	स्वराधातुबिहीन सम्बन्ध

Progression	पुरोपमन
Progressive	प्रगतिबोधक षटमान पुरोगामी
Progressive Normalisation	पुरोगामी सामान्यीकरण
Prolonged	दीर्घ
Pronominal	सर्वनामजात
Pronominal Adjective	सर्वनामजात विशेषण
Pronominal Oblique Case	सर्वनामजात विकृत रूप
Pronominal Suffix	सर्वनामजात प्रत्यय
Pronominal Theme	सर्वनामजात विकरण
Pronoun-Adjective	सर्वनामीय या सर्वनामजात विशेषण
Proper	मुख्य
Prothels	अप्रायम
Quantitative	मात्राकाञ्चिक
Quantity	मात्रा-काल
Radical	मूल या प्रातिपदिक
Radical Noun	मूल या प्रातिपदिक संज्ञा
Radical Theme	मूल विकरण
Radical Verb	मूल क्रिया
Radical Vocalism	मूल स्वर-पद्धति
Radical Vowel	मूल स्वर
Real	पञ्चार्थ
Rection	प्रमाण
Recursive	आवृत्तित इवनि
Redoubled	द्वित्वयुक्त पुनर्युक्त, आवृत्ति वाक्य
Reduced	स्यून
Reduction	स्यूनत्व परिवर्तन प्रहासन
Redundant	अतिरिक्त
Reflection	पुननिमित्त रूप

पारिभाषिक शब्द-कोश

Reflective	निबन्धात्मक
Regime	कर्म कारक
Regressive	पदसंगामी
Regular Formation	नियमित रचना
Reinforcement	बल
Related (Parented) Noun	संबन्धमूचक संज्ञा
Relative	संबन्धवाचक
Relative Adverb	सम्बन्धात्मक क्रिया-विशेषण
Relative Pronoun	संबन्धवाचक सर्वनाम
Relative Superlative	संबन्धवाची उच्चतम (विशेषण)
Release	रफ़ोट
Retroflexion	मूर्धन्यत्व
Rhythmic	समात्मक
Root	धातु
Scansion	उच्चार-मात्रा-मयता
Secondary	शीघ्र
Secondary Abridgement	शीघ्र या विद्वत् संक्षिप्त
Secondary Derivance	शीघ्र प्रत्यय
Secondary Root	साक्षित धातु, शीघ्र धातु
Secondary Suffix	तद्धित प्रत्यय
Semantic	अर्थ-विचार-संबन्धी
Semi-vowel	अर्ध-स्वर
Short	रुप
Sibilant	शिन्-स्वनि
Sigmatic	स-प्रतिष्यन्
Sigmatic Aorist	स-सुप्त सामान्य अतीत
Sigmatic Future	स-सुप्त प्रतिष्यन्
Simple	सरल सामान्य मीतिक
Simple Tense	सरल या मीतिक काल
Simple Theme	माधारण विहरण

Simplification	सरलीकरण
Simplified	सरल किया हुआ
Solid	कठोर
Sonant	स्वतंत्र वर्ण कौमल
Sonore	शोष मुसुर
Sonority	मुञ्जरा
Sonore Whispered	मुञ्जर फुञ्जुसाहृदवासी ध्वनि
Spirant	शोष्य वर्ण
Statical	गार्यर्थक
Statistic	सांख्यिक
Stop	विराम
Stream Accent	बसावाट
Stroke of Glottis	काकलावाट
Strong	सबळ
Subject	कर्ता
Subject Case	कर्तृ कारक
Subjunctive	संशयार्थसूचक सेद्-सकार
Subordinate	बाधित
Subordinating	बाधित वाक्य-संयोजक
Subordination	बाधित वाक्य-बोधना
Substantive	विशेष्य संज्ञा
Substitution	स्वान-युति
Suffix	पर-अत्यय (अथवा केवल प्रत्यय)
Suffix of Position	अथवाबाधी या स्वानबाधी पर-अत्यय
Superlative	तमवन्त (विशेष्य)
Surd	कठोर, अशोष
Surdity	कठोरत्व अशोषत्व
Syllabic	अक्षरपरक
Syllable	पञ्चाक्षर
Syntax	वाक्य-विन्यास वाक्य-रचना वाक्य विचार

Tentative	प्रयोगार्थक
Term	शब्द पद
Terminal	अंत का
Termination	अन्त्य रूप
Thematic	विकरण-युक्त
Thematic Vowel	विकरण-युक्त स्वर
Thematisation	विकरण-युक्त रूप-रचना
Theme	विकरण
Tone	सुट, लहजा
Toponomastic	स्थानीय नामों से संबंधित
Transitive	सकर्मक
Transitive Theme	सकर्मक विकरण
Trigane (Fr)	त्रिपिपी-माया
Unification	एकीकरण
Unreal	अव्यय
Unreal Conditional	अव्ययार्थ संभाव्य
Unvoicing	अधोपत्य
Value	महत्त्व मूल्य
Variation	विकार
Verbal	क्रियामूलक
Verbal Adjective	क्रियामूलक विशेषण
Verbal Desuence	क्रियामूलक प्रत्यय
Verbal Flexion	क्रिया की रूप-रचना
Verbal Form	क्रियापद रूप
Verbal Noun	क्रियामूलक संज्ञा
Verbal Present	क्रियामूलक वर्तमान
Verbal Radical	क्रियाशत मूल
Verbalisation	क्रिया-मात्र
Verb of Existence	अस्तित्वमूलक क्रिया

Vibration	कंपन
Vocalic	स्वर-संबंधी
Vocalic Alternance (Fr)	स्वर-संबंधी परिवर्तन क्रम या स्वरारम्भक एकाग्ररथ
Vocalic Degree of Radical	मूल का स्वरारम्भक अंश
Vocalic Desinence	स्वर-संबंधी प्रत्यय
Vocalic Theme	स्वरारम्भक विकरण या मूल रूप
Vocalism	स्वर-पद्धति या प्रभासी स्वरान्धार पद्धति स्वरान्धिति
Vocative	संबोधन कारक
Volce	वाच्य
Voicing	बोधित्व
Weak	निर्बल
Whispered	फूटफूटाहटवासी ध्वनि
Zero	शून्य
Zero Degree	शून्य श्रेणी
Zero Desinence	शून्य प्रत्यय
Zero Form	शून्य रूप
Zero Suffix	शून्य पर-अत्यय

अनुक्रमणिका

संस्कृतानुक्रमणिका—

भार० एष० टनर २२ २५, २६, ३४
 ६३ ६५, ८० ८६ ९४ १९०
 २१२, २८० २९० २९३ ३४०
 ३५२
 भार० बी० घाममूर्ति ३४९
 भार्गव २४५
 ई० सिंधी २
 ए० मेहर १ २० २२, २४, ३६, ३८,
 ३९, ५७ ६७ ८० १०० १६६
 २०४ २२५, २३१ २३५ २३६,
 २४५, २७२ ३२८, ३३४
 ए० स्याम २५
 एष० आर्योवी २५, ५१ १०३
 एष० सिम ९, २५, ४३ ४७ ५०
 ६२, ६९, ७१ ७२, ९७ १४७
 १६६ १९० ३०७
 एष० उष्णू० टॉमस १६३ ३०५
 एष० सी० शेटर्जी ३३७
 एष० एष० सिम १५
 एष० सीप १०
 एष० सैन्टिफर २०
 एष० मिर्ठी (कुमाठी) २३
 एष० के० शेटर्जी १० २५ ५२, ६५,
 ३४६

एष० सेवी ४ ५, ९ १० २२ ३२
 ३६ ६३ ७७ १२० ३२६ ३४५
 एष० बर्मा १६२
 एष० सिम २४
 एंड्रॉयन २१७ ३१६
 कबीर २९०
 क्रावरी ६८
 कान्ठवत १६७
 कुमारित ३४८
 कुटीश्रीविष १२४
 कुटीश्रीविष ६४ २३७
 कोनाव ८
 माइरि २४
 पार्थ १६६
 घाममन ७८
 विपिन दे० आर्य विपिन
 शैबोस्का ३८
 सैहम सेवी २६ ६२
 सीरीपंकर १७५
 शेटर्जी दे०, एष० के० शेटर्जी
 आर्योवी, दे० एष० आर्योवी
 आपली २१७
 आर्य विपिन ६, १६, १७ २१, २५,
 २६ ५६ ६१ ८०, १०२, २१६,
 २८०

- जे० जर्नाल २४ २५, २६
 जे० सैम्पसन २६
 टर्नर, जे० आर० ए० टर्नर
 टी० गांधीजी ३४१
 टेविटरी २५, १९३
 टीकेमी ३२
 डब्ल्यू० गाइगेर, जे०, गाइमेर
 डी० सी० सेन ३४१
 डेकडूक २४
 तुकाराम २९८
 तुम्हीबास १८२ १८९, १९० १९३
 १९५ १९८, २१७ २६० २८७
 २९७ ३२६
 तेरेस्को ३५२
 थेवे २१२
 थोसरे १८५, २६० २८४
 पतंजलि ७९ ९५, २७३ ३२६
 पाणिनि ४८ ५० ८० ८२ ८५, १४२,
 १७० १७१ १७८, २३९ २७४
 २९० ३३४
 पिसरोती ४८
 पियेर २४ ५१ ७१ २८२, २८४
 पी० सी० बागची ३४५
 प्रिन्सिपल्स ८, ३१, ९५, ३४५
 भागिनिष्ठ १५, २३ २४ ११८, १२९,
 २७५, ३२८
 बामणी ३४६
 बाबूराम छक्केना २५
 बादुशोकोमी १६३, १६६
 बार्नेट २५
 बी० बोप २३०
 बी० वास जैन ४६, ५१
 बीन्स २५
 बुर्ने २०३
 बोडिंग १६७
 ब्रूमन २१४
 मास्टर ६८
 मिनेल्सन ३६, ८९
 मेइए, दे०, ए० मेइए
 मेकडगिल २४
 मैकैलिस्टर २६
 मीरिंग्स्टिएर्न १९, २६, १७७, २००,
 २१४ ३५२
 एबुवरबासबी ३४१
 एजू २३, २४ ११९, १३६, ३०४
 राइथेस्ट १ २४
 स्पुर्स १० ५८, १४३ १६३
 स्पूमन ४६
 बाइयेस २३०
 बाकरलापेस ५, २४
 बी हेगरी १७०
 बूबनर १९, २४
 घहीबुस्का १५, २५
 साहनी ८०
 सिर्षो ३
 सिर्षो सेमी दे०, ए० सिमी
 स्कीस ५८
 स्ट्रासन २५
 स्पेयर २४
 हार्लेस ३५२
 हुरिजीब ३४१
 हीचकाक २०२

दृश्य २४
हेमर स्मिय २३
होनर ११४

पन्व लेख तथा पत्रिकासुक्रमिका-
'अपबन्ध' ११ २२५, २३८, २७६,
२७७ ३०० आदि

अ प्रौरी दु मन्त्रीक्रीक बेरीक' २४
असटिडिघो सिटैक्स' २४
'अवेस्त' ऐलीमें. हे. 'आवेस्ति
घेस

'अवेस्तिघेस ठठ संस्कृत सिन्टीक्स' २४
बनोक ऐ ल मागवी' २४

'अघोक टेक्सट ऐंड फॉन्टरी' २४
'आर० ऐ स्लाव' २३६

'आई० एच० क्यू०' १०
'आई० एफ०' २६, ५७ ६७

'आउटसाउन्ड ई० कूडून' ५८
'आन द योर्न ईंडो-एरियन कनास्पुतर्स'
२५

'आरफियोलीवीकल सबे' ८०
'आसटिडिघो प्रीमटीक' २४

'आवेस्तिघेस ऐलीमेंटारबुक' या
अवेस्त० ऐली में. १ २४
आसुगीय मेमोरियल' १७०

आगु० मुनर्नी जुबिली बौत्सुम' ३४
'इंडोइकपान २४५

'इडि० ऐंटी०' ३४०

'इडिपन लिगिस्टिकम १० २६ ५२
६५, १६२ १७५, २३०

'इंडो-ई०' फॉटियर लम्बन' १७७

'इंडो-एरियन ऐंड इंडोइकपान' २६
'इंडोअर्नलिघे फोरगुगेन' २६

'इन्स्क्रिपमन्त बॉब अघोक' २४
'ई-एफ-ई-मो' २६, ३८

'शुक्ल' ५८ ६० ६१ ६९ ७८, ७९,
८४ १४९ १६६ १७१ १७२,
२२५, २३० २३१ २३२ २३८,
२७३ ३४५

'ए कर्मरेटिव ऐंड एटिमीमीकल
डिक्शनरी बॉब दनेपाठी लीवेज' २६

'एटी० बाके० बॉब पररा' ३५२
'एरनुद आर० लिगोमिए' ६३

'एरनुद एमियावीक' ३२, ३८
'एपी० इडि०' ७१

'एपी० बेंडल०' ९१, ३२५
'एम० एस० एल०' २४ २६, ३९, ६६,
२३३

'ए यीगुल बॉब कोसोमिकल हिन्दी
ऐंड बेंगाली' ३२७

'एरुवाहनुगेन इनु महा०' १७३ ३०३
'एल० एस० आई०' १९ ५१ ६२
१८४ २०१ २१३ २१६, २६५,
३१८

'ऐकटा बॉरिएंट' ३०५
'ऐगी ई मुर्मा' ३

'बौरिजिन ऐंड डेक्कनुमेंट बॉब द
बेंगाली लम्बेज' ७५

कर्मरेटिव पैरर बॉब द योर्न
इडिपन लम्बन' २४

'ड्राइ नाउ अ प्रौरी द लाडिकल प्रोग्रेन'
२४

- 'के० ब्रेड०' २६
 'केस्क रेजीनास बोप्टेटीऊ आ मोर्पा-
 भाविए' २४
 'केस्क फार्म बर्वेल दु नुरी' २६
 'क्रिटिकस पाली डिक्शनरी' ६६
 'लरोप्टी इस्क्रिप्टस' ८
 'गुजराती फ़ोनोलोजी' २५
 'गुजराती सेन्जेव ऐंड सिट्टरेणर' ३३९
 'प्रियर्सन कीमेमोरेयन बीस्पूम' २६
 'ब्रुक्स' २१४
 'ब्रुक्स डेवर इण्जीनेरिंग फ़ाइलोलोजी
 २४
 'डी० डु ब्यू पर्स' २४ ३२८
 'डीमर ऑव सिना सेन्जेव' २६
 'डीमेजर डेवर प्राकृत स्याखेन' २४
 'डीमेजर संस्कृत' २४
 'डर्नक ऑव द डिप्सी और सोसायटी
 २६, ६६
 'डर्नक ऑव द टॉपिक एसियाटिक
 सोसायटी' २६
 'ड्राइटविप्रट १५५५ क्रन्सहिसेगडे स्याख
 फ़ोर्पुन' २६
 'डाठक १६६
 'जुनी एसियाटिक' २६
 'जे० आर० ए० एस०' २५, २६, ५६,
 ६१ ६२, १६३, १९० १४५
 'जे० ए० एस०' ४ ९, २६, १२०
 १४५
 'जे० ए० जो० एस०' १६, ८९
 'जे० जा० ए० एस०' २६
 'टोसेमी क निरेस ३२
 'डिक्शननरी ऑव द नाउम इन द रामायण
 ऑव तुलसीदास' २५
 'डोनम नेटालिसियम डिक्शनन' ३६
 'तुलसीदास' ३४१
 'भैरवांडु पूष संस्कृत सीक्रेटि + म्' २५
 'दि गविसपइन्सकि० ऑव अर्थो' ८६
 'द डायसेप्ट ऑव द डिप्सी ऑव
 वेन्स' २६
 'द सिट्टेरी सेन्जेव' २६
 'द सीन्जेव ऑव द नरकुन काफ़िर्स' २६
 'द सेन्जेव ऑव द नरकुन काफ़िर्स (Zutt),
 'द बर्व इत द भार० ऑव टी०' २५
 'द नोमेड स्मिथ ऑव पैलेस्टाइन' २६
 'दाइसेप्ट ऑवो-योरोपिये' १
 'देजीनास बुटीप नपभंग आ पाली' २४
 'दीदस ऑव द डीमर ऑव बोफ़ डस्टर्न
 राजस्थानी' २५
 'पाली रीडर' २१७
 'पाली सिट्टराट्टसुर डंठ स्याख' २४
 'पेपर्स ऑन पाणिनि' ५८
 'पैशाची' ३४२
 'पंडोचन ऑव रोमनि' २८०
 'प्री-एरियन ऐंड प्रो-इंडियन इन् इंडिया'
 ३४५
 'प्रीसेप्ट रिक्वायर्मेंट्स ऑव इंडो-एरियन
 रिखर्स' २६
 'प्रैस्टिपुट बाकीजी' ४६, ६६, ८०
 ९९, १९६
 'प्रैस्टिपुट बाकरतानेक' ५८
 'प्रैस्टिपुट विडिया' ७४
 'डी० एस० ए०' २४ २६, ४७ ९५

- १०० ११८ १२९ १६९ १९०
 २०३ २२५ २३१ २३५ २७२
 २७५ ३३४ ३५२
 'बी० एच० सी० एच० २४ ४६, ४८,
 ६१ ६५, १८५, १९१ २६० २८४
 २९० ३४६
 बुलेटीन ऑफ द स्कुल ऑफ ऑरिएण्टल
 स्टडीज' २६
 'बुलेटीन द का सोसिएटे द सांख्यिकीक
 द पारी' २६
 'बृहत्सफा' ३४२
 'बिवाही प्रीत स्याहल' ३४१
 'बुद्धदुके बुद्ध० इमान १०
 'मगधदुकीठा' २७६
 'भविष्य० ६७ १५४ १५६, २८४
 'भविष्यत्कहा प्रोग वचनान
 (Dhanavala) २५
 'महामागध' २४३ ३२५
 'मोहर्न रिष्णु' ४२
 'मेम्बार् द का सोसिएटे द सांख्यिकीक
 द पारी' २६
 'मेकांज बादिमनिरन ३३
 'मेकांज बेंगु ५२
 'मैटीरियल्स १६७
 'मैरीरिजलेश' २८२ २८४
 'मैनुसल बाब हि बेंगु० सिपु०
 ३१६
 'पूत नुम्बो० ईईरिएन भा मराठ' २५
 'रिक्लिस्म इन् मू इंडी-एरियन' ६५
 'रिपॉर्ट ऑन ए लिब्रिस्टिक मिशन
 द मद्रासनिस्त्रान २६
 'रिपॉर्ट ऑन ए लिब्रिस्टिक मिशन
 द नॉर्थ-वस्टर्न इंडिया' २६
 'रेष्णु द एठ० आर्मेनियन' २२४
 'सन्नीमपुटी ए डाइलेक्ट ऑफ मॉडर्न
 मन्थी' २५
 'स तीप बैरीक' २४
 'स प्रेजांत दुर्बन 'एच' भा सिमान' २६
 'स ड्रॉमं दीत दी जोस्योऊ बां स आम्पे'र'
 २४
 'स ड्रॉमंसिपी द स लाय मराठ' २५
 'स लजीव द सांपदुवार बायोक' ८
 'सस्का-वास्यानि' २५
 'सर्वेस्पुदु पारऊं बां बेहीय बैरीक' २४
 'साय द लुपुदीप नुबेल' २०
 'सांतीनेसिपी भा वेजाबी' ५२
 'सा देजीमांस द इन्डियन पेंसन दू प्लु-
 रिएल भा मूरी' २६
 'सा प्रीमीएर पेंसन दू प्रजांत भा
 कर्पीरी' २६
 'सिब्रिस्टिक सर्वे (बीव इंडिया) ६,
 १६ २५
 'सिब्रिस्टिका' २५
 'सै ड्रॉमंसिपी' २३०
 'सै पी निस्तीक द बम्बई द एण्ड' २५
 'सैरिक ईमर' २४
 'सैरिक पीटर' २४५
 'सतपथ बाह्यन' ७९, ८५
 'संस्कृतिक ऐतीहेट , इंडीस्टिक
 स्टडीज' १६३
 'सर्नाति' ९, १५, १४५, १४० १५१
 १५३ १५६, ३३१

'सम प्रीम्लेस डॉब इंडो-एरियन छाहलीलीबी' २६	'सिकाठलेमर व सोकेले प्रीटीक व हीत पर्यूर' ४८
'सिद्दन्त' १४३ १६३ १६६	'सेटीबेलाइबेयन इन् सिपी' २५
'सिम्बोली प्रीमिटीक रोडावलीली' ६४ २३२	'स्ट्यूडिया इंडो-ईरानिका' ११९ १३६ १५०
'सिमी टिकसिम्ब' २५ ६५	'सूबी बालवीबी' १५
'सूर्बीबिस व संस्कृत आसीत (ASIT) वाँ बाकिऐन मॉरन' २६	'हादिम्ब टेम्स' २५
	'हिन्दू प्रोमेटिबस' ६८

